भारत में सिनेमा और संस्कृति

एक समाजशास्त्रीय दृष्टि

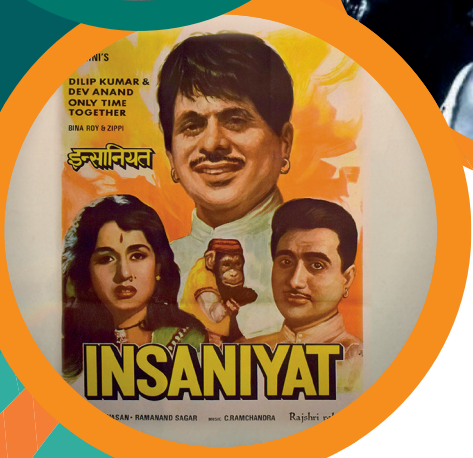

अमित कुमार शर्मा

blank

blank

भारत में सिनेमा और संस्कृति

भारत में सिनेमा और संस्कृति

एक समाजशास्त्रीय दृष्टि

अमित कुमार शर्मा

शाओलिन पब्लिकेशन्स

ISBN : 978-81-944279-2-6 (Hard Bound)
978-81-944279-1-9 (Paper Back)

संस्करण : **2020**

© Amit Kumar Sharma

वेबसाइट : www.iicsinstitute.com

ईमेल : shaolinpublications@gmail.com

प्रकाशक : शाओलिन पब्लिकेशंस

C-702, Delhi State CGHS Building, Plot No 1,
Dwarka Sector 19, New Delhi 110075

शाखाएँ :

Dehradun :	House No 138, Khasra Number 193, Village Kandoli, Near UPES University Dehradun.
Guwahati :	House Number 501, Block 6, Larica Green Valley, Dharapur, Guwahati, Assam 781017
Goa :	Villa Number 133/6, River Enclave, Jairam Nagar, Dabolim, Goa 403711
Gaya :	Bodhgaya Math, Gaya, Bihar 824231

टेक्नोक्रेट प्रिन्टर्स प्रा.लि., जयपुर द्वारा मुद्रित

मूल्य : ₹ 700 (Hard bound)
₹ 500 (Paper back)

Bharat Mein Cinema our Sanskriti : Ek Samajshastriya Drishty
Amit Kumar Sharma

समर्पण

यह पुस्तक एकल सिनेमा युग के
उत्साही एवं रसिक दर्शकों को
सादर समर्पित है,
जिन्होंने टिकट खरीदने के लिए
अपनी हर जरुरत को कम करके
हिन्दुस्तानी सिनेमा को स्वावलम्बी बनाए रखा।

अनुक्रम

प्रकाशक का निवेदन 11

प्रस्तावना एवं आभार 14

भूमिका

भारतीय संस्कृति एवं कला की सनातन दृष्टि 18

हिन्दी अथवा हिंदुस्तानी सिनेमा नेहरू के बाद 29

भारत में सिनेमा और संस्कृति –एक 33

भारत में सिनेमा और संस्कृति –दो 39

अमेरिकी सिनेमा बनाम भारतीय सिनेमा 51

आँख का अंधा, नाम नैनसुख 56

पूर्वपक्ष:–बलराज साहनी 61

अध्याय –एक
भारतीय सिनेमा का इतिहास

1. सैल्युलॉयड सिनेमा का समय 80
2. सैल्युलॉयड युग का नया सिनेमा:– शम्मी कपूर 86
3. भारतीय सिनेमा की आधारभूत श्रेणियां 97
4. 'पाकीजा' (1971, निर्देशक –कमाल अमरोही) एक नयी दृष्टि 100
5. 'डोर'(2006) एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण 105
6. 'आनंद'(1971) ऋषिकेश मुखर्जी 116
7. 'तीसरी कसम' (1966) बासु भट्टाचार्य 123
8. 'खंडहर' से 'हाउसफुल' तक (1983 – 2010) 131

अध्याय –दो
सिनेमा और संस्कृति

1. भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता 137
2. भारतीय संस्कृति का स्वरुप 145
3. भारतीय संस्कृति में रस की अवधारणा 167
4. धर्म एवं सिनेमा 187
5. हिन्दी सिनेमा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ 199

अध्याय –तीन
सिनेमा पर चिन्तन: चुनिंदा टिप्पणियाँ

205

अध्याय –चार
हॉलीवुड और बॉलीवुड

1. द बीटल्स और हिंदी सिनेमा 245
2. यहूदी और पारसी लोगों का सिनेमा में योगदान 254
3. हॉलीवुड और ईसाइयत 262
4. उभरती हुई विश्व व्यवस्था और भारतीय सिनेमा 279
5. अमेरिका का नया 'अवतार' 283

अध्याय –पांच
सिनेमा का समाजशास्त्र

1. भारतीय सिनेमा का लोकशास्त्र 286
2. साहित्य एवं कला की समकालीन भारतीय दृष्टि –1 और 2 311
3. भारतीय सिनेमा एवं संस्कृति में खलनायक की अवधारणा 356
4. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्रीय विश्लेषण वाया 'दीवार'(1975) 367
5. भारत में सिनेमा एवं राजनीति 387

अध्याय –छह
बॉलीवुड का बदलता चेहरा

1. बॉलीवुड–आजकल 400
2. बॉलीवुड–आजतक 413
3. स्वतंत्र भारत में युवा एवं हिन्दी सिनेमा 417
4. हिन्दी फिल्मों में समकालीन प्रेम कथाएं 422
5. भारतीय समाज की अंतर्धारा : समाज, खेल एवं सिनेमा 429
6. मुंबई, माफिया और हिन्दी सिनेमा 433
7. छोटे बजट बनाम बड़े बजट की फिल्में– भविष्य एवं सामाजिक संदर्भ 444

BIBLIOGRAPHY 452

संदर्भ ग्रंथ 475

प्रकाशक का निवेदन

भारत दुनिया में सबसे अधिक फिल्में बनाने वाला देश है। हम निरंतर प्रतिवर्ष हज़ारों फिल्में बना रहे हैं। मोबाइल क्रांति और इसके साथ साथ फिल्म प्रदर्शन हेतु उभरे अनेक प्लेटफार्मों के बावजूद सिनेमाघरों में जाकर फिल्म देखने वालों की संख्या में कोई कमी नहीं हुई है । हमारा फिल्म उद्योग सशक्त और स्वस्थ फिल्म उद्योग है। हमारी भारत सरकार अथवा प्रदेशों की सरकारें फिल्म उद्योग के विकास में कोई योगदान नहीं देती हैं। सरकारों का ध्यान केवल मनोरंजन कर तथा अन्य करों द्वारा उत्पन्न आय पर रहता है । इस आय का पांच प्रतिशत भी वे फिल्म विधा के विकास हेतु खर्च नहीं करती । अन्य देशों में स्थिति इतनी ख़राब नहीं है। यूरोप के देशों की सरकारें फिल्म विधा के विकास तथा फिल्म विधा के अध्ययन और शोध–कार्यों पर बड़ी राशि का निवेश करती हैं।

1950 से 1995 तक के वर्षों को हिंदुस्तानी सिनेमा का स्वर्णयुग माना जाता है, लेकिन यह स्वर्णयुग क्यों माना जाता है इसका विस्तृत विश्लेषण, इस पर गहन विचार अभी तक नहीं हुआ है। यह पंक्ति अवश्य दोहराई जाती रही है कि यह हिन्दुस्तानी सिनेमा का स्वर्णयुग था।

इसी काल खंड में हिंदुस्तानी प्रिंट मीडिया में भी फिल्मों से जुड़ी बातचीत को समुचित स्थान दिया गया। हिन्दुस्तानी भाषा की अनेक पत्रिकाएँ पूर्णतया फिल्म विधा को समर्पित थीं, प्रत्येक समाचारपत्र में शुक्रवार को फिल्म परिशिष्ट अवश्य होता था, सभी साहित्यिक पत्रिकाएँ तथा रंगीन पत्रिकाएँ नियमित रूप से फिल्म विशेषांक प्रकाशित करती थीं। उस दौर में अनेक फिल्म पत्रकार उभरे लेकिन वे कभी भी फिल्म समीक्षक अथवा फिल्म अध्येता नहीं बन सके।

हिन्दुस्तानी सिनेमा के इस कालखंड की एक बड़ी विशेषता यह थी कि भारतीय दर्शक हिंदुस्तानी सिनेमा से पूरी तरह जुड़ा हुआ था। लोग घंटों कतारबद्ध होकर खड़े रहते थे और टिकट मिलने की प्रतीक्षा करते थे यदि टिकट नहीं मिल पाता था तब भी

वे निराश नहीं होते थे और ब्लैकी की तलाश में जुट जाते थे उससे मोल–भाव करते थे। फिल्म आरम्भ होने का समय करीब आता जाता था और दोनों पक्षों की बेचैनी बढ़ती जाती थी। यदि कोई दर्शक फिल्म के प्रथम पांच मिनट का त्याग करने को तैयार होता था तो उसे कभी–कभी टिकट लागत दर से भी कम में मिल जाता था। लेकिन फिल्म का टिकट न मिल पाने, फिल्म न देख पाने और बिना देखे घर लौटने का दुःख बहुत बड़ा होता था।

यह दर्शक ही हिंदुस्तानी सिनेमा की जान था। इस फिल्म दर्शक के दर्शनशास्त्र की छानबीन का काम अभी तक अधूरा पड़ा हुआ है।

भारत में फिल्म एक उपेक्षित विधा है। भारतीय फिल्मों पर भारतीय भाषाओं में शोध केंद्रित मौलिक लेखन नहीं हो पा रहा है। हिंदी भाषा में हिंदी फिल्मों अथवा विदेशी फिल्मों पर लिखने वाले सभी लेखक अक्सर पत्रकार बिरादरी से जुड़े होते हैं।

जब भी फिल्म विधा पर अध्ययन, चिंतन अथवा मनन की बात होती है तो बात हमेशा बिलकुल शून्य से ही आरम्भ करनी पड़ती है। अभी तक हम कोई बुनियाद, कोई पृष्ठभूमि या आधारभूमि नहीं तैयार कर पाए हैं जहां से हम छलांग लगा सकें या हमारी भावी पीढ़ी फिल्म विधा के अध्ययन की ओर उड़ान भर सके।

1970 से ही पश्चिम के विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में फिल्म विधा का व्यवस्थित अध्ययन आरम्भ हो चुका था। इसके अंतर्गत पाठ्यपुस्तकों का निर्माण कार्य हुआ और अध्यापकों की नियुक्ति भी की गई। वर्तमान दौर में भारतीय जीवन पद्धति, भारतीय सामाजिक जीवन, भारतीय चिंतन पर शोधकार्य करने, भारत को समझने के लिए विश्व भर के अध्येता भारतीय फिल्मों का गहन अध्ययन कर रहे हैं।

साथ ही साथ बहुत से भारतीय भी विदेशों में रह कर सिनेमा विषय का अध्ययन, अध्यापन और शोधकार्य कर रहे हैं क्योंकि भारत में यह कार्य करने के लिए कोई आर्थिक सहायता नहीं दी जाती है । ये भारतीय विद्वान, पश्चिमी चिंतन मूल्यों द्वारा, भारतीय सिनेमा का मूल्यांकन करके किताबें अथवा लेख लिख रहे हैं और इस प्रकार इस भ्रामक प्रचार में शामिल हैं कि भारतीय जीवन मूल्य अथवा भारतीय चिंतन पद्धति, इस नए माध्यम, सिनेमा नामक नई विधा का विश्लेषण करने में सक्षम नहीं है।

शाओलिन प्रकाशन का मुख्य सरोकार यह है कि सिनेमा पर भारतीय जीवन

दृष्टि तथा भारतीय जीवन मूल्यों के प्रकाश में गहन शोध कार्य और चिंतन आरम्भ हो सके। इस कड़ी में हम सबसे पहले अमित कुमार शर्मा की तीन पुस्तकें प्रकाशित कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक विस्तार से इस प्रश्न का उत्तर देती है कि हिंदुस्तानी सिनेमा का स्वर्णयुग क्या है और क्यों है और किस प्रकार इस प्रश्न के उत्तर को अब तक सुनियोजित षड्यंत्र के तहत स्थगित किया जाता रहा है।

सत्य यह है कि लोकप्रिय हिंदुस्तानी सिनेमा की गहरी पैठ भारतीय जीवन मूल्यों और परिवार नाम की संस्था में हमेशा बनी रही है। आज की तथाकथित नव उदारवादी सोच भारत के परिवार को तोड़ने के लिए लालायित है। जबकि हिंदुस्तानी सिनेमा ने हमेशा समाज को जोड़ने वाले सांस्कृतिक और धार्मिक मूल्यों की वकालत की है। यह पुस्तक इन मूल्यों को हिंदुस्तानी लोकप्रिय फिल्मों में पहचान कर रेखांकित करती है और इस प्रकार उस बेहद जरुरी काम को पूरा करने का बीड़ा उठती है जिसे पिछले अस्सी–नब्बे वर्ष के सिनेमा के इतिहास के दौरान उपेक्षित रखा गया है, दरकिनार कर दिया गया है।

मनमोहन चड्ढा

प्रस्तावना एवं आभार

इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा मुझे तीर्थाटन के क्रम में अजमेर प्रवास में मिली। इसने भारत के पारंपरिक भूगोल के सरस्वती क्षेत्र में प्रवेश करके भारतीय संस्कृति और इसकी सबसे लोकप्रिय अभिव्यक्ति भारतीय या हिन्दुस्तानी सिनेमा (हिंदी–उर्दू की मिश्रित–सरल –बोलचाल की भाषा में निर्मित) को समझने, समझाने, व्याख्यायित करने और एक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में इस को उत्कीलित (डीकोड) करने का, अचानक (मेरी राशि कुण्डली में उस वक़्त केतु महादशा चल रही थी) अवसर दे दिया।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन की औपचारिक प्रक्रिया जे.एन.यु. के विद्यार्थियों के बीच सिनेमा को एक लोकप्रिय ऐच्छिक विषय बनाने के क्रम में धीरे–धीरे शुरू हुई। परंतु अनौपचारिक प्रक्रिया नवयुवक संघ, बंशी, अरवल (तब गया जिला), बिहार के नवरात्रों के दौरान लोक नाट्य मंच में भागीदारी के क्रम में 1974 से शुरू हुई। पारिवारिक विरासत में वैदिक साहित्य, नाट्य साहित्य (पंचम वेद– भरतमुनि का नाट्यशास्त्र), आगम– श्रमण परंपरा मिली थी। नवयुवक संघ, बंशी के नवरात्रों में शाक्त कला, शैव कला, रासलीला, राधेश्याम कथावाचक की गायन, वादन, अभिनय शैली मिली। गुलशन नंदा की मैली चांदनी (1973) पर यश चोपड़ा ने 'दाग' नामक फिल्म बनाई थी, यह बहुत बाद में पता चला। फिर गुलशन नंदा, रानू, कर्नल रंजीत, ओम प्रकाश शर्मा, इब्ने सफी बी. ए, कुशवाहा कांत पढ़ते–पढ़ते देवकीनंदन खत्री हाथ लग गए। रश्मिरथी (रामधारी सिंह दिनकर), 'मधुशाला' (बच्चन), वह तोड़ती 'पत्थर' (निराला), 'कामायनी'(प्रसाद), 'गबन','गोदान'(प्रेमचंद), शेखर एक जीवनी (अज्ञेय) ने हिंदी साहित्य में प्रवेश दिलाया । 1978 के 11 जनवरी से जब मैंने पटना रहना शुरू किया तो पिताजी ने एक छोटा ट्रांजिस्टर गिफ्ट किया। फिर फिल्म संगीत की लत लग गई। नशा हो गया। इससे आज तक मुक्त नहीं हो पाया।

1979 में सिनेमा का रसिया और नाट्य कर्म का हिस्सा बनने में कई दोस्तों की भूमिका रही। इसमें सबसे प्रमुख थे कन्हैया झा, जिनको सिनेमा के लोग नरेंद्र

(नारायण) झा के नाम से जानते हैं। अन्य लोगों में बी. एन. कॉलेज, पटना के शिक्षक एवं छात्र थे। इनका अलग–अलग नाट्य मंच था, इनकी अलग–अलग विचारधारा थी।

नरेंद्र झा से 1979 से 2018 तक अटूट दोस्ती रही। सिनेमा, फिल्म संगीत, विद्यापति, पूर्वमीमांसा की मैथिल परंपरा खासकर, प्रभाकर मीमांसा के कला विमर्श (नाट्य कला= यज्ञ कला) के बारे में हमने कितने घंटे रसास्वादन किया, ठीक से याद नहीं। उनका अचानक विद्यापति से मिलने स्वर्ग जाने की हड़बड़ी में शमशान के जीव भैरवों का कितना योगदान था, यह विवाद करने वाले दो–तीन लोग ही बचे हैं। 28 अप्रैल 1962 को मधुबनी में जन्मे नरेंद्र झा ने 14 मार्च 2018 को नासिक के पास बाड़ा में अंतिम सांस ली। उनकी अनुपस्थिति में इस बनती हुई किताब का एकालाप इसे सरसता से मरहूम कर गया।

जे.एन.यू. की पृष्ठभूमि के प्रदीप तिवारी भी 2007 में दुनिया छोड़कर अचानक चले गए। वे भी सिनेमा के रसिक थे और हमारी युगलबंदी होती रहती थी। वे नरेंद्र झा की तरह मित्र तो नहीं थे, अनुज जैसे थे। परंतु उनके साथ कई युगलबंदी की छाप इस पुस्तक में है।

नरेंद्र झा (1979–2018) के बाद सिनेमा के बारे में मेरी युगल बंदी मेरी पत्नी वंदना शर्मा से हुई (1987 से आज तक)। वंदना ऐसे तो वनस्पति एवं जीवजंतू की विद्वान है परंतु बचपन से उसे मुकेश के गाने, रानू के उपन्यास और हिंदी सिनेमा से जुनूनी प्यार रहा है। मेरी जानकारी में हिंदी सिनेमा की सबसे बड़ी पर्सनल लाइब्रेरी वंदना के पास है। सिनेमा हॉल में हिंदी फिल्मों को देखने का वैसा जुनून मेरी मित्र–मंडली में किसी और को नहीं रहा है। मैं जब भी किसी लेक्चर की तैयारी में फंसता हूं, मुझे लाइब्रेरी नहीं जाना पड़ता, वंदना से बात करना काफी है।

यदि मैं यह कहूं कि सिनेमा पर शोध करने के क्रम में प्रेरणा कहां–कहां से मिली तो इसमें पहला नाम राज कपूर का आयेगा। इनके बाद, जे.पी.एस. उबेराय, टी.एन. मदान, आर.के. जैन, सी. एन. वेणुगोपाल, पेट्रिशिया उबेराय, रामविलास शर्मा, ए. के. सरण, कमलेश शुक्ल, वागीश शुक्ल, रमेश तिवारी, गौतम कौल, अरुण कौल, श्याम बेनेगल, लेख टंडन, योगेंद्र सिंह, टी.के. उमण, विष्णुकांत शास्त्री, के. आर. मलकानी, विद्यानिवास मिश्र, राम बहादुर राय, गोविंदाचार्य, एम.डी. श्रीनिवास, बनवारी, नवज्योति सिंह, अनंत कुमार गिरी, मनमोहन चड्ढा, विश्वजीत दास, सुष्मिता दास गुप्ता के साथ सिनेमा एवं संस्कृति के बारे में संवाद से मेरे दृष्टि एवं अवधारणा विकसित हुए।

शकील नूरानी, केतन मेहता, मुजफ्फर अली, अमित खन्ना, राधा मोहन शर्मा, राधेश्याम शर्मा, उपेंद्र शर्मा, गिरिजेश कुमार मिश्र, सुधांशु त्रिवेदी, चंद्रप्रकाश द्विवेदी, दीपेंद्र पाठक, राकेश कपूर, रामेश्वर प्रसाद, मिथिलेश त्रिपाठी, जहांगीर चौधरी, केदार अवति, सुभाष डबास, ए. एस. कनल, अनूप कुमार, विवेक कुमार, अभिजीत पाठक, आनंद कुमार, अतुल तिवारी, बासिल, संजय पाठक, राजकुमार बड़जात्या, विनय शुक्ला, अंजुम रजब अली, जयप्रकाश चौकसे, वाणी त्रिपाठी, अमृता राव, जावेद सिद्दिकी, अखिलेंद्र मिश्रा, प्रह्लाद कक्कड़, बिमोल ओकोइजम, सोमेन– नीलिका, सुजाता, गुरर्म श्रीनिवास, एम.एन.पाणिनी, शिवम्, बिस्तीणा बरुआ, सोनल चंद्रा, शोभना शर्मा, सूरज शंकर, अखिल डबास, आयुष डबास, निशांत, हृषिता, सृष्टि, जितेंद्र सुमन, जयनंदन, राहुल मिश्रा, पंकजा ठाकुर, उदय सहाय, भरत बाला, संजय श्रीवास्तव, रथीस, अरविन्द शंकर, जॉन मैथ्यु माथन, सुशिमता, भगवान जोश, रवि शंकर, राजन– राजेश, अंबर, अभय सिन्हा, अमिताभ वर्मा जैसे लोगों से विस्तृत और संक्षिप्त बतकही ने हिंदी सिनेमा के बहुआयामी परतों को और कलात्मक गुत्थियों को खोलने में मदद की ।

2001 से मैंने एम. फिल के विद्यार्थियों को सिनेमाई पाठ (टेक्सट) के आधार पर, संस्कृति एवं सभ्यता विमर्श करने के लिए, व्यवस्थित रूप से प्रशिक्षित करना शुरू किया था। उस कोर्स का नाम है– टेक्सटुअल एनालिसिस इन कल्चरल कॉन्टेक्स्ट: सोशल एंथ्रोपोलॉजी ऑफ सिविलाइजेशन । 2003 से जे.एन.यु में मेरे एम.फिल. एवं पीएच डी. के विद्यार्थियों ने भारतीय सिनेमा को भारतीय समाज एवं संस्कृति समझने के सबसे उपयोगी, विश्वसनीय, सरल एवं सुलभ स्रोत के रूप में इस्तेमाल करना शुरू किया। 2007 से एम. ए. के विद्यार्थियों के लिए भारत में सिनेमा एवं संस्कृति नामक कोर्स विकसित करके पढ़ाना शुरू किया। इसमें 2007 से 2013 तक 125 से 133 विद्यार्थी न सिर्फ सिनेमा के बारे में पढ़ते थे बल्कि छोटी फिल्में बनाना भी सीखते थे। फिल्म बनाने के लिए उन्हें 5 से 10 की टीम में वर्गीकृत किया जाता था। 2014 में जे.एन.यु के स्कूल ऑफ सोशल साइंसेज में एक कोर्स में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या सीमित करने की प्रारंभिक प्रक्रिया शुरू हुई। मेरे कोर्स के विद्यार्थियों की अधिकतम संख्या 35 सीमित कर दी गई। 2016 तक आते–आते जे.एन.यु का माहौल काफी बदल गया।

इस तरह यह पुस्तक संस्कृति एवं सिनेमा के क्षेत्र में 40 वर्षों की मेरी अटूट साधना, सत्संग, अध्यापन, अनुसंधान एवं अनुराग की रसिक अभिव्यक्ति है। इस पुस्तक को मैंने तीन भागों में प्रकाशित करने का मन बनाया है। वर्तमान पुस्तक

इसका पहला भाग है। दूसरा भाग कालजयी भारतीय सिनेमा : एक नई सूची है, तीसरा भाग भारतीय सिनेमा के पथप्रदर्शकों पर केंद्रित है। इस पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय वंदना शर्मा की जिद, मनमोहन चड्ढा, सूरज शंकर, बासिल कुनथ फिलिप और कीर्ति चंदा के सहयोग को जाता है। वर्ना यह पुस्तक जे.एन.यु. एवं अन्य जगहों पर व्याख्यान देने के लिए बनाये गए नोट्स और 1974 से लगातार लिखी जा रही डायरियों के बीच बिखरी रह जाती।

अमित कुमार शर्मा
29 जनवरी 2020
सरस्वती पूजा एवं वसंत पंचमी
विक्रम संवत 2076, माघ शुक्ल पंचमी

भूमिका

भारतीय संस्कृति एवं कला की सनातन दृष्टि

सनातन धर्म काल, देश और परिस्थिति में संतुलन बैठाकर समन्वय करते हुए चिरंतन बना रहता है। जब तक संसार है सनातन धर्म का नाश नहीं हो सकता।

काल एक चेतन बिंदु है और देश इसका परिधि या वर्ग इसमें चार युगों का चक्रीय परिवर्तन होता रहता है। कृतियुग, त्रेतायुग, द्वापर युग और कलियुग, चार युग हैं। कलि युग के बाद फिर कृति, त्रेता, द्वापर, कलि का चक्र चलता रहता है।

काल कला के माध्यम से शाश्वत जीवन की शाश्वत लीला की युगानुकुल कथा का सृजन भी करता है और इसी सृजन की ऊर्जा जब क्षय हो जाती है; उस ऊर्जा को फिर से सृजन का इंधन नहीं बनाया जाता, तो उसे जड़ता या ''एंट्रोपी'' कहा जाता है। फिर यही काल इसकी जड़ता का विनाश करके नवसृजन के लिए उर्वर मिट्टी और नई ऊर्जा का निर्माण करता है। सृजन करने वाली कला को 'लास्य' कहते हैं। विनाश करने वाली कला को 'तांडव' कहते हैं। कला को स्त्री माना गया है। प्रकृति माना गया है। पार्वती अथवा शक्ति माना गया है। इसका प्रतीक चाँद है। चाँद की सोलह कलाएं होती हैं। लास्य, चाँद की पूर्णता या पूनम, का चाँद है। तांडव, चाँद की बिंदु रूप सूक्ष्म कला, अमावस है। काली है। काली तांडव करती है। वह भी पुराने युग की जर्जर (शव) छाती (केंद्र=चौथा चक्र) पर सवार होकर। नृत्य में तो लास्य और तांडव, इन दोनों कलाओं, पर ही साधना की जाती है। काव्य में नौ रसों की साधना की जाती है। तंत्र में, खासकर–वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग या शुद्धाद्वैत में, रासलीला का जो सर्वोच्च रूप है उसे महारास कहते हैं। इसमें सोलह कलाओं या सोलह रसों की 'श्रीकृष्ण' के रूप में– मूर्तिविग्रह के रूप मंल या लीला नामक शुद्धतम अद्वैत कला के रूप में अभिव्यक्ति होती है।

देबकी बोस, केदार शर्मा, बिमल राय, राजकपूर एक स्कूल के फिल्मकार हैं। बाबूराव पेंटर, शांताराम और एस.एस. वासन दूसरे स्कूल के फिल्मकार हैं। शशधर

मुखर्जी, जे. बी. एवं होमी वाडिया, बाबू भाई मिस्त्री, विजय भट्ट, मनमोहन देसाई तीसरे स्कूल के फिल्मकार हैं। तीनों स्कूलों में बहुत अंतर है। तीनों सफल स्कूल हैं। इनमें एक ही 'कॉमन' समान साझी बात है। तीनों स्कूल के फिल्मकार सोलह कलाओं वाली सफल, सार्थक, लोकप्रिय, मनोरंजक फिल्मों की प्रस्तुति करने की साधना करते हैं। कभी साधन का सहयोग मिलता है तो कालजयी सोलह कलाओं वाली फिल्म बन जाती है। जब किसी कारणवश नहीं मिल पाता तब पांच कलाओं या रसों वाली फिल्म ही बना पाते हैं। पांच कलाओं की भी अभिव्यक्ति यदि नहीं हो पाती तो फिल्म दर्शकों द्वारा नकार दी जाती है। साधन मिलना या न मिलना टीम की सामूहिक साधना पर निर्भर होता है। सिनेमा में पूरी टीम की निष्ठा, लगन, समर्पण और तकनीकी दक्षता का समन्वय अगर नहीं हो पाता तो कालजयी फिल्म नहीं बन पाती। इस समन्वय का काम निर्माता–निर्देशक का होता है। या निर्माता का होता है। सिनेमा एक यज्ञ है। निर्माता यजमान। निर्देशक पुरोहित है। बाकी सब साधन या समिधा हैं। नायक–नायिका समेत। अतः नायक–नायिका का अहंकार (इगो), लार्जर दैन लाइफ इमेज, अक्सर फिल्म रूपी यज्ञ की असफलता का प्रमुख कारण बनता है।

आधुनिक कला एवं संस्कृति के कथा, नाटक, सिनेमा एवं विमर्श के केंद्र में स्वयंभू व्यक्ति, नागरिक, 'मोरल इंडीविजुअल' है। पारम्परिक या भारतीय या सनातन दृष्टि इस आधुनिक सनक को 'भोलापन' मान कर इसे नजर अंदाज करती है। सनातन दृष्टि मानती है कि व्यक्ति स्वयंभू नहीं होता है, चाहे वह सम्राट हो, देवता हो, ऋषि हो या पैगम्बर हो। मनुष्य शरीर में अवतरित भगवान को भी धर्म या कॉस्मिक आर्डर या ऋत मानना पड़ता है ।

कोई भी देश किसी व्यक्ति के एजेंडा से नहीं चलता। ऋत, कॉस्मिक शक्ति, परम वैश्वानर अथवा भगवान् के एजेंडे से चलता है। सारा मामला चक्रों का है। व्यक्ति के शरीर में। दंपति के शरीर में भी। इसी लिए सात जन्मों तक पति–पत्नी की कामना की जाती है ताकि सातों चक्रों का अतिक्रमण किया जा सके। इस अतिक्रमण की कामना के लिए किया गया विवाह ही उद्वाह है।

हिन्दू कैलेंडर या पंचांग परम वैश्वानर, अर्धनारीश्वर भगवान शिव का प्राकृतिक शरीर है। बारह महीनों में सूर्य सातों चक्रों का अतिक्रमण करते हैं। छः नहीं सात ऋतुयेँ होती हैं। छः ऋतु प्रचलित हैं: वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत और शिशिर। दोनों नवरात्र मिलकर सातवां ऋतु है: शरद नवरात्र एवं वासंतिक नवरात्र।

सनातन जीवन सात चक्रों (ग्रहों) के अतिक्रमण के योग की मोहविहीन मनोरंजक यात्रा है। इस यात्रा में भोग भी एक तपस्या है। यह गृहस्थ धर्म का मर्यादित भोग है।

भारतीय संस्कृति में चार युगों के चक्रीय परिवर्तन को सनातन माना गया है। कृतियुग अथवा सतयुग को वैदिक युग अथवा ब्राह्मण ऋषियों का युग माना जाता है। त्रेता युग को वैदिक संस्कृति में संरचनात्मक संघर्ष का युग माना जाता है। इसमें संसार में परम सत्ता पर आधिपत्य के लिए देवासुर संग्राम, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों की प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है। इसमें परशुराम, वशिष्ठ, विश्वामित्र जैसे ऋषियों के साथ साथ जनक और दशरथ, रावण और बाली जैसे सम्राटों की, युग की शक्ति संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका है। राम इस युग के अंतिम महानायक हैं। द्वापर में राजर्षि विश्वामित्र और उनकी पुत्री शकुंतला के वंश, (भरत वंश) की गाथा है। महाभारत का युद्ध क्षत्रिय युग की पराकाष्ठा है।

द्वापर के अंत में कृष्ण हुए। श्री–कृष्ण नीति के अनुसार, दुनिया आदर्श से नहीं शक्ति और युक्ति से चलती है। प्यार और युद्ध में मर्यादा का पालन एक तरफ़ा नहीं हो सकता। युग बदल चुका है। मेटानैरेटिव (युग की नैतिकता का कलात्मक विन्यास) बदल चुका है। बर्बरीक की हत्या, भीष्म की हत्या, द्रोण की हत्या, जयद्रथ वध, कर्ण की हत्या, दुर्योधन की हत्या, रुक्मिणीहरण, सुभद्राहरण इसके प्रमुख उदाहरण हैं। सर्वोच्च सत्ता का आधार शक्ति है। मानवोचित मर्यादा या आदर्श या नीति नहीं। अब राजधर्म, व्यक्ति और समाज के योग से चलता है। अब राष्ट्र और सभ्यता का आधार सर्वोच्च शक्ति या तंत्र हो गया है। रुटीन या दैनिक जीवन के प्रतिमान नीति या मर्यादा हैं, परन्तु युग दृष्टि का आधार शक्ति, सत्य और कल्याणकारी चेतना है।

श्रीकृष्ण के कुछ समय बाद, राजा परीक्षित के समय, कलियुग का प्रारम्भ हुआ। इस युग की दृष्टि को श्रीकृष्ण के भागवत धर्म ने परिभाषित किया। श्रमण आचार्यों : वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने परिमार्जित किया।

गौतम बुद्ध से, समकालीन अर्थों में, कलिकाल का इतिहास शुरू होता है। महाभारत युग के महाविनाश के बाद राजा परीक्षित के समय से, बुद्धत्व प्राप्ति के समय के बीच, एक प्रकार की अमावस है। ब्रह्मा की एक रात थी कलिकाल की प्रसूतावस्था। गौतम के बुद्ध बनते ही कलिकाल का एक युग के रूप में इतिहास या भारतीय पुनर्जागरण शुरू होता है। बुद्ध ने कलियुग को एक व्यवस्था दिया एक नया पैराडाइम, एक नया सिद्धांत, एक नया थीसिस दिया। समृद्ध समाज और

कल्याणकारी साम्राज्य की नींव रखी। बुद्ध से भारत में इहलौकिक साधना (दिस वर्ल्डली ऐसेटिसिज्म) की शुरुआत हुई थी। वे आत्मबल और गुरुकुल की केन्द्रियता फिर से स्थापित करते हैं। नालंदा महाविहार का जन्म होता है। तक्षशिला का ध्वंस सिकंदर ने किया था। नालंदा का ध्वंस कुतुबुद्दीन ऐबक के सेनापति बख्तियार खिलजी ने किया था।

गुलाम वंश की स्थापना और पृथ्वीराज के पतन के बीच दो महान विभूतियों ने भारत के चित्त, मानस और काल पर अपनी छाप छोड़ी। उत्तर भारत में महान सूफी संत, चिश्ती सिलसिला के इस्लामिक रणनीतिकार ख्वाजा मोइनउद्दीन चिश्ती (अजमेर राजस्थान को केंद्र बनाकर) ने महात्मा बुद्ध के थीसिस या पैराडाइम या सिद्धांत या व्यवस्था को अंततः अप्रासंगिक बना दिया।

इसी बीच, आचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैत नामक दर्शन द्वारा शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत को संशोधित करके, दक्षिण भारत की सामान्य जनता के बीच बुद्ध के सिद्धांत को अंततः अप्रसांगिक बना दिया। जिस तरह चिश्ती सिलसिला की रणनीति पैगंबर मोहम्मद की बुनियाद पर खड़ी की गई थी, उसी तरह विशिष्टाद्वैत दर्शन का रणनीतिक सिद्धांत आचार्य शंकर के अद्वैत वेदांत की बुनियाद पर खड़ा किया गया था।

चिश्ती सिलसिला की परिणति मुगल साम्राज्य में हुई। सम्राट के रूप में अकबर सूफी सिलसिला के उच्चतम सामाजिक अभिव्यक्ति के यजमान बने। उसी तरह विशिष्टाद्वैत रणनीति को श्रृंगेरी पीठ के आचार्य विद्यारण्य, मध्व (माधव) और सायण ने मांजा तो हम्पी–श्रृंगेरी केंद्रित विजयनगर साम्राज्य का जन्म हुआ। विशिष्टाद्वैत रणनीति को वल्लभाचार्य ने मांजा तो गुजरात और राजस्थान के इलाके में व्यावसायिक–औद्योगिक संस्कृति का विकास हुआ और कला रूपों में रासलीला और भक्ति काव्य में सूर और अष्टछाप कवियों का काव्य प्रस्फुटित हुआ। इसी विशिष्टाद्वैत रणनीति को जब रामानंद ने मांजा तो कबीर, रैदास, तुलसी, मीरा और तुकाराम का काव्यात्मक विस्फोट हुआ, जिससे उत्तर भारत की सामाजिक जड़ता द्रवित हुई और नई सामाजिक शक्तियों का जन्म हुआ। इन सामाजिक शक्तियों के दो प्रमुख सिद्धांतकार हुए। आचार्य रामदास समर्थ जो मराठा साम्राज्य के प्रेरणास्रोत बने और दूसरे गुरु नानक, जो सिख धर्म के प्रथम गुरु और सिख संप्रदाय के संस्थापक आचार्य हुए।

भारतीय सिनेमा में सूफी परंपरा के सबसे समर्थ फ़िल्मकार ए. आर.कारदार थे जिनके प्रभाव में हिंदुस्तानी सिनेमा में कई उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण हुआ। ए. आर.

कारदार से प्रभावित फ़िल्मकारों में एम. सादिक, एस.यु. सन्नी, के. आसिफ़, कमाल अमरोही (कारदार की साली से अपनी दूसरी शादी के बाद की फिल्मों में) महबूब खान, एच. एस. रवैल और यश चोपड़ा (बी. आर. चोपड़ा से अलग होने के बाद की फिल्मों में स्पष्ट रूप से)।

आचार्य रामानुज की परंपरा में सबसे समर्थ फ़िल्मकार देबकी कुमार बोस थे जिनकी छत्रछाया में कोलकाता के न्यू थिएटर से जुड़े फ़िल्मकारों और उनके अनुयायियों ने इतिहास बनाया। पी.सी. बरुआ को न्यू थियेटर में देबकी बोस ही लाए परंतु बरुआ और नितिन बोस अपने को देबकी बोस का अनुयाई नहीं मानते। 1931 में जब न्यू थिएटर बी. एन. सरकार के द्वारा शुरू हुआ तब लगातार दो साल में आठ असफल फिल्म दे कर बंद होने के कगार पर पहुंच गया था। इसी वक्त न्यू थिएटर में देबकी बोस आये और 'चंडीदास' (1932) बना कर न्यू थिएटर को नयी जान दे दी। परंतु डी.के. बोस के समर्पित शिष्यों ने उनका अनुसरण किया और हिंदी सिनेमा के कई घरानों को विकसित किया जैसे फणी मजूमदार, बिमल रॉय, केदार शर्मा, हेमेन गुप्ता, राज कपूर, हेमंत कुमार, शक्ति सामंत, ऋषिकेश मुखर्जी, लेख टंडन और बासु चटर्जी का घराना। कुछ हद तक गुलजार भी इसी घराने के फिल्मकार हैं। परंतु गीतकार के रूप में वे एक स्वतंत्र पहचान बनाने की कोशिश करते हैं ।

समर्थ रामदास की परंपरा के सबसे समर्थ फ़िल्मकार दादासाहेब फालके, बाबूराव पेंटर और प्रभात फिल्म कंपनी, पुणे से जुड़े फ़िल्मकारों का घराना था जिसमें शांताराम, वी.जी. दामले, एस. फत्तेलाल, एस.बी. कुलकर्णी, के.आर. ढेबर प्रमुख हैं।

वल्लभाचार्य की परंपरा के फिल्मकारों में चंदूलाल शाह, जयंत देसाई, विजय भट्ट, एस.एस. वासन, एल.वी. प्रसाद, श्रीधर और शशधर मुखर्जी का घराना शामिल है। आर्देशर ईरानी, सोहराब मोदी, और जे.बी.एच. वाडिया पर पारसी थिएटर, गुजराती लोकसंस्कृति और वल्लभाचार्य का मिलाजुला प्रभाव है। खासकर जे.बी.एच. वाडिया पर।

आर्यसमाजी पृष्ठभूमि के फ़िल्मकारों का कोई घराना तो नहीं बन पाया लेकिन आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित फ़िल्मकारों में चेतन आनंद, बी.आर. चोपड़ा, महेश कौल, पंडित मुखराम शर्मा आदि का नाम उल्लेखनीय है।

नवकेतन बैनर तले बनी फिल्मों पर शुरुआत में चेतन आनंद का प्रभाव स्पष्ट था। उस वक्त अपनी आर्यसमाजी पृष्ठभूमि के बावजूद, चेतन आनंद इप्टा से जुड़े

फिल्म संप्रदाय के सबसे कद्दावर फ़िल्मकार थे। लेकिन 'बाजी' (1952) फिल्म के निर्माण के दौरान चेतन और देवानंद की फिल्मी पृष्ठभूमि का अंतर्विरोध शुरू हुआ। शुरू में लगा कि यह इप्टा संप्रदाय और शशधर फिल्म घराना का अंतर्विरोध है। देवानंद और गुरुदत्त पर पी.एल. संतोषी के शशधर घराने का बुनियादी प्रभाव था। बाद में देवानंद और नवकेतन पर सचिन देव बर्मन (संगीतकार एस.डी. बर्मन) का बहु आयामी प्रभाव निर्णयकारी हो गया और चेतन आनंद तथा गुरुदत्त ने अपनी अपनी अलग पहचान बना ली।

गुरुदत्त ने एस.डी. बर्मन के साथ संबंध बनाए रखा। गुरुदत्त को नृत्य निर्देशक के रूप में पंडित उदय शंकर (पंडित रविशंकर के बड़े भाई), संगीतकार के रूप में एस.डी. बर्मन और फ़िल्मकार के रूप में पी.एल. संतोषी के शशधर मुखर्जी के स्कूल (घराना) ने गहराई में प्रभावित किया था। लेकिन अबरार अल्वी और वहीदा रहमान से दोस्ती उनके लिए वैसे ही विनाशकारी साबित हुई, जैसी मीना कुमारी के लिए कमाल अमरोही से विवाह। चेतन आनंद को बदलने में, नवकेतन से संबंध टूटना, 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण, नेहरू से मोहभंग की चर्चा तो की जाती है, लेकिन उनको नए तरीके से संभालने में रायबहादुर चुन्नीलाल (शशधर मुखर्जी के व्यावसायिक पार्टनर) के बेटे, संगीतकार, मदन मोहन का योगदान ज्यादा प्रभावी था।

महबूब खान पर बुनियादी प्रभाव आर्देशर ईरानी और मार्क्सवाद का था। वे इप्टा के सदस्य तो कभी नहीं रहे लेकिन राज कपूर, देवानंद, दिलीप कुमार और गुरुदत्त की तरह महबूब खान भी ताउम्र नेहरू के दोस्त और प्रशंसक बने रहे। परंतु ए. आर.कारदार से रिश्तेदारी और दोस्ती के बाद उनमें गुणात्मक बदलाव आया। अनिल विश्वास के शिष्य नौशाद अली एवं मार्क्सवादी महबूब खान को भी ए. आर. कारदार ने गुणात्मक रूप से बदलकर कलात्मक ऊंचाई छूने की दीक्षा दी। कारदार और उनके शागिर्द नौशाद अली के बिना ना तो महबूब खान 'मदर इंडिया'(1957) बना पाते, न के. आसिफ 'मुग़ल ए आज़म'(1960) और न ही एच. एस. रवैल 'मेरे महबूब' (1963) बना पाते।

रस और कला का दोहन करके कालजयी फिल्मों की रचना के गूढ़ रहस्य के पांच प्रमुख आचार्य ही 1930 के दशक से उल्लेखनीय हैं।

1. देबकी कुमार बोस (और उनका घराना जिसमें फणी मजूमदार, बिमल रॉय, केदार शर्मा, राज कपूर, शक्ति सामंत, हेमेन गुप्ता, हेमंत कुमार, लेख टंडन, ऋषिकेश मुखर्जी उल्लेखनीय हैं)।

2. बाबू राव पेंटर (और उनका घराना जिसमें दामले, फत्तेलाल, एस.बी. कुलकर्णी और शांताराम उल्लेखनीय हैं)।

3. ए.आर. कारदार (और उनका संप्रदाय जिसमें एम. सादिक, एस.यु. सन्नी, के. आसिफ, कमाल अमरोही, महबूब खान, एच.एस. रवैल और नौशाद अली उल्लेखनीय हैं)।

4. जे.बी.एच. वाडिया (और उनका घराना जिसमें होमी वाडिया, बाबूभाई मिस्त्री और मनमोहन देसाई शामिल हैं)।

5. शशधर मुख़र्जी (जिस घराने में निर्देशक ज्ञान मुखर्जी, एन. आर. आचार्य, शाहिद लतीफ़, सुबोध मुखर्जी, नंदलाल जसवंतलाल, पी.एल. संतोषी, देवानंद, गुरुदत्त, विजय भट्ट, सत्येन बोस, किशोर साहु, हेमेन गुप्ता, हेमंत कुमार, आर. के. नैयर, राम मुख़र्जी, नासिर हुसैन और मनोज कुमार शामिल हैं। रमेश सहगल पर पृथ्वी थियेटर, शशधर मुखर्जी और इप्टा का सम्मिलित प्रभाव था। शशधर मुखर्जी ने ही सआदत हसन मंटो, इस्मत चुगताई, पंडित प्रदीप, सत्येन बोस, रमेश सहगल, शाहिद लतीफ़, नासिर हुसैन को फिल्मों में लिखना सिखाया और इनको सितारा हैसियत दिलायी। शशधर मुख़र्जी ने न सिर्फ एस. डी. बर्मन को हिंदी सिनेमा में पहला मौका दिया बल्कि उनके बंगाली संगीत की पृष्ठभूमि को तकनीकी रुप से इतना परिमार्जित किया और करवाया कि नवकेतन से जुड़ने के बाद वे हिंदी फिल्म संगीत के सबसे समर्थ, बहुआयामी और लोकप्रिय व्याकरणाचार्य माने जाने लगे। फिल्मिस्तान में आने से पहले वे मूलतः बांग्ला गायक थे। शशधर मुख़र्जी ने उन्हें हिंदी सिनेमा की कथा–पटकथा, गीत और नृत्य के साथ फिल्म संगीत–बुनना सिखलाया। इसीलिए जब वे शशधर घराना से तैयार होकर निकले तो देवानंद, बिमल रॉय, गुरुदत्त, राजखोसला, विजय आनंद, हृषिकेश मुख़र्जी की फिल्मों को सफलता और कलात्मक ऊँचाई दिलवाने में निर्णयकारी भूमिका निभायी।

त्रेता युग के मिथकीय आख्यान में राम परंपरा के प्रतिनिधि हैं और रावण आधुनिकता के प्रतिनिधि हैं। परंपरा सनातन अनुभवों के संचित नियमों तथा सिद्धांतों पर आधारित होती है। परंपरा मानव निर्मित उत्पाद नहीं बल्कि प्रक्रिया है। फिर से नया होने की प्रक्रिया। प्रकृति की अनुकृति बनाने की कला। इसीलिए परंपरा का पाठ्यक्रम होता है। इसकी कोई एक किताब नहीं होती। तप दोनों जगह है लेकिन आधुनिकता में उत्पाद का महत्व बढ़ जाता है। आम आदमी उपभोक्ता हो जाता है। आम आदमी चमत्कारी उत्पादों पर निर्भर हो जाता है। इसमें प्रक्रिया को छिपाया

जाता है। केवल कैंप फ़ॉलोअर्स (कुछ चुने हुए लोगों) को ही प्रक्रिया का ज्ञान दिया जाता है। यह प्रक्रिया जनतांत्रिक नहीं होती। केवल बाहर से बहुत आकर्षक दिखती है, लेकिन भीतर से खोखली होती है। इतना खोखली कि श्रीलंका के आधुनिक स्वर्ग में रावण, कुम्भकर्ण और विभीषण जैसे तीन भाई साथ नहीं रह सकते। एक घर में, एक परिवार के भीतर तीन विश्वदृष्टि हैं। तीनों स्वयंभू व्यक्ति हैं। गुणात्मक रूप से अलग। कृषि एक रूपक है। आखेट भी एक रूपक है। रावण पर्यावरणवादी नहीं है। पर्यावरण की रक्षा के बहाने आखेट के द्वारा भोले भाले जीवों को खाने वाला है। कृषि दीर्घकालिक एवं स्वावलम्बी परंपरा का रूपक है। आयुर्वेद और प्रकृति चिकित्सा परंपरा है। यह अपने युग के लोकप्रिय विज्ञान पर आधारित समुदाय को जन्म देती है। इसके विपरीत एलोपथी चिकित्सा आधुनिक उद्योग और उपभोक्ता समुदाय बनाती है।

समाज के लोग विशेषज्ञों के मकड़जाल पर निर्भर होने के लिए अभिषप्त हैं। यूरोप में आधुनिकता पीटर और पॉल से अर्थात कैथोलिक ईसाइयत से शुरू होती है। लूथर ने इसको केवल दुबारा खोजा। काल्विन ने इसको केवल नया चोला पहनाया। ईसा शुक्राचार्य की तरह एक संत थे। एक ऋषि थे। पीटर रावण की तरह एक साम्राज्य चलाने वाले थे। रोमन कैथोलिक ईसाइयत एक नयी सभ्यता, एक नयी परंपरा नहीं बनाती। वह पेगन रोमन साम्राज्य को युक्ति से ईसाई साम्राज्य बना लेती है। ईसाई मिशन के लोग भोले भाले जनजातीय लोगों को तकनीकी ज्ञान नहीं देते बल्कि चमत्कृत करके ईसाई बनाते हैं। नीत्से नामक जर्मन दार्शनिक ने इस पर विस्तार से लिखा है। कार्ल मार्क्स और अन्य समाजशास्त्रियों ने इस पर सांकेतिक रूप से लिखा है। कुमार स्वामी एक बीच का रास्ता लेते हैं और पेगन और सेमेटिक परंपरा में संरचनात्मक सहधर्मिता खोजते हैं।

कुमारस्वामी संप्रदाय की राय में सूक्ष्म जगत में तीनों शक्तियां हैं –देव, दानव, दैत्य। ईसा मसीह परंपरा के प्रतिनिधि है। वे एशिया में पैदा हुए, पले, बढ़े, सीखे। वे कभी यूरोप नहीं गए। ईसा मसीह के सर्मन ऑन द माउन्ट और पीटर के रोमन कैथोलिक साम्राज्य में वही सम्बन्ध है जो राम और रावण में है। पीटर ने जब पेगन रोमन सम्राट को ईसाई बनाया तो रोमन सम्राट ने घोषणा कर दी अब रोमन साम्राज्य का हर नागरिक ईसाई बन जायेगा। दोनों (पीटर और रोमन सम्राट) ने मिलकर मध्यकालीन ईसाइयत को यूरोप में चौथी शताब्दी से जो साम्राज्यवादी स्वरूप दिया, वह विश्व में धर्म के इतिहास की अनोखी घटना थी। यूरोप में इस जैसी घटना कभी नहीं हुई थी। भारत में जैसा रावण की महिमा है, यूरोपीय इतिहास में पीटर की भी वही

महिमा है। रावण की तरह पीटर भी क्षणिक आधुनिकता की कौंध दिखलाकर युग परिवर्तन की भूमिका बना गए। रावण के संसार छोड़ने के कुछ वर्षों बाद श्रीलंका भी विभीषण के नेतृत्व में एक बार फिर पारम्परिक हो गया। 16 वीं शताब्दी के धर्म सुधार आंदोलन के बाद लूथर, ज्वींगली और काल्विन ने पीटर की आधुनिकता को खोजकर एक बार फिर प्रतिष्ठित किया। बीच का कालखंड पारंपरिक ही रहा। आधुनिक इतिहासकार इसे अंधकार युग कहते हैं।

इसी आधुनिकता की कोख से यूरोप में पहले आधुनिक साहित्य–खासकर आधुनिक उपन्यास, आधुनिक कला–शिल्प और अंत में यूरोपीय सिनेमा का जन्म हुआ। अमेरिकी सिनेमा यूरोप से विस्थापित होकर आये यहूदियों ने शुरू किया। यहूदी लोगों में अपने मातृभूमि से उखड़ने और परदेश में अपनी संस्कृति को संरक्षित रखने का 'सामुदायिक' या 'सामूहिक' जज्बा रहा है। यूरोप से मध्यकालीन ईसाई संस्कृति और सभ्यता को नष्ट करने में जितना योगदान इटली के पुनर्जागरण, जर्मनी से शुरू हुए धर्मसुधार आंदोलन, फ्रांस से शुरू हुए जनतांत्रिक आंदोलन और ज्ञानोदय, ग्रेट ब्रिटेन से शुरू हुए औद्योगिक उत्पादन पद्धति और रुसी साम्राज्य में हुए मार्क्स से प्रेरित सोवियत संघ के साहित्य, कला आदि का है, उससे ज्यादा योगदान यूरोप में रह रहे यहूदी अल्पसंख्यक समुदाय का रहा है। अमेरिका को स्वतंत्रता मिलने के बाद भले ही उसके 99 प्रतिशत से अधिक राष्ट्रपति प्रोटेस्टेंट ईसाई समुदाय से बने हैं परन्तु अमेरिका के बैंकिंग तथा सैन्य उद्योग को जर्मनी से आये यहूदियों ने तथा हॉलीवुड के नाम से विख्यात अमेरिकी सिनेमा को रूस तथा पूर्वी यूरोप से आकर बसे यहूदियों ने अपनी विश्व दृष्टि से आधुनिकता को संचालित करने के लिए हथियार की तरह इस्तेमाल किया है।

जैसा कि सर्वविदित है, ईसा मसीह का जन्म और पालन पोषण तो यहूदी समुदाय में एशिया में हुआ था। उन पर भारतीय दर्शन का प्रभाव है या नहीं इस पर सर्वानुमति नहीं है। परन्तु अब अधिकांश लोग यह मानने लगे हैं कि तक़रीबन तेरह वर्ष वे यरुसलम की यहूदी बस्ती से बाहर प्रदेश में रहे हैं। खासकर उनके भारत में रहने और लद्दाख के बौद्ध मठों में रहने के प्रमाण दिए जाते हैं। आनंद कुमारस्वामी इस विवाद में पड़े बिना यह दिखाते हैं कि यूरोप और ऐशिया की मध्यकालीन कला दृष्टि समरूप हो या न हो समानधर्मा अवश्य है। परन्तु वे इसी के साथ–साथ यह भी जोड़ते हैं कि यूरोपीय या भारतीय आधुनिकता का अपनी–अपनी परंपरा से गुणात्मक अलगाव एवं विभेद है। इस आधुनिकता को बनाने में यहूदी चिंतकों का योगदान अब धीरे–धीरे स्वीकारा जा रहा है। यह योगदान बहुत सूक्ष्म और कलात्मक

रणनीति के तहत शांत और करीब – करीब गुमनाम कर किया गया है। नास्तिक यहूदी दार्शनिक स्पीनोजा को गंभीर समकालीन विद्वान यूरोपीय आधुनिकता का प्रथम सिद्धांतकार मानते हैं। रेने डेकार्ट का महत्व सीमित था। ईसाईयों और मुसलमानों के वर्चस्व वाले इलाके में हज़ारों वर्षोंतक अभिशप्त एवं लाँछित अल्पसंख्यक समुदाय का दंश झेलने वाले यहूदियों का आत्मसंघर्ष सांस्कृतिक अस्तित्व बचाने के दायित्व बोध से निरीह दिखता अवश्य है। परन्तु अपने सैन्य अनुसन्धान, उत्पादन एवं वितरण के साथ–साथ सिनेमा के माध्यम का दोहन कर उन्होंने अमेरिका और फिर इजराइल में रह कर यूरोप की ईसाई संस्कृति एवं पूजा पद्धति को सदा के लिए बदल दिया। पोप फ्रांसिस ने भी इस सच्चाई को स्वीकार कर अपने अनुयायियों से आत्मनिरिक्षण करने का आग्रह किया है। पोप फ्रांसिस कई अर्थों में पोप जॉन पॉल द्वितीय से ज्यादा मौलिक चिंतक के रूप में निखर रहे हैं। वे अपने को पोप जॉन पॉल द्वितीय का अनुयायी अवश्य कहते हैं। यह उनकी विनम्रता है। वरना दोनों में गुणात्मक अंतर है।

भारत में प्रतीकात्मक रूप से पहला आधुनिक, रावण था परन्तु उसकी आधुनिकता उसकी मृत्यु के बाद चल नहीं पायी। ऐतिहासिक रूप से भारतीय आधुनिकता गौतम बुद्ध से शुरु होती है लेकिन यह यूरोपीय आधुनिकता से गुणात्मक रूप से भिन्न है। प्रतीकात्मक रूप से यूरोप में आधुनिकता पीटर से शुरू होती है। यह अब तक एक रहस्य है कि पीटर ने रोमन साम्राज्य को ज्यादा ईसाई बनाया या रोमन साम्राज्य ने ईसा के मूल उपदेशों को बदल दिया। पोप जॉन पॉल द्वितीय पीटर की तरह थे। पोप फ्रांसिस ईसा मसीह और संत फ्रांसिस की तरह हैं।

बुद्ध ने धर्म, ध्यान और व्यवस्था के क्षेत्र में एक साथ काम किया। मठों की स्थापना की। उन्हें चलाने का प्रबंधन तय किया। उनके लिए अक्षय निधि की स्थापना करने की विधि बताई। इस निधि के प्रयोग के नियम बनाए। वे दुनिया के पहले प्रबंधन गुरु थे। वे पहले साम्राज्य निर्माता थे। कालांतर में बौद्ध दृष्टि तीन भागों में विभाजित हो गई –स्थविरवाद (हीनयान), महायान और वज्रयान। महायान ने उनके तीनों पक्षों की रक्षा की है। खासकर चीन ने। करीब 90% चीनी परिवार आज भी संस्कार से बौद्ध हैं। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का एक शक्तिशाली धड़ा आज भी बौद्ध है। कनफ्यूशियस कोई धर्म गुरु नहीं, चाणक्य की तरह राजनीतिक–सामाजिक विचारक थे। लाओत्से, ईसा मसीह, जल्लालुद्दीन रूमी या कबीरदास की तरह एक संत थे। महायान भी भारतीय ऋषियों की तरह यही मानता है कि सत्ता किसे मिलेगी यह आसमान में तय होता है। धरती पर तो केवल युद्ध लड़ा जाता है। प्रचार इस युग

का सबसे सूक्ष्म युद्ध है। इससे हवा बनाई जाती है। मार्क्स ने अपनी पुस्तक कैपिटल में इसका विखंडन किया है। करीब अठारहवीं सदी से कलियुग के इस चरण को वैश्य युग कहना ज्यादा अर्थवान है। पश्चिमी शब्दावली के मॉडर्न शब्द का तात्विक अर्थ शून्य है।

काल या समय से टकरा कर किसी को क्या मिलेगा? समय से केवल संवाद बनाया जा सकता है। समय की पूजा की जा सकती है। समय शव भी है और चेतना अर्थात शिव भी। शिव जब निर्विकल्प समाधि में चले जाते हैं, तब शव बन जाते हैं। शिव के शव की छाती पर चढ़ कर, काली अर्थात काल की माता जड़ता को, आलस्य को, यथास्थिति को, रूटीन को ताण्डव द्वारा तोड़ती है। शव अर्थात पृथ्वीतत्त्व को शक्ति जब तक छाती पर चढ़कर नहीं तोड़ती, ताण्डव नहीं करती, तब तक पृथ्वीतत्व किसी काम का नहीं होता। न उससे जीविकोपार्जन हो सकता है और न उससे आनंद की प्राप्ति हो सकती है। हाइडेगर का अस्तित्ववाद भी अपने समय से संवाद है। उसी तरह जिस तरह 'छायावाद' खास कर निराला की कविता (मसलन, वह तोड़ती पत्थर और राम की शक्ति पूजा या तुलसीदास) और प्रसाद के नाटक (चंद्र गुप्त, स्कंद गुप्त, ध्रुवस्वामिनी) भारत में समय से संवाद हैं। भक्तिकाल भी अपने समय से संवाद था।

प्रारम्भ में समय व्यक्ति के अहंभाव या अहंकार को तोड़ता है। फिर अहंकारहीन जीव अर्थात अस्तित्व या समय रूपी चट्टान को तोड़ता है। उसे उर्वर बनाता है। उर्वर मिट्टी में कृषि भी हो सकती है, उससे मूर्ति भी बन सकती है, भवन भी बन सकता है। इससे यथास्थिति से संघर्ष, संवाद, विवाह द्वारा सृष्टि कर सकने की स्थिति बनती है।

प्रथम विश्वयुद्ध (1914 से 1919) के समय भारत में गाँधी भी हैं और निराला भी हैं। प्रसाद भी हैं। रामचन्द्र शुक्ल भी हैं। टैगोर भी हैं। श्री अरविन्दो भी हैं। तिलक भी हैं और राजा रवि वर्मा भी। पश्चिम में दुर्खाइम, फ्रायड, आइंस्टीन हैं। चर्चिल भी हैं। टॉलस्टॉय, रस्किन और दोस्तोयवस्की भी हैं। मार्क्स और नीत्शे इनसे पहले के हैं। स्पेंगलर, टॉयनबी, सोरोकिन भी हैं। इसी सांस्कृतिक इतिहास की कोख से 1913 में मूक भारतीय सिनेमा का जन्म हुआ। दादा साहेब फाल्के की 'राजा हरिश्चंद्र' 1913 में बनी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध (1939–1945) में स्टालिन, हिटलर, विलफ्रेडो परेटो, हाइडेगर भी हैं। ज्यां पॉल सार्त्र, क्लोद लेवी स्ट्रॉस, रेमण्ड एरॉन भी हैं। चर्चिल भी हैं। माओ की पीढी उभर रही है। भारत में अज्ञेय की पीढ़ी सचेत हो रही थी। गाँधी, टैगोर, अरविंदो का विकास बंद हो चुका था। सुभाष चंद्र बोस और जवाहरलाल नेहरू की पीढ़ी सचेत हो रही थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिंदी

सिनेमा, सवाक फिल्मों के दौर में, अपनी ठेंठ देसी कला की भाषा विकसित करने लगा था। 1931 की आर्देशिर ईरानी की 'आलम आरा' (1931) से शुरू हुआ सवाक फिल्मों का दौर, 1943 में 'किस्मत' नामक थ्रिलर जोनर (शैली) की फिल्म तक अपने सिनेमाई मनोरंजन की लोकप्रियता का शिखर छू चुका था। 'किस्मत' की सफलता के पीछे शशधर मुखर्जी का विज़न और ज्ञान मुखर्जी का निर्देशन था।

हिन्दी अथवा हिंदुस्तानी सिनेमा नेहरू के बाद

1962 में चीन से मिली हार के बाद नेहरू के नेतृत्व और उनकी समाजवादी – मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति भारत की जनता और हिंदी सिनेमा के दर्शकों में गुस्सा था। इस गुस्से की सुगबुगाहट द्वितीय पंचवर्षीय योजना(1957–1962) में गॉव और कृषि की उपेक्षा और औद्योगीकरण तथा नगरी–करण पर जोर देते ही होने लगी थी। नेहरू की मृत्यु के बाद, लालबहादुर शास्त्री और विनोबा भावे के नेतृत्व में गाँधीवादी विचारधारा को चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, कम्युनिष्टों, लोहिया के अनुयायिओं, अंबेडकरवादियों और संघ परिवार ने, एक नई भारतीय संवेदना को समाहित करके चुनौती पेश किया। इसमें बंकिम, टैगोर, शरतचंद्र, प्रसाद, पंत, निराला, रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, प्रेमचंद, भगवती चरण वर्मा, महादेवी वर्मा, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, दिनकर आदि का लेखन खाद बना। हिंदी सिनेमा में रस सिद्धांत का बिना शोर मचाए काया प्रवेश हुआ।

हर विचार की एक उम्र होती है। एक विचार आता है, दूसरा जाता है। विचार का कोई स्थायी भाव नहीं है। ऐसा हो भी नहीं सकता। विचार पहले आता है। फिर फैलता है। उसके बाद संगठन, पार्टी, संस्था का भविष्य बनता है। 1925 से संघ हिंदू राष्ट्र का विचार लेकर चलता रहा। गांधी–नेहरू–पटेल ने इसे सनकी विचार माना। लेकिन संघ फैलता रहा। उसका विचार भी धीरे–धीरे फैलता रहा। संघ ने 1964 में विश्व हिंदू परिषद की स्थापना की (29 अगस्त 1964)। नेहरू की मृत्यु 27 मई 1964 को हो चुकी थी। महबूब खान की मृत्यु 28 मई 1964 को हो चुकी थी। महबूब खान की पांच साल की कड़ी मेहनत के बाद बनी सबसे अधिक महत्वाकांक्षी, सबसे भव्य, सबसे महंगी किन्तु सबसे अधिक असफल फिल्म थी 'सन ऑफ इंडिया'(1962), जिसकी शीर्षक भूमिका उनके बेटे साजिद खान ने निभाई थी। बोझिल और उबाऊ कथा–पटकथा वाली इस फिल्म की असफलता ने महबूब खान को इतना सदमा पहुंचाया कि उनकी अंतिम फिल्म उनकी मृत्यु का कारण बनी। गुरुदत्त की मृत्यु भी दस अक्तूबर 1964 को हो गयी। नेहरू, महबूब खान, गुरुदत्त और ख्वाजा अहमद अब्बास तथा चेतन आनंद की विचारधारा 1962–1963 तक एक ही मानी जाती

थी। इस विचारधारा के तीन प्रवर्तकों की एक ही साल में मृत्यु, इस स्कूल के फिल्मकारों एवं फिल्मों के लिए भयानक दुखदायी घटना थी। परन्तु इसी कालक्रम (1962–1963) में लिखी एवं फिल्मायी गयी फिल्म 'हकीकत' (1964) जब रिलीज हुयी तो समाजवादी एवं मार्क्सवादी विचारधारा का हिंदी अथवा हिंदुस्तानी सिनेमा में कोई नामलेवा नहीं बचा।

चेतन आनंद अपनी पहली फिल्म 'नीचा नगर' (1946) के प्रदर्शन से पहले से भारतीय साम्यवादी आंदोलन की संस्था, इप्टा, के संस्थापक सदस्य थे। इसके गीतकार कैफ़ी आजमी तथा नायक बलराज साहनी भी इप्टा के संस्थापक सदस्यों में थे। 1964 में ही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का सी.पी.आई और सी.पी.आई(एम) के रूप में विभाजन हुआ था। सी.पी.आई के लोग मोटे तौर पर जवाहरलाल नेहरू और कांग्रेस पार्टी के समर्थक बने रहे। जबकि सी.पी.आई(एम) की सहानुभूति 1962 के आक्रांता साम्यवादी चीन के प्रति थी। चेतन आनंद ने एक तीसरा लाइन लिया। अपनी फिल्म 'हकीकत' (1964) में उन्होंने न सिर्फ 1962 के भारत–चीन युद्ध को अपने कथानक का आधार बनाया बल्कि सांकेतिक रूप से उन्होंने नेहरू शासन के दौरान भारतीय समाज एवं भारतीय सेना की दुर्दशा की बखिया उधेड़ दी। इस तरह हिंदुस्तानी सिनेमा में नेहरू, मेहबूब खान और गुरु दत्त की मृत्यु के साथ ही 1964 में रिलीज हुई फिल्म 'हकीकत' (चेतन आनंद) ने हिंदी सिनेमा में लोकप्रियता का मानदंड एवं पटकथा लेखन का व्याकरण बदल दिया। अब विचारधारा आधारित राजनीतिक प्रोपगैंडा फिल्मों का युग समाप्त हो गया था। यह अलग बात है कि नरेंद्र मोदी के दौर में (2014 से 2019) इस तरह की प्रोपगैंडा फिल्मों की वापसी से पहले भी, बीच–बीच में, कुछ उल्लेखनीय फिल्में लगातार बनती रही। परंतु राजनीतिक विचारधारा पर आधारित फिल्मों का हिंदी सिनेमा में सजग रूप से दो ही युग रहा है। नेहरू युग और नरेंद्र मोदी का युग। नेहरू युग वामपंथी विचारधारा का युग था। मोदी युग दक्षिणपंथी विचारधारा का युग है।

नेहरू के चमत्कारिक व्यक्तित्व और आभामंडल से प्रभावित होकर हिंदुस्तानी सिनेमा में जिस प्रकार के नायक और कथानक को 1948 से 1962 तक फिल्मों की व्यावसायिक सफलता की गारंटी माना जाता था वह धीरे धीरे व्यावसायिक अनिश्चितता का खेल बन गया। दर्शकों में यह विचारधारा, यह कलात्मक संवेदना, यह सौंदर्यशास्त्र अपना आकर्षण खोता गया और नई प्रवृत्तियों, नए रुझान वाले निर्माताओं का आगमन हुआ।

1962 में राजश्री प्रोडक्शंस की पहली फिल्म 'आरती' आई। अशोक कुमार,

प्रदीप कुमार और मीना कुमारी की इस फिल्म ने ताराचंद बड़जात्या और राजश्री प्रोडक्शंस को स्थापित कर दिया। 1962 में ही संगीतकार हेमंत कुमार निर्माता बने और उनकी बिना सितारा वाली हॉरर फिल्म 'बीस साल बाद' केवल अपने गीत, संगीत और पार्श्व संगीत के बल पर 1962 की सफलतम फिल्म साबित हुई। 1962 में ही पहलवान दारा सिंह की पहली फिल्म 'किंगकोंग' आई जो 1962 की पांचवी सबसे सफल फिल्म थी।

1965 के भारत–पाक युद्ध के बाद से भारत के बहुसंख्यक हिंदुओं का आत्म – विश्वास और हिंदी सिनेमा के बहुसंख्यक दर्शकों की आत्म सजगता लगातार बढ़ती गई। इसका सबसे बड़ा प्रमाण वेल मेड अभारतीय गैर–हिंदू संवेदना वाली फिल्मों का लगातार फ्लॉप होते जाना कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए:– आसमान महल (1965) निर्देशक– ख्वाजा अहमद अब्बास, दिल दिया दर्द लिया (1966) निर्देशक– अब्दुल रशीद कारदार, तीसरी कसम (1966) निर्देशक–बासु भट्टाचार्य, आखरी ख़त (1966) निर्देशक– चेतन आनंद, संघर्ष (1968) निर्देशक–एच.एस. रवैल, आदमी (1968) निर्देशक– ए. भीमसिंह, मेरा नाम जोकर (1970) निर्देशक– राज कपूर, शतरंज के खिलाड़ी (1977) निर्देशक– सत्यजीत रे, कर्ज (1980) निर्देशक–सुभाष घई, सिलसिला (1981) निर्देशक–यश चोपड़ा, प्रेम रोग (1982) निर्देशक–राज कपूर, कलयुग और रामायण (1987) निर्देशक– बाबूभाई मिस्त्री, लम्हे (1991) निर्देशक–यश चोपड़ा, खुदा गवाह (1992) निर्देशक– मुकुल एस आनंद, जांनशीन (2003) निर्देशक–फ़िरोज़ खान, स्वदेस (2004) निर्देशक–आशुतोष गोवारिकर, लक्ष्य (2004) निर्देशक–फरहान अख्तर, फना (2006) निर्देशक– कुणाल कोहली, वेलकम टू सज्जनपुर (2008) निर्देशक–श्याम बेनेगल, काइट्स (2010) निर्देशक–अनुराग बसु, माई नेम इज खान (2010) निर्देशक–करण जौहर, गुजारिश (2010) निर्देशक–संजय लीला भंसाली, बॉम्बे वेलवेट (2015) निर्देशक– अनुराग कश्यप, फैन (2016) निर्देशक–मनीष शर्मा, बेफिक्रे (2016) निर्देशक–आदित्य चोपड़ा, ट्यूबलाइट (2017) निर्देशक–कबीर खान, ठग्स ऑफ हिंदुस्तान (2018) निर्देशक–विजय कृष्ण आचार्य। सितारा जडित, नफासत से बनी, भव्य फिल्मों की व्यावसायिक असफलता ने कोई संदेह नहीं रहने दिया कि हिंदी सिनेमा के दर्शक बदल चुके थे जो पार्टी लाइन पर निर्मित फिल्मों को नकारने लगे थे। युग बदल चुका था। यह बदलाव अच्छा था या बुरा, इस पर विद्वानों में सहमति न है, न हो सकती है। परंतु यह एक सामाजिक तथ्य है, जिससे मुंह मोड़ कर किसी का भला नहीं हो सकता। हां गंभीर विश्लेषण अवश्य होना चाहिए।

नेहरू के बाद के भारत में हुए अधिकांश आंदोलनों, जिसमें समाजवादियों का जाति तोड़ो, दलित, आदिवासी, महिला आदि आंदोलनों के पीछे समाजवादी– अंबेडकरवादी– सेक्युलरवादी दिमाग था। इनके बारे में खूब लिखा गया। इसे खूब प्रचारित किया गया। लेकिन सच यह है कि वे आंदोलन सत्ता में भागीदारी के लिए, इन वर्गों के समृद्ध, संपन्न, पढ़े–लिखे हिस्से का इलीट अभिजात आंदोलन था। मंडल आंदोलन भी इसी तरह सत्ता में हिस्सेदारी का उत्कट आंदोलन था। इन आंदोलनों ने भारतीय गणतंत्र को मजबूत किया। लेकिन ये जनआंदोलन नहीं थे। इनका समाज, संस्कृति एवं सिनेमा पर निर्णयकारी प्रभाव नहीं पड़ा।

लेकिन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेतृत्व में हिंदुत्व का आंदोलन धीरे–धीरे संस्कृतिकरण का एक प्रचंड सामूहिक आंदोलन बनता चला गया। भारत के बुद्धिजीवियों ने लगातार इसकी उपेक्षा की। एम. एन. श्रीनिवास जैसे जिन विद्वानों ने इसको स्वीकारा, उन्हें लांछित करके दिल्ली से बाहर (जैसे बेंगलुरु) जाने के लिए विवश किया गया।

कमर वहीद नकवी ने बीबीसी हिंदी के लिए लिखे गए अपने लेख (28–11–2 0 1 8) में इसे पहली बार रेखांकित किया। नकवी लिखते हैं, सेकुलर शब्द संविधान के अलावा अब पूरे राजनीतिक विमर्श में अछूत बन चुका है। सेकुलरवाद की राजनीति के तंबू समेटे जा चुके हैं। मुसलमानों की बात अब कोई नहीं करता। हां, मुसलमानों से बात कर लेते हैं। योगी आदित्यनाथ गलत नहीं कहते कि राहुल का जनेऊ दिखा कर खुद को सनातनी हिंदू (दत्तात्रेय गोत्र, कौल ब्राह्मण जाति) दिखाने का प्रयास संघ परिवार की वैचारिक विजय है। नकवी के अनुसार, वोटों की लड़ाई में चाहे कोई हारे–जीते, कांग्रेस राजनीतिक जमीन हार चुकी है। उसने मान लिया है कि अपने एजेंडे पर चल कर वह खड़ी भी नहीं रह सकती। भलाई इसी में है कि वह संघ के एजेंडे पर चलना शुरू कर दे। वैचारिक धरातल तो कांग्रेस पार्टी बहुत पहले, इंदिरा गाँधी के जमाने से ही छोड़ चुकी है। तब से कांग्रेस ने राजनीति को महज वोटों की, सत्ता की लड़ाई बना लिया।

यह सच है कि नेहरू के बाद कांग्रेस के पास न कोई वैचारिक संगठन है, न संस्था, न माध्यम, न कार्यक्रम, न मुहिम जिससे देश के लोगों को किसी न किसी रूप में कांग्रेस से जोड़ा जा सके। 1966 की गोपाष्टमी के दिन संघ परिवार के संगठन विश्व हिंदू परिषद के नेतृत्व में कई हिंदू संगठनों ने संसद भवन को घेरा। हजारों लोग मारे गए। गऊ रक्षा के इस आंदोलन का नेतृत्व करने के लिए गाँधीवादी विनोबा भावे को तैयार कर लिया गया। तब से लेकर अब तक संघ का संगठन और विचार लगातार

फैलता रहा। इसी लेख में नकवी कहते हैं कि संघ एक व्यापक हिंदू ध्रुवीकरण की इंजीनियरिंग का तरीका खोज चुका है और उसके लिए पूरा तंत्र भी खड़ा कर चुका है। चुनावों में बी.जे.पी या कांग्रेस कौन जीतेगा, इससे संघ को फर्क नहीं पड़ता।

2019 के लोकसभा चुनाव में यदि भाजपा की करारी हार भी हो जाती तब भी कांग्रेस और राहुल की वर्तमान मानसिकता में संघ के हिंदूवादी नैरेटिव से टकराने या इसको बदलने की कोई इच्छाशक्ति या रणनीति नहीं बची थी। अब तो भाजपा के पास प्रचंड बहुमत है। देश फिलहाल संघ के नैरेटिव से चलाया जाऐगा। सवर्णों से लेकर पिछड़ों और दलितों तक एक व्यापक हिंदू पहचान को आकार देने में संघ अब पूरी तरह सफल हो चुका है। संघ को चुनावों से नहीं, वैचारिक आंदोलन से ही पराजित किया जा सकता है। लेकिन वर्तमान में कांग्रेस समेत किसी भी क्षेत्रीय दल के पास संघ से वैचारिक स्तर पर युद्ध कर पाने का कोई उपकरण नहीं है। शॉर्टकट के सारे रास्ते फिलहाल नागपुर के संघ मुख्यालय ही पहुंचते हैं। यह संघ के लिए एक संभावना भी है और चुनौती भी। मेरी जानकारी में कमर वहीद नकवी से पहले, नेहरू के बाद हुए भारत के सांस्कृतिक परिवर्तन के बारे में एम.एन. श्रीनिवास अकेले समाजशास्त्री थे जिन्होंने इस विषय पर लगातार लिखा और भारत में संस्कृतिकरण की अपनी अवधारणा को बदलते परिवेश में लगातार संशोधित करते रहे। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित उनके कौलेक्टेड ऐसेज (संकलित निबंधों) में, ये लेख अब सुलभ हैं।

भारत में सिनेमा और संस्कृति –एक

एक बार श्री गौतम कौल (सिनेमा के रसिक, पूर्व पुलिस अधिकारी और इंदिरा गांधी के ममेरे भाई) ने एक सवाल पूछा कि भारतीय सिनेमा को आप कितना भारतीय मानते हैं? मैंने इसका उत्तर (2006–7) तक देना ठीक नहीं समझा। फिर कौल साहब ने खुद इसका उत्तर लिख कर दिया और जब मैंने इसे प्रकाशित करने की इजाजत मांगी तो उन्होंने अपना लेख संशोधित करके दुबारा देने के बहाने वापिस ले लिया। और आज (नवंबर 2019 के अंत) तक नहीं दिया।

मुझे उनसे कोई शिकायत नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर ना सीधा है, ना सरल। इसी तरह 2016 के अगस्त में मेरे द्वारा फरवरी 2007 के बाद सिनेमा एवं संस्कृति पर आयोजित दूसरी संगोष्ठी के एक सत्र में मेरे अध्यक्षीय भाषण के अंत में श्री गौतम कौल ने यह स्थापित करना चाहा कि अमेरिका में फिल्म इसलिए शुक्रवार को रिलीज होती हैं चूंकि शनिवार, रविवार की लंबी छुट्टियों (वीकेंड) में दर्शकों को फिल्म देखने

में सुविधा होती है और निर्माता एवं वितरक को अच्छा मुनाफा होता है।

उनकी इस स्थापना के बाद जब मैंने एक निःश्छल प्रश्न पूछा कि आखिर अमेरिका में शनिवार, रविवार को ही छुट्टियां क्यों होती है? किसी भी अन्य दिनों में दो दिन छुट्टी हो सकती थी? कौल साहब निरुत्तर और असहाय दिखने लगे। सत्र पूरा हो चुका था, वे अपनी गरिमामय उपस्थिति की महक छोड़ शांत दिखते हुए, अशांत मन से चले गए।

इसी तरह एक बार नाट्य अभिनय में प्रशिक्षित और पारंगत श्रीमती वाणी त्रिपाठी टिक्कु और श्री अखिलेंद्र मिश्रा ने फिल्म समीक्षक सुश्री भावना सोमैय्या के सामने स्थापना की कि नाटक या थियेटर अभिनेता का माध्यम है, जबकि सिनेमा निर्देशक का माध्यम है। मैंने जब एक भोला सवाल किया कौन कहता है? तो दोनों की हालत अजीब हो गई– मतलब? क्या इस पर भी विवाद हो सकता है? सभी नाट्य कर्मी यही मानते हैं? सभी फिल्म अभिनेता यही मानते हैं? क्या आप इससे सहमत नहीं हैं? इब्राहिम अलकाजी, सत्यदेव दुबे, कमलेश दत्त त्रिपाठी सभी इसी स्थापना को दोहराते रहते थे।

चूंकि दोनों मुझसे आयु और अनुभव में छोटे हैं, मुझे आदर देते हैं अतः वे कह नहीं पा रहे थे कि क्या मैं अपनी सनक और पागलपन में एक स्थापित तथ्य को नकारने की कोशिश कर रहा हूँ। परन्तु सिनेमा के समाजशास्त्री के रूप में, अपने 40 साल के वस्तुनिष्ठ अनुभव के आधार पर, भारतीय सिनेमा एवं समाज के बारे में मेरी स्पष्ट धारणा है कि भारत में मंचित नाटक व्यावहारिक रूप से निर्देशक का माध्यम है, जिसमें नाटक की कहानी, पटकथा दृश्य संयोजन, मंच विन्यास के साथ साथ अभिनेताओं की प्रतिभाओं का समुचित सदुपयोग किया जाता है। लगातार नाटकों में काम करने के कारण कुछ अभिनेताओं को स्टार हैसियत भी मिलती है। लेकिन हर अभिनेता अपने निर्देशक की कठपुतली ही होता है। वह सिनेमा के सुपर सितारों की तरह नखरा करने या पटकथा में बदलाव करवाने का दुःसाहस नहीं कर पाता। दूसरी ओर, अपने प्रारम्भ से ही हर व्यावसायिक सिनेमा उद्योग अथवा सिनेमा की निर्माण प्रक्रिया, निर्माता केंद्रित होती है। यह स्टूडियो सिस्टम के काल में होता ही था, इस युग के बीतने के बाद भी, कम से कम भारत में निर्माता –निर्देशक केंद्रित हो गया। अगर निर्माता एवं निर्देशक अलग अलग व्यक्ति होते थे तो सन 1950 के बाद, कभी–कभार, अपार लोकप्रियता प्राप्त सुपर सितारों की मर्जी हिंदुस्तानी सिनेमा में चलती थी। हालांकि 1970 के दशक तक ऐसा बहुत कम होता था। अतः कुछ अपवादों को छोड़ कर, जब निर्माता सिनेमा की विधा से पूरी तरह अनजान व्यवसायी

या उद्योगपति मात्र होता था, निर्देशक की तकनीकी या कलात्मक श्रेष्ठता पर निर्माता की सिनेमाई दृष्टि भारी पड़ती थी।

जहाँ तक कुशल अभिनेताओं की प्रतिभा की अभिव्यक्ति का सवाल है, स्वतन्त्र भारत के इतिहास में अभिनेताओं की प्रतिभा का सबसे अधिक सदुपयोग राजनीतिक दलों ने किया है। खास कर, दक्षिण भारत की राजनीति में लोकप्रिय अभिनेता एवं अभिनेत्री की केन्द्रीयता को देखते हुए यही कहना पड़ेगा कि भारतीय राजनीति मूलतः अच्छे अभिनेताओं एवं अभिनेत्रियों का माध्यम है। भारत के अधिकांश लोकप्रिय एवं सफल राजनेता एवं राजनेत्री अपनी अभिनय क्षमता या संवाद अदायगी (डॉयलॉग डिलीवरी) के आधार पर ही महानता का कल्ट स्टेटस या प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। कम से कम भारतीय संदर्भ में तो यही सही है। भले ही यूरोपीय संदर्भ में, नाटक अभिनेता का माध्यम और सिनेमा निर्देशक का माध्यम होता होगा या समीक्षकों द्वारा माना जाता है। परंतु अमेरिकी सिनेमा की स्थिति भी हिंदुस्तानी सिनेमा जैसी ही रही है, न कि यूरोपीय सिनेमा की तरह।

इसी तरह, एक बार पुणे फिल्म संस्थान के पुराने विद्यार्थी, पटकथा के शिक्षक एवं शाओलिन प्रकाशन के संपादक मनमोहन चड्ढा से भारतीय सिनेमा पर केंद्रित मेरी इस किताब के प्रकाशन के संदर्भ में एक मनोरंजक बातचीत हुई:–

मनमोहन:– आप सिनेमा को संस्कृति से किस तरह जोड़ते हैं?

अमित शर्मा:– मैं नहीं जोड़ रहा हूँ। यह शुरू से 1913 से 1931 से, 1942 से 1947 से आज तक करीब– करीब लगातार, जुड़ा ही रहा है। जब भारत में फिल्म निर्माण शुरू हुआ तो हम अंग्रेजी राज के गुलाम थे। इस राज ने हमारी फिल्मों के विकास में कोई मदद नहीं की। ब्रिटिश राज के समर्थक सामंतों और पूँजीपतियों का आश्रय भी इसे नहीं मिला। यह स्वतंत्रता संग्राम की प्रेरणा से और दर्शकों के पैसे से पला–बढ़ा, फला–फूला। इसे अभिजात वर्गों ने कभी नहीं सराहा। इसे बहुत ज्यादा पुरस्कार नहीं मिले। तो हिंदी फिल्म उद्योग की, एक अपनी देशज संस्कृति विकसित हुई, जो किसी अन्य देश के फिल्म निर्माण से अलग है। इसके उपभोग और रसास्वादन की संस्कृति नाटक, जात्रा की पारंपरिक संस्कृति के भीतर से धीरे–धीरे विकसित हुई।

साहित्य और सिनेमा अलग–अलग तरह के कला वितान हैं। सिनेमा नाटक के ज्यादा करीब है। साहित्य स्वान्तः सुखाय (कला कला के लिए) भी लिखा जाता रहा है। सामान्यतः भारत में सिनेमा, दर्शकों के लिए बनाया जाता है। जबकि नाटक

भरतमुनि के समय से ही दर्शकों के लिए लिखा और खेला जाता रहा है। आज भी बिना दर्शकों की मंडली, जिसे रसिक समुदाय या सुधीजन भी कहा जाता है, के बिना नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती।

मनमोहनः– साहित्य की तरह सिनेमा भी बिना दर्शकों को ध्यान में रखकर बनता रहा है। परंतु नाटक की कल्पना सचमुच बिना दर्शकों के नहीं की जा सकती।

अमित शर्माः– यूरोप में कुछ फ़िल्मकार रहे हैं जिन्होंने सरकारी या गैर सरकारी संरक्षण में, सिनेमा को रीतिकालीन साहित्य के तर्ज पर, 'कला' कला के लिए, कलाकार–फ़िल्मकार की आत्म तुष्टि के लिए कुछ फ़िल्में बनाई थीं। परंतु ऐसी फिल्मों का समाज पर और दर्शक समुदाय पर, खासकर मध्यवर्ग और सजग निम्न वर्ग पर, कोई असर नहीं रहा। ऐसी फिल्में पुरस्कार समारोहों, समालोचकों को ध्यान में रखकर, सरकारी कृपा एवं संरक्षण या सामंतों या पूँजीपतियों द्वारा दिए गये गैर सरकारी अनुदानों के अनुग्रह पर, मध्यकालीन दरबारी कला की तर्ज पर बनती हैं। परंतु ऐसे तथाकथित बुद्धिजीवी या साहित्यिक फ़िल्मकार भारत में कम रहे हैं और जो हुए भी हैं उन्हें भारत की मुख्यधारा का फ़िल्मकार नहीं माना जाता। वे खुद भी ऐसा दावा नहीं करते।

दरअसल पश्चिमी आधुनिकता की गुलाम संस्कृति के दरबारी होने के कारण, ऐसे फ़िल्मकार, भारतीय दर्शकों को हिकारत की दृष्टि से देखते रहे हैं और खुद को पश्चिमी अर्थों में सभ्य तथा अभिजात समझकर खुशफहमी में जीते रहे हैं। इनके गिने–चुने दर्शक या इनके कृत्रिम आभामंडल से चौंधियाए, मुफ्तखोर चाटुकार भी, खुद को अभिजात दर्शक मानते हैं और इन फ़िल्मकारों की बनाई फिल्मों को 'नपुंसक गर्व' से 'पैरेलल (समानांतर) सिनेमा' या 'कला फिल्में' कहते नहीं अघाते। यह अलग बात है कि ये लोग अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उखड़ कर, देश काल में इतने विस्थापित रहे हैं कि अपनी 'बेखुदी' में इन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि आम भारतीय दर्शक इन्हें, ज्यादा से ज्यादा विदूषक समझ, मुस्कुराकर नजर अंदाज करते रहे हैं। यह भारतीय दर्शकों की सहिष्णुता का उदाहरण है।

मनमोहनः– क्या आपकी दृष्टि पर जे.एन.यु कैंपस में रहने का प्रभाव है ?

अमित शर्माः– मैं इससे इनकार तो नहीं कर सकता कि अगस्त 1986 से जे.एन.यु कैंपस में रहता हूं। परंतु बीच–बीच में, कैंपस की परिधि छोड़कर, भारतीय सिनेमा की निर्माण संस्कृतियों और रसास्वादन संस्कृतियों के तीर्थों में तीर्थाटन भी करता रहा हूँ। मैं जे.एन.यु के प्रचलित अर्थों में, मार्क्सवादी तो नहीं हूं परंतु दक्षिणपंथी

पूंजीवाद का समर्थक भी नहीं हूं। मेरी चेतना पर सनातन धर्म या यूरोपीय अर्थों में 'पेगन' संस्कृति एवं कला के विमर्श के आचार्यों का बहुआयामी प्रभाव है। आधुनिक चिंतकों में फर्डिनेंड टॉर्नीज, इमाईल दुर्खीम, फ्रैडरिक नीत्से, मार्टिन हाइडेगर, कार्ल मार्क्स, सोरेन कीर्केगार्ड, लेवी–स्ट्रॉस, आनंद कुमारस्वामी, मर्सिया इलियड, कार्ल जुंग, गांधी, अंबेडकर, अवनींद्रनाथ टैगोर, जगदीश स्वामीनाथन, रामचंद्र शुक्ल, राहुल सांस्कृत्यायन, हजारी प्रसाद द्विवेदी, निराला, अज्ञेय, रामविलास शर्मा, विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा, संगीत चिंतक नौशाद (अली), फिल्म संगीत के आचार्य एस.डी.बर्मन, राज कपूर, एस. एस. वासन, विमल रॉय, पटकथा लेखकों (के.ए.अब्बास, मुखराम शर्मा, ब्रजेन्द्र गौड़, सलीम–जावेद नबेंदु घोष, इंद्रराज आनंद, सलील चौधरी, राजेंद्र कृष्ण), के.आसिफ, ए.आर.कारदार, गीतकारों (शैलेंद्र, शकील, मजरूह, राजेंद्र कृष्ण, साहिर, गुलजार), निर्माताओं (शशधर मुखर्जी, जे.बी.एच. वाडिया, ताराचंद बड़जात्या, एन.सी. सिप्पी, आदित्य चोपड़ा, विधु विनोद चोपड़ा), संपादक के रूप में ऋषिकेश मुखर्जी, सिनेमेटोग्राफर या कैमरामैन – राधू करमाकर, वी.के. मूर्ति, ए. के. वीर, के. के. महाजन, फली मिस्त्री, जल मिस्त्री, बाबू भाई मिस्त्री, ध्वनि संपादक मंगेश देसाई, गायक बड़े गुलाम अली खान और गायिका लता मंगेशकर, और बहुआयामी हेमंत कुमार, किशोर कुमार तथा चार्ली चैपलिन का मेरे ऊपर सम्मिलित प्रभाव है। पारंपरिक आचार्यों में भरत मुनि, बौद्ध आचार्य नागार्जुन, काश्मीर शैवागम के आचार्य अभिनवगुप्त, मध्यकालीन आचार्यों में वल्लभाचार्य, स्वामी हरिदास, स्वामी समर्थ रामदास, ख्वाजा मोईनउद्दीन चिश्ती, जे.एन.यु कैंपस में बदनाम आचार्य केशवदास और उस्ताद जलालुद्दीन रुमी के अलावा जर्मन वनस्पति शास्त्री एवं कलावंत गोएथे ने मेरी दृष्टि क्या, मेरे व्यक्तित्व को भी खाद, पानी, प्रकाश से गढ़ने में अपनी–अपनी भूमिका निभाई है। वास्तव में जे.एन.यु के कैंपस को ठीक से समझने की कोई जहमत नहीं उठाता। जे.एन.यु केवल वामपंथी मदरसा नहीं है। वामपंथ के अलावे भी यहां बहुत कुछ है।

मनमोहन:– आपको ऐसा क्यों लगता है कि जे.एन.यु के बारे में ज्यादातर लोगों को भ्रांति है?

अमित शर्मा:– इसके कई कारण हैं। पहला तो यही कि जिस जमीन पर जे.एन.यु का कैंपस स्थित है, वह 1969 में जंगल था। आबादी, बसी हुई बस्ती की शक्ल में नहीं थी। इसमें भगवान के बनाए मनुष्योत्तर जीव रहते थे। परंतु कभी यही जगह पांडवों की राजधानी इंद्रप्रस्थ का केंद्र थी। इस जगह पर पांडवों की यज्ञशाला थी। दूसरे–दिल्ली सल्तनत की राजधानी मेहरौली इसके पड़ोस में है। मेहरौली में क़ुतुब

मीनार के एकदम पड़ोस में भगवान कृष्ण की बनाई योगमाया मंदिर, साउथ दिल्ली के उस भाग को जहां जे.एन.यु बना हुआ है, सूक्ष्म स्तर पर आज भी स्पंदित करती है। तो जे.एन.यु जिस 'पिंड' पर, जिस 'देश' पर बना है वह सनातन सृजन करने की स्पंदित भूमि है। दूसरा, इसका निर्माण जिस 'काल' में हुआ है वह उत्तर औपनिवेशिक, उत्तर आधुनिक काल है। जिसका स्फुरण फ्रांस के पेरिस विश्वविद्यालय में हुआ होगा; लेकिन उसका बीज भारतीय है, पूर्वी है, एशियाई है। चाहे नीत्से हों या हाइडेगर, शोपेनहावर हों या लेवी–स्ट्रॉस (वाया विहटनी जिसने पाणिनि के अष्टाध्यायी पर शोध प्रबंध लिखा है) सबके चिंतन के केंद्र में पेगन मिथक एवं कॉस्मिक विश्वदृष्टि है। यही शोध प्रबंध उत्तरआधुनिकता और उत्तर संरचनावादी फ्रांसीसी चिंतन के केंद्र में है। ये सभी यूरोपीय आधुनिकता के गंभीर सुधारकर्ता हैं। यही यूरोपीय ज्ञानोदय के आंतरिक विसंगतियों को भारतीय, पूर्वी एवं एशियाई प्रेरणा स्त्रोतों के आलोक में सुसंगत बनाते हैं।

तीसरे स्तर पर जे.एन.यु बनने की जो परिस्थिति थी (1969 में इंदिरा गांधी ने कांग्रेस को तोड़कर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सहयोग से सरकार चलाने के एवज में सी.पी.आई को जे.एन.यु एक तोहफे के रूप में विकसित करने के लिए दिया था)। वह बहुत कुछ वैसी ही थी, जैसी हिंदी फिल्म उद्योग में इप्टा (इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन) नामक संस्था के विकसित होने की थी। इप्टा के संस्थापक और संचालक प्रतिबद्ध साम्यवादी जरूर थे लेकिन चेतन आनंद, के.ए.अब्बास, शैलेंद्र, साहिर, मजरूह, संजीव कुमार जैसे लोगों के फिल्म उद्योग में दिए गए योगदान को आप उनकी इप्टा की सदस्यता (मेंबरशिप) से जोड़कर नहीं समझ सकते। आप मानिए या नहीं मानिए, भारत की मिट्टी और हवा पानी में आज भी कुछ रहस्यमय चीज, कुछ अलकेमी जैसी चीज, जप–तप–साधना का माहौल है जो कि अंततः आपको भीतर से रूपांतरित कर देता है। यह सचमुच भोगियों को भी योगी और योगियों को भोगी बनाकर, समन्वय करने वाली, नियमन करके वाली संस्कृति की आधार भूमि, भाव भूमि है। इसके भीतर आप लंबे समय तक मानव निर्मित विचारधाराओं के कैदी बनकर नहीं रह सकते। अतः इप्टा के संस्थापकों में से एक चेतन आनंद 'नीचा नगर' से वाया 'हकीकत', 'कुदरत' और 'हाथ की लकीरों' और 'हंसते जख्म' को दर्शकों के रसास्वादन के लिए छोड़ जाते हैं। के.ए. अब्बास भी जब राज कपूर के लिए कई दशकों तक लिखते थे तो इप्टा की विचारधारा काफी हद तक रुपांतरित हो जाती थी।

मेरे हिसाब से गौतम कौल, वाणी त्रिपाठी, अखिलेंद्र मिश्रा, मनमोहन चड्ढा जैसे

लोग भारतीय सिनेमा के रसिक दर्शक हैं। इन जैसे लोगों के भरोसे ही भारतीय सिनेमा के निर्माता निर्देशकों को अपनी लागत वसूल कर अपनी अगली फिल्म बनाने के लिए हिम्मत मिलती रहती है। मैं ऐसे दर्शकों को भारतीय फिल्म निर्माण प्रक्रिया (उद्योग का दर्जा तो सरकार ने सन 2000 में दिया) का आवश्यक घटक मानता हूँ। मैं बचपन से थिएटर से जुड़ा रहा हूँ।

भारत में सिनेमा और संस्कृति –दो

पश्चिम के लिए खासकर पश्चिमी यूरोप और इनके अन्य उपनिवेशों के लिए, खासकर तथाकथित नई दुनिया न्यू वर्ल्ड के लिए, (अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड के लिए) सिनेमा एक आधुनिक, सांस्कृतिक उद्योग है। एक बड़ा फैक्टरीनुमा हॉलीवुड– लॉस वेगास– जैसे सांस्कृतिक उत्पाद– एनटरटेनमेंट उद्योग– सोशल मीडिया का प्रारंभिक रूप है। पूरी की पूरी आधुनिक दुनिया इसका बाजार है।

लेकिन एक अर्धआधुनिक भारतीय दर्शक के लिए सिनेमा हॉल ईश्वरीय लीला का एक रूप है और सिनेमा हॉल–एकल सिनेमा हॉल–पारम्परिक सिनेमा हॉल, एक सनातनी मंदिर की तरह है। जिस तरह मंदिर के गर्भगृह में अंधेरा होता है, उसी तरह फ़िल्म शुरू होने के बाद सिनेमा हॉल में भी अँधेरा होता है।

दूसरी ओर, एक आधुनिक व्यक्ति के लिए जो भारत में चाहे– अनचाहे रहता है– भले विलायत (यूरोप –अमेरिका) जाने का सपना देखता है– पढ़ाई या नौकरी के लिए शहर या महानगर में अकेले, अपनी पत्नी और अबोध बच्चों के साथ रहता है– इन जैसों के लिए, इनकी पत्नी और बच्चों के लिए, सिनेमा, दादी–नानी या मौसी–चाची–बुआ–दादा जी– गाँव के चौपाल, का विकल्प है। कथावाचकों का विकल्प है। उन लोगों के लिए भी जिनका जन्म, परवरिश, शिक्षा भारत के बाहर हुई है परंतु जिन्होंने अपनी पसंद से भारत में रहने का, आजीविका कमाने का, अपनी पसंद की जिंदगी जीने का स्वैच्छिक निर्णय लिया है– उनके लिए भी भारतीय खासकर हिंदुस्तानी सिनेमा, सांस्कृतिक उत्पाद नहीं है जिसे मुनाफे के लिए फैक्ट्री में बनाया जाता है। उनको भी मालूम है कि भारत कथा सुनने, सुनाने वालों का देश है। इसमें बहुश्रुत होना गर्व की बात है। बहुपठित होना सामाजिक गर्व का नहीं, व्यक्तिगत चुनाव की बात है।

जीवंत भारत में पश्चिम के विकसित देशों से ज्यादा पागल होते हैं। लेकिन प्रति पागल व्यक्ति पर पागलखाने की दर, भारत में बहुत कम है। यह भारतीय संस्कृति की

अंतर्निहित शक्ति है कि यह अपने पागलों और हिंसक सदस्यों को प्यार से, घर में रखता है। उन्हें पालता है। इसलिए उसे पालतू पक्षी या पालतू जानवर घर के अंदर रखने की जरुरत नहीं है। जबकि पश्चिमी संस्कृति में घर के पागलों या मानसिक रूप से कमजोर सदस्यों को असाइलम (पागलखाना), अनाथालय, वृद्धाश्रम में भेजकर घर के भीतर कुत्ते, बिल्ली, खरगोश पाले जाते हैं। यह आधुनिकता अभी भी भारत की मुख्यधारा वाली, हिन्दुस्तानी सिनेमा देखने वाली संस्कृति में संक्रामक रोग की तरह नहीं फैली है। परंतु धीरे–धीरे फैलने की कोशिश कर रही है। अभी भी गौशाला में गाय, आंगन में तोता, बरामदा में गौरैया या कबूतर को दाना डालने की जगह अधिकांश घरों में होती है। लेकिन घर के अंदर वह कुत्ता, बिल्ली नहीं पालता। उसके घर के अंदर संयुक्त परिवार में, किस्म–किस्म के लोग, रहते हैं। विविधता में एकता होती है। इस एकता का सूत्र अनुभवी दादा–दादी या कम से कम कोई एक बुजुर्ग होता है। घर के कर्ता में संयम की परीक्षा दक्षिण–पश्चिम दिशा या नैऋत्य कोण के राहु क्षेत्र में उन्हें शयनकक्ष देकर की जाती है। जो राहु के कमरे में भी आराम की नींद सो सकता है और चैन की सांस ले सकता है, उसे ही घर का मुखिया या कर्त्ता बनाया जाता है। कोई आवश्यक नहीं कि वह दादा दादी की पीढ़ी में आयु में भी बड़ा हो। जो सबसे अनुभवी, सबसे ज्यादा समर्थ, सबसे ज्यादा मिलनसार और सबसे हसमुख भाई या भाभी होते हैं, दादा दादी की पीढ़ी में उन्हें ही संयुक्त घर चलाने की ज़िम्मेदारी दी जाती है। वरना परिवार में बटवारा हो जाता है। प्यार बना रहता है लेकिन लोग अलग–अलग चूल्हा–चौकी का सुविधाजनक माहौल बनाकर कुटुंब की संयुक्तता बनाए रखते हैं।

जीवंत भारतीय समुदायों के केंद्र में संयुक्त परिवार ही रहा है। भले वे एक ही घर में रहें अथवा नहीं। हर समुदाय में परिवार के लोग आर्थिक रूप से स्वावलंबी घरों में रहते हैं। यदि आर्थिक आधार सबल ना हो तो सांस्कृतिक मूल्य बिखरने लगते हैं तब पागलों को पागलखाने भेजना पड़ता है। या ससुराल में घर जमाई बनने के लिए भेज दिया जाता है।

जीवंत परंपरा में, एक सहज–सरल घर–परिवार में, कुछ पागल, हिंसक, ईर्ष्यालु सदस्यों को भी आराम से पाला जाता है लेकिन इनका विवाह नहीं किया जाता। विवाह के बाद इनका पागलपन, हिंसा, जलनशीलता या ईर्ष्या बेकाबू हो जाती है और अंततः घर का माहौल बिगड़ कर कलहपूर्ण हो जाता है। इस स्थिति में घर टूटता है और परिवार में युद्ध की स्थिति हो जाती है।

रामायण और महाभारत मूलतः परिवार और घर की ही कहानी है। मैकबेथ (शेक्सपियर) और ब्रदर्स कारमाजोव (दॉस्तोयव्स्की), पिता– पुत्र (टॉलस्टॉय) आदि भी घर परिवार की पारंपरिक कहानियां हैं।

आधुनिक घर को, पारंपरिक लोग पागलखाना कहते हैं। लेकिन ऐसा कहने के पीछे व्यंग का भाव नहीं, हास्य रस होता है। ऐसे आधुनिक घरों में लोग मनोरंजन, मजा या चकल्लस के लिए, चाय पीने जाया करते हैं और स्वस्थ मनोरंजन की अनुभूति से भर कर हंसते गाते, वापस अपने घर आ जाते हैं। इससे समुदाय में सांस्कृतिक मूल्यों की भिन्नता के बाद भी आपसी सौहार्द्र बना रहता है। इसलिए 18वीं शताब्दी तक, अंग्रेजों के आने तक, सांप्रदायिक दंगों का कोई प्रमाण या सूत्र भारतीय इतिहासविद अभी तक खोज नहीं पाये हैं।

एन. के. बोस बंगाली में लिखित 'हिंदू सामाजिक संरचना' नामक किताब में नये लोगों या बाहरी लोगों के हिन्दुकरण या संस्कृतिकरण की एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया की चर्चा करते हैं। वह प्रक्रिया भी उपरोक्त सांस्कृतिक विन्यास का समानधर्मी है। हर समाज में भिन्नता होती है, लेकिन विभिन्नता का जितना सहज स्वीकार पारंपरिक हिंदू प्रभावित भारतीय संस्कृति में है वैसा कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। बहुसांस्कृतिक अमेरिका में तो कुटुंब (नातेदारी) होता ही नहीं। परिवार और विवाह भी स्थायी नहीं होते। इसका कारण शायद यह है कि वर्तमान अमेरिका एक प्रकार का सेटलमेंट है, अब तक सभ्यता नहीं बन पाया है। अमेरिका के ज्यादातर लोग अलग–अलग संस्कृतियों, समुदायों से टूटकर प्रवासी पंछी की तरह आए हैं। कभी इनके पुरखों का सपना लौटने का रहा होगा। परंतु आज एक खास तरह की आर्थिक सुविधा के लोग आदी हो गए हैं। वे इसे छोड़ने की मानसिक, भावनात्मक स्थिति में नहीं हैं। अतः उन्होंने यहां रहने की जद्दोजहद में अपनी शांति, अपनी संतुष्टि, अपना सुख, अपना स्वभाव–संस्कृति–स्वधर्म छोड़कर, अजनबियों के बीच स्थायी असुरक्षा और नीरस जीवन शैली से उकताकर अपने दिल दिमाग को पागलखाना बना लिया है। ऐसे लोग हमेशा सुखचैन की तलाश में बार–बार प्रेमी–प्रेमिका बदलते हैं, बार–बार विवाह और तलाक की प्रक्रिया से गुजरते हैं। बार–बार घर का डेकोरेशन बदलते हैं। बार–बार अपना वेश–भूषा, फैशन बदलते हैं। हर सप्ताह घूमने देखने सुनने, मस्ती मारने निकलते हैं। अलग–अलग तरह के नशे और लत का प्रयोग करते हैं, परंतु फिर भी असुरक्षित और बेचैन रहते हैं। अंत में वे पागल या नशेड़ी होकर मर जाते हैं। कार्ल मार्क्स ऐसी स्थिति को एलियनेशन (अलगाव) के सिद्धांत द्वारा समझाते थे।

अमेरिका में इसे पॉप कल्चर कहा जाता है। पूरी की पूरी कल्चर इंडस्ट्री इनकी सेवा में लगी हुई है। टूरिज्म, जुआ खाना, वेश्यालय, पब, नाइटक्लब, डिज्नीलैंड, नशा के ठेके, संगठित अपराध तो 1930 के दशक तक प्रतिष्ठित हो गए थे। बाद में ब्यूटी और हेल्थ इंडस्ट्री भी, इसी पॉप कल्चर के सांस्कृतिक उद्योग का हिस्सा बन गया। फलस्वरूप पॉप स्पीरिचुअलटी (लोकप्रिय अध्यात्मिकता का फैशन) और न्यू ऐज एक्सपेरिमेंट्स(नए युग का प्रयोग धर्मी) का हिप्पी कल्चर, 1960 के दशक के उत्तरार्ध में विकसित हुआ।

माइकल जैकसन के युग में यह अपने जानलेवा स्वरूप में वीभत्स रस का मांद बन गया; तो इस्लाम और बौद्ध धर्म तथा कृष्ण भक्ति के नए संप्रदाय बनने लगे। अमेरिका का पूर्वीकरण होने लगा लेकिन यह जीवंत सामुदायिक परंपरा की वापसी ना होकर धार्मिक और प्रजातिय अंधश्रद्धा का विकलांग दौर साबित हुआ। शुरु में इससे भौतिक और तकनीकी विकास का उत्साहवर्धक दौर (रेगन के समय: 1980 के आसपास) शुरू हुआ जो (11 सितंबर 2001 (9/11) की क्षणिक त्रासदी के बावजूद) 2007 के सितंबर तक करीब करीब निरंतर चला। लेकिन 2007 के सितंबर से मांग के अभाव में आर्थिक उद्यम और विश्व बाजार के अवरुद्ध हो जाने से महामंदी, महंगाई और आर्थिक विकास का स्थायी भाव बन गया। यह 2019 के दिसंबर तक जारी है। इसमें माइंडलेस कॉमेडी, साईको थ्रिलर और हॉरर जेनर की जबरदस्त वापसी हुई है। हिचकॉक का दौर प्रेरणा बन गया है।

भारतीय लोग रसिक और प्रेमल जीव हैं। ये लोग कथा की दुनिया में पूरी जिंदगी गुजार देने वाले लोग हैं। भारत संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, साउथ अफ्रीका, न्यूजीलैंड की तरह विलायती लोगों का लगभग दो सौं वर्षों तक (गोवा, पांडीचेरी, चंदरनगर, वसई, ईस्ट इंडिया कम्पनी के आधीन भूभाग, अंग्रेजी राज के प्रजा लोग, अंग्रेजी संस्कारों में स्वेच्छा से पले तथाकथित काले अंग्रेजों को सम्मिलित करने पर गुलामी का समय कहीं ज्यादा है) राज्य रहा। परंतु भारत उस तरह उनसे प्रभावित न था, न है, न होगा। जैसा प्रभाव यूरोपीय उपनिवेशों से शासित अन्य देशों में देखने को मिलता है। इसका प्रमाण भारतीय और हिन्दुस्तानी सिनेमा है। इसकी तुलना (कम से कम 1990 तक बने, भारतीय या हिन्दुस्तानी सिनेमा की तुलना) आप किसी और देश के सिनेमा से नहीं कर सकते। न कथानक के स्तर पर, न निर्माण प्रक्रिया की दृष्टि से, न निर्माण उद्देश्य के स्तर पर, न वितरण के स्तर पर, न उपभोग के स्तर पर, न पर्देसे उतारे जाने के बाद इसकी सामाजिक महत्ता की दृष्टि से, न सरकारी उपेक्षा की दृष्टि से, न दर्शकों से इसके संबंध के स्तर पर।

भारतीय सिनेमा और भारतीय संस्कृति आपस में, प्रारंभिक वर्षों से ही, इतनी गहराई से, इतने मनोवेग से जुड़े हैं कि आप इन्हें खीर या खिचड़ी की तरह ही देख – समझ– समझा सकते हैं। इन्हें अलग करने का कोई कारगर उपाय नहीं है। ऐसे मनबहलाव के लिए इनको अलग करने के, अनगिनत सरकारी और गैरसरकारी प्रयास हुए हैं, जिनमें दिहाड़ी के विद्वानों और भाड़े के पत्रकारों ने मूल्यांकन के लिए इनको अलग–अलग करके अपने यूरोपीय आधुनिकता के वारिस होने का प्रमाण पेश किया है। लेकिन ऐसे प्रयास किसी के काम के नहीं रहे हैं– न भारतीय दर्शकों के, न भारतीय फिल्मों के निर्माण से जुड़े व्यक्तियों के।

इससे कौन इनकार कर सकता है कि सिनेमा एक आधुनिक चीज है। एक तकनीक के रूप में यह फ्रांस में पैदा हुआ। लेकिन ठेंठ भारतीय सिनेमा एक अलग तरह की सांस्कृतिक गतिविधि रही है: निर्माण– प्रक्रिया में, दर्शकों के रसास्वादन प्रक्रिया में, सांस्कृतिक स्मृतियों के भरोसे के रूप में भी। परंतु जो भारत का तथाकथित सचेत रुप से आधुनिक सिनेमा भी बॉम्बे में विकसित हुआ, उस पर भी अंग्रेजी–फ्रांसीसी–अमेरिकी आधुनिकता का प्रभाव नगण्य है।

जैसे जब हिमांशु रॉय और देविका रानी, फ्रैंज ऑस्टेन के साथ जर्मनी से सिनेमा बनाने के लिए भारत आकर बॉम्बे टॉकिज की स्थापना करते हैं तब वे केवल जर्मन तकनीक, जर्मन तकनीशियन, जर्मन निर्देशक अपने साथ नहीं लाते हैं, बल्कि वे अपने साथ जर्मन रोमांटिसिज्म भी लाते हैं। यह रोमांटिसिज्म या रुमानियत अंग्रेजों या फ्रांसीसी रोमांटिसिज्म से बहुत अलग है। इसी तरह, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अगर दादा साहब फाल्के पर बाल गंगाधर तिलक और उनके मलयाली अनुयायी राजा रवि वर्मा का प्रभाव था, और भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पुणे के विद्वानों के प्रभाव में उनकी फिल्मों की कहानी और पटकथा विकसित हुई थी, तो सर बी.एन. सरकार के न्यू थियेटर, कलकत्ता पर सर आशुतोष मुखर्जी, बंगाल के स्वदेशी आंदोलन और बंगाली नवजागरण के सिद्धांतकारों बी.के. सरकार, बी.एन. शील, राधाकमल मुखर्जी, के. सी. चट्टोपाध्याय, महात्मा गांधी और चंडीदास का निर्णयकारी प्रभाव था। चंडीदास का प्रभाव रविंद्रनाथ पर भी था, लेकिन टैगोर ने उस प्रभाव को अपने पिता देवेंद्रनाथ, दादा द्वारकानाथ, स्वामी विवेकानंद और राममोहन रॉय के ब्रह्मसमाजी चिंतन पद्धति में तड़का की तरह आरंभ किया था। परंतु चंडीदास का तड़का उन्हें धीरे–धीरे इतना पसंद आया कि ब्रह्मसमाज धीरे–धीरे पीछे छूटता गया और चंडीदास ने उन्हें कला और संगीत के सम्मोहक आंगन में लगभग खींच लिया।

ब्रह्मसमाजी चिंतन मूलतः टैगोर के उपन्यासों और कुछ कहानियों तक सीमित रह गया। ब्रह्मसमाजी विमर्श आधुनिक यूरोप के गद्य साहित्य, खासकर अंग्रेजी उपन्यासों की तरह विकसित हुआ था; जबकि शरदचन्द्र अंग्रेजी रोमांटिक कवियों के प्रभाव में शाक्त पात्रों की रचना करने में लगे थे। बंकिम का अभी तक व्यवस्थित मूल्यांकन नहीं हुआ है। अतः उनकी कृतियों के ऊपर बनी फ़िल्मों को भी ढंग से समालोचक नहीं मिल पाए। सिनेमा पर टैगोर का असली प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से रहा है– उनके शिष्य विनोद बिहारी मुखर्जी के माध्यम से सत्यजीत रे के सिनेमा पर टैगोर का प्रभाव तो सर्वविदित है ही, परंतु उनके एक अन्य शिष्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सौन्दर्यशास्त्र का प्रभाव हिंदी सिनेमा पर अभी तक ज़्यादातर लोगों की निगाह में नहीं आया है। हिंदी सिनेमा के जो प्रारंभिक गीतकार मूलतः हिन्दी पट्टी से आए थे उन पर टैगोर का अप्रत्यक्ष प्रभाव हजारी प्रसाद द्विवेदी के माध्यम से रहा है। चाहे डी.एन. मधोक हों या पंडित इन्द्र, चाहे केदार शर्मा रहे हों या कवि प्रदीप, भरत व्यास रहे हों या नरेन्द्र शर्मा इनके ऊपर हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रभाव नकारा नहीं जा सकता। चूंकि खुद हजारी प्रसाद द्विवेदी के ऊपर कालिदास, अभिनवगुप्त, गोरखनाथ, कबीर, तुलसी एवं मध्यकालीन कला बोध का प्रभाव टैगोर के प्रभाव के साथ घुला मिला था।

बॉम्बे टॉकिज के संस्थापक हिमांशु रॉय पर नेताजी सुभाष चंद्र बोस, चितरंजन दास और महात्मा बुद्ध का प्रभाव था। बुद्ध का प्रभाव संभवतः जर्मन इंडोलॉजिस्टों खासकर काउंट केसरलिंग के माध्यम से आया था। सुभाष बोस तो अग्रेजों के खिलाफ जर्मनी–जापान–इटली के महासंघ से हाथ मिलाकर लड़े ही थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर पर एक तरफ आनंद केंटिश कुमारस्वामी का प्रभाव था तो दूसरी तरफ अपनी जर्मनी यात्रा में भी उन्होंने काफी कुछ आत्मसात किया था। टैगोर पर जर्मन रोमांटिसिज्म का प्रभाव पड़ा था और अंग्रेजी रोमांटिसिज्म से उनकी लगभग विरक्ति थी, ऐसा दावे से नहीं कहा जा सकता, लेकिन इससे इनकार भी नहीं किया जा सकता। इसका सबसे बड़ा कारण है टैगोर से प्रभावित सत्यजीत रे की शुरुआती फिल्मों और हिमांशु रॉय द्वारा निर्मित फिल्मों की आधुनिकता, सुधारवादी रुझान, सिनेमा की समझ और बैकग्राउंड म्यूजिकल स्कोर की केंद्रीयता के बारे में जबरदस्त समानता।

लेकिन दोनों में अंतर भी है। पहला अंतर तो यही है कि दोनों का कालखंड अलग है, पीढ़ियां अलग हैं। हिमांशु रॉय (1892– 16 मई 1940) 1934 से 1940 तक बॉम्बे टॉकिज नामक कॉरपोरेट कंपनी में फिल्म निर्माता थे। इससे पहले से वे 1922

में फिल्म 'गौडेस', 1925 में 'द लाइट ऑफ एशिया', 1928 में 'शिराज', 1928 में 'ए थ्रो ऑफ डाइस' और 1933 में 'कर्मा' जैसी कई फिल्में बना चुके थे।

कटक में जन्में हिमांशु रॉय ने भी कई वर्षों तक शांतिनिकेतन में स्कूली शिक्षा ग्रहण की थी। कलकत्ता से कानून की डिग्री हासिल करके वे बैरिस्टर बनने लंदन गए जहां उनकी मुलाकात एक पटकथा लेखक और नाटककार निरंजन पाल से हुई। उनके साथ दोस्ती के बाद फ्रैंज ऑस्टेन (जर्मन निर्देशक) और हिमांशु रॉय ने 'द लाइट ऑफ एशिया' को संयुक्त रूप से निर्देशित किया। इस फिल्म में हिमांशु रॉय ने अभिनय भी किया। अपनी तीसरी फिल्म 'प्रपंच पाश' बनाते समय उन्हें 1929 में अपनी अभिनेत्री देविका रानी से प्यार हो गया। देविका रानी रबीन्द्रनाथ टैगोर की पड़पोती लगती थी। 1929 में ही दोनों ने विवाह कर लिया।

देविका रानी (1908– 1994) 1940 में हिमांशु राय की मृत्यु तक करीब करीब सभी फिल्मों की नायिका थी। 1925 से 1933 के बीच हिमांशु रॉय, देविका रानी और फ्रैंज ऑस्टेन ने जर्मनी में रहकर काम किया। जब हिमांशु रॉय और देविका रानी ने 1934 में भारत आकर बॉम्बे टॉकिज की स्थापना करने का निर्णय लिया तो, फ्रैंज ऑस्टेन के नेतृत्व में जर्मन तकनीकों के अनुभवी टीम के लोग भी हिमांशु राय के साथ काम करने के लिए भारत आगये। बॉम्बे टॉकिज में हिमांशु रॉय हॉलीवुड के स्टाइल के स्टूडियो के मालिक–निर्माता थे। वे मूलतः व्यावसायिक फिल्मों का निर्माण करते थे। सभी फिल्में व्यावसायिक रूप से सफल और मुनाफा कमाने लायक साबित हुई। उन्होंने 1925 से 1933 तक अभिनय भी किया। 1936 की फिल्म 'अछूत कन्या' को लिखा भी। 1925 की फिल्म 'प्रेम संन्यास' का निर्देशन भी किया। लेकिन बॉम्बे टॉकिज में वे केवल निर्माता ही रहे।

दूसरी ओर सत्यजीत रे (2 मई 1921– 23 अप्रैल 1992) उत्तरी बंगाल के गारपार नामक स्थान पर एक ब्रह्मसमाजी परिवार में पैदा हुए थे। कला की उनकी करीब– करीब संपूर्ण शिक्षा शांतिनिकेतन में हुई थी। विनोद बिहारी मुखर्जी आदि के अभिभावकत्व में उनको कला की बारीकियों का प्रशिक्षण मिला। बाद में उन्होंने कला को अपना व्यवसाय बनाया। फ्रांसीसी फिल्मकार ज्यां रेनुआँ को बंगाल में एक फिल्म की शूटिंग 1949 में करते देखकर (द रिवर 1951) और विट्टोरीओ डी सिका की इटालियन नवयथार्थवादी फिल्म 'बाइसिकल थीव्स' (1948) को बार–बार देख कर उन्होंने फिल्में बनाने का निर्णय किया। वे गजब के प्रतिभाशाली थे– लेखक, इलस्ट्रेटर, कैलीग्राफर, संगीतकार, गीतकार, पटकथा लेखक, निर्देशक और निर्माता सभी कुछ थे। इतनी बहुमुखी प्रतिभा तो भारतीय सिनेमा में किसी की नहीं

थी। 1955 में उनकी प्रथम फिल्म 'पाथेर पांचाली' का प्रदर्शन हुआ। कुल 29 फीचर फिल्में, पांच डॉक्युमेंट्री और दो छोटी फिल्में बनाने वाले सत्यजीत रे को जितने देशी और विदेशी फिल्मों से संबंधित पुरस्कार मिले, उतने भारत में आज तक किसी को नहीं मिले। 1992 में उन्होंने अपनी अंतिम फिल्म 'आगंतुक' बनायी। इसके कुछ समय बाद 1992 में उनकी मृत्यु हो गई। 1992 में उन्हें भारत रत्न की उपाधि दी गई।

इसके बावजूद बंगाली भाषा में बनी उनकी किसी भी फिल्म को ब्लॉक बस्टर या व्यावसायिक रूप से सफल फिल्म नहीं कहा जा सकता। उनके प्रशंसक भी मानते हैं कि 1955 से 1992 तक बंगाली आम जनता या तथाकथित बंगाली भद्रलोक के अधिकांश लोगों ने सत्यजीत रे की फिल्मों को सिनेमा घर में टिकट कटाकर नहीं देखा। ज्यादातर लोगों ने उनका नाम सुना है, उन पर गर्व करते हैं लेकिन उनकी केवल उन्हीं फिल्मों को देखा है जो या तो मुफ्त में सरकारी टीवी (दूरदर्शन) पर दिखायी गयीं, या जिसे स्थानीय फिल्म सोसायटी ने मुफ्त में दिखलाया। उत्तम कुमार– सुचित्रा सेन की जोड़ी वाली फिल्मों ने इसी कालखंड में खूब पैसा, नाम, शोहरत कमायी। सत्यजीत रे को बंगाल में नेहरू और बिधान चंद्र राय ने सरकारी पैसे से फिल्म बनवाने में मदद की या फिर सत्यजीत रे ने जुगाड़ भिड़ा कर अपनी फिल्म के लिए फायनेंसर ढूंढा। रे फिल्म फेस्टिवल के लिए फिल्म बनाते थे। इसका कारण यह है कि सरकारी हस्तक्षेप से फिल्मों को दर्शक मिल जाते थे। जबकि दूसरी ओर बॉम्बे टॉकिज ने व्यावसायिक फिल्में बनायीं।

इतने ख्याति प्राप्त, इतने प्रशंसित, इतने शोधित फिल्मकार सत्यजीत रे की तुलना हिमांशु रॉय जितने गुमनाम, अप्रशंसित, विद्वानों द्वारा घोर उपेक्षित व्यक्ति से किया जाना किसी को भी अचंभित करेगा। जब भी इसकी तुलनात्मक चर्चा जे.एन.यु में मैंने अपने सिनेमा कोर्स के विद्यार्थियों, अपने मार्गदर्शन में काम करने वाले शोधार्थियों तथा सिनेमा विमर्श से जुड़े अपने साथियों से की है, एक अजीब सी ऊब और खीज मैंने अधिकांश चेहरों पर देखी है।

लेकिन चंडीदास के टैगोर से बड़े अनुयायी देबकी कुमार बोस थे। डी.के. बोस न्यू थिएटर की आत्मा थे। बी. एन. सरकार उन पर मुरीद थे। केदार शर्मा, बिमल रॉय, ऋषिकेश मुखर्जी, बासु भट्टाचार्य, गुलज़ार, बासु चटर्जी, डी.के बोस की सिनेमाई विरासत के वारिस माने जाते हैं। पृथ्वीराज कपूर ने भले ही 'आलमआरा' (आर्देशिर ईरानी) से अपने फिल्मी सफर की शुरुआत की थी, लेकिन उन्हें सितारा हैसियत डी. के बोस ने दिलायी। पापा जी के नाम से मशहूर पृथ्वीराज के जीवन में

देबकी बोस का स्थान एक गुरु जैसा था। केदार शर्मा, सोहराब मोदी तथा अमिय चक्रवर्ती उनके प्रमुख सहयात्री, हमसखा, हमदम अजीज दोस्त थे। राज कपूर पर पिता का प्रभाव तो था ही, बेटे होने के साथ, वे पृथ्वी थियेटर में पापा जी के शिष्य भी थे। पृथ्वी थियेटर हिंदी सिनेमा का पहला ट्रेनिंग संस्थान माना जाता है। पृथ्वी थियेटर का घराना भी मूलतः देबकी कुमार बोस, सोहराब मोदी तथा इप्टा के लोगों के सहयोग से ही विकसित हुआ। परंतु सिनेमा निर्माण, निर्देशन और अभिनय की बारीकियां राजकपूर ने केदार शर्मा से सीखी थीं। केदार शर्मा के यहां राज कपूर ने स्पॉट ब्वॉय से निर्देशन तक सब कुछ व्यवस्थित रूप से सीखा। केदार शर्मा की तरह राज कपूर भी गीत और संगीत को फिल्म की आत्मा मानते थे। इस तरह राज कपूर और उनके शिष्यों लेख टंडन, राजा नवाथे, विजय अरोड़ा, राधू करमाकर, रणधीर कपूर, राहुल रवैल, ऋषि कपूर आदि ने जो फिल्में बनाई हैं उन पर भी डी.के बोस और चंडीदास का प्रभाव साफ दिखता है।

न्यू थिएटर से जुड़े अन्य लोग नितिन बोस, पी.सी बरुआ, फणि मजूमदार, हेमेन गुप्ता, हेमंत कुमार, शक्ति सामंत का बीज तत्व तो डी.के बोस से अलग नहीं था, लेकिन इनकी सिनेमाई दृष्टि पर बंकिमचंद्र, शरतचंद्र आदि का प्रभाव अधिक था।

डी. के. बोस ने एक अनोखी परंपरा शुरु की। वे खुद चंडीदास (1932) बंगाली भाषा में बना चुके थे। इसके बावजूद, जब उन्होंने न्यू थिएटर के लिए 'चंडीदास' (1934) फिल्म हिंदी में बनाने का निर्णय किया तो इसका निर्देशन का काम नितिन बोस को दिया। यह अलग बात है कि नितिन बोस ने देबकी बोस की कृतज्ञता नहीं मानी। नितिन बोस को बिना मेहनत के जितना क्रेडिट मिला, उतना हिंदी फिल्म उद्योग में किसी को नहीं मिला। जैसे चंडीदास (1934) का क्रेडिट उन्हें डी. के. बोस ने दिया। इसी तरह, 'कठपुतली'(1957) फिल्म अमिय चक्रवर्ती ने अपने निर्देशन में पूरी कर ली थी, लेकिन उनकी अचानक मृत्यु के कारण, नितिन बोस को 'कठपुतली' का सहनिर्देशक का क्रेडिट मिल गया। फिर जब दिलीप कुमार ने 'गंगा जमना' (1960) बनायी, तो निर्देशन का क्रेडिट उन्होंने नितिन बोस को दिया।

इस परंपरा को राजकपूर ने भी निभाया। 'बूट पॉलिस' (1954) के निर्देशन का क्रेडिट उन्होंने प्रकाश अरोड़ा को दिया और 'जिस देश में गंगा बहती है' (1960) के निर्देशन का क्रेडिट, उन्होंने राधु करमाकर को दिया। दोनों राज कपूर के सहयोगी–सहायक थे। गुरुदत्त ने भी इसी परंपरा का निर्वाह करते हुए 'साहब बीबी और गुलाम' (1962) के निर्देशन का क्रेडिट अब्रार अल्वी को दिया। जो भारतीय फ़िल्मकार

अपने को हर तरह से स्थापित कर लेते हैं, वे सहज रूप से उदार हृदय होते हैं और अपने लोगों में अपनी सफलता का क्रेडिट बांटते हैं।

परंतु इसके कुछ अपवाद भी रहे हैं। जैसे बॉम्बे टॉकिज के संस्थापक हिमांशु राय की मृत्यु 1940 में हुई। उसके बाद देविका रानी और शशधर मुख़र्जी के बीच बॉम्बेटॉकिज को चलाने के बारे में मतभेद उभरने लगे। हिमांशु राय के जीवन काल में बॉम्बे टॉकिज के भीतर शशधर ही निर्माता के रुप में यशश्वी होते चले गए थे। इसका कारण यह था कि देविका रानी बॉम्बे टॉकिज में स्टार–अभिनेत्री के रुप में ज्यादा व्यस्त रहीं। फिल्म निर्माण में हिमांशु राय को जर्मन तकनीसियन्स के अलावे केवल शशधर का साथ और सहयोग मिला। फलस्वरुप हिमांशु राय की मृत्यु के बाद शशधर के पास ही निर्माता के रुप में अनुभव था। शशधर झांसी में पैदा हुए थे जो वृन्दावन के श्रीकृष्ण क्षेत्र से बहुत दूर नहीं है। वल्लभाचार्य के समय में वृन्दावन ही शुद्धाद्वैत दर्शन और रासलीला साधना का केन्द्र था। दूसरे विश्व युद्ध शुरु होने (1939) के बाद जर्मन तकनीसियन्स जर्मनी लौट गए। तब शशधर के अनुभव और संपर्क से देसी तकनीसियन्स और कलाकार, लेखक, गीतकार, संगीतकार बॉम्बे टॉकिज में आये। 1936 की फिल्म 'अछूत कन्या' से देविका रानी और अशोक कुमार दोनों की जोड़ी लगातार सफल रही थी। अशोक कुमार शशधर के साले थे और 1940 तक उन्हें सितारा हैसियत प्राप्त हो गई थी। 1943 की फिल्म 'किस्मत' (निर्देशक –ज्ञान मुखर्जी) ने अशोक कुमार को सुपर सितारा बना दिया। देविका रानी को शशधर और अशोक कुमार के बढ़ते कद से ईर्ष्या होने लगी। खासकर देविका रानी को शशधर का बढ़ता कद अखरने लगा। वे शशधर का प्रभाव कम करने के लिए अमिय चक्रवर्ती को बॉम्बे टॉकिज में ले आयीं। अमिय चक्रवर्ती ने अपना ग्रुप बनाना शुरु कर दिया। वे नितिन बोस को बॉम्बे टॉकिज में ले आये। शशधर के साले अशोक कुमार का कद कम करने के लिए देविका, अमिय और नितिन की टिकड़ी दिलीप कुमार, बलराज साहनी आदि को लाने लगे। नवकेतन बनने से पहले इप्टा के लोगों को मेहबूब खान और अमिय चक्रवर्ती–नितिन बोस ने ही सबसे ज्यादा सहयोग और समर्थन दिया।

आनंद कुमारस्वामी, मार्टिन हाइडेगर, रेने गुयेनो, मार्कोपैलिस, सैयद हुसैन नस्र और ए. के. सरन की बात सही है कि जब परंपरा टूटती है या तोड़ी जाती है, तभी आधुनिकता का जन्म होता है। आधुनिकता में समुदाय, परिवार और नातेदारी टूटती है तभी आधुनिक–व्यक्ति केंद्रित, सिटीजन (नागरिक) केंद्रित, राष्ट्र–राज्य या बाजार केंद्रित, औद्योगिक नगरीय समाज (इंडस्ट्रियल अर्बन सोसायटी) बनता है। धर्म–अनुशासन– स्वावलंबी समुदायों की जगह कानून–धन+बल की सत्ता का

शासन और सांस्कृतिक जड़ों से उखड़े हुए बाजार और सरकार पर निर्भर, असहाय–असुरक्षित–अशांत–अतृप्त, अपनी रचना को बाजारी उत्पाद बनते देखने वाली मजदूर, वेतनजीवी, बिकने और मर्यादाहीन बनने के लिए कानूनी रूप से स्वतंत्र लेकिन आर्थिक रूप से गुलामों की मशीनी जिंदगी जीने को अभिशप्त, तथाकथित नैतिक और स्वयंभू (मोरल एंड सुई जेनेरिक मॉडर्न इंडिविजुअल) आधुनिक व्यक्ति का जन्म होता है।

भारत में समुदायों को तोड़ने के लिए 'सूफी प्रेम' ने भी वैसा ही काम किया जैसे आधुनिक किस्म के 'रोमांटिक लव' ने। पेगन और हिंदू समुदायों के टूटने की सांस्कृतिक प्रक्रिया मुस्लिम और ईसाई समुदायों के टूटने की सांस्कृतिक प्रक्रिया से गुणात्मक रूप से अलग रही है।

फलस्वरुप सेमेटिक और पेगन समुदायों के टूटने का परिणाम या प्रकार्य भी अलग–अलग रहा है। दुर्खीम ने इन परिणामों का तुलनात्मक विश्लेषण आत्महत्या करने की सामाजिक दर (सुसाइड रेट फाउंड इन डिफरेंट कम्युनिटीज) के आधार पर और मैक्स वेबर ने इन समुदायों में इहलौकिक अपरिग्रह केंद्रित सामाजिक मनोविज्ञान और उद्यम करने की आर्थिक गतिविधियों (सोशल साइकोलॉजी ऑफ इकनोमिक इंटरप्राइज और सोशल एक्शन) के सामाजिक परिणाम यानी (इकनोमिक डेवलपमेंट) आर्थिक विकास की दर के आधार पर समझने की कोशिश की है।

''यूरोप के ईसाइयों में काल्विनवादी संप्रदाय के लोग अन्य समुदायों में ज्यादा इहलौकिक अपरिग्रह वाले होते हैं'' – मैक्स वेबर के उपरोक्त दावे को सामाजिक यथार्थ मानना मुश्किल है। मार्क्स और सोम्बार्ट (दोनों यहूदी विद्वान) अलग–अलग तर्कों के आधार पर वेबर के सिद्धांत से काफी पहले अलग सिद्धांत दे चुके थे।

आधुनिकता केवल समुदायों की परंपरा टूटने से जन्म नहीं लेती। जब देश और काल की परंपरा टूटती है तब जाकर आधुनिक परिस्थिति का निर्माण होता है। देश ब्रह्मांड का एक पिंड है। परंपरा इसे ब्रह्मांड के एक अवयव के रूप में देखती है। शाक्त परंपरा पार्वती अथवा प्रकृति अथवा शक्ति की देह को देश कहती है। वैष्णव आचार्य संसार को भगवान विष्णु के शरीर का विस्तार मानते हैं। कुल मिलाकर, सारी सनातनी या पेगन परंपराएं देश को या इसके घटकों पंच महाभूतों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा अथवा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) को दैवीय रचना मानती हैं। इसी देश में चौरासी लाख योनियां जन्मती, पलती और मरती हैं। चौरासी

लाख योनियों में एक योनि मनुष्य भी है। परंपरा इन्हें सहोदर मानती है। को बड़ छोट कहत अपराधु। इन चौरासी लाख योनियों के जीव भिन्न हैं परंतु ईश्वर, प्रकृति या देश की नजर में सब बराबर हैं। सभी जन्म और मृत्यु के चक्र में, कर्मफल के आधार पर इन योनियों में जन्म लेकर, अपने पूर्व कर्मों को भोगती हैं और इस जन्म के कर्म के आधार पर दूसरी योनि में जन्म लेती रहती हैं। रामायण और महाभारत से बृहदकथा तक, बृहदकथा से कथासरित्सागर होते हुए अरेबियन नाइट्स की कहानियों तक, ओल्ड टेस्टामेंट (यहूदियों के बाइबिल) से ग्रीस और रोम जैसे पैगन देशों की कहानियों तक 'देश' की अवधारणा आधुनिक 'स्पेस' की अवधारणा से भिन्न है। देश जब टूटता है या तोड़ा जाता है तब हम एक नई परिस्थिति का निर्माण करते हैं। तब देश सेक्रेड या दैवीय ना रहकर उसका एक अंश, अर्थ या भूगोल या पृथ्वी हो जाता है। और चौरासी लाख जीवों में से एक जीव मनुष्य को अन्य जीवों की प्राकृतिक नातेदारी से तोड़कर अलग, विशिष्ट, सर्वोच्च मान लिया जाता है। फिर आधुनिकता की निर्मिति के लिए दूसरी सहायक परिस्थिति उभरने लगती है। पहली परिस्थिति ने समुदायों को तोड़कर स्वयंभू व्यक्ति का निर्माण किया था। दूसरी परिस्थिति देश के टूटने से एक विचारधारा के रूप में सामने आती है। इसे मानववाद कहते हैं। मानववाद का तात्विक अर्थ है कि मनुष्य व्यक्ति के रूप में ही नहीं एक जीव या जाति के अर्थ में भी स्वयंभू है। सारी पृथ्वी और इसके अवयव और इन अवयवों से बने जीव मनुष्य के भोग के लिए हैं। मनुष्य की असीमित वासनाओं, तृष्णाओं और इच्छाओं की पूर्ति के साधन मात्र हैं। भोज्य हैं। अकेले मनुष्य कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है। बाकी सब कुछ उसके आहार और विहार के लिए है।

फिर तीसरी परिस्थिति का निर्माण होता है जिसमें सनातन काल का – इटरनल टाइम का – इटरनल वर्तमान काल का विभाजन होता है। काल को तोड़ा जाता है। जब काल टूटता है तो आधुनिकता की प्रक्रिया पूरी हो जाती है। अब काल भगवान शिव का रूप नहीं रहता। वह दैवीय नहीं रहता। वह मानवीय अनुभव को मापने वाला समय हो जाता है। फिर मानवीय बुद्धि के आधार पर आधुनिक इतिहास की एकांगी समझ विकसित होती है जिसमें समय को पास्ट यानी बीता हुआ, प्रेजेंट यानि वर्तमान और फ्यूचर यानि आने वाला, जैसी कृत्रिम अवधारणाओं में बांटकर मनुष्य जाति का इतिहास लिखा जाता है। आधुनिक समय को सभ्य माना जाता है। गैर आधुनिक समय को प्राचीन और मध्यकालीन में बांटा जाता है। फिर प्राचीन को असभ्य और गैर ऐतिहासिक या मिथकीय कहा जाता है। मूलतः इसे पैगन धर्मों का समय माना जाता है। फिर मध्यकालीन बर्बरता का युग आता है। इसे सेमेटिक धर्मों – यहूदी, ईसाई और इस्लाम से जोड़ा जाता है।

आधुनिकता का युग तकरीबन 16वीं शताब्दी से माना जाता है। 18वीं शताब्दी को आधुनिकता का स्वर्ण काल माना जाता है। 19वीं शताब्दी को संघर्ष काल माना जाता है। 20वीं शताब्दी से आधुनिकता में ठहराव या बिखराव या पतन का दौर धीरे–धीरे शुरू होता है। मोटे तौर पर इस दौर को चार प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं से जोड़ा जाता है। पहला–प्रथम विश्व युद्ध(1914 से 1919)। दूसरा–द्वितीय विश्वयुद्ध (1939 से 1945)। तीसरा–शीत युद्ध (1945 से 1989–1991)। चौथे युग को इतिहास का अंत। विचारधारा का अंत। आधुनिकता का अंत। यूरोपीय उपनिवेशवादी –साम्राज्यवादी वर्चस्व का अंत। गैर पश्चिमी सभ्यताओं का उदय और सभ्यता मूलक संघर्ष का युग कहा जाता है।

हिंदी सिनेमा और संस्कृति के ऐतिहासिक या समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए आधुनिक दृष्टिकोण के उदगम की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है।

परंतु यदि किसी को कम समय में भारतीय सिनेमा की विशिष्टता, लोकप्रियता, एक प्रकार की कलात्मक अमरता और इसके दर्शकों के उन्माद को एक सामाजिक–सांस्कृतिक तथ्य (दुर्खीम के सोशल फैक्ट) की तरह समझना है तो व्यक्तिगत पसंद –नापसंद को अलग रखकर सैद्धांतिक, व्यावहारिक, तुलनात्मक स्तर पर भारतीय सिनेमा का वर्गीकरण करना पड़ेगा। यह वर्गीकरण भारतीय इतिहास, भूगोल (काल, देश) परिस्थिति (फिल्म –निर्माण की आर्थिक– तकनीकी, राजनैतिक, कानूनी संदर्भ) और संस्कृति (मूल्यों के आधार पर भारतीय संस्कृति) के संदर्भ में ही करना पड़ेगा। इस दृष्टि से देखें तो भारतीय सिनेमा का व्यवस्थित अध्ययन अब तक (1913 से 2019) शुरु भी नहीं हुआ है।

अमेरिकी सिनेमा बनाम भारतीय सिनेमा

एन एम्पायर ऑफ देयर ओन (1988) नीयल गैबलर द्वारा लिखित और ऐंकर बुक्स, न्यूयॉर्क द्वारा प्रकाशित एक अद्भुत पुस्तक है। इस पुस्तक की भूमिका से पहले जिल्ल रॉबिन्सन का एक उद्धरण कि 'आज जिसे द अमेरिकन ड्रीम कहा जाता है वह दरअसल एक यहूदी आविष्कार है, इसे रूस से अमेरिका में आकर बसे यहूदियों ने बनाया और पाला–पोसा है।

अमेरिकी सिनेमा रूस से आकर बसे उन यहूदियों के वंचित और जड़ों से उखड़े सांस्कृतिक विस्थापन के दुखद यथार्थ की अनुकृति न होकर उनकी पूर्वी यहूदी विरासत की गरिमामय, गौरवशाली आभिजात्य परम्परा की कलात्मक पुनर्रचना या

पुनर्सृजन था। हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा में कहें तो हॉलीवुड सिनेमा में यहूदी स्वर्ण आभिजात्य का पुर्नअवतरण हुआ था। यह यहूदी परम्परा का पुनर्नवा होना था।

दूसरे शब्दों में रूस एवं पूर्वी यूरोप में विस्थापित जीवन जी रहे यहूदियों ने जब अमेरिकी जमीन पर अपने जीवनयापन एवं पराक्रम के लिए अनुकूल वातावरण पाया तो पीढ़ियों से संचित उनके सपनों, आकांक्षाओं, प्रेरणाओं, कहानियों एवं पुरानी बाइबिल के आख्यानों को मानो पर लग गए और जनसंख्या में अल्प संख्यक होने के बावजूद उन्होंने अपनी लगन, निष्ठा, कठोर मेहनत, आर्थिक प्रबंधन और तकनीकी कौशल से अमेरिकी फिल्म एवं मनोरंजन के क्षेत्र में अपने साम्राज्य की आर्थिक बुनियाद, जर्मनी से अमेरिका आकर बसे यहूदी उद्यमियों ने, मजबूत की। जर्मनी के यहूदियों ने जर्मनी में रहते हुए बैंकिंग और सैन्य उपकरणों के उत्पादन में अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर ली थी। जब उन्हें अमेरिका के विस्तृत भू भाग और कम जनसंख्या में अपने उद्यम और व्यवसाय के लिए बेहतर अवसर दिखा तो उन्होंने अमेरिकी बैंकिंग और सैन्य उपकरण के उद्योग में अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। यह सब प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1919) से काफी पहले हो गया था।

दरअसल 12 मई 1784 में अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम (1775–1783 / 12 मई 1784) की सफल पूर्णाहुति के बाद से 1898 में हुए स्पेनिश – अमेरिकन युद्ध के बीच के करीब 104 सालों तक दुनिया से करीब– करीब निरपेक्ष रहकर, तुलनात्मक रूप से अलग – थलग पड़े स्वतंत्र देश के रूप में, अमेरिका में अभूतपूर्व आर्थिक प्रगति हुई। इस आर्थिक प्रगति में जर्मनी से आये यहूदियों की निर्णायक भूमिका थी। जर्मनी के भीतर औद्योगिक क्रांति जब तक हुई तब तक औद्योगिक उत्पादों की बिक्री करने वाले बाजार, यूरोपीय समृद्धि वाले कैथोलिक देशों (स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैंड, इटली) ने, रेनेसां (यूरोपीय पुनर्जागरण) के कुछ समय बाद, 14वीं–15वीं शताब्दी में ही उपनिवेश स्थापित करके, कब्ज़ा करना शुरू कर दिया था। 18वीं शताब्दी के दौरान ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने भी उपनिवेशों के लिए लड़ना शुरू कर दिया था।

अमेरिका के दोनों महाद्वीप और अफ्रीका में, कैथोलिक देशों ने ही, पहले उपनिवेश बनाये। संयुक्त राज्य अमेरिका तो पहले अलग– अलग छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। जिन पर स्पेन–पुर्तगाल– इटली के कैथोलिक साम्राज्यों ने कब्जा कर रखा था। जब ग्रेट ब्रिटेन में ग्लोरियस रिवॉल्युशन (1688 के नवम्बर माह) में हुई तो जेम्स द्वितीय एवं जेम्स सप्तम को इंग्लैंड, स्कॉटलैंड एवं आयरलैंड के राजा एवं राजकुमार के रूप में बिना खून बहाए हटा दिया गया और जेम्स द्वितीय की बेटी मेरी प्रथम को

रानी बना दिया गया। इस तथाकथित शांतिपूर्ण एवं ग्लोरियस क्रांति के बाद सत्ता मेरी प्रथम के पति विलियम तृतीय नामक डच राजकुमार के पास चली गयी। वह डच राजकुमार हॉलैंड के एक सूबे ऑरेंज का प्रशासक था और जेम्स द्वितीय की बहन और उसके डच बहनोई का बेटा था। इस तरह ग्रेट ब्रिटेन की वास्तविक सत्ता की बागडोर इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, आयरलैंड या वेल्स के राजकुमारों के बदले एक विदेशी डच (पहले हॉलैंड, अब नीदरलैंड) मूल के दामाद को मिल गयी।

इस दामाद ने मेरी प्रथम के दरबार में कुछ नए विदेशी दरबारी नियुक्त किये। उनमें कुछ यहूदी भी थे। बाद में इन्हीं यहूदियों के प्रभाव में ग्रेट ब्रिटेन और 1534 में रोमन कैथोलिक चर्च से अलग हुए चर्च ऑफ इंग्लैंड (जिसे ऐंग्लिकन चर्च भी कहा जाता है) का धीरे–धीरे गुणात्मक रूपांतरण हुआ। ग्रेट ब्रिटेन में 18वीं शताब्दी में लोहा केंद्रित जो औद्योगिक क्रांति हुई उसमें डच यहूदियों और इनके स्कॉटिश अनुयाइयों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसलिए ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज, लन्दन स्थित अंग्रेज इतिहासकारों एवं दार्शनिकों के विपरीत स्कॉटलैंड के एडिनबरा विश्वविद्यालय के विद्वानों (डेविड ह्यूम, एडम स्मिथ, एडम स्मिथ, एडम फर्गुसन आदि) ने एकदम अलग व्याख्या की है। अन्ना प्लैसर्ट नामक लेखिका ने 12 मई 2015 को प्रकाशित अपने शोध प्रबंध में ('द स्कॉटिश एनलाइटनमेंट एंड दि फ्रैंच रेवोल्यूशन, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस) इस विवरण एवं वृतांत की अंग्रेजी पाठकों के लिए रोचक दस्तावेजीकरण किया है। परन्तु जब तक आप डच, स्पेनिश, पुर्तगाली, जर्मन, रुसी और हिब्रू भाषा में उपलब्ध लेकिन अभी तक अंग्रेजी में अनउपलब्ध दस्तावेज़ों को नहीं देखेंगे तो न तो आपको ऐंग्लिकन थियोलॉजी समझ में आएगी, न यूरोपीय आधुनिकता समझ में आएगी, न संयुक्त राज्य अमेरिका की भाषा अंग्रेजी का उदभव एवं विकास समझ में आएगा, न आपको भारत में अंग्रेजी राज की ग्रेट ब्रिटेन को ग्रेट बनाने में भूमिका समझ में आएगी, न आप दोनों विश्व युद्धों के असली कारण समझ पायेंगे और न ही आप भारत या अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम के स्वरूप और संरचना को समझ पाएंगे और न आपको एक ही ग्रेट ब्रिटेन के दो उपनिवेश – संयुक्त राज्य अमेरिका और अखंड भारत– की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति, हॉलीवुड केंद्रित अमेरिकी सिनेमा और बहुकेंद्रित भारतीय सिनेमा का स्वरूप, संरचना, प्रक्रिया एवं प्रकार्य समझ में आएगा।

इस जटिल सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि में ही भारतीय सिनेमा और अमेरिकी सिनेमा को समझा जा सकता है और इसको सरलीकरण के द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

यूरोप भारत की तरह ही एक बहुभाषिक एवं बहुसांस्कृतिक देश है। चौथी शताब्दी तक यूरोप का हर देश पेगन या प्रकृतिपूजक सनातनधर्मी था। चौथी शताब्दी में रोमन सम्राट संत पीटर के प्रभाव में ईसाई बन गया और उसने घोषणा कर दी कि आज से पूरा रोमन साम्राज्य ईसाई हो गया।

यदि संत पीटर ने रोमन साम्राज्य को ईसाई बनाया तो रोमन संस्कृति ने भी ईसा के उपदेशों को अपनी सुविधा से संशोधित एवं रूपांतरित करके स्वीकारा।

जैसे जैसे रोमन साम्राज्य और रोम के ईसाई चर्च के मुख्यालय वेटिकन सिटी के प्रमुख पुजारी पोप का प्रभाव बढ़ता गया वैसे वैसे रोमन कैथोलिक चर्च विश्व धर्म एवं वैश्विक साम्राज्य का मिशन बढ़ाता गया। इससे राजा और शासकीय नौकरशाही ने पवित्र रोमन साम्राज्य की नींव डाली। यह चौथी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक यूरोप का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था। आधुनिक इतिहासकार इसे अन्धकार युग – अन्धविश्वास का युग – सामंतवाद का युग कहते हैं। इसमें प्रकृतिपूजक पेगन सम्प्रदायों तथा यहूदी सम्प्रदाय के लोगों का खूब शोषण हुआ्। उन्हें काफी अत्याचार झेलना पड़ा। पोप एवं पादरियों से असहमत लोगों के साथ बहुत क्रूर व्यवहार किया जाता था। रोमन कैथोलिक लोगों की लिखी कहानी को वास्तविक इतिहास माना जाता था और अन्य लोगों के इतिहास को मिथक, आख्यान, कथा, किवंदंती कहा जाता था।

जो युग (चौथी शताब्दी से बारहवीं या सोलहवीं सदीं तक का काल खंड) यूरोप के लिए अंधकार युग था, वह भारत, चीन, ईरान, अरब, जापान, अमेरिका, अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया के लोगों के लिए काफी जीवंत, गरिमामय, विकसित, ज्ञानवान समय था।

फ्रांसीसी क्रांति का महत्व स्वतंत्रता, बराबरी और भाईचारा (लिबर्टी, इक्वलिटी, फ्रैटर्निटी के सिद्धांतों के विकास या प्रचार–प्रसार में नहीं है जैसा कि अंग्रेजी राज के दौरान लिखे गए इतिहास ग्रंथों में हमें पढ़ाया गया बल्कि जैसा स्कॉटिश ज्ञानोदय के दस्तावेजों के आधार पर अन्ना पल्लेसर्ट कहती हैं। फ्रांसीसी क्रांति का महत्व नेपोलियन बोनापार्ट के उदय और उसके युद्ध अभियानों की नवीनता और युद्धकला (वारफेयर) के गुणात्मक रुपांतरण में है। नेपोलियन बोनापार्ट के नेतृत्व में फ्रांसीसी सेना की युद्धकला और सैनिक अभियानों की रणनीतिक संगठन से समाज, राज्य और उपनिवेशों (दूसरे देशों को युद्ध में हरा कर उन्हें गुलाम बनाये रखने वाली नौकरशाही के उदभव और विकास द्वारा) को व्यवस्थित तरीके से शासन करने वाली

आधुनिक आभिजात्य (मॉडर्न इलीट) संस्कृति के अप्रत्याशित, नये या आधुनिक विकास में है।

इटालियन समाजशास्त्री विल्फ्रेंड परेटो के अनुसार फ्रांसीसी क्रांति (5 मई 1789 से 9 नवम्बर 1799) ने डेमोक्रेसी या प्रजातंत्र के बदले नेपोलियन की साम्राज्यवादी नीति को जन्म दिया जिसमें सत्ता फ्रांस के राजा की जगह पहले राबस पियरे जैसे दरिंदे के हाथ में आयी और फिर 18 मई 1804 में सेनापति नेपोलियन बोनापार्ट निरकुंश तानाशाह बनकर पूरे यूरोप को फ्रांस का गुलाम बनाने में काफी हद तक सफल हुआ। नेपोलियन को अंतिम बार अंग्रेज सेनापति नेल्सन ने 1815 में वाटरलू के मैदान में हराया। फिर अंग्रेजों और फ्रांसीसी शासकों ने संधि करके उपनिवेश बाँट लिए। इस तरह प्रजातंत्र नहीं आया, मात्र शासक वर्ग की अदला–बदली (सर्कुलेशन ऑफ इलीट) हुई। शेरों (राजा) की जगह लोमड़ी (चालाक कूटनीतिज्ञ) सत्ता में आ गई। फिर लोमड़ियों (राबस पियरे जैसे नेताओं) को अपदस्थ करके नया शेर (नेपोलियन) आ गया।

पैरेटो यह भी कहता है कि एडम स्मिथ जैसे लोग बकवास करते हैं कि आधुनिक मनुष्य तर्क और विवेक (रेशनेलिटी) से काम करता है। पैरेटो के अनुसार मनुष्य भावना प्रधान (पैरेटो इसे रेसिडयूज और सिगमंड फ्रायड नामक यहूदी विद्वान इसे लिबिडो या ईड कहता है) होता है और भावना से प्रेरित होकर क्रिया करता है लेकिन बाद में उसे तर्क से सही साबित करने लगता है (पैरेटो इसे डेरिवेशन्स कहता है)।

आधुनिकता को मूलतः यूरोप में रह रहे अल्पसंख्यक यहूदी विद्वानों की आत्मरक्षा की रणनीति की तरह विकसित किया गया। दार्शनिक स्पिनोजा, कार्ल मार्क्स, इमाईल दुर्खीम, लेवी स्ट्रॉस, सिंगमंड फ्रायड, कार्ल जुंग, हाइजेनबर्ग, अलबर्ट आइंस्टाइन, हाइडेगर, सोमबार्ट, हेनरी किसिंजर, लियो स्ट्रॉस और अमेरिकी सिनेमा के अधिकांश निर्माता, निर्देशक, लेखक, नायक – नायिका जैसे नामों को रेखांकित किया जा सकता है। ये सारे के सारे यहूदी हैं। पिछले पांच सौ वर्षों के महान पांच हजार नामों की यदि आप सूची बनाएंगे, तो किसी भी क्षेत्र को शामिल करके, उसमें नब्बे प्रतिशत महान लोग यहूदी मूल के निकलेंगे।

सिनेमा को यहुदियों ने एक हथियार की तरह इस्तेमाल करके रोमन ईसाई एवं लुथरन ईसाई चर्च को प्रभावहीन करके तथाकथित सेक्युलर दुनिया का निर्माण किया जिसमें काल्विनवादी प्रोटेस्टेंट ईसाई और चर्च ऑफ इंग्लैंड (ऐंग्लिकन चर्च) उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोगी बना।

हिटलर की भाषा और मार्टिन लूथर की भाषा में, युगों के अंतर के बावजूद, आश्चर्यजनक समानता है। उतनी समानता तो गुरु प्लेटो और चेले अरस्तु में भी नहीं है। उतनी समानता तो ईसा मसीह के माउंट ऑफ सेनाई पर दिए गए उपदेश और संत पीटर द्वारा रोम के राजा को दिए गए उपदेश में भी नहीं है।

दोनों विश्वयुद्धों में जर्मनी, उपनिवेशों में हिस्सेदारी, चाहता था। उसको अपने औद्योगिक उत्पादों के लिए बाजार चाहिए था। हिटलर ने समझौतों के अनेक प्रस्ताव चर्चिल को भेजे थे लेकिन चर्चिल ने युद्ध रोकने के बजाय स्टालिन और हिटलर दोनों को भिड़ा दिया। हिटलर को स्टालिन ने हराया था और उसे उम्मीद थी कि युद्ध खत्म होने के बाद वह नए शक्ति संकुल के केंद्र में होगा। परन्तु चर्चिल ने अमेरिका को जापान पर बमबारी करने के लिए युद्ध खत्म होने के बाद उकसाया ताकि सोवियत संघ के खिलाफ अमेरिका को खड़ा किया जा सके।

सौभाग्य से बालगंगाधर तिलक – राजा रवि वर्मा और फाल्के की तिकड़ी ने सही समय पर भारतीय सिनेमा का बीजा रोपण किया और अंग्रेजों के जाने के बाद भारतीय सिनेमा ने अमेरिकी सिनेमा के सशक्त विकल्प के रूप में अब तक अपनी स्थिति बचाये रखी है। आज भारतीय सिनेमा सभी महाद्वीपों में हॉलीवुड के सभ्यतामूलक विमर्श का सबसे सशक्त विकल्प है। प्रस्तुत पुस्तक इसी सभ्यतामूलक विमर्श को भारतीय सिनेमा में रेखांकित करने का एक विनम्र प्रयास है।

आँख का अंधा, नाम नैनसुख

हिंदी सिनेमा के समीक्षकों और आलोचकों को सामूहिक रुप से आँख का अंधा, नाम नयनसुख कहना सबसे सटीक है। भले ही इस लोकप्रिय हिंदी मुहावरे का सामान्य अर्थ नकारात्मक है, परंतु इसका एक विशेष सकारात्मक अर्थ भी है। मेरे प्रिय फिल्मकार राजकपूर कहा करते थे कि यदि किसी फिल्म का ऑडियो (आवाज) बंद कर दिया जाए तब भी केवल दृश्य देखकर फिल्म की कहानी समझ में आनी चाहिए।

दुर्भाग्य से हिंदी सिनेमा के अधिकांश समीक्षक और आलोचक सामूहिक रूप से 'आँख के अंधे' रहे हैं। वे राजकपूर की रीति –नीति के विरुद्ध जान बूझ कर उलटी रीति –नीति पर चलते रहे हैं। वे आँख बंद करके या विडियो बंद करके केवल ऑडियो सुनकर फिल्म की समीक्षा लिख देते हैं। अपनी सुविधा से इन लोगों ने सिनेमा को कथा फिल्म (नैरेटिव) और मांसल फिल्म (स्पेकटेकल) में बांट दिया है। मांसल फिल्मों को हिकारत से देखा जाता है या नहीं देखने लायक मान लिया जाता

है। दुर्भाग्य से इस देश की तथाकथित मूर्ख जनता (सिनेमा के असली दर्शक और भारतीय राजनीतिक चुनावों का असली वोटर) सिनेमा को संपूर्णता में देखती है। उसके लिए मंदिर की पूजा– पद्धति की तरह सिनेमा हॉल के अंदर देखी जाने वाली फिल्म, एक दृश्य– श्रव्य (मांसल कथा) माध्यम या स्पेकटेकल है।

हिंदी सिनेमा का दर्शक फिल्म देखता है। सुनना उसके देखने की प्रक्रिया की एक आवश्यक अनुपूरक क्रिया है।

हिंदुस्तानी सिनेमा के अधिकांश आलोचकों ने विभिन्न कारणों से अनाधिकार चेष्टा करके अपनी साक्षर अज्ञानता का वीभत्स प्रदर्शन किया है। एक सिरफिरे ने अपनी अज्ञानता के नशीले अहंकार में घोषणा कर दिया कि ''भारत में सिनेमाहॉल पहला सेक्युलर स्पेस रहा है जहाँ हर जाति और धार्मिक सम्प्रदाय के लोग पहली बार एक साथ बैठ कर फिल्म देख रहे थे''। विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले तथाकथित विद्वान आलोचक की अज्ञानता एवं नादानी पर न हंसी आती है, न रुलाई, न आश्चर्य होता है और न कोफ्तगी होती है। केवल महान समाजशास्त्री डी.पी.मुखर्जी याद आते हैं कि अंग्रेजी भाषा लिखने, पढ़ने वाला भारतीय मध्यवर्ग, अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उखड़ा हुआ (रुटलेस) जीव है, जो न यूरोपीय आधुनिकता को समझता है और न भारतीय परम्परा को। तुर्रा यह है कि यह बुद्धिजीवी हिंदुस्तानी सिनेमा को देसी भाषाओं में देखता है और अंग्रेजी भाषा में अपने जैसे दो–चार उखड़े हुए भारतीयों और भारतीय संस्कृति एवं सिनेमा को हिकारत की नजर से देखने वाले विदेशी गोरांग (गोरी नस्ल के पूंजीवादी या साम्यवादी साम्राज्यवादी) प्रभुओं के लिए लिखता है और ऐशो आराम की खोखली जिंदगी जीते हुए निराशा और अहंकार की मिली जुली बौद्धिक नपुंसकता के आत्म–संघर्ष में, धर्म–ईमानहीन मशीनी या पशुवत जिंदगी जीने के नाम पर रोज मरता है और बंद गली के आखिरी मकान के आत्ममुग्ध छलावे में जीता है। सांस्कृतिक रूप से उजड़े हुए महानगरों का, पैतृक भाषाओं से उखडा हुआ, मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी, अपनी पूरी जिंदगी शराब, सिगार एवं देशज संस्कृतियों के लोगों का खून पीते हुए सांसारिक यथार्थ की उपेक्षा करता है। यह बुद्धिजीवी भारत के धार्मिक समुदायों एवं समृद्ध संस्कृति पर, जिसका पिछले सौ सालों से एकमात्र प्रतिनिधि हिंदुस्तानी सिनेमा है, अपना नपुंसक अधिकार जताता रहता है, जिसका प्रभाव ना तो समाज पर होता है ना बाजार पर ना सरकार पर और ना सेना पर।

देशी भाषा में बनी भारत की फिल्में तथा फिल्म संगीत लोगों को अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़े रहने में मदद करती हैं तथा कस्बों, शहरों एवं नगरों को भाषाई सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में उजड़ने से बचाती हैं। महानगरों के उन हिस्सों में

जहां अभी भी हिंदुस्तानी सिनेमा एवं हिंदुस्तानी फिल्म संगीत का प्रभाव बना हुआ है वहां के लोगों के पारिवारिक संस्कार, विवाह संस्थाएं तथा आदमी एवं औरत का सरस जीवन, जीवंत बना हुआ है। वरना कान्वेंट एजुकेशन और हॉलीवुड की फिल्मों के प्रभाव में जो व्यक्ति, परिवार और कॉलोनियां, कंक्रीट के जंगल बन गए हैं जहां मनुष्य या तो मशीन बन के रह गया है या पशु बने रहने की जद्दोजहद कर रहा है। संस्कृति, सभ्यता, शिष्टाचार एवं मर्यादा कंक्रीट के इन जंगलों से गायब हो गए हैं और इनकी जगह पर कट्टरता एवं अंधविश्वास जैसी अफीम की पीनक, जिंदगी का एकमात्र अर्थपूर्ण और सुंदर कार्य रह गया है। भारतीय लोकप्रिय एवं मनोरंजक सिनेमा सत्यम शिवम सुंदरम के आदर्श को अभिव्यक्त करता है कई बार पूर्णता के साथ, कई बार अपूर्ण रूप में।

सच्चाई यह है कि भारत में सिनेमा, खासकर लोकप्रिय, सरस और मनोरंजक सिनेमा एवं सिनेमाहॉल एक सेक्रेड (इमाईल दुर्खीम की शब्दावली) उत्सव स्थल है जिसमें हर जाति, सम्प्रदाय, क्षेत्र एवं नस्ल के दर्शक उत्साह से एक आत्मीय समुदाय की तरह सिनेमा का आनंद उठाते हैं। इसके भारतीय विश्वविद्यालय, भारत सरकार एवं नौकरशाही की तरह एक औपनिवेशिक विरासत को ढोने वाला भारतीय, अलोकप्रिय एवं आम जनता के दुःख–दर्द से उदासीन, प्रोफेन (इमाईल दुर्खीम की शब्दावली) संरचनाएं हैं जो हमेशा गुलामी के दिनों के स्मारक की तरह आम आदमी के मन, मस्तिष्क एवं आत्मा को लहू–लुहान करती रहती हैं।

दुर्भाग्य से हिंदी सिनेमा (भारतीय सिनेमा) का चर्चित समीक्षक–आलोचक वर्ग अलग किस्म का प्राणी समूह रहा है। इसमें से अधिकांश को फिल्म –निर्माण से संबंधित तकनीकी जानकारी नहीं होती। वे भारतीय संस्कृति को हिकारत से देखते हैं। ज्यादातर मंदिर या पूजापद्धति के बारे में अपनी सांस्कृतिक अज्ञानता का महिमामंडन करते रहते हैं। ये लोग अपना मनोरंजन अभारतीय फिल्मों को देख कर करते हैं और अपनी नौकरी /पेशा की जरूरत के लिए हिंदी या भारत की लोकप्रिय ब्लॉकबस्टर (आधुनिकतम दर्शकों द्वारा सराही गई या रसास्वादित) फिल्मों के बारे में लिखने या न्यायपालिका की तरह जजमेंट सुनाने का काम कर देते हैं। भारत के अधिकांश फिल्मों के पुरस्कारों की निर्णय करने वाली कमिटी में अधिकांशतः गैर–फिल्मी लोग होते हैं। ये लोग फिल्मकार का नाम सुनकर फिल्म के बारे में निर्णय करते हैं या लिखते हैं। ज्यादातर लोग अंग्रेजी में सोचकर अंग्रेजी में ही लिखते हैं। कुछ लोग अंग्रेजी में सोचकर हिंदी में लिखने की कृपा करते हैं।

भारतीय भाषाओं में लिखने वाले वामपंथियों में भी एक सांस्कृतिक नफासत और नैतिक मर्यादा है जो चीन और रूस के वामपंथियों में देखने को नहीं मिलती। उदाहरण के लिए गीतकार के रूप में शैलेंद्र या साहिर और फिल्मकार के रूप में चेतन आनंद एवं हेमंत कुमार उसी तरह के ठेठ भारतीय वामपंथी हैं जैसे राहुल सांकृत्यायन, रामविलास शर्मा, डी.पी.मुखर्जी या डी.डी कोसांबी थे। इनकी तुलना किसी भी अन्य देश के वामपंथियों से नहीं की जा सकती। महात्मा गांधी ने एक बार कहा था कि अंग्रेजों ने हमें हरा कर हम पर राज नहीं किया था बल्कि हमने उनको भारत दान में दिया था। यह हमारी अपनी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मजबूरी के कारण दिया हुआ दान था और जब हम चाहेंगे तो अंग्रेजों के पास भारत से बाहर जाने के अलावा कोई उपाय नहीं है। यह बात उन्होंने 1909 से 1915 के बीच 'हिंद स्वराज' नामक अपनी पुस्तक के ऊपर परिचर्चा के दौरान कही थी।

गांधीवादी विचारक एवं विनोबा भावे के शिष्य मुक्तानंद सरस्वती कहा करते थे कि भारत के आम आदमी को युक्ति से काम निकालना आता है। इस देश के लोगों ने तो अपने विदेशी शासकों को भी सांस्कृतिक रूप से गुलाम बना लिया था। उदाहरण के लिए मंगोल शासक भारतीय मुगल हो गए और उनका खान–पान,वेशभूषा, चाल चलन, प्यार और युद्ध आदि सब तहजीब, अपने पूर्वजों से काफी अलग अर्थात भारतीय हो गया था।

उन्होंने, हंसते हुए, तीन उदाहरण दिए :–

पहला उदाहरण – राजकपूर ने अपने से ज्यादा प्रतिभा संपन्न ख्वाजा अहमद अब्बास से अपनी फिल्मों में जिस तरह का काम करवा लिया वह ख्वाजा अहमद अब्बास ने सपने में भी नहीं सोचा होगा कि वे ऐसा कर सकते हैं। जब मैंने स्वामी जी के इस संकेत को अब्बास एवं राजकपूर के द्वारा निर्देशित फिल्मों के तुलनात्मक अध्ययन में रूपांतरित किया तो सचमुच मैं दंग रह गया कि राज कपूर की युक्ति ने ख्वाजा अहमद अब्बास का एक लेखक के रूप में ऐसा रूपांतरण कर दिया कि अब्बास का लेखन राजकपूर के ब्लॉकबस्टर (बॉक्स ऑफिस पर विराट सफलता) का खाद पानी बन गया। जबकि वही अब्बास अपनी कहानी और पटकथा पर अलोकप्रिय, असफल, व्यावसायिक हादसा का निर्माण एवं निर्देशन करते चले गए।

दूसरा उदाहरण–केदार शर्मा, बी.आर चोपड़ा जैसे सचेतन रूप से हिंदू फिल्मकारों ने साहिर लुधियानवी जैसे वामपंथी तेवर को, युक्ति पूर्वक ऐसे रूपांतरित किया कि दर्शकों को एक झटका सा लगता है। उदाहरण के लिए बी.आर.चोपड़ा के

'नया दौर' और केदार शर्मा के मीना कुमारी अभिनीत 'चित्रलेखा' फिल्म के गीतों के माध्यम से साहिर का वामपंथी विचार, कपूर की आरती की तरह, गायब हो जाता है और कहानी की मांग के हिसाब से भारतीय सुगंध बची रह जाती है और दर्शक मंत्रमुग्ध हो कर उन गानों को परदे पर देखते और सुनते हुए, विराट संभावनाओं की अनुभूति में खोकर, रोने या मुस्कुराने लगता है।

तीसरा उदाहरण – सूफी मास्टर ए.आर.कारदार के प्रभाव में वामपंथी मेहबूब खान जब आते हैं तो 'रोटी', 'औरत' जैसी नीरस फिल्म बनाने वाले वामपंथी मेहबूब खान 'अमर' 'अंदाज़' और 'मदर इंडिया' जैसी गैर वामपंथी, भारतीय मनोरंजन से भरपूर, संगीतमय फिल्म बनाने लगते हैं। जिसमें कारदार के शागिर्द संगीतकार नौशाद और गीतकार शकील का ठेठ हिंदुस्तानी गीत–संगीत रसरंग बिखेरता रहता है।

पिछले तक़रीबन सौ वर्षों से भारतीय सिनेमा एवं तकरीबन नब्बे वर्षों से भारतीय फिल्म संगीत व्यक्तियों के सामाजीकरण का सबसे सशक्त माध्यम बन गया है और अधिकांश दर्शकों को उनकी दादी एवं नानी, चाची या मौसी, मां या बहन, दोस्त या पति–पत्नी से भी ज्यादा लाड़ दुलार, मनुहार या प्यार के साथ जिंदगी जीने के लिए बल और साहस प्रदान करता है।

एकल सिनेमा के दर्शकों का सिनेमा देखने का अपना एक ठेंठ देसी दर्शनशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र होता है। ये रसिक लोग हैं। सिनेमा का टिकट खरीदने के लिए ये भक्ति भाव से कतार में लगते रहे हैं मानों मंदिर के देवी–देवता के दर्शन के लिए कतार में उत्साह और श्रद्धा से खड़े हैं। परन्तु इस पुस्तक के संभावित पाठकों से मेरा एक निवेदन है। इस पुस्तक को पढ़ते वक्त वे यह अवश्य ध्यान रखें कि यह विश्वविद्यालय में किये गए शोध पर आधारित पुस्तक है। यह पुस्तक भारतीय दर्शकों के सिनेमा देखने के दर्शनशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र एवं लोकशास्त्र का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन है। इसका उद्देश्य पाठकों को उनकी सिनेमाई विरासत का परिचित कराते हुए, समकालीन वैश्विक परिदृश्य के संदर्भ में, नए सांस्कृतिक नवजागरण के लिए, उद्वेलित करने का विनम्र प्रयास है।

अमित कुमार शर्मा

पूर्वपक्ष:–बलराज साहनी

बलराज साहनी द्वारा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में 1972 के दीक्षांत समारोह के अवसर पर दिया गया भाषण इस आलेख का पूर्वपक्ष है। 2020 में लिखी गयी यह पुस्तक इसी भाषण का उत्तरपक्ष है।

प्रिय साथियों,

करीब बीस साल पहले की बात है। कलकत्ता फिल्म जर्नलिस्ट्स असोसिएशन ने 'दो बीघा जमीन' के निर्माता स्वर्गीय बिमल रॉय और हम सब, यानी फिल्म के उनके साथियों को सम्मान देने का फैसला किया। वो बड़ा साधारण, मगर अच्छा कार्यक्रम था। कई लोगों ने भाषण दिए। मगर सुनने आए लोग तो बस बिमल रॉय की बारी का इंतजार कर रहे थे। हम सब फर्श पर बैठे थे। मैं बिमल दा के बगल में बैठा था। मैंने देखा कि जब उनके भाषण देने की बारी पास आ रही थी, तो वो काफी नर्वस हो गए। घबरा रहे थे। फिर जब उनका नंबर आया, तो वो खड़े हुए। हाथ जोड़े और कहा, 'जो भी मुझे कहना होता है, वो मैं अपनी फिल्मों में कह देता हूँ। उससे ज्यादा मेरे पास कुछ नहीं है कहने को' इतना कहा और बैठ गए।

बिमल दा ने उस दिन वहां जो कहा, उसके मायने बड़े गहरे थे। आज इस घड़ी जब मैं यहां भाषण देने के लिए खड़ा हूं, तो मेरा मन तो ये ही कह रहा है कि मैं उनकी ही मिसाल पकड़ूं। मगर मैं ऐसा नहीं करने वाला। इसकी इकलौती वजह इस संस्थान (जे.एन.यु.) के प्रति मेरा सम्मान है। एक और शख्स के प्रति मेरा सम्मान मुझे कम बोलने से रोक रहा है। वो शख्स हैं श्री पी सी जोशी. जो कि आपकी यूनिवर्सिटी से जुड़े हुए हैं। मेरी जिंदगी के कुछ सबसे खूबसूरत लम्हे इस इंसान की बदौलत हैं। ये एहसान मैं कभी नहीं उतार सकता। ये ही वजह है कि जब मुझे इस कार्यक्रम में आने का आमंत्रण दिया गया, तो मैं इनकार नहीं कर सका। अगर आपने (जे. एन. यु.) मुझे अपने दरवाजे पर झाड़ू लगाने के लिए भी बुलाया होता, तो मैं इतना ही खुश होता। इतना ही सम्मानित महसूस करता। शायद मेरी योग्यता के हिसाब से वो काम ज्यादा सही रहता।

नहीं नहीं, मुझे गलत मत समझिए, मैं विनम्र होने की कोशिश नहीं कर रहा हूं। मैंने जो भी कहा, दिल से कहा। आगे भी मैं जो कहूंगा, वो दिल से ही कहूंगा। आप इससे सहमत हों या न हों, आपको मेरा कहा दीक्षांत समारोहों की परंपरा के मुताबिक लगता है या नहीं, ये अलग बात है। जैसा कि आप जानते ही हैं, मैं करीब 25 साल से ज्यादा समय से पढ़ाई–लिखाई की दुनिया से दूर हूं। इससे पहले मैंने कभी किसी यूनिवर्सिटी के दीक्षांत समारोह को संबोधित भी नहीं किया।

मैं ये भी बताना चाहूंगा कि आपकी इस शैक्षिक दुनिया से दूरी बनाना, मेरी मर्जी से लिया गया फैसला नहीं था। ऐसा हुआ क्योंकि हमारे देश में फिल्म बनाने की जो प्रक्रिया है, वो थोड़ी खास है। या तो हमारी फिल्म इंडस्ट्री किसी कलाकार को बहुत कम काम देती है, जिसकी वजह से वो बेचारा खाली बैठकर अपना मन छोटा करता है या फिर किसी कलाकार को बहुत ज्यादा ही काम मिल जाता है। इतना काम कि वो जिंदगी की बाकी चीजों से पूरी तरह कट जाता है। न केवल वो सामान्य पारिवारिक जिंदगी की खुशियों का त्याग करता है, बल्कि उसे अपनी बौद्धिक और आध्यात्मिक जरूरतों को भी नजरंदाज करना पड़ता है। पिछले 25 सालों में मैंने 125 से ज्यादा फिल्मों में काम किया है। इतने ही वक्त में इस दौर के किसी यूरोपीय या फिर अमेरिकी कलाकार ने बमुश्किल 30 से 35 फिल्में की होतीं।

इसी बात से आप अंदाजा लगा सकते हैं कि मेरी जिंदगी का कितना बड़ा हिस्सा सिनेमा के नीचे दबा हुआ है। बहुत सारी किताबें जो मुझे पढ़नी चाहिए थीं, मैं पढ़ नहीं पाया। कई सारी चीजें जिसमें मुझे भागीदारी करनी चाहिए थी, उनमें मैं शरीक नहीं हो पाया। कई बार मुझे लगता है कि मैं बहुत पीछे छूट गया हूं। ये तकलीफ़ तब और ज्यादा बढ़ जाती है, जब मैं खुद से सवाल करता हूं कि इन 125 फिल्मों में से कितनी ऐसी फिल्में हैं, जिनमें कुछ बेहतर है? मैंने जो फिल्में की हैं, उनमें कितनी ऐसी हैं जिन्हें याद रखा जाना चाहिए? शायद कुछ ही फिल्में इस पांत में आ सकेंगी। इतनी कम है इनकी गिनती कि मेरे एक हाथ की उंगलियों पर खत्म हो जाएं और शायद ये फिल्में भी या तो भुला दी गई हैं या भुला दी जाएंगी।

तभी तो मैं अभी कह रहा था कि मैं विनम्र बनने की कोशिश नहीं कर रहा। मैं तो बस आपको आगाह कर रहा था। ताकि जब मैं बोलूं और आप निराश हों, तो आप मुझे मुआफ कर सकें। बिमल रॉय सही कहते थे। कलाकार का काम ही उसकी दुनिया है, तो जब मैं बोल ही रहा हूं, तो मैं वो ही बोलूंगा जिसे मैं अपने अनुभवों से जाना है। जो मैंने देखा है।

जैसा मैंने महसूस किया है और अपने तजुर्बेसे समझी हुई वो बातें मैं कहूंगा, जो मुझे लगता है कि आपसे कही जानी चाहिए। इन सबके अलावा कुछ और बोलना गलत और बेवकूफाना होगा।

मैं आपको एक वाकया बताना चाहता हूं, ये मेरे कॉलेज के दिनों की बात है। ऐसी बात है, जिसे मैं कभी भुला नहीं सका। ये वाकया जैसे मेरे दिमाग पर हमेशा के लिए गुद गया है। मैं अपने परिवार के साथ गर्मी की छुट्टियां बिताने रावलपिंडी से कश्मीर जा रहा था। आधा रास्ता ही पार हुआ था कि बस रुक गई। एक रात पहले वहां बहुत जोर की बारिश हुई थी। उस बारिश के कारण सड़क का एक बड़ा हिस्सा बह गया था। इस लैंडस्लाइड के कारण वहां बसों और कारों की कतार लगी थी। हमारी बस भी उस कतार में शामिल हो गई। हम सब बड़ी बेसब्री से रास्ता साफ होने का इंतजार कर रहे थे। सरकारी विभाग के लिए ये काम जरा मुश्किल साबित हो रहा था। मलबा हटाने और रास्ता साफ करने में उन्हें कुछ दिनों का वक्त लग गया। हालात पहले से बड़े मुश्किल थे। इसे और मुश्किल बनाया वहां जमा यात्रियों और गाड़ी के ड्राइवर्स ने सब लोग बड़ी बेसब्री दिखा रहे थे। विरोध प्रदर्शन कर रहे थे। वहां आस–पास के गांवों में रहने वाले लोग भी इन शहरी लोगों के बर्ताव से परेशान हो गए।

फिर एक सुबह बताया गया कि सड़क खुल गई है। तमाम ड्राइवरों को गाड़ी आगे बढ़ाने की हरी झंडी मिल गई। मगर तभी हमें एक अजीब सा मंजर दिखा। कोई भी ड्राइवर पहले गाड़ी बढ़ाने को तैयार नहीं था। सब गाड़ियां लेकर वहां खड़े थे। इस पार वाले भी और उस पार वाले भी। इस बात में कोई शक नहीं कि जो सड़क बनाई गई थी, वो कामचलाऊ थी और शायद खतरनाक भी थी। हमारे एक तरफ पहाड़ था। दूसरी तरफ गहरी खाई और नीचे नदी भी बह रही थी। हालात जोखिम भरे थे। पी.डब्लू .डी. के जिस कर्मचारी पर सड़क बनवाने का जिम्मा था, उसने बारीकी से मुआयना किया था। उसे एहसास था कि कितने सारे जानों की जिम्मेदारी है उस पर, ये सब देखने–समझने और तसल्ली करने के बाद ही उसने सड़क को खोला था।

मगर वहां मौजूद लोगों में कोई भी ऐसा नहीं था जो उसके फैसले पर भरोसा करके आगे बढ़ने की हिम्मत दिखाए। और ये वो ही लोग थे जो एक दिन पहले तक सरकारी विभाग पर कामचोरी और नालायकी का इल्जाम लगा रहे थे। इसी उलझन में आधा घंटा बीत गया। एक भी इंसान अपनी जगह से नहीं हिला। तभी हमने देखा कि एक छोटी सी हरे रंग की स्पोर्ट्स कार आगे बढ़ रही है। कोई अंग्रेज चला रहा था वो कार। अकेला था। उसने जब इतनी सारी गाड़ियों और लोगों को वहां जमा देखा,

तो हैरान हुआ। मैं भी वहीं खड़ा था। अपनी स्मार्ट सी जैकेट और पतलून पहने। उस अंग्रेज ने मुझसे पूछा– क्या हुआ है?

मैंने उसे पूरी बात बता दी। वो बड़ी जोर से हंसा। अपनी कार का हॉर्न बजाया और सीधा आगे की ओर बढ़ गया। बिना किसी झिझक के उसने सड़क का वो खतरनाक हिस्सा पार कर लिया। उसके पार होते ही स्थितियां बदल गईं। अब हर किसी को पार जाने की जल्दी थी। लोग एक–दूसरे से आगे बढ़ना चाहते थे। सबसे पहले निकलना चाहते थे। इस चक्कर में वहां बड़ी अफरातफरी मच गई। सैकड़ों गाड़ियों के इंजनों और उनके हॉर्न की आवाज़ झेली नहीं जा रही थी।

उस दिन मैंने अपनी आंखों से देखा। कि एक आजाद मुल्क में पले–बढ़े और एक गुलाम देश में पैदा हुए इंसान के बर्ताव में कितना फर्क होता है। एक आजाद इंसान के पास खुद सोचने, फैसला करने और उसके ऊपर अमल करने की ताकत होती है। गुलाम इंसान के पास ये चीज नहीं होती। वो हमेशा औरों के मुताबिक सोचता है। अपने फैसले नहीं ले पाता। जोखिम लेने की हिम्मत नहीं करता। कुछ नया नहीं कर पाता। नए रास्तों पर नहीं चलता। उस घटना से मैंने एक सबक सीखा। ये एक सबक मेरे लिए बहुत कीमती साबित हुआ। अपनी अब तक की जिंदगी में जब भी मैंने खुद अहम फैसले लिए, तब–तब मैंने खुद को एक आजाद इंसान कहा। मेरा जज्बा मजबूत हुआ। मैंने अपनी जिंदगी को खुश होकर जिया, ये सब इसलिए कि मैंने महसूस किया कि मेरी जिंदगी का मायना है।

मगर ईमानदारी से कहूं, तो ऐसे मौके बड़े कम ही आए हैं। कई मौकों पर, कई अहम पलों पर मेरी हिम्मत जवाब दे गई। तब मैंने दूसरी की अक्लमंदी का सहारा लिया। उनसे राय ली ये ऐसे मौके थे, जब मैंने जोखिम न उठाकर सुरक्षित रास्तों पर चलना सही समझा। मैंने अपने परिवार की उम्मीदों के मुताबिक फैसले लिए, मेरा परिवार बहुत संभ्रांत बुर्जुआ परिवार था। ये फैसले उनके मुताबिक थे। ये वो बातें थीं, जो उनको सही लगती थीं। मैंने सोचा कि बगावत करूं, लेकिन कर नहीं पाया। उनकी मर्जी के आगे घुटने टेक दिए। इस वजह से बाद में कई मौकों पर मुझे बुरा महसूस हुआ। लगा, मेरे अंदर कोई सड़ांध पैदा हो गई है। इंसानी खुशी की बात करुं, तो कुछ फैसले बड़े खराब साबित हुए। जब भी मेरी हिम्मत जवाब दे गई, तब–तब ऐसा लगा कि ये मेरी जिंदगी बेमतलब है। किसी बोझ के जैसी है।

मैंने आपको उस अंग्रेज का किस्सा बताया। शायद इससे जाहिर हो जाएगा कि उस वक्त मैं खुद को कितना छोटा और कमतर समझता था। मैं शायद आपको

सरदार भगत सिंह की मिसाल भी दे सकता था। उन्हें भी उसी साल फांसी हुई थी। मैं आपको महात्मा गांधी की मिसाल दे सकता था, जिनके पास हमेशा अपने फैसले लेने की हिम्मत थी। मुझे याद आता है कि किस तरह मेरे कॉलेज के प्रोफेसर और मेरे शहर के समझदार आदमी महात्मा गांधी की नादानी पर इनकार में अपना सिर हिलाते थे। गांधी जी को लगता था कि वो अपने सत्य और अहिंसा के यूटोपियन सिद्धांतों से दुनिया के सबसे ताकतवर साम्राज्य की चूलें हिला देंगे। अंग्रेजों को हरा देंगे। मुझे लगता है कि मेरे शहर के एक फीसद से भी कम लोगों को इस बात का यकीन था कि अपने जीते–जी वो एक आजाद हिंदुस्तान देख सकेंगे। मगर महात्मा गांधी को खुद पर भरोसा था। अपने मुल्क पर यकीन था उन्हें। अपने लोगों पर विश्वास था उनको। आप में से कुछ लोगों ने शायद गांधी जी की वो पेंटिंग देखी होगी, जो नंदलाल बोस ने बनाई। वो एक ऐसे इंसान की तस्वीर है, जिसके अंदर सोचने और उसपर अमल करने की हिम्मत थी।

अपने कॉलेज के दिनों में मैं भगत सिंह या फिर महात्मा गांधी से बिल्कुल भी प्रभावित नहीं था। मैं पंजाब के सबसे शानदार शैक्षणिक संस्थान– लाहौर के सरकारी कॉलेज से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. कर रहा था। बहुत बेहतरीन छात्रों को ही वहां दाखिला मिला करता था। आजादी के बाद मेरे साथ के छात्रों ने भारत और पाकिस्तान में बड़े ऊंचे ओहदे हासिल किए। सरकारी नौकरियों में भी और समाज–सोसायटी में भी। मगर इस कॉलेज में दाखिला लेने से पहले हमें एक लिखित गारंटी देनी पड़ती थी, कि हम किसी भी राजनैतिक आंदोलन में हिस्सा नहीं लेंगे। उस दौर में राजनैतिक आंदोलन का मतलब था आजादी की लड़ाई।

इस साल (1972) हम अपनी आजादी की 25वीं सालगिरह मना रहे हैं। मगर क्या हम ईमानदारी से ये कह सकते हैं कि हमने गुलामी वाली अपनी मानसिकता से आजादी पा ली है? हमारे अंदर की हीनभावना को जीत लिया है? क्या हम ये दावा कर सकते हैं कि निजी, सामाजिक, संस्थानिक या फिर सोच के स्तर पर, फैसलों के मामलों में, यहां तक कि हम जो कर रहे हैं, इन सब बातों में आजाद ख्याल हैं? कि हमने अपनी सोच कहीं से उधार नहीं ली है? क्या आध्यात्मिक तौर पर हम आजाद हैं? क्या हमारे अंदर खुद से सोचने और अपने लिए फैसला लेने की हिम्मत है? या फिर हम ऐसा करने का दिखावा करते हैं? क्या हम बस आजाद होने का ढोंग कर रहे हैं?

मैं आपका ध्यान उस फिल्म इंडस्ट्री की ओर खींचना चाहूंगा, जिसका मैं हिस्सा हूं। मैं जानता हूं कि हमारी कई सारी फिल्में ऐसी हैं, जिनका जिक्र ही कर दूं बस तो

आप लोग हंसने लगेंगे। पढ़े–लिखे, समझदार लोगों की नजरों में हिंदी फिल्में किसी तमाशे से ज्यादा कुछ नहीं। फिल्में जिनकी कहानियां बचकानी हैं, जिनका सच्चाई से कोई लेना–देना नहीं और जो किसी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं। मगर आप सब इस बात पर राजी होंगे कि इन फिल्मों की सबसे बड़ी खामी उनकी कहानियां हैं। उन्हें बनाए जाने का तरीका है। उनमें होने वाला नाच–गाना है। और ये जब बाहर की फिल्मों से चुराया जाता है। बिना सोचे–समझे, बस चुरा लिया जाता है। कई ऐसी हिंदी फिल्में हैं, जो पूरी की पूरी किसी विदेशी फिल्म की चोरी करके बनाई गई हैं। तो कोई अचरज नहीं कि आप जवान लोग हम फिल्मवालों पर हंसते हैं। हमारा मजाक बनाते हैं। वो भी तब, जब कि आपमें से ही कुछ लोग खुद भी इसी फिल्म इंडस्ट्री में आकर बड़ा सुपरस्टार बनने का ख्वाब देखते हैं।

हिंदी फिल्मों पर हंसना मेरे लिए आसान नहीं है। इन्हीं फिल्मों से तो मैं रोजी–रोटी कमाता हूं। इन्हीं फिल्मों की बदौलत तो मुझे इतना पैसा, इतना नाम मिला है। यहां तक कि आज जो आपने मुझे बुलाया है और इतना सम्मान दिया है, उसके लिए भी कुछ हद तक मैं इन्हीं हिंदी फिल्मों का शुक्रगुजार हूं। जब मैं आपकी तरह एक छात्र था, तब हमारे शिक्षक (अंग्रेज भी और देसी भी) हमें कला के अलग–अलग क्षेत्रों की ओर जाने के लिए राजी करने की कोशिश करते थे। ये कलाएं तब गोरे लोगों की दुनिया समझी जाती थीं। महान फिल्में, महान नाटक, महान अभिनय, महान चित्रकारी वगैरह वगैरह। ये सब या तो यूरोप में मुमकिन था या फिर अमेरिका में हम हिंदुस्तानियों की संस्कृति, हमारी भाषा कला के लिहाज से बहुत पिछड़ी और कच्ची मानी जाती थी। हमें ये सब देख–सोचकर बड़ा बुरा लगता था। बाहरी तौर पर इसकी शिकायत भी करते थे। मगर अंदर ही अंदर हम इसे सच मानते थे।

तब से लेकर अब तक की स्थितियों में फर्क तो आया है। बहुत फर्क आया है। आजादी के बाद भारत ने कला के हर क्षेत्र में काफी काम किया है। फिल्म बनाने वालों की लीग में सत्यजीत रे और बिमल रॉय का नाम दुनिया की बड़े समकक्षों में शुमार किया जाता है। हमारे कई कलाकारों, कैमरामैन्स और टेक्नीशियन्स की तुलना दुनिया के किसी कोने में काम कर रहे उनके समकक्षों से की जा सकती है। आज की तारीख में हमारा मुल्क सबसे ज्यादा फिल्में बनाता है। न केवल हमारी फिल्में देश के अंदर बेहद लोकप्रिय हैं, बल्कि पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, सोवियत संघ, मिस्र, अरब मुल्कों और अफ्रीकी देशों में भी काफी देखी और पसंद की जाती हैं। इस मामले में हमने हॉलिवुड के एकछत्र राज को तोड़ा है।

सामाजिक जिम्मेदारियों के लिहाज से भी हमारी फिल्में अभी उतना नीचे नहीं गिरी हैं, जितना कुछ पश्चिमी देशों के अंदर गिरी हैं। भारत के फिल्म निर्माताओं ने पैसा कमाने के लिए सेक्स और अपराध को उतना नहीं भुनाया है, जैसा अमेरिकी फिल्म प्रोड्यूसर्स पिछले कई सालों से भुनाते आ रहे हैं। मगर ये सारी खूबियां एक खामी के आगे बौनी पड़ जाती हैं। वो कमी है कि हम ऑरिजनल काम नहीं करते। चोरी करते हैं। नकल करते हैं। हम बासी पड़ चुके फॉर्म्युला पर फिल्में बनाते हैं। हमारे अंदर इतनी हिम्मत ही नहीं है कि हम खुद का कुछ बना सकें। ऐसा कुछ, जिसमें हमारे देश के मुद्दे हों। यहां की सच्चाई हो।

मैं ये सब आमतौर पर बनने वाली हिंदी और तमिल फिल्मों के लिए ही नहीं बोल रहा हूं। मेरी ये शिकायत हमारी कथित प्रगतिशील और प्रयोगधर्मी कही जाने वाली फिल्मों पर भी लागू होती है। फिर चाहे वो बंगाली में हों, हिंदी में हों, या फिर मलयालम में हों। सत्यजीत रे, मृणाल सेन, सुखदेव, बासु भट्टाचार्य और राजेंद्र सिंह बेदी के काम की तारीफ करने में मैं किसी से भी पीछे नहीं हूं। मैं जानता हूं कि उनके काम का बहुत सम्मान है। ये लोग इस सम्मान के हकदार भी हैं। ये सब अपनी जगह है, फिर भी मैं कहूंगा कि इन लोगों के काम पर भी इटली, फ्रांस, स्वीडन, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया में बन रही फिल्मों का, वहां के फैशन का असर है। जिन लोगों का मैंने नाम लिया, वो नए तरह का काम कर रहे हैं। मगर वैसा काम, जो उनसे पहले भी कोई कर चुका है। वो जिस राह पर चल रहे हैं, उस राह पर उनसे पहले भी कोई चल चुका है।

साहित्य की दुनिया में मेरी बड़ी दिलचस्पी है। वहां भी मैं ये ही हाल देखता हूं। हमारे उपन्यासकार, कहानीकार और कवि बड़ी आसानी और सहूलियत से यूरोप का चलन अपना लेते हैं। जबकि शायद एक सोवियत संघ को छोड़कर बाकी का यूरोप भारतीयों के लेखन से वाकिफ ही नहीं है। एक मिसाल देता हूं। मेरे अपने पंजाब प्रांत में युवा कवियों के बीच मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ बगावत की लहर दौड़ रही है। उनकी कविताएं लोगों से अपील करती हैं कि उठो और इस सामाजिक ढर्रेकी मुखालफत करो। इसे गिराओ और इसकी जगह नई दुनिया बनाओ। ऐसी दुनिया जो कि भ्रष्टाचार, अन्याय और शोषण से आजाद हो। आप इन बातों से, इसके जज्बे से अनछुए नहीं रह सकते। आपको इस भावना से करीबी महसूस होगी। इसकी वजह ये है कि हमारे मौजूदा सामाजिक ढांचे को बेशक बदलाव की जरूरत है।

इन कविताओं की सबसे शानदार बात है इनके अंदर लिखी बातें। उनका कंटेंट। मगर उसे लिखने का तरीका हमारा अपना नहीं है। मौलिक नहीं है। पश्चिमी देशों से,

वहां के कवियों से उधार लिया गया है। पश्चिमी देशों ने छंद और तुकबंदी को नकार दिया इसीलिए हमारे पंजाबी कवियों ने भी इसे खारिज कर दिया। और उसी पश्चिमी तर्ज पर इन कवियों के गीत की भाषा में भी अति–हिंसक तस्वीरें मिलेंगी। इसका नतीजा ये है कि इन कविताओं का गुस्सा और आक्रोश कागज पर तो साबुत दिखता है, मगर बस कागज पर। इसका असर भी कुछ पढ़े–लिखे, एक–दूसरे के कामों की तारीफ करने में लगे साहित्यिक तबके तक सिमटकर रह जाता है। जिन लोगों, कामगरों और किसानों को क्रांति का पाठ पढ़ाया जा रहा है, वो इस तरह की कविताओं को कभी समझ ही नहीं सकेंगे। मैं अगर कहूं कि बाकी भारतीय भाषाओं का भी ये ही हाल है और वो भी इस 'नई लहर' वाली कविता के चंगुल में फंस गए हैं, तो मैं गलत होऊंगा।

पेंटिंग के बारे में तो मैं कुछ भी नहीं जानता। मुझे अच्छी और बुरी पेंटिंग का फर्क नहीं पता। मगर मैंने ये बात गौर की है कि यहां भी हमारे हिंदुस्तानी चित्रकार विदेशी चलन की नकल करते रहते हैं। बहुत कम ही पेंटर्स ऐसे मिलेंगे आपको भारत में, जो कि बहाव के उलट तैरने की हिम्मत दिखाएं। और पढ़ाई–लिखाई की दुनिया के बारे में क्या कहूं मैं? मैं आपसे कहता हूं कि खुद को आईने में देखिए। अगर आप हिंदी फिल्मों पर हंसते हैं, तो शायद आप खुद पर भी हंसना चाहेंगे। इस साल पंजाब ने मुझे गुरु नानक यूनिवर्सिटी की सीनेट में नामांकित किया। जब सीनेट की पहली मीटिंग में शामिल होने का न्योता मेरे पास पहुंचा, तो मैं पंजाब में था। प्रीत नगर के पास कुछ गांवों में भटक रहा था। पंजाबी के महान लेखक एस गुरबक्श सिंह ने इस सांस्कृतिक गढ़ की नींव रखी थी।

शाम के समय हम कुछ लोग बातचीत कर रहे थे। मैंने गांव के अपने दोस्तों से कहा कि फलां बैठक में शामिल होने के लिए मुझे अमृतसर जाना है। अगर किसी को मेरी कार में लिफ्ट चाहिए हो, तो वो साथ आ सकता है। मेरी इस बात पर मेरा एक साथी बोला, 'यहां हमारे साथ बैठे हो, तो तुमने तहमत–कुर्ता पहना हुआ है। एकदम किसानों के अंदाज का फिर कल तुम अपनी कमीज पहनोंगे और फिर से साहब बहादुर बन जाओगे.' उसकी इस बात पर हंसते हुए मैंने जवाब दिया, 'ठीक है। अगर तुम चाहते हो, तो मैं ऐसे ही कपड़ों में वहां चला जाऊंगा। एक दोस्त ने कहा कि तुम कह रहे हो, मगर सच में ऐसा करने की हिम्मत नहीं दिखाओगे। उसने कहा– हमारे सरपंच साहब को जब भी किसी सरकारी काम से शहर जाना होता है, तो वो अपनी तहमत उतारकर पजामा पहनते हैं। फिर शहर जाते हैं। उन्हें ऐसा करना पड़ता है। वरना लोग उनकी इज्जत नहीं करते। तुम इस तरह किसानों के कपड़े पहनकर इतनी बड़ी यूनिवर्सिटी में कैसे जाओगे?

एक जवान जो कि धान बोने के लिए फौज से छुट्टी लेकर आया था, बोला, 'हमारा सरपंच डरपोक है। इन दिनों तो शहर की लड़कियां भी लुंगी पहनती है। लुंगी पहनने से इज़्ज़त क्यों नहीं होगी किसी की?' ऐसे ही बात चलती रही। मैंने इसे एक चुनौती माना और लुंगी–कुर्ता पहनकर यूनिवर्सिटी सीनेट की बैठक में पहुंच गया। वहां जैसी सनसनी पैदा हुई, इसकी मुझे कतई उम्मीद नहीं थी। वहां के अफसर, जो कि खुद शायद प्रोफेसर थे, पहले तो मुझे पहचान ही नहीं सके। फिर जब उन्होंने पहचाना, तो अपनी हैरानी नहीं छुपा सके।

हंसी के अंदाज में वो बोले–साहनी साहब, लुंगी के साथ आपको जूते नहीं पहनने चाहिए थे। इतना कहकर उन्होंने वो सीनेट मेंबरों को पहनाया जाने वाला गाऊन मेरे कंधे पर रख दिया। मैंने मुआफी के अंदाज में कहा कि आगे से ध्यान रखूंगा। फिर मैं आगे बढ़ गया। कुछ मिनटों बाद मैंने खुद से ही सवाल किया, कि क्या मेरे कपड़ों पर टिप्पणी और छींटाकशी करना प्रोफेसरों की असभ्यता नहीं थी। मैंने सोचा कि ये बात मैंने उसी समय क्यों नहीं कही उससे। इतनी देर से जवाब सोच पाने के लिए मैंने खुद को कोसा।

बैठक के बाद हम छात्रों से मिलने गए। वो लोग और ज्यादा हैरान थे। मजाक उड़ रहा था मेरा। बहुत सारे छात्र तो ये देखकर हंस रहे थे कि मैंने लुंगी के साथ भी जूते पहने हुए हैं। उन लोगों ने खुद पतलून के साथ चप्पलें पहनी हुई हैं, ये उन्हें अजूबा नहीं लगा। अपना स्टाइल सामान्य लग रहा था उन्हें। आप सोचेंगे कि ये बात बताकर मैं आपका समय क्यों बर्बाद कर रहा हूं। मगर इस पूरी घटना को एक पंजाबी किसान के नजरिये से देखिए। हरित क्रांति लाने के लिए उन किसानों ने जो किया है, जैसी भागीदारी की है, उसकी तारीफ हम सब करते हैं। पंजाब के वो किसान और उनका परिवार हमारी फौज में रीढ़ की हड्डी जैसा काम करते हैं। उसे कैसा लगेगा ये जानकर कि उसकी पोशाक या फिर उसके जीने के तरीके का मजाक उड़ाया जाता है?

पंजाब में ये बात सबको पता है, कि गांव के लड़के पढ़–लिखकर, कॉलेज जाकर गांव से अलग हो जाते हैं। गांव की और वहां के लोगों की तकलीफें उनके लिए मायने नहीं रखती फिर। उसे ऐसा लगता है कि कॉलेज से पढ़ाई करने के बाद वो बाकियों से ऊंचा उठ गया है। साथ के गांववालों से अलग हो रहा है। मानो उसकी दुनिया ही बदल गई है। फिर उसका एक ही लक्ष्य रह जाता है, कि किसी तरह गांव से पीछा छुड़ाए और शहर चला जाए। क्या ये बात शिक्षा के क्षेत्र से जुड़े लोगों के लिए कलंक नहीं है?

मैं मानता हूं कि सारी जगहें एक सी नहीं होती हैं। मुझे बहुत अच्छी तरह पता है कि तमिलनाडु और बंगाल में वहां की पारंपरिक पोशाक के लिए किसी तरह की हीन भावना नहीं है। चाहे किसान हो कि प्रफेसर, धोती पहनकर वो कहीं भी, किसी भी कार्यक्रम में जा सकते हैं। मगर मैं ये भी कहूंगा कि औरों की सोच से सोचना और नकल करना वहां भी मौजूद है। किसी न किसी तरह, थोड़ा या बहुत, ये बात हर जगह मौजूद है।

आजादी के 25 साल बाद भी हम उसी शिक्षा व्यवस्था को ढो रहे हैं, आगे बढ़ा रहे हैं जिसे मैकाले और उसके साथियों ने क्लर्क और मानसिक तौर पर गुलामों की फौज बनाने के लिए विकसित किया था। ऐसे गुलाम, जो कि अपने अंग्रेज आकाओं से अलग आजाद होकर सोचने के काबिल ही नहीं होंगे। ऐसे गुलाम जो कि अपने आकाओं की हर बात को अच्छा मानेंगे। उसकी तारीफ करेंगे. फिर चाहे इसके लिए उन्हें खुद से और अपने तौर–तरीकों से ही क्यों न नफरत करनी पड़े। ऐसे गुलाम, जो अपने आकाओं के बराबर खड़े होने को अपना सौभाग्य मानेंगे। जो कि अपने आकाओं की बोली बोलेंगे। उनकी तरह की कपड़े पहनेंगे। अपने आकाओं की ही तरह नाचेंगे। उनकी ही तरह गायेंगे। ऐसे गुलाम, जो अपने मुल्कवालों से, अपने लोगों से नफरत करेंगे। जो कि अपने ही लोगों के बीच नफरत फैलाएंगे। क्या ये हैरानी की बात है फिर कि यूनिवर्सिटी में पढ़ने वाले ज्यादातर छात्रों का अपनी ही शिक्षा व्यवस्था से भरोसा उठ रहा है।

अब मुझे उन घिसी–पिटी बातों पर दोबारा जाने दीजिए। दस साल पहले अगर आप दिल्ली के किसी फैशनेबल छात्र को पतलून के ऊपर कुर्ता पहनने को कहते, तो वो आपके ऊपर हंसता। अब हिप्पियों और 'हरे राम हरे कृष्ण' संप्रदाय के कारण न केवल कुर्ता–पतलून चलन बन चुका है, बल्कि कुर्तेकी जगह गुरु शर्ट ने भी ले ली है। जब अमेरिकियों ने रवि शंकर का स्वागत किया, तो सितार के दिन फिर गए। उसकी कद्र होने लगी। करीब पचास साल पहले जब टैगोर को स्वीडन से नोबेल प्राइज मिला, तब जाकर वो पूरे भारत में गुरुदेव कहलाने लगे। अब बाल और दाढ़ी बढ़ाने का चलन है। क्या ऐसे में आप किसी छात्र से सिर, मूंछ और दाढ़ी शेव करने के लिए कह सकते हैं? लेकिन कल को अगर योग के प्रभाव के कारण यूरोप के छात्र अपने सिर मुंडवाने लगें, तो मैं गारंटी देता हूं कि यहां भी अगले दिन पूरे कनॉट प्लेस में गंजी खोपड़ियां नजर आएंगी। योग जहां पैदा हुआ, वहां कोई प्रभाव नहीं छोड़ पाया। इसे सर्टिफिकेट दिया यूरोप ने।

एक और मिसाल दूंगा मैं आपको, मैं हिंदी फिल्मों में काम करता हूं, मगर ये बात सब जानते हैं कि इन हिंदी फिल्मों के गाने और डायलॉग ज्यादातर उर्दू में लिखे जाते हैं। कृष्ण चंदर, राजेंद्र सिंह बेदी, के. ए. अब्बास, गुलशन नंदा, साहिर लुधयानवी, मजरूह सुल्तानपुरी और कैफी आजमी जैसे बड़े उर्दू शायरों और कवियों ने इस काम में हिस्सेदारी की है। अगर उर्दू में लिखी गई फिल्म को हिंदी फिल्म कह सकते हैं, तो ये वाजिब ही लगेगा कि हम उर्दू और हिंदी को एक जैसी भाषा मान लें। लेकिन नहीं हमारे ब्रिटिश आकाओं ने अपने जमाने में इन्हें दो अलग–अलग भाषाओं का नाम दिया। इन्हें अलग कहा इसीलिए आजाद होने के पच्चीस साल बाद भी हमारी सरकार, हमारे विश्वविद्यालयों और हमारी बौद्धिक जमात ने इन दोनों भाषाओं से अलग–अलग बरता है।

पाकिस्तान रेडियो उर्दू की खूबसूरती का कत्ल करने में लगा हुआ है। वो जितने अरबी और फारसी के शब्द इसमें ठूंस सकता है, ठूंस रहा है। और हमारे यहां ऑल इंडिया रेडियो सारे अरबी–फारसी के शब्द हटाकर इसे संस्कृत के शब्दों से भर देता है। और इस तरह भाषा को बेडौल बना देता है। इस तरह वो अपने–अपने आकाओं की मर्जी पूरी करते हैं। ऐसों को अलग करते हैं, जिन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। इससे ज्यादा अजीब कुछ और हो सकता है क्या? अगर अंग्रेजों ने हमसे कहा कि सफेद काला होता है, तो क्या हम हमेशा सफेद को काला ही कहते रहेंगे? मेरे फिल्मी दुनिया के साथी जॉनी वॉकर ने एक दिन कहा, 'ऑल इंडिया रेडियो को नहीं कहना चाहिए कि अब हिंदी में समाचार सुनिए। उनको कहना चाहिए कि अब समाचार में हिंदी सुनिए। '

मैंने इस मजाकिया स्थिति पर कई हिंदी और उर्दू के लेखकों से बात की है। उनसे भी जो खुद को प्रगतिशील कहते हैं। उनसे भी, जो प्रगतिशील नहीं हैं। मैंने उन्हें कई बार राजी करने की कोशिश की, कि इस मुद्दे पर कुछ ताजा सोचें। मगर अब तक ये ऐसा ही है कि पत्थर पर सिर फोड़ रहा हूं। हम फिल्म वाले इसको पढ़े–लिखे लोगों की मूर्खता कहते हैं। क्या हम गलत कहते हैं?

आखिर में मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूं। हो सकता है कि मेरी बात आपको बोर करे। फिर भी मैं कहूंगा, ये ऐसी गांठ है, जिसे आप खत्म नहीं कर सकते। ये बस आ जाती है। हो सकता है कि ये सही हो। हो सकता है गलत हो। हो सकता है कि मेरी बात गलत हो। मगर ये है, ये भी तो हो सकता है कि मेरी बात सही साबित हो जाए। कौन जानता है?

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में माना कि हमारी आजादी की लड़ाई, जिसकी बागडोर कांग्रेस के हाथों में थीं, हमेशा से ही पैसेवालों के हाथों में रही। चाहे वो पूंजीपति हों या फिर जमींदार। जाहिर सी बात है कि आजादी के बाद भी सत्ता इन्हीं वर्गों के पास रहती। आज ये बात जाहिर हो चुकी है कि पिछले 25 सालों में अमीर और अमीर हो गए हैं। गरीब और गरीब होते जा रहे है। पंडित नेहरू इस स्थिति को बदलना चाहते तो, मगर वो ऐसा कर नहीं पाए। मैं उन्हें दोष नहीं देता। क्योंकि उनके सामने बड़ी गंभीर चुनौतियां थीं। आज हमारी प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी समाजवाद के लक्ष्यों को हासिल करने की कसम खाती हैं। वो कितनी कामयाब होंगे, मैं नहीं कह सकता। राजनीति मेरी चीज नहीं है। फिलहाल इस बात के जिक्र का मकसद इतना ही है कि आप इस बात को मानने के लिए राजी हों कि आज के भारत में मालदार वर्ग न केवल सरकारी नौकरियों में, बल्कि समाज में भी हावी हैं।

मैं सोचता हूं कि आप इस बात पर भी राजी होंगे कि अंग्रेजों ने इस मुल्क पर अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए अंग्रेजी भाषा का इस्तेमाल किया। अब आपको क्या लगता है? कि उनके बाद इस देश की बागडोर संभालने वाले, इस देश को चलाने वाले मौजूदा शासक अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए कौन सी भाषा इस्तेमाल करेंगे? राष्ट्रभाषा हिंदी? नहीं। उनकी भी दिलचस्पी अंग्रेजी में है। बस अंग्रेजी में ही है। चूंकि उनको देशभक्ति का दिखावा भी करना होता है, इसलिए वो हिंदी के नाम पर भी काफी हो–हल्ला मचा लेते हैं। ताकि लोगों के दिमाग को मोड़ा जा सके। उन्हें गुमराह किया जा सके।

जिनके पास जायदाद है, संपत्ति है, पैसा है, वो हजारों किस्म के अलग–अलग भगवानों को मानते होंगे। मगर अपने फायदे के लिए पूजते केवल एक ही को हैं। ऐसे ही इस औद्योगिकीकरण और तकनीकी क्रांति के जमाने में पूंजीवादी वर्ग के मुनाफे के लिए अंग्रेजी को बनाए रखना समझ आता है। इसके सामाजिक फायदे भी बहुत हैं। ऐसे देखें, तो हमारे सत्ता वर्ग के लिए अंग्रेजी ईश्वर के भेजे किसी तोहफे से कम नहीं है।

क्यों? इसलिए कि अंग्रेजी भाषा इस देश की करोड़ों की आबादी की पहुंच से बाहर की जुबान है। पुराने वक्त में संस्कृत और फारसी भी आम लोगों से दूर थी। उनकी पहुंच से बाहर थी। तभी तो उस दौर में राजाओं और सुल्तानों ने इन भाषाओं को राजकीय भाषा का दर्जा दिया था। संस्कृत और फारसी के बहाने मुल्क की जनता को मूर्ख, कमतर, असभ्य महसूस कराया जाता। उन्हें महसूस कराया जाता कि वो खुद शासन करने के काबिल नहीं हैं। संस्कृत और फारसी की मदद से लोगों के

दिमाग को गुलाम बनाने में मदद मिली। जब दिमाग गुलाम बन जाता है, तब गुलामी हमेशा–हमेशा के लिए पक्की हो जाती है।

अभी जो सत्ता वर्ग है, उसे अंग्रेजों से मिली सामाजिक व्यवस्था कायम रखने में अपना फायदा दिखता है। उनको बढ़त मिली हुई है। वो काफी अच्छी स्थिति में हैं। लेकिन वो इसे खुलकर मान नहीं सकते। इसी वजह से हिंदी और इसके राष्ट्रभाषा होने के दर्जेको लेकर इतना हल्ला मचाया जाता है। उन्हें बहुत अच्छे से पता है कि ये संस्कृत के शब्दों से भरी बनावटी भाषा, जिसमें कि आधुनिक विज्ञान और तकनीक के शब्द नहीं हैं, बहुत कमजोर है। ये संस्कृत की ओर झुकी हुई हिंदी भाषा अंग्रेजी के सामने कहीं ठहर नहीं सकेगी। ये हमेशा बस एक सजावटी सी चीज बनकर रह जाएगी। बल्कि ये मुल्क के लोगों को आपस में ही लड़वाने का आसान जरिया बनेगी।

हम फिल्मवालों के पास स्कूल और कॉलेज में पढ़ने वाले बच्चों के खत आते हैं। फैन मेल्स मेरे पास भी आते हैं। इन चिट्ठियों से मालूम चलता है कि ज्यादातर हिंदुस्तानी छात्रों के लिए ये अंग्रेजी भाषा किसी जुल्म से कम नहीं है। पढ़ने और सीखने का स्तर कितना नीचे गिर चुका है। शायद इसीलिए पब्लिक स्कूलों से पढ़कर आए लड़के–लड़कियों को तवज्जो मिलती है। ऐसे स्कूलों से, जिनमें गिने–चुने परिवारों के बच्चे ही पढ़ पाते हैं। ये ही मेरे मन की वो गांठ है, जिसका मैं अभी जिक्र कर रहा था। एक दिन मैंने इस बारे में अपने एक दोस्त से बात की। वो मेरा दोस्त एक लेबर लीडर है। मैंने उससे कहा कि हम लोग पूंजीवाद हटाकर समाजवाद लाने के लिए बहुत गंभीर है। हमें पूरे भारत में मजदूरों और कामगरों की मदद करनी चाहिए। उसी जोश और ऊर्जा से, जिसके साथ पूंजीवादी वर्ग काम कर रहा है। हमें वर्किंग क्लास को इस समाज के अंदर सबसे अहम ओहदा दिलाने में मदद देनी होगी। और ये तभी हो सकता है जब अंग्रेजी का एकाधिकार खत्म हो। इसकी जगह लोगों की जुबान को जगह मिले।

मेरे दोस्त ने ध्यान से मेरी बात सुनी। वो बहुत हद तक मेरी बातों से इत्तेफाक रखता था। उसने कहा– तुमने बहुत अच्छे से हालात को पढ़ा है। मगर ये बताओ कि इसका हल क्या है? मैंने कहा, 'इलाज ये ही है कि अंग्रेजी की स्क्रिप्ट रखो, मगर अंग्रेजी को बाहर निकाल फेंको। मेरे दोस्त ने सवाल किया– मगर कैसे? मैंने कहा– पूरे भारत में आम लोग, खासतौर पर काम करने वाली आवाम एक किस्म की हिंदुस्तानी जुबान इस्तेमाल करती है। उनको व्याकरण वगैरह से लेना–देना नहीं होता। वो तो भाषा का व्यावहारिक इस्तेमाल करते हैं। ऐसी हिंदुस्तानी जुबान जिसमें लड़का भी जाता है और लड़की भी जाता है। इस जुबान में एक दुर्लभ किस्म की

आजादी है। यहां तक कि जब बौद्धिक बिरादरी भी सुकून खोजती है, तो इसी भाषा का इस्तेमाल करती है। हिंदुस्तानी जुबान के लिए ये ही परंपरा सबसे बेहतर है। ये भाषा इसी तरह तो पैदा हुई। ऐसे ही बढ़ी। ऐसे ही इसने तरक्की की। पूरे भारत में इसे अपनाया गया। पहले के जमाने में इसे उर्दू कहा जाता था। उर्दू माने बाजारों की भाषा।

आज इस बाजारी हिंदुस्तानी में 'यूनिवर्सिटी' बदलकर 'यूनिव्रास्टी' हो जाता है। आप हिंदी के विश्वविद्यालय को देखिए। उससे तो कई गुना बेहतर है ये यूनिव्रास्टी। अंग्रेजी का लैंटर्न हिंदुस्तानी में लालटेन बन जाता है। कार का चेसिस हो जाता है चेसी स्पैनर बदलकर पाना हो जाता है। ऐसे ही और भी शब्द हैं। सैनिक जिस तार की मदद से अपनी रायफल साफ करता है, उसको अंग्रेजी में 'पुलथ्रू' कहते हैं। रोमन हिंदुस्तानी में ये ही शब्द 'फुलत्रू' बन जाता है। कितना खूबसूरत शब्द हैं। ये हॉलिवुड के लाइटमैन एक खास किस्म के दोहरे ब्लेड कवर को 'बार्न डोर' कहते हैं। हमारी बंबई फिल्म इंडस्ट्री ने इसे बदलकर 'बांदर' कर दिया। कितना बेहतर शब्द है ये। इस हिंदुस्तानी जुबान में अकूत काबिलियत है। इसमें बड़ी संभावनाएं हैं। ये भाषा अंतरराष्ट्रीय वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों को बड़ी आसानी से अपना बना सकती है। ये हर भाषा से शब्द लेकर उसे अपने रंग में रंग सकती है। खुद को और अमीर बना सकती है। संस्कृत की डिक्शनरी की ओर भागने की कोई जरूरत नहीं है।

मेरे ये कहने पर मेरे दोस्त ने पूछा, 'मगर स्क्रिप्ट क्यों हो रोमन में?' मैंने जवाब दिया– क्योंकि रोमन के खिलाफ किसी का कोई पूर्वाग्रह नहीं है। ये इकलौती लिपि है, जिसे पूरे भारत के लोग जानते हैं। उत्तर, दक्षिण, पूरब और पश्चिम, हर कोने के लोग जानते हैं। आपको दुकानों के बाहर इसी भाषा में लिखा बोर्ड दिखेगा। सिनेमा के पोस्टरों की ये ही भाषा है। हम लिफाफे के ऊपर पता लिखते समय ये लिपि इस्तेमाल करते हैं। पोस्टकार्ड पर इसी में लिखते हैं। पिछले करीब 30 सालों से सेना भी इसी का इस्तेमाल कर रही है.

मेरा वो दोस्त कुछ देर तक चुप रहा। फिर थोड़ा मुस्कुराया और बोला– कॉमरेड, यूरोप ने भी ऐस्परांतो के साथ प्रयोग किया था। जॉर्ज बनार्ड शॉ जैसे महान बौद्धिक ने बुनियादी अंग्रेजी को लोकप्रिय बनाने की बड़ी कोशिश की। मगर उनकी सारी कोशिशें नाकामयाब रहीं। ऐसा इसलिए कि भाषाएं मशीनी तौर पर नहीं बढ़तीं। वो अपने आप पैर पसारती हैं।

इस जवाब ने मुझे सन्न कर दिया। मैंने कहा– कॉमरेड, ऐस्परांतो वो ही राष्ट्रभाषा है जिसे हिंदी के पंडित गढ़ रहे हैं। अपने लेखों में, किसी संस्कृत डिक्शनरी के पन्नों से

लेकर। मैं तो उस भाषा की बात कर रहा हूं जो तुम्हारे चारों ओर बढ़ रही है। वो भाषा, जो लोगों के बीच उनके काम और उनकी सोच में जगह पाती है।

मगर मेरी बातों से वो राब्ता नहीं बना पाया। मैं तर्क देता रहा। मैंने ये भी कहा कि नेताजी सुभाष चंद्र बोस और खुद नेहरू भी रोमन हिंदुस्तानी इस्तेमाल करने के हिमायती थे। मगर मेरा दोस्त राजी नहीं हुआ। अब सवाल ये है कि मैं सही था या मेरा दोस्त। शायद मैं गलत था। शायद मेरी सोच ख्याली है। मशीनी है। जैसा कि उसने कहा भी। मैंने तो पहले ही कह दिया था आपसे कि गांठ सही है या गलत, ये आप तय ही नहीं कर सकते। मगर इस गांठ के होने में ही तो मजा है। क्योंकि ये गांठ होना आपकी खुली सोच दिखाता है। दिखाता है कि आप आजादी से सोच सकते हैं। मेरे दोस्त को कम से कम इस बात की तारीफ तो करनी ही चाहिए थी। मगर उसने इसपर गौर नहीं किया। क्योंकि अपनी एक ढर्रेपर चली आ रही सोच, अपने सोचने की आदत से अलग होकर कुछ नया सोच पाना उसके लिए बहुत मुश्किल रहा होगा।

कोई भी देश तब तक तरक्की नहीं कर सकता, जब तक कि वो खुद के होने को लेकर गंभीर न हो। अपनी हस्ती को लेकर उसकी आंखें खुली हों। अपने दिमाग और अपने शरीर को लेकर वो सचेत हो। अपनी मांसपेशियों को मजबूत करने का अभ्यास उसे खुद ही सीखना होता है। उसे अपनी दिक्कतों की पहचान खुद करनी होती है। उन दिक्कतों को अपने तरीके से सुलझाना सीखना होता है। मगर मैं चाहे जिस भी ओर मुड़ जाऊं, वो भी तब जब कि हमें आजाद हुए 25 साल हो चुके हैं, मुझे ये ही दिखता है कि हम उस चिड़िया की मानिंद हैं जिसे बहुत लंबे वक्त तक पिंजड़े में रखने के बाद रिहा कर दिया गया है। बेचारे पंछी को मालूम ही नहीं कि आजाद होकर क्या किया जाए। उसके पास पंख हैं, मगर वो खुले आसमान में उड़ान भरने से डर रहा है। वो कैद ही रहना चाहता है। वो पिंजड़े में ही रहना चाहता है।

निजी और जमा तौर पर हम वॉल्टर मिटी जैसे हैं। हमारे अंदर की जिंदगी हमारे बाहर की जिंदगी से अलग है। हमारी सोच और हमारे काम एकदम अलग–अलग दिशा में हैं। हम इस स्थिति को बदलना तो चाहते हैं, मगर हम कुछ भी नया करने से डरते हैं। इतने लंबे समय से हम जो करते आ रहे थे, उससे हटकर कुछ करने का हमारे अंदर साहस ही नहीं है।

मुझे यकीन है कि इस देश में कुछ पुलिस अफसर ऐसे भी होंगे जो कि अपने दिल में लोगों के दोस्त बनना चाहते होंगे। न कि दुश्मन। उन्हें मालूम होगा कि इंग्लैंड में जनता के प्रति पुलिस का रवैया नर्म है। मगर अंग्रेजों ने यहां की पुलिस को वैसी ट्रेनिंग नहीं दी। उन्होंने जिन देशों को गुलाम बनाकर रखा, वहां अलग ही कहानी थी।

हिंदुस्तान की पुलिस को जो ट्रेनिंग मिली है, उसके आगे वो मजबूर हैं। ये अंग्रेजों का ही सिखाया हुआ है जिसकी वजह से पुलिसवाले अपने दफ्तर में घुसने वाले लोगों के अंदर अपना आतंक भर देते हैं। वो जितना हो सके, उतना काम रोकने की कोशिश करते हैं। जितना हो सके, उतना गैर–मददगार होने की जुगत लगाते हैं। ये ही परंपरा बाकी सरकारी दफ्तरों में भी है। चपरासी से लेकर मंत्री तक, सबका ये ही हाल है।

हमारे एक युवा प्रोड्यूसर ने एक फिल्म बनाई। फिल्म क्या थी, एक नए किस्म का प्रयोग था। उसने सरकार से बात की। ताकि उसकी फिल्म को टैक्स में छूट मिल जाए। जिस मंत्रालय का ये काम था, उसमें अगले ही दिन नए मंत्री का शपथग्रहण होना था। मंत्री ने प्रोड्यूसर को न्योता भेजकर कार्यक्रम में बुलाया। इस कार्यक्रम के बाद ही दोनों के बीच फिल्म को टैक्स फ्री करने को लेकर बात होनी थी। प्रोड्यूसर बड़ा खुश था। मंत्री ने जिस सहजता से उसके साथ व्यवहार किया, इससे वो बड़ा प्रभावित हुआ। जब मंत्री पद की शपथ लेते हुए कह रहा था कि किस तरह वो ईमानदारी से लोगों की सेवा करेगा, ठीक उसी समय मंत्री का सेक्रटरी उस प्रोड्यूसर को समझा रहा था कि टैक्स छूट के लिए मंत्री और उसके साथियों को कितने की रिश्वत देनी होगी।

इस बात से वो प्रोड्यूसर इतना नाराज हुआ कि वो ये वाकया बतौर एक सीन अपनी फिल्म में डालना चाहता था। मगर उसके फाइनेंशर पहले ही नुकसान झेल चुके थे। उन्होंने प्रोड्यूसर से कहा कि कुछ भी ऐसा–वैसा मत करो। मान लो कि अगर उस प्रोड्यूसर ने फिल्म में ये सीन डलवा भी दिया होता, तो सेंसर बोर्ड फिल्म को पास नहीं करती। क्योंकि इस देश में एक अलिखित कानून चलता है। ये कि पुलिसवाले और मंत्री कभी भ्रष्ट नहीं होते।

एक और चीज है जो मुझे बेहद मजेदार लगती है। जो लोग रोजाना ऐसे मंत्रियों के खिलाफ चिल्लाते हैं, वो खुद भी बिना किसी मंत्री को बुलाए कोई कार्यक्रम नहीं निपटाते। मंत्री आकर उद्घाटन करेगा। मंत्री आकर कार्यक्रम की अध्यक्षता करेगा। या फिर मुख्य अतिथि होगा। कभी–कभी ऐसा होता है कि मंत्री चीफ गेस्ट है और फिल्म स्टार अध्यक्ष है। कभी फिल्म स्टार मुख्य अतिथि है और मंत्री अध्यक्ष है। किसी न किसी नामचीन हस्ती का मौजूद होना जरूरी है। ठीक उसी तरह, जैसे साम्राज्यवादी परंपरा में हुआ करता था।

पिछली लड़ाई के समय मैंने इंग्लैंड में चार साल गुजारे। मैं बीबीसी में हिंदुस्तानी अनाउंसर का काम करता था। वो चार साल बहुत मुश्किल थे। इस दौरान मैंने कभी भी ब्रिटिश कैबिनेट के एक सदस्य तक को वहां नहीं देखा। मगर जब से भारत को

आजादी मिली है, मुझे नेताओं और मंत्रियों के अलावा हिंदुस्तान में कोई और नजर नहीं आता। हर जगह ये ही ये हैं। 1930 में जब गांधी जी गोलमेज सम्मेलन में हिस्सा लेने गए, तो उन्होंने ब्रिटिश पत्रकारों से कहा कि भारत के लोग अंग्रेजी हुकूमत के बंदूकों और गोलियों को वैसा ही समझते हैं जैसा दीवाली के दिन बच्चे पटाखों को समझते हैं। गांधी जी ये बात इसलिए कह पाए कि उन्होंने हिंदुस्तानियों के दिमाग से अंग्रेजों का डर निकाल फेंका था। गांधी जी ने सिखाया कि अंग्रेज अफसरों के आगे सिर न झुकाएं, बल्कि उन्हें नजरंदाज करें। उनका बहिष्कार करें।

ठीक इसी तरह अगर हम अपने देश में समाजवाद चाहते हैं, तो हमें लोगों के दिमाग से पैसा, पद और सत्ता के डर को निकालना होगा। क्या हम इसके लिए कुछ कर रहे हैं? मौजूदा समय में हमारे समाज के अंदर किसकी ज्यादा इज्जत होती है? उसकी जिसके पास प्रतिभा है या उसकी जिसके पास पैसा है? ऐसी स्थिति में क्या हम कभी समाजवाद लाने के बारे में सोच सकते हैं? समाजवाद आए, इससे पहले हमें एक खास तरह का माहौल पैदा करना होगा। जहां अकूत पैसा जमा करने वाले इंसान को सम्मान की नजर से न देखा जाए। हमें ऐसा माहौल बनाना होगा जहां श्रम करने वाले की सबसे ज्यादा इज्जत होगी। फिर चाहे वो शारीरिक श्रम हो या दिमाग से की गई मेहनत। जहां प्रतिभा की, कौशल की, कला की कद्र होगी। ऐसा माहौल बनाने के लिए हमें नई सोच चाहिए। वो हिम्मत चाहिए, जिसके बूते हम सोचने के पुराने तरीकों को दूर हटा सकें। क्या हम इस क्रांति को मुमकिन कर पाने की स्थिति में हैं?

आज की तारीख में शायद हमें एक मसीहा की जरूरत है। ऐसा मसीहा, जो हमें हिम्मत दे। ऐसा संस्कार दे, जो एक आजाद मुल्क के बाशिंदों में होना चाहिए। ताकि हम सबके अंदर वो हिम्मत पैदा हो कि हम अपनी तकदीर उन लोगों के साथ जोड़ सकें जिनके ऊपर शासन किया जा रहा है। यानी जनता न कि उनके साथ, जो शासन कर रहे हैं। हमें शोषितों के लिए महसूस हो, न कि हम शोषकों जैसी सोच से हमदर्दी रखें।

पंजाब के एक महान संत गुरु अर्जुन देव ने कहा था:

जन की तेहल सनभाखन जन सियो उठुन बैठन जन के संगा
जन चार रज मुख माथाई लागी आसा पुरान अनंत थरांगा

(माने: मैं तो ऊपरवाले के बंदों की सेवा करता हूं। मैं उनके साथ बोलता हूं। मैं उनके साथ होता हूं। मैं उनके पांवों की धूल को अपने चेहरे और माथे से लगाता हूं। मेरी उम्मीदें और मेरी इच्छाएं, सब इसमें ही पूरी हो जाती हैं।)

मैं उम्मीद करता हूं और प्रार्थना करता हूं कि जवाहरलाल यूनिवर्सिटी के स्नातक वैसी कामयाबी हासिल करें, जैसी मैंने और मेरी पीढ़ी के बाकियों ने हासिल नहीं की। हम जहां नाकामयाब हुए, वहां उन्हें कामयाबी मिले।

❑❑❑

अध्याय – एक

भारतीय सिनेमा का इतिहास

1. सैल्युलॉयड सिनेमा का समय 80
2. सैल्युलॉयड युग का नया सिनेमा – शम्मी कपूर 86
3. भारतीय सिनेमा की आधारभूत श्रेणियां 97
4. 'पाकीजा' (1971, निर्देशक – कमाल अमरोही) एक नयी दृष्टि 100
5. 'डोर'(2006) एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण 105
6. 'आनंद'(1970) ऋषिकेश मुखर्जी 116
7. 'तीसरी कसम' (1966) बासु भट्टाचार्य 123
8. 'खंडहर' से 'हाउसफुल' तक (1983 – 2010) 131

सैल्युलॉयड सिनेमा का समय (1895–1900)

आधुनिक राज्य का उत्थान और पतन

कुछ लोग सैल्युलॉयड सिनेमा और प्रजातांत्रिक राष्ट्र–राज्य को सहोदर मानते हैं। सैल्युलॉयड, सिनेमा की एक तकनीक थी। जब चलचित्र चित्रपट पर गर्भगृह जैसे मनोरंजन भवन में देखा जाता था। 1895 से 1990 के बीच के कालखंड को सैल्युलॉयड सिनेमा कहा जाता है। इससे पहले का कालखंड, सिनेमा के उद्‌गम से पहले का कालखंड, जिसमें थिएटर, संगीत, नृत्य, मैजिक का सार्वजनिक प्रदर्शन प्रमुख था। इसके बाद का कालखंड डिजिटल तकनीक के सार्वजनिक इस्तेमाल का कालखंड है।

1. **1895**– फ्रांस में लुमियर बंधुओं ने सिनेमा तकनीक (सैल्युलॉयड) की खोज की।

2. **1898**– स्पैनिश–अमेरिकन युद्ध, जिसने संयुक्त राज्य अमेरिका को एक आधुनिक साम्राज्यवादी (इंपीरियल) सत्ता (पावर) के रूप में उभरने का मौका दिया।

3. हॉलीवुड का सैल्युलॉयड सिनेमा सबसे महत्वपूर्ण निर्माण एवं वितरण केंद्र के रूप में जन्मा और विकास का गर्भनाल (एक ही कोख से जन्मे जुड़वां) संबंध, अमेरिका (यू.एस.ए.) के आर्थिक एवं राजनीतिक वर्चस्व, उत्थान और पतन तथा जैविक, ऐतिहासिक, तकनीकी और दुनिया के विभिन्न देशों से यहूदी लोगों के अमेरिका में आगमन से भी जुड़ा है।

4. यदि पूर्वी यूरोप से अमेरिका में आये यहूदियों ने हॉलीवुड के सिनेमा उद्योग को बीसवीं शताब्दी के सांस्कृतिक उद्योग का सिरमौर बना दिया; तो पश्चिमी यूरोप से आए यहूदियों ने पेंटागन को दुनिया का सबसे शक्तिशाली सैन्य शस्त्रागार बना दिया। आज भी अमेरिका के सिनेमा उद्योग (हॉलीवुड) और अमेरिका के सैन्य उद्योग

(पेंटागन) पर यहूदी प्रजाति के लोगों का आर्थिक, तकनीकी और कलात्मक वर्चस्व बना हुआ है। परंतु 1990 तक तो यह निर्णयकारी था ही।

5. सैल्युलॉयड सिनेमा के जन्म से पहले यूरोप में जो राष्ट्र–राज्य उभरे थे उनका गर्भनाल संबंध आधुनिक उपन्यासों के जन्म और प्रिंटिंग टेक्नोलॉजी के विकास के साथ–साथ नौसेना को थल–सेना से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बनाने वाले कैथोलिक देशों (स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैंड और फ्रांस) के साम्राज्यवादी समुद्री अभियानों से जुड़ा था।

6. इस शुरुआती सांस्कृतिक परिवर्तन के पहले दौर में पेंटिंग कला की सर्वोच्चता असंदिग्ध थी (15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कोलंबस और वास्कोडिगामा के अभियानों के समय से)। दूसरे नंबर पर यूरोपीय थिएटर का स्थान आता था। 16वीं शताब्दी में कैथोलिक देशों में जो सामुद्रिक अभियान शुरू हुआ और लैटिन अमेरिका–नॉर्थ अमेरिका–अफ्रीका–एशिया में जो उपनिवेश स्थापित किए गए उनके केंद्र में तांबा आधारित औद्योगिक क्रांति थी। उपनिवेशों में सांस्कृतिक परिवर्तन की शुरुआत यूरोपीय पेंटिंग, थिएटर और आधुनिक शैली के नाटकीय साहित्य के विकास के रूप में इतिहास में दर्ज है। शेक्सपियर द्वारा अंग्रेजी भाषा में अनुवादित और संपादित नाट्य साहित्य में यूरोपीय राष्ट्र–राज्य केंद्रित उपनिवेश निर्माण की सांस्कृतिक प्रक्रिया की एक झांकी से, भारत के लोग कुछ हद तक परिचित हैं। शेक्सपियर ने यूरोपीय सांस्कृतिक इतिहास के उस मोड़ पर काम किया जिस तरह का काम मध्यकाल के लिए अरेबियन नाइट्स के अनुवादकों – संपादकों ने किया था।

आज कला–साहित्य के इतिहास के गंभीर विद्वानों के बीच करीब–करीब आम सहमति है कि न तो अरेबियन नाइट्स की कहानियां मौलिक थीं और न इतिहास की तस्वीरें थीं। इन कहानियों का युगानुकूल अनुवाद और संकलन कथा–सरित–सागर नामक संकलन और चयन से प्रभावित और प्रेरित था।

कथा–सरित–सागर भी कोई मौलिक संकलन और चयन नहीं था। यह भी बृहद् कथा नामक संकलन– चयन– संपादन (संपादन गुणाढ्य) से प्रेरित– प्रभावित – अनुवाद था।

गुणाढ्य के बृहद् कथाग्रंथ को संस्कृत साहित्य के गंभीर विद्वान, वेदव्यास द्वारा संपादित और संकलित तथा प्रस्तुत पुराण–साहित्य का समानधर्मी मानते हैं। जैसे भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा संकलित, संपादित,

प्रस्तुत, वैदिक साहित्य का समानधर्मी मानते हुए, पंचम वेद मानते हैं।

7. इस तरह पौराणिक साहित्य, जातक कथा, बृहद्कथा, हिब्रू बाइबिल की कहानियां, कथा सरित्सागर, अरेबियन नाइट्स की कहानियों से लेकर शेक्सपियर के नाटकों तक जो विपुल साहित्य हमारे सामने उपलब्ध है इन्हें एक श्रेणी में रख कर पारंपरिक साहित्य के नाम से पढ़ा, सुना, समझा जा सकता है। ये न एक व्यक्ति की कृत्रिम या मौलिक रचना है और न इन्हें आधुनिक विमर्श की शब्दावली में यथार्थवादी (रियलिस्ट) कहा जा सकता है। ये यथार्थ (फेनोमेना) की तुलना में सत्य (नाउमेना) की सांकेतिक, लाक्षणिक, कलात्मक (सिम्बौलिक) रचनाएं हैं। इनकी भाषा में कीलन (कोडिंग) और उत्कीलन (डिकोडिंग) की कूट शब्दावली होती है जिनको किसी शाब्दिक (लिटरल) भाषा की तरह पढ़ने–पढ़ाने – समझने–समझाने से विनाशकारी अनर्थ होता रहा है।

8. लेकिन 18वीं शताब्दी के ब्रिटेन में लोहा केंद्रित जो (दूसरी) औद्योगिक क्रांति हुई और इससे जो एक नए प्रकार के उपनिवेश बनाने का ऐतिहासिक प्रयास हुआ, उस क्रम में आधुनिक उपन्यासों की एकदम नई शैली का विकास हुआ खासकर ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और रूस में। बाद में इनके उपनिवेशों अमेरिका, कनाडा, भारत , साउथ अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और जापान, चीन, अफ्रीकी एवं अन्य एशियाई देशों में इससे एक नई प्रकार की राष्ट्रीयता, राष्ट्रवाद और राष्ट्र–राज्य का जन्म हुआ। इसे सामान्यता हाई मॉडर्न (मॉडर्निटी) का उत्कर्ष काल कहा जाता है।

9. सैल्युलॉयड सिनेमा का जन्म इसके करीब 200 साल के बाद 1895 से 1913 के बीच हुआ और इसने विश्व का इतिहास, भूगोल, चेतना, देखना, सुनना और मनोरंजन तथा जीवन जीने की शैली को करीब–करीब गुणात्मक रूप से बदल दिया। इस बदलाव की तकनीकी भाषा तो सहोदर थी परंतु इसकी सांस्कृतिक, कलात्मक और सामाजिक भाषा अपने–अपने देश की ऐतिहासिक परिस्थिति, भौगोलिक चेतना और काम–बोध से रूपायित (मेडियेटेड) होने के कारण विशिष्ट थी। उनका स्वभाव, स्वधर्म, प्रकार्य और ऐतिहासिक परिणति विशिष्ट थी।

10. सैल्युलॉयड सिनेमा एक तकनीक भर नहीं है यह आधुनिक सांस्कृतिक इतिहास की एक विशिष्ट संस्था, एक खास तरह का 'पब्लिकस्फेयर' या सार्वजनिक स्थान भी है। इसकी विशिष्टता न केवल इसके तकनीक, विषयवस्तु अथवा कंटेंट में है बल्कि इसकी स्थापत्य अर्थात् आर्किटेक्चरल संरचना में भी है। हर शहर और बड़े महानगर के हर मोहल्ले की स्थानीय पहचान का एक महत्वपूर्ण घटक सैल्युलॉयड

सिनेमा हॉल भी रहा है। पश्चिमी संदर्भ में बात करें तो 16वीं शताब्दी की औद्योगिक आधुनिकता रोमन कैथोलिक आधुनिकता थी और इसके केंद्र में चर्च और यूरोप के विश्वविद्यालय कैंपस थे। यूरोप के सभी विश्वविद्यालय अपनी स्थापना के समय से धार्मिक विश्वविद्यालय रहे हैं। इनके पाठ्यक्रम में तथाकथित आधुनिक और सेकुलर विषयों को धीरे–धीरे शामिल किया गया। इनका स्थानीय चर्च के साथ गर्भनाल वाला संबंध रहा है। इसके सबसे नाटकीय उदाहरण सर आइजक न्यूटन थे। जो मूलतः एक कैथोलिक ईसाई पादरी थे और उनके संपूर्ण लेखन में प्रिंसिपिया मैथमैटिका केंद्रित वैज्ञानिक ग्रंथ तो एक छोटा सा हिस्सा है। उनका ज्यादा बड़ा काम कैथोलिक थिओलॉजी के क्षेत्र में है। इसके विपरीत जर्मनी के गेटे या गोयथे मूलतः एक वैज्ञानिक थे, वे जीवविज्ञानी थे। उन्होंने कविता लेखन एवं साहित्य का सृजन भी किया। परंतु विडंबना यह है कि अंग्रेज इतिहासकारों ने न्यूटन को एक वैज्ञानिक के रूप में प्रचारित किया और गेटे को एक कवि के रूप में। जिससे रंगों के न्यूटन के सिद्धांत को गंभीरता से लिया गया जबकि गेटे के रंगों के सिद्धांत को मनोरंजक मानकर खारिज कर दिया गया। सैल्युलॉयड सिनेमा के सौंदर्यशास्त्र के विकास में न्यूटन के रंगों के सिद्धांत को एक पैराडाइम के रूप में प्रारंभ में ही स्वीकार लिया जाता है जबकि यदि निष्पक्ष तुलना होती तो गेटे के रंगों का सिद्धांत ज्यादा तर्कसंगत, उपयोगी और तकनीकी रूप से ज्यादा दक्ष सिद्धांत साबित होता।

1898 के स्पैनिश–अमेरिकन युद्ध से 1914 में शुरू हुए प्रथम महायुद्ध के बीच सैल्युलॉयड सिनेमा का लाभ करीब सभी विकसित देशों को मिला। सभी इस जादुई तकनीक से अपनी–अपनी संस्कृति के हिसाब से खेलने लगे। लेकिन प्रथम विश्व युद्ध के दौरान सारा औद्योगिक उत्पादन बंद हो गया, केवल एक देश ने युद्ध में भाग नहीं लिया था वह देश था संयुक्त राज्य अमेरिका।

11. **अमेरिका के हॉलीवुड सिनेमा का उद्भव एवं विकास** – अमेरिका में सिनेमा तकनीक के विकास की दृष्टि से 1896 का साल पहला स्तंभ माना जाता है। इसी वर्ष थॉमस एडिसन ने अपने मोशन पिक्चर्स (चलचित्र) का पहला सार्वजनिक प्रदर्शन किया था। इस तकनीक की खोज 1870 के दशक में ही हो चुकी थी। इसी क्रम में एडविन पोर्टर ने अलग–अलग दृश्यों को मिलाकर एक संक्षिप्त कहानी को, सैल्युलॉयड तकनीक से 1902 में, कहने की कोशिश की। इसे अमेरिकी सिनेमा के विकास में मील का दूसरा पत्थर माना जाता है। 1902 में ही इस जादू के बक्से (सैल्युलॉयड सिनेमा घर का सर्वप्रथम लोकप्रिय नाम) के प्रति आकर्षण इतना बढ़ा कि अमेरिका के शहरी और महानगरीय मोहल्लों में सिनेमाघर या फिल्म हॉल या

थिएटर हॉल का बड़े पैमाने पर निर्माण करने की मुहिम शुरू हुई। 14 नवंबर 1903 को हॉलीवुड नामक नये कस्बे को कानूनी रूप से कैलिफोर्निया राज्य के लॉस एंजेलिस नामक महानगर का कानूनी हिस्सा बना दिया गया। 1905 में हॉलीवुड में व्यवस्थित मनोरंजन उद्योग की स्थापना करने का श्रेय पूर्वी यूरोप से आए यहूदी मूल के साइमन सिल्वरमैन को दिया जाता है।

जहां तक कथात्मक फीचर फिल्म (काल्पनिक या कलात्मक मनोरंजन करने वाली फिल्म) का सवाल है, अमेरिका की पहली कथा–फिल्म 1903 में बनी 'द ग्रेट ट्रेन रोबरी' (रेलगाड़ी के भीतर महान डकैती) मानी जाती है। 1903 में इसका सार्वजनिक प्रदर्शन तो लॉस एंजेलिस में हुआ था, यह निर्विवाद है परंतु इसके निर्माण स्थल के बारे में सिनेमा के इतिहासकारों में मतभेद है। 1907 में सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित 'द हार्ट ऑफ ए रेस टाउन' को हॉलीवुड में निर्मित पहली फिल्म मानने वाले विद्वानों की संख्या बहुत अधिक है।

लॉस एंजेलिस में सिनेमा निर्माण के केंद्र के विकास के पीछे सबसे बड़ा कारण इसका करीब–करीब पूरे वर्ष (अमेरिका के अन्य महानगरों की तुलना में) सुहाना मौसम, सूर्य की पूरे वर्ष भर पर्याप्त रोशनी और खूबसूरत, सुंदर, समुद्र तट की सेटिंग को माना जाता है। अन्य शहरों में शिकागो को भी आकर्षक शहर माना गया, परंतु अंत में हॉलीवुड लॉस एंजेलिस का पल्ला भारी रहा। इसका एक अन्य कारण कैलिफोर्निया राज्य के इस महानगर में इस मनोरंजन उद्योग में पैसा लगाने, काम करने और उसको अपने जीवनयापन का प्रमुख साधन बनाने वाले पूर्वी यूरोप से आए हुए यहूदी समुदाय का बच्चों जैसा उत्साह था।

12. **भारत में सिनेमा का उद्भव एवं विकास** – 1895 में फ्रांस के ल्यूमिरे बंधुओं ने दुनिया की प्रथम कथा–फिल्म का निर्माण पेरिस में किया था। उसके कुछ समय बाद कुछ साहसी भारतीय छायाकारों ने 'पूना रेसेज' और 'ट्रेन अराइविंग एट बॉम्बे स्टेशन' बनाई और प्रदर्शित की। 1898 में ल्यूमिरे बंधुओं ने पेरिस के बाद अपनी फिल्में सिंगापुर में प्रदर्शित करने के लिए समुद्री मार्ग से यात्रा आरम्भ की परंतु समुद्री तूफान के कारण पानी के जहाज को बॉम्बे के बंदरगाह पर रोकना पड़ा। ल्यूमिरे बंधुओं के प्रतिनिधियों को बॉम्बे के वॉटसन होटल में शरण लेनी पड़ी। होटल के रहने और खाने का बिल चुकाने के बदले उन्होंने होटल में अपनी फिल्म का पेरिस से बाहर पहला प्रदर्शन किया। प्रदर्शन बहुत सफल रहा। मांग बढ़ती गई और बॉम्बे तथा कलकत्ता में प्रदर्शन करके ल्यूमिरे ब्रदर्स नामक कंपनी को बहुत मुनाफा हुआ और इसी क्रम में कथा फिल्म के इतिहास में पेरिस के बाद बॉम्बे और कलकत्ता के

दर्शक अन्य देशों के नगरों से आगे बाजी मार ले गए। 2012 तक यह विवाद का विषय रहा कि भारत में सिनेमा का इतिहास कब से माना जाए। कुछ लोग 1895 से ही इसका इतिहास शुरू करते हैं, चूँकि भारतीय दर्शकों ने आधुनिक सिनेमा की मूक फिल्म पेरिस के बाद पहली बार देखी थी। इस तरह सिनेमा का दर्शक वर्ग पेरिस के बाहर बॉम्बे में और फिर कलकत्ता में सबसे पहले 1895 में ही विकसित हुआ। फिर भारतीय छायाकारों की दो फ़िल्में भी 1895 के अंत में ही प्रदर्शित हो गयी थीं।

लेकिन भारत सरकार ने 2012 में सरकारी तौर पर मान लिया कि भारत की पहली कथा–फिल्म दादा साहब फाल्के (गोविंद धुंधी राज फाल्के) ने 1913 में बनायी थी। फिल्म का नाम 'राजा हरिश्चंद्र' था। आज भारत में इसका कोई प्रिंट उपलब्ध नहीं है चूँकि सरकारी उदासीनता से नेशनल फिल्म आर्काइव्स ऑफ इंडिया, पुणे में आग लगने के कारण अधिकांश मूक फिल्मों और कुछ सवाक फिल्मों के प्रिंट भी जल गए।

जो भी हो, 2013 में भारत सरकार ने भारत में सिनेमा के 100 वर्ष पूरे होने पर बड़ा उत्सव आयोजित किया और भारत के सिनेमा को सरकारी इतिहास मिल गया। 1913 में जब भारत में पहली कथा–फिल्म बनी उस वक्त हम ब्रिटिश राज के गुलाम थे और भारत में अंग्रेजी राज के खिलाफ व्यापक स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था। फालके समेत ज्यादातर फिल्म निर्माता–निर्देशक स्वतंत्रता आंदोलन से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ज्यादातर प्रमुख फिल्मकारों ने राष्ट्रनिर्माण के एक सांस्कृतिक माध्यम के रूप में सिनेमा का सदुपयोग किया। 1913 से 1993 तक भारत में सिनेमा को न तो उद्योग का दर्जा प्राप्त था, न ही फिल्म निर्माण अमेरिका की तरह संगठित मनोरंजन उद्योग की तरह होता था। भारत में 1993 तक सैल्युलॉयड सिनेमा एक तरह के सांस्कृतिक उद्यम या कलाकृति की तरह बनाया और देखा जाता था।

❑❑❑

सैल्युलॉयड युग का नया सिनेमा–शम्मी कपूर

'ज़ंजीर'(1973) की कहानी सलीम ने अकेले लिखी थी। यह कहानी धर्मेंद्र ने खरीदी। उसके बाद इस कहानी के बारे में प्रकाश मेहरा को सलीम से पता लगा। जब प्रकाश मेहरा ने धर्मेंद्र से इस कहानी की बात की तो धर्मेंद्र ने यह कहानी प्रकाश मेहरा को दे दी। प्रकाश मेहरा ने प्रस्ताव दिया कि मैं इस फिल्म का निर्देशन देना चाहता हूँ कृपया आप इस फिल्म में हीरो का किरदार निभाएँ। लेकिन अज्ञात कारणों से धर्मेंद्र की बहन ने जिद की कि अगर आप मुझे प्यार करते हैं और मेरी ख़ुशियों की आपको जरा सी भी परवाह है तो आपको मेरी कसम है कि आप प्रकाश मेहरा के साथ काम न करें। धर्मेंद्र एक भावुक इंसान रहे हैं। उनके लिए परिवार और रिश्ते व्यावसायिक सफलता से ज्यादा महत्व रखते रहे हैं। इसलिए धर्मेंद्र ने प्रकाश मेहरा को कहानी तो दे दी पर फिल्म में काम करने से इंकार कर दिया। उसके बाद प्रकाश मेहरा देव आनंद के पास गए। देव आनंद ने शुरू में इस फिल्म को करने में रुचि दिखाई और उन्होंने प्रकाश मेहरा को इसकी पटकथा तैयार करने के लिए कहा।

इसी बीच सलीम खान ने प्रकाश मेहरा से यह निवेदन किया कि वे इस फिल्म के संवाद लेखन के लिए अपने साथ जावेद अख्तर को जोड़ना चाहते हैं। फिर पता नहीं क्या हुआ कि देव आनंद ने इस फिल्म में काम करने से इंकार कर दिया। देव आनंद के लिए यह नई बात नहीं थी। वे कई महत्वपूर्ण फिल्मों को अंतिम समय में छोड़ दिया करते थे। मसलन 1957 में रिलीज हुई फिल्म 'तुमसा नहीं देखा' निर्माता–निर्देशक नासिर हुसैन ने देव आनंद को ध्यान में रखकर लिखी थी। लेकिन फिल्मिस्तान के तत्कालीन प्रबंधक तोलाराम जालान अड़ गए कि फिल्म की नायिका अमिता होगी। देव आनंद इसके लिए तैयार नहीं थे कि वे अमिता जैसी नई और अनगढ़ अभिनेत्री के साथ काम करें। तो अंततः शशधर मुखर्जी, जो फिल्मिस्तान के बॉस थे, उन्होंने शम्मी कपूर को इस फिल्म में देव आनंद का रोल देने का अनुरोध किया लेकिन नासिर हुसैन इसके लिए तैयार नहीं थे। उसका कारण यह था कि 1953 से 1957

तक शम्मी कपूर की 18 फिल्में लगातार फ़्लॉप हो चुकी थीं।

शशधर मुखर्जी ने पृथ्वी थिएटर के नाटक में शम्मी कपूर को एक कलाकार के रूप में अभिनय करते हुए देखा था। बॉम्बे टॉकीज (1934) की शुरुआत से, अपने जीवन के करीब अंतिम दिनों तक शशधर मुखर्जी ने, हिंदी फिल्म इंडस्ट्री में जितना ज्यादा नयी प्रतिभा को मौका दिया उतना ज्यादा नई प्रतिभा को मौका देने वाला कोई दूसरा व्यक्ति आज तक पैदा नहीं हुआ। उन्होंने न सिर्फ नए नायक एवं नायिका दिए, नए गीतकार एवं संगीतकार दिए, नयी शैली के तकनीशियन दिए, नए निर्देशकों को मौका दिया, नृत्य निर्देशकों को मौका दिया बल्कि लोकप्रिय सिनेमा बनाने का फार्मूला भी दिया। इसलिए भारतीय सिनेमा में शशधर मुखर्जी को आदर से सफल फिल्म बनाने का आदिगुरु कहा जाता है।

बाद में उन्होंने देश का पहला स्तरीय फिल्म इंस्टीट्यूट, फिल्मालय स्कूल ऑफ सिनेमा एंड एक्टिंग भी बनाया। शशधर मुखर्जी की टैलेंट पहचानने की क्षमता को पूरी फिल्म इंडस्ट्री मानती थी। नासिर हुसैन को भी उन्होंने ही शुरू में अपनी स्टोरी डिपार्टमेंट में सहायक लेखक के रूप में मौका दिया था। बाद में स्वतंत्र लेखक भी बनाया, फिर सहायक निर्देशक भी बनाया, फिर स्वतंत्र रूप से निर्देशक भी बनाया। फलस्वरूप शशधर मुखर्जी की जिद के कारण नासिर हुसैन ने अभिनेता का रोल शम्मी कपूर को दिया तथा तोलाराम जालान की वजह से अमिता को नायिका का रोल दिया। इस फिल्म के संगीतकार ओ.पी. नय्यर थे।

फिल्म 'तुमसा नहीं देखा'(1957) को बहुत से लोग पश्चिम पॉप संगीत के नए सितारे जेम्स डीन और एल्विस प्रेस्ली से प्रभावित पहली हिंदी फिल्म मानते हैं। एल्विस प्रेस्ली ने अपने कॅरियर की शुरुआत 1954 से की थी और 1956 तक आते–आते रॉक और रोल को उन्होंने सितारा हैसियत दिला दी थी। उसी तरह 1955 में जेम्स डीन पश्चिम संगीत के विद्रोही (रिबेल) सितारा घोषित किए जा चुके थे। 1962 में बीटल्स नामक संगीत रूप सामने आ गया था और 1966 तक बीटल्स की लोकप्रियता रॉक और रोल से थोड़ा ज्यादा हो गई थी।

शम्मी कपूर ने कभी नहीं माना कि उन्होंने जानबूझकर बीटल्स के नृत्य या संगीत की नकल की। परंतु उन्होंने यह अवश्य माना कि पश्चिम पॉप संगीत में 1954–55 से जो नयापन आया और बीटल्स ने जो छौंक लगायी, उसके वे प्रशंसक रहे हैं। शम्मी कपूर को भारतीय एवं पश्चिमी संगीत का भारतीय अभिनेताओं में सबसे ज्यादा व्यवस्थित ज्ञान था और उन्होंने 'तुमसा नहीं देखा'(1957) फिल्म

से लेकर 'अंदाज' (1971) तक अपनी अधिकांश फिल्मों में अपने युग का उसी तरह प्रतिनिधित्व किया जिस तरह जेम्स डीन, एल्विस प्रेस्ली और बीटल्स ग्रुप ने यूरोप और अमेरिका में नई पीढ़ी के युवाओं की निराशा, हताशा, व्यग्रता का प्रतिनिधित्व किया था। परंतु शम्मी कपूर का यह भी मानना था कि पश्चिमी समाज की तुलना में भारत की नई पीढ़ी में कुछ नया करने का ज़ज़्बा, व्यग्रता, उतावलापन तो था लेकिन हताशा एवं निराशा नहीं थी। इसलिए शम्मी कपूर के नृत्य एवं संगीत में पुरानी पीढ़ी के नायकों की तुलना में नयापन तो निश्चित रूप में है। परम्परा से एक प्रकार का विद्रोह भी है लेकिन निराशा, हताशा या उत्साहहीन समर्पण बिल्कुल नहीं है।

उदाहरण के लिए बीटल्स ग्रुप ने महर्षि महेश योगी को आध्यात्मिक प्रेरणा क्षेत्र माना है। पंडित रविशंकर के हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की आध्यात्मिकता को स्वीकारा है। पश्चिम के समाज पर भी महेश योगी, प्रभुपाद, ओशो रजनीश जैसे भारतीय गुरुओं का प्रभाव स्वीकार किया जाता है। लेकिन हिंदी सिनेमा पर इन गुरुओं का कोई खास प्रभाव नहीं रहा है। उसका कारण यह है कि भारतीय समाज में हताशा और निराशा, गुलामी एवं गरीबी के बावजूद कभी नहीं रही।

भारतीय सिनेमा में भी 1913 से लेकर 1972 तक निराशावादी फिल्में बहुत कम बनीं और अगर बनीं भी तो ज्यादा सफल नहीं हुईं। पश्चिम समाज में कला का सबसे उत्कृष्ट तो हमेशा से त्रासदी (ट्रेजडी +निराशावादी कला) रही है लेकिन भारत में त्रासदी पूरे तरीके से किसी भी फिल्म को निर्णायक रूप से प्रभावित नहीं कर पायी। उसका कारण यह है कि भारत में कला, काव्य एवं सिनेमा में नव रसों को करीब–करीब बराबर महत्व दिया गया है और उसमें शृंगार को रसराज कहा गया है। शृंगार के अलावा हास्य, करुण, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्‌भुत, शांत प्रमुख रस हैं। सिनेमा की भाषा में शृंगार को रोमांटिक म्यूजिकल कहा जा सकता है। शृंगार हमेशा आशावादी उल्लासमय एवं मधुर माहौल बनाने वाला रस माना जाता है

1940 एवं 1950 के दशक में मार्क्सवाद से प्रभावित 'इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन (IPTA)' का प्रभाव सर्वोपरि था। खासकर अधिकांश लेखक एवं गीतकार इप्टा से प्रभावित माने जाते थे। फलस्वरूप वे फिल्म निर्माता एवं निर्देशक भी, जो मार्क्सवादी नहीं थे, उनकी फिल्मों के संवादों एवं गीतों में भी मार्क्सवादी रुझान आसानी से देखा जा सकता है। इन लोगों ने एक तरफ पश्चिमी पूंजीवादी समाज एवं संस्कृति का विरोध किया तो दूसरी तरफ भारतीय समाज को सामंतवादी, नकारात्मक, अंधविश्वासी, अन्यायी और अत्याचारी साबित करने की

कोशिश की। 'इनके विरोध में कुछ सूफी फिल्मकारों ने मोर्चा संभाला, लेकिन इनके बीच में भी मार्क्सवादी लेखकों ने घुसपैठ कर दी। 1931 से 1939 तक न्यू थियेटर्स से जुड़े अधिकांश फिल्मकारों ने हिन्दू मिथक एवं आख्यान पर आधारित कई सफल फिल्मों का निर्माण किया था। उसी तरह नाशिक, कोल्हापुर एवं पुणे में भारतीय आख्यानों पर कुछ अच्छी फिल्मों का निर्माण हुआ। लेकिन 1940 और 50 तक आते–आते ये दोनों ही धाराएँ कमजोर हो गयीं और गैर मार्क्सवादी फिल्में सिर्फ मद्रास या चेन्नई में बनती रहीं।

लेकिन 1957 आते–आते भारतीय रस सिद्धांत में विश्वास करने वाले निर्माता, निर्देशक, गीतकार, संगीतकार एवं लेखक करीब–करीब अचानक मुख्यधारा का प्रतिनिधित्व करने लगे। इसमें बी. आर. चोपड़ा, विजय–आनंद, राज खोसला, सुबोध मुखर्जी, नासिर हुसैन, देवेंद्र गोयल, राजश्री प्रोडक्शन के ताराचंद बड़जात्या, विजय भट्ट एवं मनोज कुमार की जोड़ी, यश चोपड़ा, एच. एस. रवैल, निर्माता जी. पी. सिप्पी, एन. सी. सिप्पी, निर्देशक अमरजीत, संगीतकार ओ. पी. नैय्यर, ऊषा खन्ना, आर. डी. बर्मन, कल्याणजी–आनंदजी, लक्ष्मीकांत–प्यारेलाल, गीतकार आनंद बक्शी, लेखक गुलशन नन्दा जैसे लोग एक नए प्रकार के भारतीय, आशावादी और रचनात्मक ऊर्जा से सम्पन्न सिनेमा को गति देने लगे। शम्मी कपूर इस नये युग के सबसे सफल एवं सबसे प्रतिभावान सितारे साबित हुए। 1957 से लेकर 1968 तक वे हिंदी सिनेमा के सबसे चमकते सितारे माने जा सकते हैं, लेकिन इसी दौरान मनोज कुमार, धर्मेंद्र, सुनील दत्त, राजेंद्र कुमार, किशोर कुमार, संजीव कुमार, जॉय मुखर्जी, शशि कपूर, राजकुमार भी काफी सक्रिय थे। अभिनेत्रियों में आशा पारेख, सायरा बानो, शर्मिला टैगोर, साधना शिवदासानी, बबिता शिवदासानी, हेमा मालिनी आदि की भी पहचान बन चुकी थी। रंगीन फिल्में भी बनने लगी थीं । दिलीप कुमार, बलराज साहनी, राज कपूर और देव आनंद भी अपनी–अपनी फिल्मों से कभी–कभार लोगों को चौंका देते थे।

इस बीच किशोर कुमार, जॉनी वॉकर भी फिल्मों में बने हुए थे लेकिन महमूद के रूप में एक नया कॉमेडियन सितारा हैसियत प्राप्त कर चुका था। इसी बीच 1969 में राजेश खन्ना का उदय एक प्रमुख सितारे के रूप में हुआ। 1957 (तुमसा नहीं देखा) से 1968 (ब्रह्मचारी) तक शम्मी कपूर को सुपर सितारा कहा जाता था। 1969 से लेकर 1972 तक राजेश खन्ना को सुपर सितारा माना जाता है। यह उल्लेखनीय है कि 1971 में आयी 'अंदाज' फिल्म में शम्मी कपूर और राजेश खन्ना ने पहली और अंतिम बार एक साथ काम किया। 'अंदाज' के हीरो के रूप में यह शम्मी कपूर की

आखिरी सफल फिल्म थी। 1969 से 1971 तक राजेश खन्ना ने शम्मी कपूर की जगह ले ली थी। यह भी संयोग है कि 1949 में बनी फिल्म 'अंदाज' में राज कपूर और दिलीप कुमार ने पहली और अंतिम बार एक साथ काम किया था और 1949 में 'बरसात' फिल्म से राज कपूर ने एक सितारा निर्देशक की हैसियत प्राप्त कर ली थी।

'जंजीर'(1973) फिल्म में पहली बार बॉम्बे माफ़िया का हिंदी सिनेमा में लार्जर दैन लाइफ निरूपण हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अमिताभ बच्चन को 'जंजीर' में नायक की भूमिका देव आनंद द्वारा मना करने पर मिली। इस तरह हम कह सकते हैं कि नगरीय युवा की आकांक्षा, रोष, गुस्से एवं निराशा को अभिव्यक्त करने वाले पहले सितारा देव आनंद थे ('बाज़ी'1951)। उन्होंने 'तुमसा नहीं देखा'(1957) नहीं करके शम्मी कपूर को सितारा हैसियत दिलाने में अप्रत्यक्ष रूप से मदद की । उसी तरह 'जंजीर' फिल्म में नायक की भूमिका देव आनंद के अस्वीकार से अमिताभ बच्चन को सितारा हैसियत पाने में मदद मिली।

मुंबई माफिया के अस्तित्व की उपस्थिति को पहली बार 'बाज़ी' (1951) फिल्म में प्रस्तुत किया गया था। बलराज साहनी द्वारा लिखित, गुरुदत्त द्वारा निर्देशित, नवकेतन द्वारा निर्मित, चेतन आनंद द्वारा संयोजित इप्टा समूह की यह पहली फिल्म थी। तब से लेकर 1972 तक अनेक फिल्मों में मुंबई की पृष्ठभूमि में माफिया नेटवर्क के कृत्रिम क्राइम की कलात्मक प्रस्तुति होती रही थी। परंतु पहली बार 'जंजीर'(1973) फिल्म में करीम लाला और हाजी मस्तान, दो तरह के माफिया को पर्दे पर उतारा गया था और युवा रोष की अभिव्यक्ति करने वाले 'एंग्री यंग मैन' का देव आनंद और शम्मी कपूर के बाद तीसरा रूप हमारे सामने आया। इसलिए अमिताभ बच्चन को हिंदी सिनेमा का पहला 'एंग्री यंग मैन' कहना कुछ आलोचकों का व्यक्तिगत विचार हो सकता है। इतिहास के अनुसार युवा रोष को फिल्म 'बाज़ी' से मानना ही तथ्यपरक है।

देव आनंद और शम्मी कपूर ने भी अपने समय में युवा आक्रोश का प्रतिनिधित्व किया था। लेकिन उन दोनों के आक्रोश और अमिताभ के आक्रोश में एक गुणात्मक अंतर है। देव आनंद और शम्मी कपूर की फिल्में उनके समय के महानगरों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और प्रासंगिक दायरे में बस एक नया आयाम जोड़ती हैं । ये फिल्में नई ऊर्जा से, दर्शकों के मनमस्तिष्क को सींचकर, कुछ नया, सकारात्मक, सुंदर एवं आदर्शवादी संबंधों की बुनियाद पर नए भारत के विकास की कहानी कहने का एक माध्यम बनी थीं। लेकिन 1973 तक भारतीय राज्य समाज एवं महानगर काफी हद तक बदल चुके थे। संजय गांधी का उदय हो चुका था। युवाओं में

निराशा फैल रही थी। बेरोजगारी बढ़ रही थी। झुग्गी–झोपड़ी बढ़ रही थीं। नौकरशाही, बिल्डर, माफिया और नेता बेशर्मी की हद तक आपस में सांठ–गांठ कर चुके थे। उसमें 'जंजीर'(1973) फिल्म का नायक जो एक पुलिस अधिकारी है और व्यवस्था का प्रतीक भी, वह एक पुराने कुछ हद तक आदर्शवादी माफिया करीम लाला से दोस्ती करके, नये माफिया हाजी मस्तान के खिलाफ अपना आक्रोश प्रदर्शित करता है और इस रूप में पहली बार भारतीय सिनेमा का नायक उजला (वाइट) आदर्शवादी से ग्रे या भूरा या समझौतावादी या व्यावहारिक बनता है। 1975 तक आते–आते फिल्म 'दीवार' में, जिसके लेखक भी सलीम–जावेद थे, जंजीर का मुख्य खलनायक दीवार का प्रतिनायक हीरो के रूप में हमारे सामने आता है। कहा जाता है कि 'दीवार' फिल्म को अप्रत्यक्ष रूप से हाजी मस्तान ने बनवाया था। इस फिल्म में पहली बार मुंबई माफिया को महिमा मंडित किया गया।

माना जाता है कि 1978 तक आते–आते हाजी मस्तान कमजोर पड़ गया था और दाऊद इब्राहिम नामक एक नया माफिया मुंबई के अंडरवर्ल्ड का बादशाह बन चुका था। 1985 तक आते–आते दाऊद इब्राहिम का बॉम्बे के फिल्म उद्योग पर करीब–करीब पूरा नियंत्रण हो गया था। उसके पैसों से फिल्मों का निर्माण होने लगा था। जानकारों का मानना है कि दाऊद इब्राहिम के पैसों का निवेश फिल्मों में भरत भाई शाह के नाम से प्रस्तुत, निर्मित या वितरित फिल्मों में सबसे ज्यादा होता था। लेकिन अन्य फिल्मों में भी नायक एवं नायिका के कास्टिंग में उसकी पकड़ बढ़ने लगी थी। बहुत लोगों ने इसको अफ़वाह माना लेकिन जब 'राम तेरी गंगा मैली'(1985) की नायिका मंदाकिनी को दाऊद ने दुबई बुलाकर अपनी रखैल बना लिया तो लोगों ने इन अफवाहों को सच मानना शुरू कर दिया। माना जाता है कि दाऊद के महाराष्ट्र एवं भारत के नेताओं से भी अच्छे ताल्लुकात थे। पुलिस में भी उसकी अच्छी पहुंच थी एवं बहुत सारे वकीलों की फौज थी जो उसके लिए काम करती थी परंतु 1993 के मुंबई विस्फोट के बाद जिसे ब्लैक फ्राईडे कहा जाता है बाल ठाकरे और शरद पवार ने मिलकर दाऊद के साम्राज्य को मुंबई से बाहर विस्थापित करने में सफलता पाई।

जहां तक अरबन म्यूजिकल रोमांस अथवा शहरी प्रेम की संगीतमय फिल्मों की बात है उसमें देव आनंद को सदाबहार फिल्मी सितारा माना जाता है। देव आनंद ने शहरी पृष्ठभूमि की, किसी भी जॉनर में बनी फिल्मों में, अधिकांश में ठेठ शहरी नायक का रोल किया था। उनके समकालीनों में दिलीप कुमार, राज कपूर और बलराज साहनी अधिकांशतया ग्रामीण पृष्ठभूमि पर बनी फिल्मों अथवा ग्रामीण पृष्ठभूमि से

नौकरी की तलाश में शहरों में आए, भोले–भाले एवं सरल नायकों का, अभिनय किया करते थे। भारत भूषण नाजुक हृदय के कवि, गायक या संत की भूमिका में टाइप कास्ट हो चुके थे। प्रदीप कुमार को मध्यकालीन एवं सामंती पृष्ठभूमि के शहजादे, नवाब जैसे किरदारों में लोकप्रियता मिलती थी।

फलस्वरूप अपनी पीढ़ी में, भारतीय महानगरों के युवा के विभिन्न रूपों को सिनेमा के पर्दे पर दर्शाने हेतु देव आनंद को हर तरह की भूमिकाएं करने का मौका मिला। अपनी पीढ़ी के नायकों में उन्हें सबसे अधिक फिल्मों में अलग–अलग चरित्रों का अभिनय करने का मौका मिला। फलस्वरूप देव आनंद को अपनी पीढ़ी में सबसे बड़ा, सबसे हैंडसम एवं सबसे स्टाइलिश सुपरस्टार माना जाता था। ऐसे तो देव आनंद ने 1940 से 2005 तक लगातार फिल्मों में नायक का रोल किया और उनकी फिल्में लगातार अपनी लागत वसूलती रहीं क्योंकि उनके प्रतिबद्ध दर्शक पीढ़ी–दर–पीढ़ी बने रहे। परंतु 1948 में प्रदर्शित बॉम्बे टॉकीज की फिल्म 'जिद्दी', निर्देशक शाहीद लतीफ से 1978 में प्रदर्शित 'देश–प्रदेश', निर्देशक देव आनंद तक करीब–करीब लगातार सदाबहार सुपर–सितारा बने रहे। परंतु 1957 में 'तुमसा नहीं देखा' फिल्म छोड़कर उन्होंने शम्मी कपूर को सुपर सितारा हैसियत पाने में मदद की। फिर 1961 में 'जंगली' फिल्म छोड़कर शम्मी कपूर को सुपर सितारा के रूप में अपनी स्थिति मजबूत करने में मदद की। बीच में जब लगने लगा कि मनोज कुमार और धर्मेंद्र अपनी लगातार सफलता से शम्मी कपूर के प्रतिद्वंद्वी बन सकते हैं तो 'तीसरी मंजिल' छोड़ कर देव आनंद ने शम्मी कपूर को एक और मौका उपलब्ध करवा दिया और हमेशा शम्मी कपूर के कामों की तारीफ करते रहे।

देव आनंद का मानना था कि यदि उन्होंने यह तीनों फिल्में की होतीं तो उसका प्रभाव दर्शकों पर वैसा धमाकेदार नहीं होता जैसा शम्मी कपूर के अभिनय ने पैदा किया। यह उल्लेखनीय है कि राजकपूर और देव आनंद एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी माने जाते थे और दोनों ने कभी भी एक फिल्म में साथ–साथ काम नहीं किया। परंतु राज कपूर के छोटे भाई शम्मी कपूर से उनकी कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं थी। राज कपूर और देव आनंद एक दूसरे को दोस्त भी मानते रहे परंतु यह सच है कि वे दोनों भीतर से एक दूसरे के वैसे मित्र नहीं थे जैसे राज कपूर और दिलीप कुमार या देव आनंद और दिलीप कुमार माने जाते हैं। भले ही दिलीप कुमार ने देव आनंद और राज कपूर की तुलना में कम फिल्मों में काम किया लेकिन दिलीप कुमार को भारतीय सिनेमा का सबसे समर्थ अभिनेता माना जाता है। उन्हें लोग अजातशत्रु भी कहते हैं क्योंकि एक इंसान के रूप में वे लोभ और ईर्ष्या से ऊपर उठे हुए थे।

शम्मी कपूर ने अपने शुरुआती दिनों में बहुत संघर्ष किया था। उन्हें अपनी 19वीं फिल्म 'तुमसा नहीं देखा'(1957) में सितारा हैसियत मिली थी और अपनी 31वीं फिल्म 'जंगली' (1961) में वे सुपर सितारा बने थे और अपनी 44वीं फिल्म 'तीसरी मंजिल'(1966) में उन्हें कल्ट स्टेटस मिला था। परंतु कुछ मामलों में शम्मी कपूर अपनी फीस को लेकर अपने नजदीकी दोस्तों से भी प्रोफेशनल व्यवहार रखते थे। जिस तरह लता मंगेशकर, मोहम्मद रफी और नौशाद ने फिल्म संगीत के क्षेत्रों में रॉयल्टी को लेकर फिल्म संगीत कंपनी के साथ अलोकप्रिय होने की हद तक कड़े निर्णय लिए थे। उसी प्रकार शम्मी कपूर ने निर्माताओं से अपनी हर सफल फिल्म के बाद अपनी फीस को लेकर कड़ा रुख अपनाया। लेकिन शूटिंग के दौरान वे निर्माताओं से हमेशा सहयोग करते थे और यदि उनके कारण शूटिंग में देरी होती थी तो वह निर्माताओं की या कर्मी दल की अपने पैसे से खातिरदारी भी करते थे।

शम्मी कपूर हिंदी फिल्म उद्योग में इंटरनेट का इस्तेमाल करने वाले पहले व्यक्ति थे। उन्हें फिल्म संगीत, नृत्य और अभिनय के बारे में विश्व स्तर पर हो रहे अधिकांश विमर्शों की तथ्यपरक जानकारी होती थी और उनके आधार पर वे अपनी भूमिकाओं के साथ नए–नए प्रयोग करते थे। शम्मी कपूर अपनी फिल्मों में ड्रेस खुद डिजाइन करते थे, अपना नृत्य संयोजन खुद करते थे तथा अधिकतर स्टंट भी खुद करते थे। फलस्वरूप शम्मी कपूर भारतीय फिल्म उद्योग के पहले मॉडर्न प्रोफेशनल अभिनेता माने जाते हैं जिन्होंने कभी भी अपने निर्माताओं का अपने घूमने–फिरने या अपनी खरीदारी के लिए शोषण नहीं किया। यदि वह शूटिंग स्थल पर अपने परिवार के सदस्य या मित्रों को लेकर आते थे तो उनका खर्च खुद उठाते थे। जबकि अधिकांश अभिनेता अपने अतिथियों का सारा खर्च फिल्म निर्माण के बजट में जुड़वा कर निर्माताओं का शोषण करते थे।

वर्ष 1969 में जब उनके प्रिय निर्माता–निर्देशक शक्ति सामंत ने शम्मी कपूर को शर्मिला टैगोर के साथ अपनी नई फिल्म में काम करने का प्रस्ताव दिया तो उन्होंने साफ कहा कि वे फिलहाल लेख टंडन की फिल्म 'प्रिंस'(1969) और प्रमोद चक्रवर्ती की फिल्म 'तुमसे अच्छा कौन है' में काम करने की हामी भर चुके हैं और इस वर्ष शक्ति सामंत की फिल्म के लिए उनके पास कोई डेट उपलब्ध नहीं है। फलस्वरूप शक्ति सामंत ने शर्मिला टैगोर और राजेश खन्ना को लेकर 'आराधना'(1969) फिल्म बनाई। शर्मिला टैगोर को हिंदी फिल्मों में शक्ति सामंत ने ही सितारा हैसियत दिलाई थी, फिल्म थी 'कश्मीर की कली' (1964) और नायक थे शम्मी कपूर। शक्ति सामंत ने 1967 में शम्मी कपूर और शर्मिला टैगोर को केन्द्रीय

भूमिकाओं में लेकर 'एन ईवनिंग इन पेरिस' बनाई थी। अगर शम्मी कपूर ने चाहा होता तो वे शर्मिला टैगोर के साथ अपनी तीसरी फिल्म 'आराधना' भी कर सकते थे।

जब शक्ति सामंत ने शर्मिला टैगोर को बतलाया कि इस बार फिल्म का नायक शम्मी कपूर जैसा सुपरस्टार नहीं होगा बल्कि एक नया कलाकार राजेश खन्ना होगा तो शर्मिला टैगोर के मन में संशय था। चूंकि राजेश खन्ना की पहली फिल्म 'आखरी खत' तो 1966 में आ चुकी थी। चेतन आनंद जैसे बड़े निर्माता एवं निर्देशक के बावजूद राजेश खन्ना, इन्द्राणी मुखर्जी द्वारा अभिनीत फिल्म असफल साबित हुई थी। परन्तु शक्ति सामंत ने शर्मिला टैगोर को ध्यान दिलाया कि जब उन्होंने शर्मिला टैगोर को 1964 में शम्मी कपूर जैसे सुपर सितारा की नायिका बनाया था तो उस वक्त शर्मिला टैगोर भी नई थीं। भले ही उन्होंने सत्यजीत रे की बंगाली फिल्म में अच्छा अभिनय किया था परंतु वह फिल्म भी व्यावसायिक रूप से 'आखरी खत' जैसी ही थी तो शर्मिला टैगोर फिल्म करने के लिए मान गयीं। उसका एक बड़ा कारण यह था कि शम्मी कपूर के मना करने के बाद शक्ति सामंत ने सचिन भौमिक (1930–2011) से जो पटकथा लिखवाई वह नायिका प्रधान थी। इसका कारण यह था कि शक्ति सामंत नए अभिनेता राजेश खन्ना की तुलना में सुपर सितारा प्राप्त शर्मिला टैगोर पर व्यावसायिक जोखिम लेना बेहतर मान रहे थे।

'आराधना'(1969) फिल्म की सफलता में निश्चित रूप से शर्मिला के सितारा हैसियत, सुन्दरता, ग्लैमर और अभिनय क्षमता की ज्यादा बड़ी भूमिका थी। पूरी कहानी शर्मिला टैगोर के इर्द–गिर्द घूमती है और एक सह–कलाकार के रूप में राजेश खन्ना की भूमिका को दो हिस्सों में बांट दिया गया था। राजेश खन्ना शर्मिला टैगोर के प्रेमी और पुत्र दोनों की भूमिका में अपनी छाप छोड़ने में सफल रहे। पुत्र की भूमिका में फरीदा जलाल और उनकी जोड़ी बनाई गई थी जो इन्द्राणी मुखर्जी जैसी ही एक नयी और अनुभवहीन कलाकार थी। 'आराधना' फिल्म की बिमल रॉय द्वारा निर्देशित तथा नूतन द्वारा अभिनीत फिल्म 'बंदिनी'(1963) और महबूब खान द्वारा निर्देशित तथा नरगिस द्वारा अभिनीत 'मदर इंडिया'(1957) से तुलना की जाती है। इस तरह की चौथी फिल्म कमाल अमरोही द्वारा निर्देशित और मीना कुमारी अभिनीत 'पाकीजा'(1972) मानी जाती है। ये चारों नारी प्रधान व्यावसायिक रूप से सफल कालजयी फिल्में हैं। राजेश खन्ना का भाग्य उन पर मेहरबान था। 'आराधना' के बाद उनकी करीब–करीब सभी फिल्में 1971 तक सफल होती रहीं। 1971 में शम्मी कपूर ने 'अंदाज' फिल्म में राजेश खन्ना और हेमा मालिनी के साथ काम किया और इस तरह राजेश खन्ना की सुपर सितारा हैसियत को मजबूत करने में अपना आशीर्वाद

दिया।

यह संयोग ही है कि 1971 की फिल्म 'आनंद' (निर्देशक–ऋषिकेश मुखर्जी) में नायक की महत्वपूर्ण भूमिका तो राजेश खन्ना की थी लेकिन सहकलाकारों में रमेश देव, सुमिता सान्याल, ललिता पवार और जॉनी वाकर जैसे स्थापित कलाकारों के अलावा अमिताभ बच्चन भी थे। अमिताभ बच्चन ने अपनी फिल्मी कॅरियर की शुरुआत 1969 में ही की थी, फिल्म थी 'सात हिंदुस्तानी' तथा निर्देशक ख्वाजा अहमद अब्बास। 'सात हिंदुस्तानी' (1969), 'रेशमा और शेरा' (1971), 'प्यार की कहानी' (1971) तीन फिल्मों में काम करने के बावजूद अमिताभ बच्चन की कोई पहचान नहीं बनी थी क्योंकि तीनों फिल्में असफल थीं। पहली बार अमिताभ बच्चन को 'आनंद' फिल्म से पहचान मिली जबकि उनकी भूमिका बहुत छोटी थी परंतु अपनी छोटी भूमिका में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा दिखाई। इस फिल्म की सफलता में सबसे ज्यादा श्रेय राजेश खन्ना को मिलना ही था लेकिन सहयोगी कलाकारों में भी जॉनी वाकर, ललिता पवार और रमेश देव को दर्शकों ने अमिताभ बच्चन से ज्यादा तरजीह दी। परंतु यदि अमिताभ बच्चन के फिल्मी कॅरियर का सिंहावलोकन किया जाये तो 'आनंद' में अमिताभ बच्चन के अभिनय की तारीफ करनी ही पड़ेगी। परंतु अमिताभ बच्चन का दुर्भाग्य कि 'आनंद'(1971) के बाद रिलीज हुई हीरो के रूप में उनकी फिल्में 'परवाना'(1971), 'बंसी बिरजू'(1972), 'एक नजर'(1972), 'रास्ते का पत्थर'(1972), 'गहरी चाल'(1973) असफल साबित हुईं और आलोचकों ने भी इन फिल्मों को नजरअंदाज किया। परंतु 1972 में आई फिल्म 'बॉम्बे टू गोवा' निर्देशक एस. रामनाथन, निर्माता महमूद सफल साबित हुई।

1973 में जब देव आनंद ने प्रकाश मेहरा को 'जंजीर' फिल्म करने से मना कर दिया, धर्मेंद्र पहले ही मना कर चुके थे, तब नायक के रोल के लिए प्रकाश मेहरा की पहली पसंद राजकुमार थे। जब राजकुमार ने भी मना कर दिया तो प्रकाश मेहरा ने अपने दोस्तों से सलाह मांगी। ज्यादातर लोगों ने प्रकाश मेहरा को शत्रुघ्न सिन्हा को यह भूमिका देने के लिए वकालत की। परंतु सलीम–जावेद ने अमिताभ बच्चन का नाम सुझाया। प्रकाश मेहरा शशि कपूर के बारे में सोचने लगे थे जो उनकी पहली फिल्म 'हसीना मान जाएगी'(1969) में हीरो थे। कुछ लोगों ने प्रकाश मेहरा को अमिताभ बच्चन की एक्टिंग देखने की सलाह दी, खासकर 'आनंद' और 'मुंबई टू गोवा फिल्म'(1972) में। फिल्म देखने के बाद प्रकाश मेहरा ने अमिताभ बच्चन का ऑडिशन लिया और अमिताभ बच्चन फिल्म के लिए चुन लिए गए। परंतु उस वक्त की जितनी भी सफल एवं स्थापित अभिनेत्रियाँ थीं उन्होंने अमिताभ बच्चन के साथ काम

करने के लिए इंकार कर दिया। ऐसी ही स्थिति 1957 में शम्मी कपूर की थी। अंततः फिल्म बनी और अमिताभ बच्चन को सितारा हैसियत प्राप्त हो गई।

यदि 1948 की 'ज़िद्दी' से 1973 की 'जंजीर' तक के भारतीय सिनेमा में सितारों के उत्थान एवं पतन पर स्पष्ट रूप से विचार किया जाए तो हॉलीवुड और हिंदी सिनेमा का अंतर सहज ही नजर आता है। हॉलीवुड में किसी भी फिल्म के कैरेक्टर के रोल के लिए जो कास्टिंग की जाती है उसका बड़ा ही फॉर्मल तरीका होता है। जबकि भारत में सितारों के उत्थान एवं पतन में निर्माता एवं निर्देशक या कहानी की मांग की तुलना में गॉडफादर एवं नेटवर्क की भूमिका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काफी प्रभावी होती है। सामान्य रूप से इसकी चर्चा करने का प्रचलन हिंदी फिल्म उद्योग में नहीं है और सांकेतिक रूप से इसे भाग्य कह कर चर्चा समाप्त कर दी जाती है। परंतु यदि गहराई में जाएँ तो यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि जिस तरह भारतीय समाज में घराना एवं याराना का नेटवर्क जीवन में सुख–सुविधा के लिए जरूरी होता है ठीक उसी तरह से हिंदी फिल्म उद्योग में भी घराना एवं याराना का नेटवर्क काम करता है। इसमें सबसे बड़ी भूमिका उन लोगों की होती है जो जीवन में सब कुछ पा कर संतुष्ट हो चुके हैं और उदार अभिभावक के रूप में नई पीढ़ी के टैलेंट को चमकाने एवं उभरने के लिए अवसर या मौका, प्रेरणात्मक युक्ति देते हैं। एक सफल पारी खेलने के बाद भारतीय समाज के अधिकांश व्यक्ति वानप्रस्थी मानसिकता को अंगीकार कर लेते हैं। उदाहरण के लिए देव आनंद ने शम्मी कपूर और शम्मी कपूर ने राजेश खन्ना के लिए एक सकारात्मक प्रेरक की भूमिका निभाई। यह उल्लेखनीय है कि सलीम–जावेद की हैसियत बनाने में 1971 में प्रदर्शित फिल्म 'अंदाज' (निर्देशक रमेश सिप्पी, नायक शम्मी कपूर, राजेश खन्ना, हेमा मालिनी) थी। पहली बार सलीम–जावेद इस फिल्म में लेखक विभाग में सचिन भौमिक के सहायक के रूप में सामने आए। सचिन भौमिक ने 1958 से 1971 तक पटकथा एवं संवाद लेखक के रूप में सितारा हैसियत प्राप्त कर ली थी और वे 2008 तक 200 से ज्यादा फिल्मों में लगातार लेखन करते रहे। जिस तरह शम्मी कपूर ने राजेश खन्ना के लिए जगह खाली की उसी तरह से सचिन भौमिक ने सलीम–जावेद को संवाद एवं पटकथा लेखन के गुर सिखाये। इस फिल्म में सचिन भौमिक के एक अन्य सहायक गुलज़ार भी थे। हालांकि गुलज़ार पर सचिन भौमिक के अलावा नबेन्दु घोष का भी प्रभाव है।

❑❑❑

भारतीय सिनेमा की आधारभूत श्रेणियां

भारतीय सिनेमा– खासकर हिंदुस्तानी सिनेमा कहा जाता है, इसमें 1930 के दशक से ही पांच प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप से दिखलायी देती हैं।

पहली प्रवृत्ति हिमांशु रॉय द्वारा जर्मन सहयोग से स्थापित बॉम्बे टॉकीज को एक कैनन के रूप में स्थापित की गई थी। इसे व्यावसायिक फार्मूला फिल्मों की शैली और प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। इस प्रवृत्ति को किसी भी दृष्टिकोण से विचारहीन मनोरंजन वाली विशुद्ध व्यावसायिक फिल्में बनाने की प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। इसे स्थूल अर्थों में राजनैतिक–सामाजिक परिवर्तन करने वाली, मार्क्सवादी या ब्रिटिश लिबरल–पूंजीवादी रोमांटिसिज्म से जुड़ी, देशज अभिजात वर्ग की वैचारिक फार्मूले या फैशन से करीब–करीब हर मानक पर अलग फार्मूले वाली फिल्में कह सकते हैं।

दुनिया भर में अब तक किसी भी भाषा में बनी हर फिल्म फॉर्मूला फिल्म ही है। गणित और विज्ञान–तकनीक के क्षेत्र में जिसे फॉर्मूला कहा जाता है उसे सिनेमा की भाषा में 'जोनर' और भारतीय सौंदर्यशास्त्र की शब्दावली में रस, शैली या रीति कहा जाता है।

इस प्रवृत्ति के फिल्मकारों में हिमांशु राय, शशधर मुखर्जी के अलावा वाडिया ब्रदर्स, चंदूलाल शाह, ज्ञान मुखर्जी, अमिय चक्रवर्ती, वी. शांताराम, एस.एस. वासन, सत्येन बोस, हेमंत कुमार, शक्ति सामंत, नासिर हुसैन, एल.वी. प्रसाद, राज खोसला, विजय आनंद, मनोज कुमार, बृज सदाना, रमेश सिप्पी, प्रकाश मेहरा, फणि मजुमदार, रामानंद सागर, बी. आर चोपड़ा, फिरोज खान, आदित्य चोपड़ा और इनसे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित फिल्मकार आएंगे।

दूसरी प्रवृत्ति लाहौर फिल्म उद्योग में पल्लवित सूफी सिलसिला और सूफी रोमांटिसिज्म (रूमानियत) की प्रवृत्ति रही है। इसके प्रतिनिधि फिल्मकार अब्दुल

रशीद कारदार (ए. आर. कारदार) थे। एम. सादिक, एच.एस. रवैल, पी. एल. संतोषी, यश चोपड़ा, राजेंद्र सिंह बेदी इसी प्रवृत्ति के थे।

तीसरी प्रवृत्ति कोलकाता के न्यू थियेटर में जन्मी थी। यह हिंदू परंपरा से जुड़ी, रामायण और चंडीदास की भक्ति तथा शाक्त चेतना वाली रसवादी फिल्मों की प्रवृत्ति थी। इसके प्रतिनिधि फिल्मकार देवकी बोस को माना जाता है। केदार शर्मा, नितिन बोस, बिमल रॉय, राजकपूर और इनके शिष्य इस विरासत को बढ़ाते रहे हैं।

चौथी प्रवृत्ति मार्क्सवादी विचारधारा खासकर इप्टा (IPTA) से जुड़ी तथाकथित वैचारिक, वैकल्पिक, पैरेलल, नया सिनेमा की प्रवृत्ति रही है। इसके प्रतिनिधि फिल्मकार चेतन आनंद, महबूब खान, ऋत्विक घटक, मृणाल सेन आदि को माना जाता है।

पांचवीं प्रवृत्ति ऐसे फिल्मकारों की है जिन्हें अपने युग (दशक) की मूल प्रवृत्ति से अलग हटकर अपवादस्वरूप सफलता मिली या ये फिल्मकार कुछ समीक्षकों द्वारा सराहे गए। सामान्यतः बॉक्स ऑफिस पर इनकी फिल्मों को आम दर्शकों द्वारा नकारा जाता रहा। अभिजात प्रवृत्ति वाले दर्शकों ने ही फिल्म – फिल्मकारों की इस बिरादरी पर किताबें लिखकर, विदेशियों द्वारा खुद की सराहना प्राप्त की है। इन्हें एक छोटे से दर्शक वर्ग में महान फिल्मकार माना जाता है। इसमें मणि कौल, कुमार शाहनी, बासु भट्टाचार्य, कमाल अमरोही ['महल'(1949) और 'पाकीजा'(1972) अपवाद हैं] की प्रतिनिधि फिल्में 'दायरा'(1953) और 'रजिया सुल्तान'(1983) हैं। 'मुगले आजम'(1960) को अपवाद मानें तो के.आसिफ भी इसी श्रेणी में आयेंगे। सत्यजीत रे भी इसी श्रेणी में आयेंगे। निर्देशक के रूप में देवानंद भी ['हरे रामा हरे कृष्णा' (1971) को अपवाद मानें] इसी श्रेणी में आयेंगे।

साठ के दशक में खासकर नेहरू की मृत्यु के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दो भागों में बंट गई। क्योंकि महबूब खान और गुरुदत्त की मृत्यु हो गई। चेतन आनंद के अलग होते ही नवकेतन में देवानंद, बॉम्बे टॉकीज (जिस संस्था ने उन्हें गुमनाम एक्टर से स्टार बनाया था) की शैली की लोकप्रिय फिल्में बनाने लगे। 1957 से नर्गिस के अलग हो जाने के बाद, राजकपूर भी ख्वाजा अहमद अब्बास और शैलेंद्र के ऊपर लगातार हावी होते चले गए। शैलेंद्र की मृत्यु के बाद वह पुल भी टूट गया जो न्यू थिएटर की परंपरा वाले राजकपूर को इप्टा के सौंदर्यशास्त्र (नर्गिस – मेहबूब खान के प्रभाव में, अब्बास, शैलेंद्र शंकर) और पृथ्वी थियेटर की सामाजिक प्रतिबद्धता से जोड़ता था। राजकपूर क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल और आदर्शवादी प्रेम से कामुक

मांसाहार की तरफ बढ़ते चले गए।

दूसरी ओर नई हिंदू चेतना वाले निर्माता, फिल्म को हिंदू विचारधारा के माध्यम के रूप में आजमाने लगे थे। युग परिवर्तन को स्थापित करने वाली सबसे सफल फिल्म चेतन आनंद की 'हकीकत'(1965) मानी जाती है। इसके प्रदर्शन के बाद हिंदी सिनेमा में मार्क्सवाद की कमर टूट गई। नवकेतन के बैनर के बिखरने के बाद मार्क्सवादी रुझान वाली फिल्मों के निर्माण और वितरण की समस्या का जल्द ही समाधान ढूंढ लिया गया।

1969 में कांग्रेस के टूटने के बाद अपनी सरकार चलाने के लिए इंदिरा गांधी की भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर निर्भरता बढ़ गई। इसके तहत 1969 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय बनाया गया। यह 1972 से काम करने लगा। 1975 में एनएफडीसी (नेशनल फिल्म डेवलपमेंट कारपोरेशन) बना। फिल्म इंस्टिट्यूट ऑफ़ इंडिया 1960 में बना था। जब ऋत्विक घटक इसके निर्देशक बने (1966–1970 तक) तब इसका पूरी तरह वामपंथीकरण कर दिया गया।

जो काम राजकपूर के बैनर में ख्वाजा अहमद अब्बास और शैलेंद्र करते थे। नवकेतन में चेतन आनंद, बलराज साहनी, गुरुदत्त, साहिर, शैलेंद्र, कैफी आज़मी करते थे। वही काम गुरु दत्त के लिए अबरार अल्वी, साहिर लुधियानवी, जां निसार अख्तर करते थे। वही काम मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा से वामपंथी विचारधारा की विदाई के बाद सलीम–जावेद की जोड़ी करने लगी। यह दोनों 1973 से 1983 के बीच वामपंथी रुझान की फिल्मों को पटकथा के माध्यम से निर्माताओं के पास व्यावसायिक सिनेमा की जरूरत कह कर इस तरह विज्ञापित करते थे कि निर्माताओं के बीच धीरे–धीरे इनकी हैसियत फिल्मी अभिनेताओं के बराबर और कभी कभी बड़ी मानी जाने लगी। हिंदी सिनेमा के ज्यादातर समीक्षक वामपंथी रुझान के रहे हैं। इन लोगों ने सलीम जावेद की लार्जर दैन लाइफ इमेज उसी तरह गढ़ी जैसे बंगाली भद्रलोक एवं विदेशी समीक्षकों ने सत्यजीत रे की लार्जर दैन लाइफ इमेज गढ़ी थी।

❑❑❑

'पाकीजा' (1971, निर्देशक–कमाल अमरोही) एक नयी दृष्टि

यह 1971 की सबसे सफल फिल्मों में से एक थी। इस फिल्म की नायिका मीना कुमारी की मृत्यु के बाद रिलीज होने का इस फिल्म को निश्चित रूप से लाभ मिला था। यह मीना कुमारी और कमाल अमरोही के वैवाहिक जीवन के उथल–पुथल के दौरान बनी थी, जिसके कारण इसके बनने में काफी समय लगा था। यह कमाल अमरोही की सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है।

कमाल अमरोही ने अपने फिल्म जीवन का प्रारंभ के.आसिफ के पटकथा एवं संवाद लेखक के रूप में की थी। के. आसिफ के लिए उन्होंने सबसे पहले 'फूल' के लिए पटकथा लिखी थी। फिर वे 'मुगल ए आजम' (1960) की पटकथा और संवाद लिख रहे थे। 'फूल' का प्रदर्शन 1944 में हुआ था । 1945 से लेकर 1948 तक कमाल अमरोही 'मुगल ए आजम' की पटकथा एवं संवाद पर काम करते रहे। लेकिन देश के 1947 के विभाजन के बाद के. आसिफ का निर्माता पाकिस्तान चला गया। और बहुत कोशिश के बाद भी के. आसिफ कोई दूसरा निर्माता नहीं ढूंढ पाए। इसी बीच कमाल अमरोही को 1949 में 'महल' नामक फिल्म निर्देशित करने का मौका मिला। अशोक कुमार एवं मधुबाला अभिनीत ये फिल्म खेमचंद्र प्रकाश के संगीत एवं लता मंगेशकर के सुरीले गीतों के लिए आज भी याद की जाती है।

1949 से भारतीय सिनेमा में लता युग का प्रारंभ होता है । 1949 में 'महल' के अलावा लता मंगेशकर ने राजकपूर की फिल्म 'बरसात'(1949) में शंकर जयकिशन के लिए और मेहबूब खान की फिल्म 'अंदाज'(1949) में नौशाद के लिए गाना गाया था । तीनों फिल्में व्यावसायिक रूप से बहुत सफल हुई थीं और इनकी सफलता का श्रेय लता मंगेशकर के गायन को भी मिला था।

1953 में कमाल अमरोही ने मीना कुमारी को नायिका बना कर 'दायरा' फिल्म का निर्माण एवं निर्देशन किया जो व्यावसायिक रूप से बहुत असफल रही । 1952 में

मीना कुमारी, विजय भट्ट द्वारा निर्देशित 'बैजू बावरा'(1952) की नायिका के रूप में सफल स्टार साबित हो चुकी थीं। 'दायरा'(1953) की असफलता के बावजूद मीना कुमारी एवं कमाल अमरोही ने एक दूसरे से निकाह कर लिया लेकिन उनका वैवाहिक जीवन सफल नहीं रहा था जिसके कारण मीना कुमारी शराब पीने लगीं और अपने दर्द को शायरी में ढालने लगीं । इसी बीच के.आसिफ और कमाल अमरोही के संबंधों में भी तनाव आ गया और कमाल अमरोही की अधूरी पटकथा को, दूसरे लेखकों से पूरा करा कर, के.आसिफ ने 'मुगल ए आजम' का प्रदर्शन 1960 में किया।

एक भव्य एवं सफल फिल्म के रूप में 'मुगल ए आजम'(1960) दिलीप कुमार, मधुबाला, पृथ्वीराज कपूर और दुर्गा खोटे के अभिनय के लिए आज भी याद की जाती है।' 'मुगल ए आजम' के प्रदर्शन के कुछ समय बाद कमाल अमरोही ने 'पाकीजा'(1972) फिल्म पर काम करना शुरू किया । रूहानी स्तर पर 'मुगल ए आजम' की पटकथा और 'पाकीजा'(1972) की पटकथा में संरचनात्मक सहधर्मिता देखी जा सकती है । बाहरी आवरण के रूप में 'मुगल ए आजम' मुगल सल्तनत के उत्कर्ष के समय की कहानी है जबकि 'पाकीजा' अंग्रेजी राज के दौरान रेलवे के आगमन के बाद मुस्लिम–नवाबी दौर के संक्रमण काल की कहानी है।

'पाकीजा'(1972) मीना कुमारी के अभिनय, नृत्य एवं गुलाम मोहम्मद तथा नौशाद के संगीत के लिए जानी जाती है । इसके सारे गाने 1970 के दशक में आम आदमी के होठों पर थे और आज भी इसके कर्णप्रिय गीत 'पाकीजा' को एक संगीतमय कालजयी रचना के रूप में स्थापित किये हुए हैं। साहिब जान, मीना कुमारी एक पारम्परिक इंसान हैं। वह एक सजग रूप से आशावादी चरित्र हैं। 'परख' फिल्म के पोस्ट मास्टर बाबू भी आशावादी हैं । लेकिन उनका आशावाद असजग है ।

साहिब जान, सलीम, राजकुमार (अभिनेता, जिनका असली नाम कुलभूषण पंडित था) से प्यार करती है फिर भी वह उसके निकाह के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करती। उसके इंकार के आधुनिक दृष्टिकोण की वेबर आदि से व्याख्या नहीं की जा सकती। सलीम एक फॉरेस्ट ऑफिसर है । अब फॉरेस्ट ऑफिसर या वन अधिकारी तो अंग्रेजी राज से पहले होता ही नहीं था। वन अधिकारी बनने के लिए आई.एफ.एस. की परीक्षा पास करनी पड़ती थी। आई.एफ.एस. बनने के लिए आधुनिक विज्ञान की शिक्षा बी.एससी. पास होना जरूरी है। सलीम एक आधुनिक चरित्र है। संभवतः 'पाकीजा' (1972) फिल्म में वह अकेला आधुनिक चरित्र है। उसकी सोच, उसका विचार, उसकी चाल–ढाल सब कुछ आधुनिक है। वह बहुत आशावादी चरित्र भी नहीं है । ट्रेन में एक सुन्दर सोयी हुई स्त्री को देखता है और उसे इश्क हो जाता है ।

वह एक खत लिख कर उतर जाता है । जब उसे अपने टैन्ट में सोयी हुई वही स्त्री फिर मिलती है वो आश्चर्यचकित या विस्मित है । फिर उसको आधुनिक 'रोमांस' हो जाता है । वह निकाह का प्रस्ताव रखता है । जब साहिब जान ये प्रस्ताव ठुकरा देती है तो वह बिखर जाता है । वह साहिब जान से बदला लेना चाहता है । वह उसके आत्म–सम्मान को कुचल देना चाहता है । वह प्रस्ताव रखता है कि साहिब जान उसके दूसरी स्त्री से निकाह के अवसर पर मुजरा करे। साहिब जान शहादत के अंदाज में मुजरा करने के लिए तैयार हो जाती है और 'तेरी महफिल में किस्मत आजमा कर हम भी देखेंगे' मुगले आजम के कोर्ट डांस के तर्ज पर मुजरा करते–करते बेहोश होकर गिर जाती है ।

साहिब जान आशावादी है । उसे अपने अनजान चाहने वाले से मोहब्बत हो जाती है । उसे विश्वास है कि वह उसे आज नहीं तो कल जरूर मिलेगा । उसकी सहेली समझाती भी है कि यह खत तुम्हारे लिए नहीं है । किसी और के लिए है तुम्हारे उस स्वरूप में जब तुम्हारे पैरों में घुंघरू नहीं बंधे होंगे । लेकिन वह नहीं मानती । वह भी पढ़ी–लिखी है । लेकिन उसकी शिक्षा आधुनिक नहीं है । न उसकी सोच ही आधुनिक है । वह दो बार बलात्कार का शिकार होने से बचती है, दूसरी बार जंगली हाथी बचाते हैं। पारम्परिक सभ्यता में मनुष्य और अन्य जीवों में पारस्परिक सहयोग रहा है । शहाबुद्दीन अशोक कुमार और नर्गिस, मीना कुमारी मां के रूप में की कहानी 'लैला–मजनूं' की कहानी है । दोनों जिन्दगी में तो सुखपूर्वक साथ नहीं रह पाए, मृत्यु के बाद वे आपस में मिल गए । मरते–मरते शहाबुद्दीन अपनी बेटी को अपनी वारिस के रूप में स्थापित कर गया । 'लैला–मजनूं' के रूहानी इश्क के रूप में सूफी कहानी के रूप में ही शहाबुद्दीन की जिन्दगी का अर्थ है । वरना आधुनिक दृष्टि से उसे जिन्दगी में क्या मिला।

यह तीन पीढ़ियों वाली संयुक्त परिवार की कहानी है । यह ब्रिटिश राज के दौरान या उसके बाद की कहानी है । इसमें कोई अंग्रेजीपन नहीं है । न ही इस तरह का कोई संवाद ही है । परंतु रेलवे है और वन अधिकारी है ।

साहिबजान और सलीम की प्रेम कहानी का मॉडल 'मुगले आजम' की कहानी से लिया गया है । उसका रूपांतरण किया गया है । आधुनिक और पारम्परिक शिक्षा की केवल विषय–वस्तु अलग नहीं है, इनका दृष्टिकोण और जीवन दर्शन तथा प्रेरक तत्व भी गुणात्मक रूप से भिन्न हैं। आधुनिक शिक्षा व्यक्ति को एक मशीन की तरह सक्षम और एक स्वस्थ जानवर की तरह भोगी और वीर बनाना चाहती है । इसमें ईश्वर तथा कमजोर जीवों के लिए कोई जगह नहीं है । इसमें रेशनल–लीगल के अलावा अन्य

चीजों के लिए जगह नहीं है । इसमें व्यक्तिगत लाभ–हानि के अलावा अन्य कोई प्रेरक तत्व भी नहीं है । सलीम एक आधुनिक व्यक्ति है । साहिब जान, शहाबुद्दीन आदि पारम्परिक व्यक्ति हैं ।

'पाकीजा'(1972) एक अच्छा शीर्षक है । साहिब जान एक पाक प्रेम की निशानी है । उसकी मां को निकाह के बाद ससुराल वालों ने नहीं स्वीकारा । परन्तु वह कोठे पर नहीं लौटी । वह किसी मस्जिद में भी नहीं गई । वह वक्फ बोर्ड के पास भी नहीं गई। वह कब्रिस्तान में चली गई । वहां वह नौ माह रही । कब्रिस्तान एक पाक जगह है । कब्रिस्तान में जन्म देना और जन्म लेना, वह भी नौ माह के इंतजार के बाद अपने आप में ही एक बड़ी सूफी साधना है । एक अकेली औरत के आत्म–संघर्ष की अनूठी मिसाल है । कोठा भी एक प्रकार का कब्रिस्तान ही है । कोठे पर एक पाक औरत और उसकी पाक कला को दफना कर एक जिन्दा लाश से जिस्मफरोशी करवायी जाती है । नर्गिस नापाक कोठे से, पाक कब्रिस्तान में, अपनी बेटी को जन्म देती है । फिल्म के अंत में साहिब जान को लेने न केवल सलीम की बारात आती है बल्कि शहाबुद्दीन की लाश भी लायी जाती है।

पाकीजा की नायिका साहिब जान पश्चिमी अर्थों में रंडी नहीं है । दो बार उसे बेचा जाता है लेकिन सौभाग्य से उसका शीलभंग नहीं होता है । एक बार वह सांप द्वारा बचायी जाती है और दूसरी बार हाथियों द्वारा । कोई स्त्री रंडी पैदा नहीं होती, बनायी जाती है । साहिब जान को भी रंडी बनाने का प्रयास किया जाता है । लेकिन वह सौभाग्य से न सिर्फ बचती है बल्कि वह बाइज्जत कोठे से ब्याह कर नवाबों के खानदान में अपने पिता के भतीजे से ब्याही जाती है । वह ग्लैमरस नर्तकी अवश्य है। मुजरा करती है । लेकिन कोठे की हर मुजरा करने वाली नर्तकी भी पश्चिमी अर्थों में शरीर बेचने वाली वेश्या या रंडी नहीं होती । कुछ मुजरे वालियां अपने समय की राजनर्तकियां भी हुई हैं । कुछ कोठों पर नृत्य–संगीत की शिक्षा भी होती रही है जिसमें भले घरों की लड़कियां भी सीखने आती थीं । तहजीब सिखाना भी कोठों का काम था । समकालीन दृष्टि से देखने पर कोठा एक–ब–एक रंडीखाना लगता है। लेकिन कोठा अपने समय का सिनेमाघर भी था और नगर की रंगशाला भी । हिन्दू काल में नृत्य–संगीत साधना के रूप थे और इसकी जगह मंदिरों में होती थी । लेकिन मध्यकाल में मंदिरों की सामाजिक–सांस्कृतिक भूमिका घटने लगी। फिर मध्यकालीन विदेशी शासकों ने अपने मनोरंजन के लिए कोठा सजाना शुरू किया । विदेशी शासक एवं सेना ने नृत्य–संगीत को साधना की जगह मनोरंजन एवं विलास की सामग्री बनाना शुरू किया ।

लेकिन मध्यकाल में भी नृत्य–संगीत केवल कोठे पर नहीं होता था । सूफी दरगाहों और भक्त–भक्तिनों के आश्रम से लेकर घरों के भीतर तथा गांव एवं मोहल्लों में भी नृत्य–संगीत होता था । शादी–ब्याह से लेकर दशहरा के उत्सवों तक पेशेवर नर्तकियों के सामाजिक प्रदर्शन होते थे । नर्तकियों का शोषण होता रहा है खास कर ऐसे समाज में जिसमें जनसंख्या का एक बड़ा भाग सामान्य गृहस्थ धर्म एवं विवाह संस्कार में बंधने से बचते थे ।

नृत्य एवं संगीत में निपुण नर्तकियों के पारम्परिक समाजों में वैसे ही जलवे होते थे जैसे कि आजकल की फिल्म एवं टेलीविज़न अभिनेत्रियों या मॉडलों के हुआ करते हैं । समाज में उनकी सम्पत्ति, सुख–सुविधा या विलासिता की तुलना रानियों या नवाबजादियों जैसी होती थी । उन तक पहुँचने के लिए राजकुमारों एवं नवाबों में होड़ लगी रहती थी । यह पहुंच शारीरिक संबंध बनाना हो यह आवश्यक नहीं था। वे अपने कोठे की मल्लिका होती थीं और उनके साथ बाहरी व्यक्ति जोर–जबरदस्ती नहीं कर सकता था । काफी हद तक वे स्वतंत्र अभिनेत्रियां होती थीं । आजकल की अभिनेत्रियों को निर्माता–निर्देशकों–फाइनेंसरों–वितरकों से लेकर विदेशी कार्यक्रमों के आयोजकों तक को चाहे–अनचाहे खुश रखना पड़ता है। इनकी तुलना में कोठों पर गिल्ड समाजवाद जैसी स्वतंत्रता होती थी । भोगवाद हिडोनिज्म केवल आधुनिक पूंजीवाद में नहीं पाया जाता । यह सामंतवाद और प्राचीन गणतंत्रों में भी पाया जाता था।

❑❑❑

'डोर' (2006) एक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

'डोर' (2006) नागेश कुकुनूर द्वारा लिखित एवं निर्देशित एक महत्वपूर्ण लेकिन व्यावसायिक रूप से असफल फिल्म है। वास्तव में फिल्मों की सफलता एवं असफलता के विषय में भारत के समीक्षकों में दो तरह की राय रही है। एक बड़ा वर्ग यह मानता है कि भारतीय सिनेमा के दर्शक भारतीय मतदाता की तरह अजीब तरह के मनोविज्ञान का शिकार हैं जिसे समझना आसान नहीं है। फलस्वरूप हर चुनाव विश्लेषक (सिफोलॉजिस्ट) एवं सिनेमा समीक्षक भारतीय मतदाता एवं सिनेमा दर्शकों के संभावित व्यवहार को समझ पाने में असफल रहा है। कौन–सी पार्टी जीतेगी और कौन–सी फिल्म दर्शकों की उपस्थिति की दृष्टि से सफल होगी इसका पूर्वानुमान लगाना भारी जोखिम का काम है। इस वर्ग के विद्वानों का मानना है कि यह स्थिति भारतीय मतदाता एवं भारतीय सिनेमा दर्शकों की नासमझी और सांस्कृतिक–राजनैतिक मूढ़ता की द्योतक है।

दूसरी ओर, एक छोटे से वर्ग का मानना है कि भारतीय मतदाता और भारतीय सिनेमा का दर्शक पश्चिमी अर्थों में साक्षर या शिक्षित नहीं होने के बावजूद काफी चतुर–सुजान है और उसके निर्णयों के बारे में पूर्वानुमान नहीं लगा पाने वाले चुनाव विश्लेषक एवं सिनेमा विश्लेषकों की विश्लेषण पद्धति की अपूर्णता एवं पेशेवर अनुभवहीनता का द्योतक है। वास्तव में दोनों प्रकार के दृष्टिकोण में एक प्रकार का सरलीकरण है। भारतीय सिनेमा एवं भारतीय राजनीति के स्वरूप एवं प्रकार्य को समझने का व्यवस्थित तरीका अभी अपने प्रारंभिक दौर में हैं। भारतीय सिनेमा का प्रारंभ 1913 से माना जाता है और भारत में चुनावी राजनीति का प्रारंभ 1952 से माना जाता है। लेकिन भारतीय राजनीति एवं चुनाव विश्लेषण की पद्धति राजनीति विज्ञान एवं राजनीतिक समाजशास्त्र के दायरे में हुआ है जिसका प्रारंभ 1856 के आसपास भारत में शुरू हो गया था । जबकि सिनेमा विश्लेषण का प्रारंभिक प्रयास भारत में 1950 के दशक से पहले नहीं हो पाया था । इस दृष्टि से भारत में चुनावी

राजनीति का प्रारंभ और सिनेमा विश्लेषण का प्रारंभ करीब–करीब साथ–साथ शुरू हुआ, जबकि भारत में स्वतंत्रता संग्राम का जनोन्मुखी स्वरूप तिलक महाराज के गणेश महोत्सव, बंगाल के स्वदेशी आंदोलन एवं भारतीय भाषाओं में उपन्यास लेखन की विधा के विकास के साथ–साथ शुरू हुआ्। भारत में सिनेमा का जन्म भी कमोबेश इसी के आसपास शुरू हुआ्।

भारत में विश्वविद्यालयों का जन्म अंग्रेजी राज के सक्रिय प्रयास या अप्रत्यक्ष सहयोग के फलस्वरूप हुआ। विश्वविद्यालयी विमर्शों में पश्चिम के शास्त्रों एवं सिद्धान्तों का प्रभाव आज तक बना हुआ है जबकि भारतीय सिनेमा की मुख्यधारा में भारतीय लोक संस्कृति एवं लोक परंपराओं का प्रभाव प्रारंभ से ही प्रमुख रहा है। इसमें संदेह नहीं कि सिनेमा की तकनीक एवं इसके यांत्रिक उपकरण पश्चिम से ही आए हैं लेकिन इसके माध्यम से जो कथा कही जाती है और जो उसकी शैली एवं संस्कार रही है वह यूरोपीय या अमेरिकी सिनेमा से बहुत कम प्रभावित रहा है। जबकि भारतीय सिनेमा के ज्यादातर समीक्षक यूरोपीय या अमेरिकी सिनेमा के दर्शक रहे हैं या पश्चिमी सिनेमा विश्लेषण पद्धति एवं मानदंडों के कायल रहे हैं। फलस्वरूप भारतीय दर्शकों एवं भारतीय समीक्षकों की दृष्टि में अक्सर अंतर्विरोध देखने को मिलता है। भारतीय समीक्षक जिन फिल्मों की तारीफ करते नहीं अघाते वे फिल्में सिनेमा दर्शकों द्वारा अक्सर नकार दी जाती हैं या पूरी तरह अपरिचित रह जाती हैं। कुछ महत्वपूर्ण अपवादों को छोड़कर भारतीय सिनेमा की मुख्यधारा पारंपरिक मूल्यबोध से सिंचित कही जा सकती है जबकि भारतीय सिनेमा के समीक्षकों का मूल्यबोध आधुनिक या उत्तरआधुनिक रहा है। उपरोक्त अंतर्विरोध को समझने के लिए हम लोग फिल्म 'डोर' को एक 'टेस्ट केस' या अकादमिक उदाहरण के रूप में ले सकते हैं।

समीक्षकों ने इसे एक गंभीर फिल्म माना है। नागेश कुकुनूर की पहचान एक बुद्धिजीवी फिल्मकार की मानी जाती है। 'हैदराबाद ब्लूज'(1998), 'रॉकफोर्ड' (1999), 'बॉलीवुड कॉलिंग' (2001), 'तीन दीवारें'(2003), 'इकबाल' (2005) और 'डोर'(2006) उनकी महत्वपूर्ण कृतियां हैं । अनुराग बसु ने उन्हें अपने जैसे मध्यमार्गी सिनेमा के प्रयोगधर्मी फिल्मकारों का प्रेरणा पुरुष माना है। वे क्रॉसओवर सिनेमा के भी महत्वपूर्ण फिल्मकार माने जाते हैं । उनकी फिल्में (इकबाल को छोड़कर) मूलत: अंग्रेजीदां लोगों, प्रवासी भारतीयों और मल्टीप्लेक्स दर्शकों के बीच लोकप्रिय हैं। इकबाल से उन्होंने मुख्यधारा के सिनेमा में छोटे बजट की साफ–सुथरी फिल्मों के जेनर में प्रवेश किया था। 'डोर' इस शृंखला की दूसरी फिल्म है। नागेश कुकुनूर को फिल्म निर्माण या निर्देशन का प्रशिक्षण नहीं मिला है

और वह उस्ताद–शागिर्द परंपरा में दीक्षित व्यक्ति भी नहीं हैं। मुंबई या हैदराबाद के आम फिल्मकारों की तरह उनको सफलता के लिए संघर्ष भी नहीं करना पड़ा । अमेरिका का अपना सफल पेशा छोड़कर वे एक हैंडी कैमरा लेकर आए और अंग्रेजीदां भारतीय एवं प्रवासी दर्शकों के बीच उसी तरह छा गए जिस तरह रामगोपाल वर्मा 1990 के दर्शकों पर अपनी प्रयोगधर्मी अनुभवहीनता के नयेपन से छा गए थे । आदित्य चोपड़ा, करण जौहर या सूरज बड़जात्या फिल्मी परिवारों से आए हैं । इन लोगों ने अपनी शुरूआत सहायक निर्देशक के रूप में अनुभव प्राप्त करने के बाद की थी। रामगोपाल वर्मा और नागेश कुकुनूर ने एक नई मिसाल कायम की। इन्होंने न तो विधिवत प्रशिक्षण प्राप्त किया और न सहायक निर्देशक के रूप में शागिर्दी की और न ही सुभाष घई, राकेश रोशन या आशुतोष गोवरीकर की तरह असफल अभिनेता से सफल निर्देशक बनने की यात्रा पूरी की।

इन लोगों ने फिल्म निर्माण को अपने व्यक्तिगत अनुभवों की अभिव्यक्ति से जोड़ा। महेश भट्ट इस तरह के फिल्म निर्माण की शुरूआत कर चुके थे। लेकिन एक तो महेश भट्ट नानू भाई भट्ट के बेटे थे, दूसरे वे राजखोसला जैसे बड़े फिल्मकार के शागिर्द रह चुके थे। फिर उन्होंने 1974 (मंजिलें और भी हैं) से 1980 (अभिमन्यु) तक 5 असफल फिल्मों का अनुभव प्राप्त करने के बाद अर्थ (1982) से आत्मकथात्मक फिल्मों की श्रृंखला शुरू की जिसमें उन्हें संतुलित बजट, चुस्त कथानक एवं पेशेवर दक्षता के कारण सफलता मिलती गई। लेकिन रामगोपाल वर्मा एवं नागेश कुकुनूर की यात्रा एक अलग प्रकार की यात्रा रही है। यह महज संयोग नहीं है कि दोनों का संबंध हैदराबाद या आंध्र की फिल्मी संस्कृति से है। आंध्र प्रदेश की फिल्म संस्कृति मद्रास प्रेसिडेंसी से अलग होने के बाद आज भी अपनी पहचान के बारे में उस तरह सुस्पष्ट सीमा रेखा में नहीं बंध पायी जिस तरह तमिलनाडु, केरल या कर्नाटक की संस्कृति हो पायी है । फलस्वरूप इनका सिनेमा एवं इनकी राजनीति की कुछ ऐसी विशेषता है जो न तो तमिलनाडु से मिलती है और न कर्नाटक या केरल से और न उत्तर भारतीय संस्कृति या मुंबइया सिनेमा से । फलस्वरूप रामगोपाल वर्मा, नागेश कुकुनूर हों या के. राघवेन्द्रराव, के. बप्पय्या स्कूल से जुड़े फिल्मकार ये लोग अपनी फिल्मों में एक अजीब घालमेल करते हैं । तमिल, मलयालम या बंगाली फिल्मों की मुख्यधारा के फिल्मकारों की तुलना में तेलगु सिनेमा एवं संस्कृति से जुड़े अधिकांश फिल्मकार कई मामलों में मुंबईया सिनेमा की तरह ''थाली'' परोसते हैं परंतु इनकी थाली के भोजन (कथानक) में मुंबईया सिनेमा की तरह एक पैटर्न या कैनन (विचारधारा या सैद्धांतिक रुझान) की जगह प्रयोगधर्मिता के नाम पर प्रयोगधर्मिता की खिचड़ी (घालमेल) होती है जिसका स्वाद लग जाने पर आप इसके

रस में डूब सकते हैं परंतु अगर आपने अपने आँख, कान और मस्तिष्क को खुला रखा और आपकी सांस्कृतिक स्मृति का लोप नहीं हुआ है तो आपको इनकी फिल्में देखने–समझने–समझाने में दिक्कत हो सकती है। नागेश कुकुनूर की डोर इस दृष्टि से विचार करने के लिए एक महत्वपूर्ण फिल्म है।

मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सामाजिक व्यवस्था अध्ययन केन्द्र में सिनेमा से संबंधित दो कोर्स पढ़ाता हूँ। एक कोर्स का नाम है, सिनेमा एडं कल्चर इन इंडिया। यह एम.ए. समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए एक वैकल्पिक कोर्स है। एक दूसरा एम.फिल. समाजशास्त्र के लिए वैकल्पिक कोर्स है जिसमें फिल्म टेक्स्ट (पाठ) का सभ्यतामूलक विमर्श किया जाता है। नागेश कुकुनूर की 'इकबाल'(2005) और 'डोर' (2006) को मैंने अपने विद्यार्थियों के साथ तथा कुछ अन्य सिनेमा प्रेमियों के साथ कई बार तुलनात्मक दृष्टि से देखा है। ज्यादातर दर्शकों ने 'इकबाल' को हर दृष्टि से एक उत्कृष्ट फिल्म माना है। इसे व्यावसायिक सफलता भी मिली थी और अन्य समीक्षकों ने भी सराहा है। दरअसल 'हैदराबाद ब्लूज'(1998) से 'इकबाल'(2005) तक नागेश कुकनूर की फिल्मों को आप समानांतर सिनेमा या न्यू वेव फिल्मों की परंपरा में, यथार्थवादी या छन्द यथार्थवादी फिल्मों की परंपरा में, रख सकते हैं। इन फिल्मों का कैनवास छोटा है। ये फिल्में या तो नागेश कुकुनूर के व्यक्तिगत अनुभवों से प्रेरित हैं या एक दर्शक के रूप में उनके सिनेमायी अनुभव से प्रेरित हैं। लेकिन 'डोर' (2006) एक व्यावसायिक फिल्म है जिसका कैनवास काफी बड़ा है। इसकी कहानी काश्मीर के एक गांव (जिसे फिल्म के पाठ में हिमाचल प्रदेश कहा गया है लेकिन डी.वी.डी. के कवर पर काश्मीरी गांव कहा गया है), राजस्थान के जोधपुर जिले का राजस्थानी इलाके के अग्निवंशी राजपूतों की एक हवेली और भारत सरकार के विदेश विभाग तथा प्रवासी भारतीय कानून से लेकर सऊदी अरब की कानूनी व्यवस्था तक इतने बड़े कैनवास पर फैला दिया गया है जिसे सिनेमाई भाषा में प्रस्तुत करने के लिए कुरोसावा, सत्यजित रे, बिमल रॉय, गुरूदत्त, शांताराम या एस.एस. वासन जैसी प्रतिभा चाहिए या पटकथा और संवाद लेखकों की प्रतिभाशाली टीम चाहिए थी। लेकिन हाल के दिनों में पटकथा, कथा या संवाद लेखकों को सामान्यत: वह महत्व नहीं दिया जाता जितना मुखराम शर्मा, नबेन्दु घोष, ख्वाजा अहमद अब्बास, रामानंद सागर, सचिन भौमिक या सलीम जावेद के जमाने में दिया जाता था। फलस्वरूप नागेश कुकुनूर कई जगह भटके हैं, कई बड़ी गलतियां कर गए हैं। आर्ट सिनेमा से व्यावसायिक सिनेमा की यात्रा सामान्यत: उतनी ही दुरूह होती है जितनी थियेटर से सिनेमा की यात्रा दुरूह होती है। जिस तरह 'आग', 'बरसात', 'श्री 420', 'जागते रहो' और 'बूट पॉलिस' बनाने वाले राजकपूर ने 'बॉबी',

'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' और 'राम तेरी गंगा मैली' बनाकर धन वसूलना चाहा था चूंकि 'मेरा नाम जोकर' (1970) की असफलता से वे असंतुलित हो गए थे उसी तरह नागेश कुकुनूर भी प्रायोगिक सिनेमा बनाते–बनाते शायद थक गए थे और ''जड़ और जमीन से उखड़े'' दर्शकों के सामने मनमोहन देसाई और डेविड धवन मार्का स्टाइल में उन्होंने एक गंभीर धार्मिक–कानूनी–सभ्यतामूलक कथानक को ''चूं.चूं का मुरब्बा'' या ''उत्तर भारतीय थाली'' के रूप में पेश करने का दु:साहस किया। दुर्भाग्य से दर्शकों ने फिल्म को बुरी तरह नकार दिया और नागेश कुकुनूर के समर्थकों को भारतीय दर्शकों की समझ पर तरस आने लगा।

कुछ अंग्रेजी समीक्षकों ने इसे चार सितारा दिया है। यानि अतिश्रेष्ठ श्रेणी की फिल्म मानी गई है। इसको जेनर ड्रामा माना गया है। गुल पनाग, आएशा टाकिया और श्रेयस तलपदे के साथ गिरीश कर्नाड, सुरेखा सिकरी के अभिनय में उत्कृष्टता और गहराई है। केवल अभिनय, फोटोग्राफी एवं नयनाभिराम चाक्षुष दृश्य की दृष्टि से 'डोर' एक मनोरंजक फिल्म है। लेकिन इसके कथानक में सांस्कृतिक उलझन एवं अक्षम्य सरलीकरण है। यदि भारतीय दर्शकों ने इसे असफल बनाया तो यह भारतीय दर्शकों की वयस्कता एवं संतुलित दृष्टि की मिसाल है। भारतीय दर्शक एवं भारतीय मतदाता बहुत चतुर सुजान है। वह माइंडलेस कॉमेडी (फूहड़ हास्य) और अविश्वसनीय एक्शन ड्रामा को तो बर्दाश्त कर लेता है लेकिन गैर ईमानदार प्रस्तुतीकरण और अविश्वसनीय कथा को नहीं पचा पाता । खासकर तब अगर वह तथाकथित बुद्धिजीवियों द्वारा प्रस्तुत की गई हो। इसी दृष्टि से 'डोर' की व्यावसायिक असफलता और बुद्धिजीवियों की अनुकूल समीक्षा पर विचार करना आवश्यक है।

'डोर' में दो कहानी साथ–साथ चलती हैं। एक कहानी हिमालय की तराई में बसे एक मुस्लिम कस्बे की है और दूसरी कहानी राजस्थानी रेगिस्तान के जोधपुर नगर के राजपूती मुहल्ले में बसे अग्नि वंशी राजपूत परिवार की हवेली की। सिनेमाई संयोग के तहत हिमालयी तराई के मुस्लिम कस्बे का एक युवक आमिर और जोधपुर के अग्नि वंशीय राजपूत हवेली का बड़ा बेटा शंकर सऊदी अरब में नौकरी के लिए जाते हैं और एक ही कमरे में रहते हैं। एक दिन दोनों में किसी बात पर झगड़ा होता है और आमिर के धक्का देने से शंकर की मृत्यु हो जाती है। सऊदी कानून के अनुसार आमिर को मृत्युदंड की सजा हो जाती है। दो माह बाद उसे फांसी लगने वाली है। यह खबर विदेश विभाग का एक आला अफसर छुट्टी लेकर आमिर के परिवार वालों को खुद बताने जाता है । वह कहता है कि सामान्यतया इस तरह की सूचना स्थानीय पुलिस दिया करती है। लेकिन वह खुद छुट्टी लेकर यह बतलाने आया है। वह यह भी

बतलाता है कि आमिर को बचाने का एक ही उपाय है अगर शंकर की पत्नी माफीनामे पर दस्तखत कर दे तो सऊदी कानून के अनुसार आमिर बच सकता है। वह माफीनामे का कागज आमिर की बीवी जीनत को देता है। जीनत पूछती है कि शंकर की पत्नी कहां मिलेगी तो वह अफसर केवल इतना बतलाता है कि उसके पास इसके बारे में केवल यही सूचना है कि शंकर राजस्थान का निवासी था। जीनत केवल इतनी सूचना पाकर अल्लाह के भरोसे शंकर की बेवा (विधवा) से माफीनामे पर दस्तखत करवाने अकेले निकल पड़ती है। उसके साथ न तो आमिर के माता–पिता जाते हैं और न ही जीनत के अभिभावक जाते हैं। विपरीत परिस्थितियां झेलते–झेलते वह किसी तरह शंकर के परिवार तक पहुंच जाती है। रास्ते में उसे एक बहुरूपिया (श्रेयस तलपदे) मिलता है जो शुरू में तो उसका बैग चुरा लेता है लेकिन बाद में वह कदम–कदम पर उसकी रक्षा करता है और उससे प्यार करने लगता है। थोड़ी देर के लिए लगता है कि राजकपूर और नरगिस की 'चोरी–चोरी' या पूजा भट्ट और आमिर खान की 'दिल है कि मानता नहीं' या करीना कपूर और शाहिद कपूर की 'जब वी मेट' की कहानी की तरह जीनत और बहुरूपिया एक–दूसरे के प्रति इतना आकर्षित हो जाएंगे कि जीनत अपने असंभव लक्ष्य को भूल कर संभव और स्वाभाविक रिश्ते को स्वीकार लेगी। बहुरूपिया एक नहीं तीन बार कहता है कि वह उसे प्यार करता है। जीनत भी इस सच्चाई से वाकिफ है। लेकिन उसे अल्लाह मियां की दया पर अटूट आस्था है। और अंत में वह अपने असंभव लक्ष्य की प्राप्ति कर लेती है।

इस तरह यह जीनत और अल्लाह मियां के बीच के रूहानी डोर की कहानी है। लेकिन इस रूहानी डोर की कहानी में कई बातें अविश्वसनीय एवं अवास्तविक हैं। पहली तो यह कि विदेश विभाग का जो आला अफसर खुद छुट्टी लेकर आता है (बढ़–चढ़कर मदद करना चाहता है) उसे शंकर के बारे में पूरा पता मालूम नहीं है जबकि विदेश जाने वाले हर व्यक्ति के पासपोर्ट और वीजा में पूरी सूचना दर्ज होती है। दूसरा माफीनामे पर दस्तखत करवाना एक कानूनी प्रक्रिया है उसे उस तरह जीनत को देना एक कानूनी खिलवाड़ है। जिस रूप में मीरा (शंकर की पत्नी) जीनत को माफीनामा देती है उसकी कानूनी वैधता का सवाल लेखक–निर्देशक गोल कर जाता है । वास्तव में इस माफीनामे पर गवाह वह भी सरकारी का होना आवश्यक है। परन्तु यही नहीं अनेक मामलों में लेखक–निर्देशक को न कानूनी बारीकी से मतलब है और न सांस्कृतिक–धार्मिक मामलों की बारीकी से सरोकार है। जीनत और आमिर के निकाह के वक्त न कोई काजी है और न गवाह। इस्लाम के मामूली जानकार भी जानते हैं कि निकाह को वैध तभी माना जाता है जब दो पुरुष या स्त्रियां निकाह की प्रक्रिया के गवाह हों।

दूसरी कहानी में शंकर और मीरा (आएशा टाकिया) शुरू से विवाहित हैं। बड़ी हवेली में रहने वाला परिवार कर्ज में डूबा हुआ है। कर्ज से मुक्त होने के लिए शंकर सऊदी अरब में नौकरी करने जाता है। जोधपुर में सुपर फास्ट ट्रेन का स्टेशन है लेकिन एक भी टेलीफोन बूथ नहीं है। मीरा शंकर से एक व्यक्ति के मोबाइल फोन से बात किया करती है। शंकर पोस्टऑफिस से पैसा भेजता है। दूसरी ओर हिमालय की तराई में ट्रेन या बस की भी ठीक से सुविधा नहीं है। जीनत ट्रक में सफर करती है लेकिन टेलीफोन बूथ है। समझ में नहीं आता कि इन तकनीकी बारीकियों के द्वारा लेखक–निर्देशक क्या हासिल करना चाहता है। खैर, बहुरूपिया की मदद से जीनत शंकर के परिवार से माफीनामे पर दस्तखत करवाने में नाकाम होने पर झूठ और फरेब का सहारा लेती है। वह अपने मिशन में हर कीमत पर सफल होना चाहती है। पहली बार उसने शंकर के माता–पिता, भाई और दादी को सच बतलाया तो उन लोगों ने बुरा–भला कहा । जीनत उनके गुस्से को जायज मानती है। लेकिन फिर भी वह शंकर की बेवा से मिलना चाहती है। मीरा उस वक्त घर में ही काम कर रही थी। उसने घर वालों को किसी पर चीखते–चिल्लाते सुना भी । परन्तु पूरा माजरा उसे समझ में नहीं आया। किसी ने न तो उसे बतलाया और न उसने पूछा। इसमें एक प्रकार की अस्वभाविकता है । परन्तु लेखक–निर्देशक को कहानी बढ़ानी थी।

बहुरूपिया की मदद से जीनत को पता चलता है कि मीरा दिन में एक बार घर से बाहर निकलती है। वह प्रतिदिन अकेले या एक छोटी स्कूल जाने वाली लड़की के साथ मंदिर आती–जाती है । वह लड़की एक अनाथ है जिसे शंकर कुआँ से घर लाया था । बाद में शंकर के घर काम करने वाले व्यक्ति ने उसे गोद ले लिया। जीनत मीरा से मंदिर में मिलती है । अपनी पहचान छिपाती है। उसने कहा कि उसका पति आमिर यहीं कहीं है। उसका नाम जीनत है। वह हिमाचल प्रदेश के एक गांव या मुहल्ले से आयी है। जगह का नाम उसने नहीं बतलाया। दर्शकों को यह अंत तक पता नहीं चलता कि वह वास्तव में हिमाचल की है या काश्मीर के किसी हिस्से की है।

हिमाचल में मुस्लिम मुहल्ला न के बराबर है। हिमाचल एक हिन्दू–बहुल प्रदेश है। ऐसी जगहों के मुस्लिम मुहल्ले की लड़कियां या औरतें पराये मर्दों के सामने पर्दा करती हैं। काले रंग के बुर्का में बाहर निकलती हैं। लेकिन उस मुहल्ले में जीनत या किसी अन्य मुस्लिम महिला को बुर्का पहने या पर्दा करते नहीं दिखलाया गया है। जीनत जब अपने मुहल्ले से राजस्थान की यात्रा पर अकेले निकलती है तो उसे एक सिख ट्रक ड्राइवर ने लिफ्ट दी थी । विदाई के वक्त उसने जीनत को 'सत श्री अकाल' कहा लेकिन जीनत ने उसे सत श्री अकाल नहीं कह कर सलाम किया। लेकिन जब वह

मीरा और स्कूल की लड़की से मिलती है तो 'सलाम वालेकुम' बोलती है और उस छोटी लड़की को 'वालेकुम सलाम' बोलना सिखलाती है। दर्शक अचंभित है कि वास्तव में जीनत एक सामान्य मुस्लिम स्त्री की प्रतीक है या वह वहाबी आंदोलन की मिशनरी का प्रतिनिधित्व करती है। क्या 11 सितंबर 2001 के बाद इस्लाम की अमेरिकी परिस्थिति में जो तस्वीर बनी है उसमें इस फिल्म में एक अमेरिकी पृष्ठभूमि का हिन्दू फिल्मकार जान–बूझ कर इस्लाम की गलत तस्वीर पेश करके हिन्दू–मुस्लिम खाई दिखलाना चाह रहा है? या भारत के हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति से अनजान एक अनाड़ी फिल्मकार विदेशों में बसे भारतीय मूल के दर्शकों और विदेशी शौकीनों को पैसा बनाने के लिए एक बिना सिर–पैर की भावुक कहानी दिखलाने की कोशिश कर रहा है । जो भी हो, मीरा जीनत की बातों पर विश्वास कर लेती है और अनुमान लगाती है कि जीनत का पति आमिर उसके घर किराये पर रहने वाले चोपड़ा जी की कन्स्ट्रक्शन कंपनी में काम करता होगा । वह जीनत से वादा करती है कि वह उसके पति का पता लगायेगी। रात को वह चोपड़ा जी (नागेश कुकुनूर) का अकेले दरवाजा खटखटाती है और आमिर का फोटोग्राफ दिखलाकर पूछती है कि क्या वह उसकी कंपनी में काम करता है।

चोपड़ा जी को मीरा की जवानी और सुन्दरता देखकर मन में वासना उठती है। वह मीरा को तो कुछ नहीं कहता लेकिन दूसरे दिन सुबह उसके ससुर (गिरीश कर्नाड) के पास प्रस्ताव रखता है कि अगर वह मीरा को रखैल बनाने की इजाजत देता है तो वह उसे पांच लाख रुपये देगा और जब जाने लगेगा तो मीरा को छोड़कर जाएगा। किसी बाहर वाले को पता भी नहीं चलेगा और इस परिवार का कर्ज भी चुक जाएगा, हवेली भी नहीं बिकेगी और 2 लाख रुपये का मुनाफा भी होगा। दर्शक सन्न रह जाता है। राजस्थान के राजपूत वह भी अग्निवंशी राजपूत अपनी आन–बान और इज्जत के लिए जान की बाजी लगाने वाले जाबाज रहे हैं। यहां की औरतों ने अपनी इज्जत बचाने के लिए जौहर किया है। यहां आज भी सती प्रथा की सही या गलत रीति कायम है। रूप कुंअर की सती बनने या बनाने के किस्से की याद आज भी ताजी है। दर्शकों को लगता है कि गिरीश कर्नाड गुस्से से चोपड़ा का खून कर देगा । चोपड़ा की भूमिका लेखक–निर्देशक ने खुद निभायी है। अत: उपरोक्त संवाद के बाद वेश्याओं के अनुभवी दलाल की तरह गिरीश कर्नाड के बर्ताव को देखकर दर्शकों का मन कसैला हो जाता है। आश्चर्य इस बात का है कि जिस राजपूत महासंघ ने 'जोधा अकबर' जैसी ऐतिहासिक रूप से ईमानदार और कलात्मक फिल्म पर बेतुका हंगामा किया उसने 'डोर' के उपरोक्त सीन पर क्यों बवाल नहीं मचाया या सेंसर बोर्ड ने इसमें काट–छांट की क्यों मांग नहीं की?

हिन्दू विधवा सामान्यत: उजला वस्त्र पहनती हैं लेकिन मीरा और शंकर की दादी गहरे नीले वस्त्र पहने रहती हैं। जीनत कभी पर्दा नहीं करती लेकिन मीरा हमेशा पर्दा करती है। तब भी जब शंकर जिंदा था और तब भी जब वह विधवा हो गई। इन दृश्यों में लेखक–निर्देशक की चूक या सांस्कृतिक–मूढ़ता अखरती है। खैर, जब दो महीने बीतने को हैं तो बहुरूपिया का धैर्य जवाब देने लगता है। दो माह तक वह जीनत की छाया बन कर उसे पाने की चाह में साथ लगा रहता है। लेकिन जब जीनत मीरा से अपनी असलियत बतलाती है तो मीरा नाराज होती है। वह कहती है कि तुम्हारे कुरान के अनुसार भी आँख के बदले आँख और हत्या के बदले हत्या का न्याय है। जीनत दलील देती है कि इसी कुरान के अनुसार माफ करने वाला दंड देने वाले से बड़ा होता है। मीरा माफीनामे पर दस्तखत करने को राजी नहीं होती। माफीनामा वाला कागज मंदिर के पास फेंक देती है।

जीनत निराश होकर वापस लौट रही है। लेकिन तब भी वह बहुरूपिया का प्रस्ताव नहीं स्वीकारती। इस्लाम में तलाक और पुनर्विवाह की कानूनी इजाजत है। इस्लामी कानून के अनुसार आमिर एक कातिल है। जिसकी सऊदी कानून के अनुसार सजा मौत है। जीनत के इस भोले विश्वास के अलावा कि मेरा आमिर कातिल नहीं हो सकता। आमिर को माफी मिलने का कोई कानूनी या नैतिक तर्क नहीं है। लेकिन घर पहुंचने के बाद मीरा पुनर्विचार करती है और इंसानियत के नाम पर माफीनामे पर दस्तखत करने के लिए राजी हो जाती है। जीनत ने डेढ़–दो महीने तक मीरा को स्वतंत्रता और मनपसंद जिन्दगी जीने का स्त्रीवादी पाठ पढ़ाया था। यह स्पष्ट नहीं है कि मीरा ने यह सब खुद कहां से सीखा। राजस्थान के रेगिस्तान में देर शाम आंधियां उठती हैं । लेकिन कई घंटों के बाद भी माफीनामा मंदिर के पास ही उसी स्थान पर गिरा मिलता है, उड़ता नहीं है। क्या संयोग है। खैर, मीरा ट्रेन खुलने से पहले माफीनामा जीनत को वापिस देती है। ट्रेन खुल जाती है। ट्रेन खुलने के बाद जीनत अपना हाथ बढ़ाती है और मीरा चलती ट्रेन में दौड़कर चढ़ती है। वह जीनत का हाथ पकड़ कर अपनी कुल परंपरा ससुराल और मायका एक झटके में भूल जाती है। यह भी मनोरंजक है कि विधवा होने के बाद एकबार भी उसके मायके से कोई नहीं आता। फिल्म खत्म होने से पहले बहुरूपिया भी उसी ट्रेन में सफर करता दिखता है। जीनत को तो अब आमिर मिल जाएगा। मीरा का क्या होगा? क्या जीनत मीरा और बहुरूपिया का अरेंज्ड मैरिज करायगी या मीरा जीनत के साथ उसकी सहेली बनकर रहेगी? यह सोचना आपका काम है। फिल्म पूरी हो गई। निखत आजमी जैसे समीक्षकों ने टाइम्स ऑफ इंडिया में इसे चार सितारा प्रदान कर एक अद्भुत दर्शनीय फिल्म कह दिया। दर्शकों ने इसे नकार दिया तो यह उनकी पारंपरिक मूढ़ता है। नागेश

कुकुनूर तो एक बड़े फिल्मकार हैं उनकी फिल्म तो महान कला है। आपके पास सुरुचिपूर्ण फिल्म देखने के लिए डोर का क्या विकल्प है?

इसी तरह की ''विद्वतापूर्ण'' भाषा चंद्रबाबू नायडू और प्रमोद महाजन 2004 के लोकसभा चुनाव से पहले बोला करते थे – देयर इज नो आल्टरनेटिव ऑफ एन.डी.ए. (टीना फैक्टर) लेकिन 2004 के लोकसभा चुनाव और बाद में आंध्रप्रदेश विधानसभा के चुनाव में प्रमोद महाजन और चंद्रबाबू नायडू की हेकड़ी निकल गई। नागेश कुकुनूर की भी इसी तरह हेकड़ी निकल गई। आदित्य चोपड़ा को भी जब गुरूर हो गया कि यशराज की हर फिल्म देखना जनता की मजबूरी है तो उनकी फिल्में लगातार असफल होने लगीं।

सिनेमा एक औद्योगिक कला है। सांस्कृतिक उत्पाद है। दर्शक काफी समझदारी से अपनी प्रिय फिल्मों का चुनाव करते हैं । विकल्पों का अभाव नहीं है। टेलीविजन के चैनलों से लेकर मल्टीप्लेक्स तक विकल्पों की श्रृंखला में दर्शक एक अच्छी और मनोरंजक फिल्म देखना चाहता है। आज का दर्शक बड़े स्टार या नामी निर्देशक के नाम से अभिभूत नहीं होता। उसे एक अच्छी फिल्म चाहिए। गंभीर विषय भर उठाना काफी नहीं है, ईमानदारीपूर्वक उसको विश्वसनीय बनाना भी आवश्यक है। 'इकबाल'(2005) की सफलता के गुरूर में नागेश कुकुनूर ने अपना रचनात्मक संतुलन खो दिया और फिल्म सजीव अभिनय, निर्देशकीय कौशल और मनभावन दृश्यों के बावजूद बॉक्स ऑफ़िस पर असफल साबित हुई। अब इसमें दर्शकों को दोष देना कितना जायज है? पश्चिमी प्राच्यविदों ने परिवर्तनहीन भारत की एक नकारात्मक तस्वीर निर्मित की है जिसमें भारत की संस्कृति और परम्परा में सब कुछ नकारात्मक है, जैसे जाति व्यवस्था और छुआछूत, संयुक्त परिवार, विवाह संस्कार के साथ विधवाओं के साथ अमानवीय व्यवहार । ऐसा नहीं है कि भारतीय समाज में कुरीतियां नहीं रही हैं। लेकिन रीतियों की तरह कुरीतियां भी सार्वभौमिक न होकर स्थानीय होती हैं। उनमें देश, काल, परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। यह हिन्दू धर्म के लिए जितना सही है उतना ही इस्लाम धर्म के लिए भी सही है। आधुनिकता हो या परम्परा कमी हर व्यवस्था, हर समुदाय, हर सम्प्रदाय में होती है। एक ईमानदार फिल्मकार हर समुदाय की संतुलित एवं कलात्मक प्रस्तुति करता है। लेकिन पश्चिमी आधुनिकता के अतिवादी समर्थक 11 सितंबर 2001 के बाद इस्लामिक पात्रों को या तो आतंकवादी के रूप में पेश करते हैं या अतिआधुनिक नारीवादी के रूप में। इनकी नजर में हाड़–मांस का जीता–जागता धार्मिक–आस्थावान मुसलमान पुरुष या स्त्री की प्रस्तुति संभव ही नहीं है। ठीक उसी प्रकार

एक विधवा की गरिमामयी उपस्थिति भारतीय इतिहास एवं मिथकों में सत्यवती और कुंती से लेकर जीजाबाई और इंदिरा गांधी तक भरे पड़े हैं लेकिन प्राच्यवादी विचारधारा ऐसे तथ्यों को नजरअंदाज करती रही है। भारतीय समाज के तल में कुछ चिरंतन मूल्य हैं, सतह पर परिवर्तन की लहरें हिलोरे ले रही हैं और इन सिरों के तनाव को साधने से ही आज का भारत समझ आ सकता है । चिरंतन मूल्यों के इर्दगिर्द छाई हुई तर्कहीन मनगढ़ंत किंवदंतियों और कुरीतियों से मुक्त होते हुए परिवर्तन के लिए बेकरार भारत को फार्मूला समझने की गलती फिल्मकार कर रहे हैं और उसे भीड़ तथा वोटबैंक समझने की गलती नेता कर रहे हैं।

❑❑❑

'आनंद' (1970) ऋषिकेश मुखर्जी

यह हिन्दी सिनेमा की सबसे उत्तम रचनाओं में से एक है। यह मुंबई शहर और राजकपूर को समर्पित है। मुंबई शहर भारत का सर्वोत्तम महानगर है जिसमें पूरे भारत के लोग रहते हैं, वह भी शांतिपूर्वक। यह 1966 में शुरू हुई शिवसेना की राजनीति का प्रतिलोम है । आनंद सहगल पंजाबी है, भास्कर बनर्जी बंगाली है, प्रताप कुलकर्णी मराठी है, मुरारीलाल और उसकी नाटक मंडली की नायिका गुजराती है, पहलवान दारा सिंह और नौकर रामू काका उत्तर भारतीय हैं। मैट्रन डीसा गोवा की हैं। ऋषिकेश मुखर्जी की फिल्मों में खलनायक या खलनायिका नहीं होते । यह फिल्म एक ठेठ भारतीय फिल्म है जिसमें आनंद सहगल का जिंदादिल चरित्र राजकपूर के व्यक्तित्व से प्रभावित है। राजकपूर वास्तविक जीवन में ऋषिकेश मुखर्जी को बाबू मोशाय ही कहा करते थे । दोनों 1959 से घनिष्ठ मित्र थे। हिन्दी की अधिकांश फिल्मों में ऐलोपैथिक डाक्टर को नायकत्व दिया गया है। मुखर्जी की फिल्म अनुराधा का नायक एक ऐलोपैथिक डाक्टर है । इस फिल्म में एक रोगी नायक है, और होमियोपैथी, मौनी बाबा, सिद्ध पीठ आदि की भी सकारात्मक प्रस्तुति है । फिल्म 'आंधी'(1975) की तरह इस फिल्म के संवाद भी काव्यात्मक हैं । 'आंधी'(1975) की तुलना में इसमें कम गीत हैं – तीन गीत + एक कविता। फिल्म का हर दृश्य और हर संवाद अर्थपूर्ण है । यह भारतीय संस्कृति के बहुआयामी स्वरूप को सम्पूर्णता में प्रस्तुत करता है । यह ट्रेजडी होते हुए भी ट्रेजडी नहीं है। यह कॉमेडी भी नहीं है। इसमें हर तरह के रस मिले हुए हैं । इसमें बौद्ध दर्शन और वैष्णव भक्ति का मिला–जुला रूप है। इसमें हर क्षण को आनंदमय बनाने का बौद्ध दर्शन है। इसमें संसार एक दिव्य लीला है । इसमें ईसाई (मैट्रन डीसा) और मुस्लिम (ईषा भाई सूरत वाला) पात्र भी हैं। प्रारंभ में भास्कर बनर्जी नास्तिक है लेकिन आनंद सहगल के सोहबत में वह आस्तिक हो जाता है। मौनी बाबा और आनंद सहगल पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। आनंद के प्यार में मैट्रन डीसा भी पुनर्जन्म के विश्वास का अनादर नहीं करती। ईषाभाई भी स्वर्ग में

मिलने की बात करता है ।

इसमें दोस्ती की गरिमा है। मौत पर जिन्दगी की जीत है। इसमें पारंपरिक अखाड़ा है। अखाड़ों की स्थापना 8वीं शताब्दी में आदि शंकराचार्य ने की थी । इसका लक्ष्य हिन्दू समाज की रक्षा के लिए क्षात्र तेज से दीप्त संन्यासियों को संगठित करना था। ये दसनामी सम्प्रदाय कहलाते हैं। दसनामी सम्प्रदाय के इन अखाड़ों के प्रभाव में भारत के भिन्न–भिन्न इलाकों में 8वीं शताब्दी से ही अखाड़े बने हैं। ये लोग सामान्यतया बजरंगबली की पूजा करते हैं और कुश्ती लड़ते हैं, व्यायाम करते हैं, प्राकृतिक चिकित्सा से कई तरह के रोगों का उपचार करते हैं और समाज में सुरक्षा और व्यवस्था कायम रखने में अपनी भूमिका निभाते हैं। जब आनंद को पता चलता है कि डाक्टर भास्कर बनर्जी की प्रेमिका रेणु को मुहल्ले के शोहदे तंग करते हैं तो वह पास के अखाड़े के गुरू के पास फरियाद लेकर जाता है और गुरू शोहदों को डांट – डपट कर भगा देता है। इसके बाद शोहदे डर कर तंग करना छोड़ देते हैं।

इस फिल्म में मुंबई (बम्बई) केवल मराठियों का शहर न होकर सम्पूर्ण भारत का महानगर है जिसमें भारत के भिन्न–भिन्न इलाकों के लोग शांतिपूर्वक एक–दूसरे के साथ मिल–जुल कर रहते हैं । 1966 में शुरू हुई शिवसेना की संकुचित राजनीति का यह फिल्म बड़ी शालीनता से जवाब देती है । फिल्म 1970 के अंत में रिलीज हुई थी। यह मुंबई शहर को एक नये रूप में प्रस्तुत करती है। 1950 के दशक की शुरूआत में नव केतन बैनर के तले देवआनंद अभिनीत 'टैक्सी ड्राइवर' फिल्म में अलग तरह का बम्बई शहर दिखता है । 20 वर्षों में बम्बई काफी बदल चुका है । गगनचुंबी इमारतों के साथ झुग्गी–झोपड़ी और चॉलों की समानांतर दुनिया भी 'आनंद' फिल्म में दिखती है। जिसमें डाक्टर भास्कर बनर्जी रोग और गरीबी के बीच अपनी डाक्टरी जंग जारी रखता है।

1970 में बम्बई एक हरा–भरा खूबसूरत शहर था । समुद्र का पानी गंदा नहीं हुआ था। समुद्र का किनारा पानी और बालू पर पसरा एक खूबसूरत नजारा पेश करता है। उस पर मन्नाडे का गाया गाना 'जिन्दगी कैसी है पहेली हाये, कभी तो हंसाये कभी ये रुलाये' गाते हुए राजेश खन्ना का मस्त अभिनय । 1969 में राजेश खन्ना को सुपर सितारा की हैसियत प्राप्त हुई थी और ऋषिकेश मुखर्जी के निर्देशन में आनंद उनके अभिनय की उँचाई प्रस्तुत करता है। अमिताभ बच्चन ने 1969 में जब अभिनय शुरू किया था तो राजेश खन्ना सुपर सितारा बन चुके थे। रमेश देव और सीमा देव, सुमिता सान्याल और ललिता पवार, जॉनी वाकर, दुर्गा खोटे और दारा सिंह सभी ने अच्छा अभिनय किया है परन्तु 'आनंद' मूलत: राजेश खन्ना और अमिताभ बच्चन की

फिल्म है। दोनों ने बहुत अच्छा अभिनय किया है। जयवंत पाठारे की फोटोग्राफी कमाल की है। उनका कैमरा उतना ही काव्यात्मक दृश्य रचता है जितना ऋषिकेश मुखर्जी, गुलजार, बिमल दत्ता और डी. एन. मुखर्जी की पटकथा । हमेशा की तरह ऋषिकेश मुखर्जी के निर्देशन एवं संपादन में दोष निकालना मुश्किल है। आनंद ऋषिकेश मुखर्जी की नि:संदेह सर्वश्रेष्ठ कृति है जिसकी कहानी उन्होंने खुद लिखी थी। इस कहानी की प्रेरणा ऋषिकेश मुखर्जी और राजकपूर की मित्रता पर आधारित है। राजकपूर और आनंद सहगल के चरित्र में कई समानताएँ हैं। केवल एक प्रमुख अन्तर है। आनंद सहगल कैंसर रोग का मरीज है और वह जानता है कि उसे जीने के लिए मात्र छः माह मिले हैं। जबकि स्वभाव से भोले और मस्त राजकपूर को बचपन से प्रेम का रोग था। उन्होंने अपने बचपन से बुढ़ापे तक कई महिलाओं से पवित्र प्रेम किया और अंत तक भोले बने रहे। जिस तरह आनंद पूरी जिन्दगी अपने अनदेखे सोलमेट मुरारीलाल को खोजता रहा उसी तरह राजकपूर विवाहित होते हुए भी हर सुन्दर स्त्री में अपना सोलमेट खोजते रहे । प्रेम का रोग था।

दूसरी संस्कृतियों में यदि दो मर्दों के बीच बहुत गहरी दोस्ती हो तो उन्हें होमोसेक्सुअल समझा जाता है जबकि भारत में दो युवकों या दो मर्दों के बीच दोस्ती को पवित्रतम संबंधों में से एक माना जाता है। 1973 में निर्मित प्रकाश मेहरा निर्देशित 'जंजीर' में एक गाना है जो प्राण और अमिताभ बच्चन की दोस्ती के बारे में है– यारी है ईमान मेरा, यार मेरी जिन्दगी । उसी तरह 1975 में निर्मित रमेश सिप्पी की फिल्म 'शोले' में धर्मेन्द्र और अमिताभ बच्चन की दोस्ती के बारे में एक गाना है– ये दोस्ती हम नहीं तोड़ेंगे, तोड़ेंगे दम मगर तेरा साथ ना छोड़ेंगे । आनंद सहगल और भास्कर बनर्जी की दोस्ती मात्र 6 माह पुरानी दोस्ती है । जबकि भास्कर बनर्जी और प्रताप कुलकर्णी की पुरानी दोस्ती है । ईषा भाई सूरतवाला और आनंद सहगल की दोस्ती तो मात्र कुछ सप्ताह पुरानी है । वास्तव में भारत के बंटवारे का मारा रिफ्यूजी आनंद सहगल एक अनाथ है जिसे परायों और अपरिचितों से दोस्ती और संबंध बनाना खूब आता है । उसके व्यवहार की मस्ती के पीछे न सिर्फ कैंसर के रोग के कारण अपनी छोटी जिन्दगी का अहसास है बल्कि अपनी प्रेमिका से बिछुड़ने की उदासी भी है। परन्तु वह मानता है कि जिन्दगी बड़ी होनी चाहिए लम्बी नहीं। वह मानता है कि उदासी भी खूबसूरत हो सकती है।

'आनंद'(1970) फिल्म का एक प्रमुख थीम विवाह है । डॉ. कुलकर्णी की शादी की सालगिरह, डॉ. बनर्जी और रेणु का विवाह, आनंद की प्रेमिका का दूसरे व्यक्ति से विवाह और ईषा भाई सूरतवाला की विवाह की समस्या । इन विवाहों की कथा को

बहुत मनोरंजक ढंग से प्रेम विवाह बनाम माता–पिता द्वारा ठीक किये गए अरेन्ज्ड मैरिज का मनोरंजक कॉनट्रास्ट प्रस्तुत किया गया है । रेणु की मां कहती भी है कि अब माता–पिता से कौन पूछता है अब तो प्रेम विवाह का जमाना है। पूरा भारत 1970 में भले ही मूलत: पारंपरिक रहा हो, बम्बई महानगर में 1970 तक आते–आते प्रेम विवाह का चलन काफी बढ़ गया था । अत: 1960 के दशक से हिन्दी सिनेमा में टेक्नीकलर प्रेम और रोमांस की कहानियां 1950 के दशक के सामाजिक सन्दर्भों वाले कथानकों की तुलना में काफी बढ़ गई थीं। 1957 में बने 'मुसाफिर' से ऋषिकेश मुखर्जी ने हल्की–फुल्की मनोरंजन की भाषा में मध्यवर्गीय भारतीय समाज के सामाजिक पहलुओं को अपनी फिल्मों में जगह देना जारी रखा था। उन्होंने एक तरफ विशुद्ध कॉमेडी 'चुपके–चुपके' (1975),'बावर्ची' (1972),'गोलमाल' बनायी) तो दूसरी तरफ 'अनाड़ी'(1993), 'सत्यकाम'(1969), 'आशीर्वाद' (1968), 'आनंद' (1970), 'अभिमान' (1973) और 'बेमिसाल' (1982) जैसी सोद्देश्य सामाजिक फिल्में भी बनायीं। 'आनंद' उनकी फिल्मों का सरताज है जिसमें उनकी रचनात्मक ऊर्जा का विस्फोट हुआ है।

लाइलाज बीमारी पर 'आनंद' उनकी एकमात्र फिल्म नहीं है। इसी थीम पर 1975 में उन्होंने 'मिली' नामक फिल्म बनायी थी जिसमें जया भादुड़ी और अमिताभ बच्चन की मुख्य भूमिका थी। यह फिल्म 'आनंद' की तरह सफलता नहीं पा सकी तो उसका प्रमुख कारण यही था कि 'मिली' की बीमारी फिल्म की केन्द्रीय वस्तु है जबकि 'आनंद' की बीमारी उसके जीवन और संबंधों की मात्र पृष्ठभूमि है। आनंद एक बहुआयामी फिल्म है और मिली मूलत: कारुणिक फिल्म है। एक कारण और भी है आनंद राजेश खन्ना के सुपर स्टार के समय बनी थी जबकि मिलि की नायिका जया भादुड़ी सुपर सितारा नहीं थी और न 1975 तक अमिताभ बच्चन सुपर सितारा के रूप में स्थापित हुए थे। 1973 में 'जंजीर' आ चुकी थी। 'अभिमान' आ चुकी थी। 1975 में 'मिली' और 'दीवार' आ चुकी थी। परन्तु 'शोले' साल के अंत में आयी थी । अमिताभ बच्चन की सितारा हैसियत बनने लगी थी लेकिन 1975 के अंत तक धर्मेन्द्र, संजीव कुमार, मनोज कुमार, शशि कपूर और विनोद खन्ना उनसे उन्नीस नहीं थे। केवल राजेश खन्ना का प्रभाव होना शुरू हुआ था । 1973 में 'बॉबी' के रिलीज से ऋषि कपूर का उदय हुआ था। अमिताभ सुपर सितारा 1977 में आयी 'मुकद्दर का सिकंदर' तथा 'डॉन' से बने। उससे पहले उनके नाम से फिल्में नहीं बिकती थीं। निर्देशक, कहानी, पटकथा, गीत–संगीत की भूमिका तब तक सुपर सितारे से कम नहीं होती थी। 1969 से 1973 के बीच राजेश खन्ना अकेले सुपर सितारा थे। 1973 से 1977 तक कई सितारों के बीच प्रतिस्पर्धा थी जिसमें

अमिताभ बच्चन अंतत: विजयी हुए। अमिताभ बच्चन को सुपर सितारा बनाने में जितना योगदान सलीम–जावेद द्वारा गढ़ा एंग्री यंग मैन की इमेज का है उससे कम योगदान मनमोहन देसाई और ऋषिकेश मुखर्जी की फिल्मों का नहीं है। अमिताभ बच्चन यदि अंतत: अपने समकालीनों पर भारी पड़े तो उसका कारण ही यही था कि वे एक ही कालखंड में गंभीर, हंसोड़ और एंग्री यंग मैन तीन तरह की भूमिकाएँ एक समान दक्षता से कर सकते थे। और नि:संदेह यह कहा जा सकता है कि इस दक्षता के बीज फिल्म 'आनंद' में नजर आये थे। इसीलिए उन्हें इस फिल्म के लिए बेस्ट सहायक अभिनेता का पुरस्कार भी मिला था।

'आनंद' की पटकथा और कास्टिंग दोनों में एक संतुलित सम्पूर्णता थी जिसकी तुलना में 'मिली ' की पटकथा और कास्टिंग उन्नीस पड़ती है। 'आनंद' का किरदार राजेश खन्ना के अलावा अगर किसी और ने किया होता तो यह फिल्म संभवत: इतनी स्वाभाविक नहीं बन पाती । कास्टिंग के मामले में इसकी तुलना 1970 के दशक की फिल्मों में संभवत: केवल 'शोले' से की जा सकती है जिसका निर्माण 1975 में हुआ था। रमेश सिप्पी के 'शोले' में हर चरित्र की कास्टिंग और पटकथा में स्थान भी एक संतुलित सम्पूर्णता में है । शोले एक भव्य फिल्म है जिसमें स्पेकटेकल नैरेटिव पर भारी पड़ जाता है। आनंद में नैरेटिव और स्पेकटेकल का संतुलन है। 'आनंद' एक मध्यम बजट की कारपोरेट फिल्म है। इसे एन. सी. सिप्पी ने निर्माण करवाया था। जी. पी. सिप्पी व्यावसायिक सिनेमा के एक बड़े निर्माता थे। शोले उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है जो उनके बेटे रमेश सिप्पी ने निर्देशित की थी। एन. सी. सिप्पी मध्यम बजट की सोद्देश्य फिल्मों के निर्माता थे। उन्होंने ऋषिकेश मुखर्जी और गुलजार जैसे संवेदनशील तथा कलात्मक निर्देशकों के प्रोजेक्ट को फाइनेंस किया । इस मामले में एन. सी. सिप्पी की तुलना भारत सरकार की संस्था नेशनल फिल्म डेवलपमेंट कार्पोरेशन (एन. एफ. डी. सी.) और राजश्री प्रोडक्शन से की जा सकती है। 1970 के दशक में एन. सी. सिप्पी, ताराचंद बड़जात्या (राजश्री प्रोडक्शन के मालिक) और एन. एफ. डी. सी. के प्रयास से छोटे और मध्यम बजट की स्वस्थ मनोरंजन देने वाली कलात्मक फिल्मों की बहार आ गई थी जिसके प्रभाव में हिन्दी भाषी समाज के भीतर एक रचनात्मक विस्फोट हुआ था। ऋषिकेश मुखर्जी निर्देशित 'आनंद' इस रचनात्मक विस्फोट का स्वर्णकलश है।

आनंद एक ठेठ हिन्दू फिल्म है। ऋषिकेश मुखर्जी बिमल रॉय के साथ न्यू थियेटर्स कोलकाता से मुंबई आये थे। न्यू थियेटर्स में तीन तरह की फिल्में बनती थीं। एक देबकी कुमार बोस की ठेठ हिन्दू फिल्में थीं जिस पर चण्डीदास, विद्यापति,

रामकृष्ण परमहंस और भारत के स्वतंत्रता संग्राम का प्रभाव था। दूसरी पी. सी. बरूआ की रोमांटिक त्रासदी वाली फिल्में थीं। तीसरी नितिन बोस की राममोहन राय और रबीन्द्रनाथ टैगोर जैसे ब्रह्म समाजी समाज सुधारकों से प्रभावित फिल्में थीं। बिमल रॉय और ऋषिकेश मुखर्जी ने तीनों प्रकार की फिल्मों के बीच एक संतुलन स्थापित किया जबकि केदार शर्मा, राजकपूर और लेख टंडन देबकी कुमार बोस की परंपरा के विस्तार थे। राजकपूर के पटकथा लेखक ख्वाजा अहमद अब्बास मार्क्सवादी परंपरा के सुधारवादी थे अत: नितिन बोस के सुधारवाद और राजकपूर की प्रारंभिक फिल्मों के सुधारवाद में महीन अंतर है। राजकपूर के दूसरे पटकथा लेखक वी. पी. साठे मार्क्सवादी नहीं थे। इन्दरराज आनंद और रामानंद सागर ने भी राजकपूर के लिए लेखन किया था। परंतु राजकपूर अपने लेखकों से अपनी तरह का काम लेते थे। एक निर्देशक के रूप में ख्वाजा अहमद अब्बास, राजकपूर की तुलना में व्यावसायिक रूप से असफल थे। 'मेरा नाम जोकर' और 'बॉबी' का लेखन अब्बास ने राजकपूर की मांग को पूरा करने के लिए किया था। राजकपूर पर अपने गुरू केदार शर्मा और दादागुरू देबकी बोस का गुणात्मक प्रभाव अंत तक बना रहा। उन पर एक प्रभाव अमिय चक्रवर्ती का भी था जो मूलत: हिमांशु रॉय के बॉम्बे टॉकीज के एक निर्देशक थे।

राजकपूर की तुलना में ऋषिकेश मुखर्जी न्यू थियेटर्स के ज्यादा प्रतिनिधि फिल्मकार थे। वे बिमल रॉय के साथ–साथ देबकी बोस और पी. सी. बरूआ से भी प्रभावित थे। बिमल रॉय ने अपने कॅरियर का प्रारंभ एक कैमरामैन के रूप में किया था। सिनेमैटोग्राफी उनके निर्देशन को प्रारंभ से ही नियंत्रित करती थी। जबकि ऋषिकेश मुखर्जी ने अपनी शुरूआत एक संपादक के रूप में की थी। अत: एक निर्देशक के रूप में या पटकथा लेखक के रूप में उनका दृष्टिकोण संपादक की तरह किफायती बना रहता है। गुलजार के निर्देशन एवं लेखन पर उनका गीतकार वाला रूप हावी रहता है। 'आनंद' केदार शर्मा के 'जोगन' या 'चित्रलेखा' की तरह नैरेटिव प्रधान फिल्म नहीं है। इसमें नैरेटिव और स्पेकटेकल का संपादकीय कौशल से किया गया किफायती संतुलन है। यह मूलत: प्रतीकात्मक एवं लाक्षणिक रूप से हिन्दू दृष्टि में जीवन एवं मृत्यु तथा भाग्य एवं पुनर्जन्म की आनंददायक कहानी कहती है। इसमें हिन्दू संस्कृति का उदात्त रूप पेश किया गया है जिसमें मुसलमान और ईसाई पात्रों को भी सहजता से जीवन जीने और संबंध बनाने में दिक्कत नहीं होती। 'आनंद' फिल्म का हिन्दू धर्म भारतीय संस्कृति की तरह बहुआयामी, सहनशील एवं लचीला है।

'आनंद' फिल्म 1970 में बनी। इसकी कहानी ऋषिकेश मुखर्जी ने खुद लिखी थी। अमेरिका में 1969 में 'द गॉड फादर' उपन्यास का प्रकाशन हुआ था। इसके लेखक मारियो पूजो थे । 1969 में शक्ति सामंत ने 'आराधना' फिल्म बनायी थी जिससे राजेश खन्ना सुपर सितारा बने। इतालवी मूल के फ्रांसिस फोर्ड कपोला ने 1972 में 'द गॉड फादर' फिल्म का पहला भाग बनाया था। 1975 में इससे प्रेरित दो फिल्में बनीं–फिरोज खान की 'धर्मात्मा' और रमेश सिप्पी की 'शोले'। भारत में अपराध का महिमामंडन 1975 से ही हुआ। लेकिन 'द गॉड फादर' में केवल अपराध का महिमामंडन नहीं था, फ्रांसिस फोर्ड कपोला ने माफिया को अमेरिकी पूंजीवाद के रूपक में बदल दिया था। 'द गॉड फादर' में अमेरिका में रहने आए एक इतालवी माफिया परिवार के 1945 से 1955 तक के दस सालों का वृत्तांत उकेरा गया है। यह दरअसल द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उभरी विश्व व्यवस्था में अमेरिकी पूंजीवाद का उत्कर्ष काल है। 'द गॉड फादर' का नायक एक बूढ़ा डॉन विटो कॉरलेऑन है जो अमेरिकी पूंजीवाद के प्रतीक माफिया परिवार का मुखिया है। बूढ़ा होता डॉन विटो हिंसा के आदेश देता है, जो दरअसल पूंजी और ताकत को हासिल करने की युक्तियां भी हैं। लेकिन फिल्म में माफियाओं के बीच खूनी खेल ही नहीं चलता, वहां अपराध के बीच परिवारों में मानवीय संबंधों के वृत्तांत भी दिखते हैं। यह फिल्म अपराध करने वालों के परिवारों में फैले प्रेम संबंधों, तनावों, ईर्ष्या, वात्सल्य और रहस्यों की भूल–भुलैया में भी उसी खूबी के साथ जाती है, जिस तरह वह हिंसा के नरक में उतरती है। एक बड़े माफिया परिवार के शीर्ष पर बैठे डॉन विटो का अपने परिवार से गजब का जुड़ाव है। विटो का अभिनय मार्लन ब्रैंडो ने निभाया था। इसके लिए उन्हें सबसे अच्छे अभिनेता का ऑस्कर भी मिला था। आनंद और द गॉड फादर की तुलना करके भारतीय और अमेरिकी संस्कृति के अंतर को समझ सकते हैं। आनंद की मृत्यु के बाद पूरी फिल्म में करुणा की लहर फैल जाती है जबकि माफिया के दो गुटों के बीच लड़ाई में जब विटो के बेटे सनी की हत्या होती है तो बेटे का शव विराग नहीं बल्कि गहरी हिंसा का उत्प्रेरक बन जाता है। यह अधिकार क्षेत्र और शक्ति बनाए रखने का दुष्चक्र और विवशता है। भारत की पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' थी जबकि अमेरिका की पहली फिल्म 'द ग्रेट ट्रेन रॉबरी' थी। तब से भारतीय सिनेमा और अमेरिकी सिनेमा का मूल स्वर नहीं बदला है। 1970 के दशक में आनंद और द गॉड फादर इसका उदाहरण हैं।

❑❑❑

'तीसरी कसम' (1966) बासु भट्टाचार्य

फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी एवं संवाद को नबेन्दु घोष की पटकथा और शैलेन्द्र तथा हसरत जयपुरी के गीतों के सहारे बासु भट्टाचार्य ने एक अमर फिल्म की रचना की। इसका निर्माण गीतकार शैलेन्द्र ने किया था । फिल्म दुर्भाग्य से पहले असफल साबित हुई और शैलेन्द्र कर्ज के दलदल में ऐसे फंसे कि टेंशन से उनकी जान चली गई। इसमें राजकपूर और वहीदा रहमान ने अद्भुत अभिनय किया है। शंकर जयकिशन का संगीत आजतक लोकप्रिय है ।

बासु भट्टाचार्य बिमल रॉय स्कूल के फिल्मकार हैं और तीसरी कसम उनकी सबसे चर्चित कृति है। एक स्तर पर इस फिल्म की तुलना बिमल रॉय की 'दो बीघा जमीन' (1953) और 'परख' (1960) से की जा सकती है। 'दो बीघा जमीन' की फोटोग्राफी कमल बोस की था । कथा और संगीत सलिल चौधरी का था। इसके गीतकार शैलेन्द्र थे और पटकथा ऋषिकेश मुखर्जी ने लिखी थी। जबकि संवाद पॉल महेन्द्र ने लिखे थे । 'परख' की कहानी और पटकथा सलिल चौधरी ने लिखी थी । संगीत भी उन्हीं का था जबकि संवाद और गीत शैलेन्द्र ने लिखे थे। फोटोग्राफी कमल बोस की थी।

'तीसरी कसम'(1966) एक अर्थ में हिन्दी सिनेमा की अनोखी रचना है। इसकी कथा, संवाद और गीत में ठेठ हिन्दी का ठाट है। रेणु बिहार में पैदा हुए थे जबकि शैलेन्द्र मध्यप्रदेश में पैदा हुए थे। रेणु को प्रेमचंद की परम्परा का कथाकार माना जाता है । परन्तु रेणु के साहित्य में ग्रामीण जीवन एवं संस्कृति की जैसी समग्रता पायी जाती है वह प्रेमचंद साहित्य में भी नहीं है। रेणु के उपन्यास मैला आंचल और उनकी कहानी तीसरी कसम में विपन्न लोगों के जीवन की सांस्कृतिक संपन्नता है। इनमें महात्मा गांधी के 'हिन्द स्वराज' की छाया है। रेणु के ज्यादातर पात्र दलित, अवर्ण और पिछड़े तबकों से हैं। ग्रामीण यथार्थ की सांस्कृतिक बुनावट की रेणु की

कृतियों में जबरदस्त पकड़ है। इतिहास के प्रवाह, राजनीति और सांस्कृतिक अंतर्संबंध को रेणु बहुत गहराई से उकेरते हैं। रेणु के पहले ग्राम कथाओं की भाषा किताबी थी। उनमें कुछ आंचलिक शब्द जरूर डाल दिए जाते थे। रेणु की भाषा में आंचलिक बोली की लय है और वह वाचिक अनुभव के साथ है। बोलियों का जो वाचिक नाट्य है, वह रेणु की भाषा में पूरी ठसक के साथ है। इस वाचिक लय में देखा हुआ जीवन है । रेणु ने हिन्दी साहित्य में पहली बार ग्रामीण यथार्थ को पूरी सम्पूर्णता में प्रस्तुत किया है। रेणु की निगाह बदलते ग्रामीण समाज पर भी थी। जब कोई नई चीज गांव में आती है तो स्थानीय संस्कृति उसे कैसे अपनाती है इसका सजीव वर्णन रेणु ने 'तीसरी कसम' में किया है। रेणु ने ग्रामीण जीवन की छोटी से छोटी स्थितियों को इतनी बारीकी से बयां किया है कि वे मोहक बन गई हैं । रेणु के यहां ग्राम कथा अपने सामाजिक विश्वासों में, मिथकों में, लय में, प्रकृति में, अपने नाद और स्वर में, भाषा में नाट्य के साथ उपस्थित है। 'तीसरी कसम' पढ़ना या देखना ग्रामीण जीवन को जीने की तरह है।

'तीसरी कसम'(1966) अथवा मारे गए गुलफाम रेणु की अद्भुत कहानी है। मूलत: यह ग्रामीण संस्कृति की कहानी है जिसके केन्द्र में प्रेम है। लेकिन इसमें प्रेम का कहीं भी जिक्र नहीं होता। 40 साल का गाड़ीवान हीरामन और खूबसूरत नर्तकी हीराबाई के बीच प्रेम के अंकुरण की यह संवेदनशील कहानी है। हीरामन सजग नहीं है कि वह प्रेम कर रहा है। हीरामन के जीवन में प्रेम की कोई गुंजाइश नहीं है। हीराबाई ऐसे पेशे में है जहां हर दिन उसे प्रेम का ढोंग करना पड़ता है। दोनों का हृदय प्रेम के अनुभव के लिहाज से रेगिस्तान की तरह है। इस रेगिस्तान में जब प्रेम का सोता फूटता है तो दोनों एक–दूसरे से गहरी अंतरंगता से जुड़ते हैं लेकिन अंतत: हीराबाई हीरामन को अपनाने की हिम्मत नहीं जुटा पाती है और हीरामन को छोड़कर चली जाती है। दर्शकों को यह बात हजम नहीं होती है और फिल्म फ्लॉप हो जाती है। बी. आर. चोपड़ा ने 1958 में सुनील दत्त और वैजयंतीमाला को लेकर 'साधना' बनायी थी। उसमें एक तवायफ को मध्यवर्गीय नायक अंतत: स्वीकार लेता है। लेकिन 1966 में बनी 'तीसरी कसम' में हीराबाई डर कर भाग जाती है कि समाज उनके प्यार को नहीं स्वीकारेगा। शहरों का मध्यवर्गीय दर्शक तीसरी कसम की आंचलिकता को समझ नहीं पाया। दरअसल तीसरी कसम केवल एक प्रेम कहानी नहीं है यह बदलते हुए ग्रामीण संस्कृति की महागाथा भी है। रेणु की 'तीसरी कसम' में तीन कहानियां हैं। तीनों का नायक हीरामन है जबकि हीराबाई केवल तीसरी कहानी की नायिका है। हीरामन 1966 में 40 साल का है यानि उसका जन्म 1926–27 में हुआ है। दरअसल वह ग्रामीण भारत का प्रतीक पुरुष है। वह एक गाड़ीवान है। वह गांव

से कस्बा और शहर की यात्रा करता है। इसी बहाने दर्शक ग्रामीण संस्कृति, कस्बाई संस्कृति और शहरी संस्कृति के दर्शन करते हैं । 1966 में गांवों में पश्चिमीकरण, विकास या आधुनिकता हर जगह नहीं पहुंची थी । 1952 की पहली पंचवर्षीय योजना ग्राम केन्द्रित एवं कृषि केन्द्रित थी । इसके बावजूद 1953 में सलिल चौधरी और बिमल रॉय की 'दो बीघा जमीन' में गांव की बदहाली दिखलाकर नेहरूवादी नीतियों की आलोचना की गई है।

गांव को आशाहीन जगह दिखलाया गया है, जबकि शहर को समस्याओं के बावजूद आशा का केन्द्र दिखलाया गया है । 1957 से दूसरी पंचवर्षीय योजना लागू हुई । इसका केन्द्र नगर एवं औद्योगीकरण है । 1960 में बनी 'परख' में एक उद्योगपति को ग्रामीण विकास हेतु पांच लाख रूपये दान करते दिखलाया गया है । गांव में पोस्टऑफिस, अस्पताल, स्कूल आ चुके हैं। गांव में महाजन, जमींदार, पुरोहित के साथ डाक्टर, स्कूल मास्टर, पोस्टमास्टर अभिजात वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसके विपरीत 1966 में बनी फिल्म 'तीसरी कसम' का गांव भौतिक दृष्टि से पिछड़ा लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न गांव है। इसमें न पक्की सड़क है, न नहर है, न स्कूल है, न अस्पताल है, न महाजन है और न जमींदार है। अभिजन लोग कस्बों एवं शहरों में रहते हैं। गांवों में पक्का मकान नहीं है। यह उत्तर बिहार के गांवों की यथार्थ स्थिति पर आधारित फिल्म है। यह लेखक रेणु का अपना इलाका है। यह फिल्म एक आंचलिक कथा पर आधारित है। जो ग्रामीण शहरी बन गया उसकी निगाह से गांव को जो साहित्य देखता है, उसको ग्रामकथा, आंचलिक कहानी या आंचलिक उपन्यास कहा गया । गांव के लड़के शिक्षा और नौकरी के लिए बड़ी तादाद में शहरों – महानगरों में आए । वहां उनको नौकरी मिली, शादी करके वे वहीं बीवी–बच्चों के साथ रहने लगे। यह मध्यवर्ग पैदा तो हुआ गांव में, वहीं पला–बढ़ा लेकिन रहने लगा शहर में। 'दो बीघा जमीन' और 'परख' इसी तरह की आंचलिक फिल्म थीं। यह शहर में रहने वाले ग्रामीण व्यक्ति की नजरों से देखा गया गांव है । इसके विपरीत तीसरी कसम देहाती गाड़ीवान हीरामन की नजर से गांव, कस्बा और शहर की देखी–सुनी–भोगी गई कथा है। परन्तु हीरामन का पात्र रेणु जैसे मध्यवर्गीय लेखक की नजर से देखा–रचा गया है । रेणु शहर में बसे हुए ग्रामीण थे । उनकी दृष्टि गांधीवादी थी । दूसरी ओर सलिल चौधरी की दृष्टि 'दो बीघा जमीन' में नेहरूवादी और 'परख' में गांधीवादी थी। हीरामन जैसे ठेठ देहाती चरित्र की रचना हिन्दी सिनेमा में दूसरी नहीं मिलती। हीरामन हिन्द स्वराज का स्वराजी चरित्र है । जिंदगी के बारे में उसकी दृष्टि सनातनी

है। उसका यह चरित्र शैलेन्द्र द्वारा लिखे गीतों में अभिव्यक्त हुआ है। वह रौबर्ट रेडफिल्ड के द्वारा वर्णित लिटिल ट्रैडीशन या फोक कल्चर का प्रतिनिधि न होकर गांधी के हिन्द स्वराज और प्लेटो के रिपब्लिक का प्रतिनिधि है । एक स्तर पर 'परख' के पोस्टमास्टर और 'तीसरी कसम' के गाड़ीवान हीरामन की तुलना हो सकती है लेकिन दोनों फिल्मों की तुलना नहीं हो सकती। 'परख' का गांव भौतिक रूप से विकसित लेकिन सांस्कृतिक रूप से भ्रष्ट हो चुका है। जबकि 'तीसरी कसम' में भ्रष्टाचार कस्बे और शहर में तो है गांवों में अभी तक नहीं फैला है। लेकिन 2010 तक आते–आते गांवों की स्थिति भी बदल गई है । भ्रष्टाचार और आतंकवाद की बात छोड़ भी दें, तो दूषित पर्यावरण हमें किस्तों में मार रहा है। रासायनिक कीटनाशक के उपयोग से सब्जियां और फल हानिकारक हो चुके हैं। मौत छोटी–छोटी सी मासूम दिखने वाली किस्तों में हमें परोसी जा रही है। खाने की हर चीज में आज मिलावट है । आधुनिकता के नशे में हम सब उन्हीं गलियों में जीने निकले हैं, जिनमें हर जगह मौत बिछी है। एक भ्रष्ट और अनैतिक समाज इसी तरह मौत को आमंत्रित करता है । लेकिन 'तीसरी कसम' के नायक हीरामन के सामने अपने गांव और घर लौटने का विकल्प है । उसके जीवन की समस्यायें तीन कसम खा लेने से सुलझ जाती हैं। जबकि यह विकल्प हमारे–आपके सामने नहीं बचा है। हम इन्टरनेट के ऐसे नेटवर्क समाज में जी रहे हैं जिसमें प्रतिद्वन्द्वी कंपनियां काफी पैसा खर्च करके एक दूसरे के नेटवर्क को ध्वस्त करने के लिए लेटेस्ट वाइरस बनवाती हैं और इस वाइरस से बचने के लिए एंटी–वाइरस भी साथ ही साथ बनवाया जाता है। यह विज्ञान एवं तकनीक के सैन्य उद्योग से जुड़ने के बाद उसकी तार्किक परिणति है। आधुनिकता के दौर में सैनिक और गैर–सैनिक दोनों समाजों में तकनीक की अंधी दौड़ चल रही है। आधुनिक होने के बाद आप आधुनिक बने रहने के लिए अभिशप्त हैं। इससे बाहर निकलने का पक्का रास्ता फिलहाल नहीं बचा है। जेहादी इस्लाम और माओवादी भी इसी आधुनिकता की कोख से निकले हैं। ये भी आधुनिक तकनीक पर उसी तरह हिंसक तरीके से निर्भर हैं जैसे पूंजीवादी प्रजातंत्र के समर्थक निर्भर हैं। इससे बाहर निकलने के लिए कच्ची सड़क या पगडंडी अवश्य बची है। लेकिन इन ऊबड़–खाबड़ रास्तों का इस्तेमाल आज माओवादी सैनिकों या जेहादी आतंकवादियों की पहुंच से बाहर नहीं है। क्या यह महज संयोग है कि 'तीसरी कसम' बनाकर शैलेन्द्र 1966 में मर गए और 1967 में चारू मजुमदार ने नक्सलवादी में माओवादी अभियान शुरू किया और उत्तर भारत में कांग्रेस पार्टी की विधान सभाओं के चुनाव में शर्मनाक पराजय हुई ?

मेरी दृष्टि में 'तीसरी कसम'(1966) की तीनों कसमों का बराबर महत्व है भले

ही तीसरी कसम खाने की प्रक्रिया फिल्म में सबसे लंबी है। हीरामन बैलगाड़ी का गाड़ीवान है। वह शुरू में एक सेठ का चोरी का माल ढोता है। पुलिस के छापे के बाद वह सेठ अपने चोरी के सामान के साथ पकड़ा जाता है और हीरामन किसी तरह अपने बैलों के साथ भाग कर घर पहुंचता है और पहली कसम खाता है कि अब वह अपनी बैलगाड़ी पर चोरी का सामान नहीं ढोएगा।

फिर वह बांस ढोने लगता है। एक दिन लंबे बांसों के कारण सड़क पर दुर्घटना हो जाती है और हीरामन अपने घर वापस लौटते समय दूसरी कसम खाता है कि अब वह बांस नहीं ढोएगा। फिर वह सवारियों को ढोने लगता है। इसी क्रम में वह नौटंकी कंपनी की नर्तकी हीराबाई को शहर से कस्बे तक पहुंचाता है। इस यात्रा के क्रम में हीरामन और हीराबाई के बीच प्रेम का अंकुरन होता है। हीरामन के भोलेपन और दार्शनिक गायकी के अंदाज पर हीराबाई मोहित हो जाती है और अपने गंतव्य स्थान पर पहुंचने के बाद हीरामन को कस्बे में रुक कर नौटंकी देखने के लिए कहती है। हीरामन अपने साथी गाड़ीवानों के साथ रुक जाता है और नौटंकी देखता है। इस क्रम में गांव की संस्कृति और कस्बे की संस्कृति का अंतर और भी स्पष्ट होता है। फिर वह दिन आता है जब हीराबाई हीरामन को छोड़कर शहर चली जाती है और घर लौटते वक्त हीरामन तीसरी कसम खाता है कि वह अब किसी नौटंकी कंपनी की बाई को अपनी बैलगाड़ी पर नहीं बैठायेगा। सुब्रत मित्रा की फोटोग्राफी लाजवाब है। गांव, बैलगाड़ी, पगडंडी, नदी, ट्रेन, कस्बा और नौटंकी के खेल एवं नृत्य की सजीव फोटोग्राफी से सुब्रत मित्रा एक अद्भुत समां बांधते हैं।

पहली कसम के क्रम में हम भ्रष्टाचार, चोरी और धर–पकड़ की पुलिसिया संस्कृति से रू–ब–रू होते हैं। तीसरी कसम को बनने में चार वर्ष लगे थे (1962 – 1966)। उस वक्त जवाहरलाल नेहरू जिन्दा थे। 1962 में भारत–चीन युद्ध हुआ था और रक्षा मंत्री वी. के. कृष्णामेनन की नीतियों को 1962 की हार के लिए जिम्मेदार माना गया था। जब राष्ट्रपति एस. राधाकृष्णन सरकार की राय के खिलाफ गुस्से में सैनिकों से मिलने सीमा पर पहुंचे तो सैनिकों ने भावुक होकर उन्हें बतलाया कि रक्षा विभाग से हमें लड़ने के लिए पर्याप्त मात्रा में हथियार नहीं मिलते। हमारे पास लड़ने के लिए हिम्मत और राष्ट्रभक्ति के अलावा कुछ भी नहीं है। राष्ट्रपति राधाकृष्णन को सैनिकों की दशा देखकर नेहरू और उनकी सरकार पर बहुत गुस्सा आया। उन्होंने जवाहरलाल नेहरू को बर्खास्त करने का मन बना लिया था। इसकी जानकारी मिलते ही नेहरू ने राजनीतिक चाल चली और लोकप्रिय होने के बावजूद राधाकृष्णन को दूसरी बार राष्ट्रपति बनाने की जगह जाकिर हुसैन जैसे नेहरू समर्थक

को राष्ट्रपति बनाया गया। 1964 में जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु हुई और लालबहादुर शास्त्री देश के प्रधानमंत्री बने । उन्होंने 'जय जवान, जय किसान' का नारा दिया। उनकी प्रेरणा से मनोज कुमार ने 1967 में 'उपकार' नामक लोकप्रिय फिल्म बनायी। 1965 में भारत–पाक युद्ध हुआ जिसमें बुरी तरह पाकिस्तान की पराजय हुई। इस युद्ध के बाद भारत और पाकिस्तान के बीच सोवियत संघ के शहर ताशकंद में एक समझौता हुआ। दुर्भाग्य से ताशकंद में ही लालबहादुर शास्त्री की मृत्यु हो गई और 1966 में इंदिरा गांधी देश की प्रधानमंत्री बनीं । 1966 तक देश की पुलिस दक्ष थी। 1965 में युद्ध जीतने के कारण 1962 की हार का गम कुछ कम हो गया था। लेकिन देश में भ्रष्टाचार, चोरी, जमाखोरी और कालाबाजार का आगमन होने लगा था। अभिजात वर्ग की संपन्नता भौतिक स्तर पर चमक–दमक वाली थी लेकिन नैतिक पतन शुरू हो गया था । इसको बी. आर. चोपड़ा निर्मित 'वक्त'(1965) में यश चोपड़ा ने बड़ी खूबसूरती से प्रस्तुत किया था। 'वक्त' एक रंगीन फिल्म थी जबकि 'तीसरी कसम' श्वेत–श्याम फिल्म थी। 'तीसरी कसम' फिल्म के प्रारंभिक अंश में न सिर्फ चोरी का माल बेचने वाला सेठ पकड़ा जाता है बल्कि भोला गाड़ीवान यह कसम भी खाता है कि वह अब बैलगाड़ी पर चोरी का माल नहीं ढोएगा। इन्हीं प्रारंभिक दृश्यों में वह गाना भी गाता है – 'सजन रे झूठ मत बोलो खुदा के पास जाना है।' यानि समाज में कुछ लोग न सिर्फ चोरी करने लगे थे बल्कि झूठ भी बोलने लगे थे जबकि हीरामन जैसे लोग खुदा के पास जाने के डर से नैतिक बने रहने का फायदा भी समझते थे।

इसके बाद हीरामन बांस ढोने लगता है। बांस उन दिनों एक लोकप्रिय उत्पाद था। मिट्टी और खपड़ा तथा फूस के मकान बनाने में बांस का बहुत उपयोग होता था । फर्नीचर बनाने में भी बांस का उपयोग होता था । टोकरी और हाथ का पंखा बनाने में भी बांस का उपयोग होता था। लेकिन बांस की ढुलाई जोखिम का काम था। उस वक्त उस इलाके में ट्रैफ़िक के नियम और ट्रैफ़िक पुलिस का अस्तित्व नहीं था। फलस्वरूप बांस ढोने में काफी दिक्कत होती थी। आये दिन दुर्घटनायें होती रहती थीं।

1960 का दशक शहरीकरण और औद्योगीकरण का काल था । 1957 से दूसरी पंचवर्षीय योजना शुरू हुई थी। इसके केन्द्र में शहर एवं उद्योग थे । ग्रामीण इलाकों में भी इसका प्रभाव पड़ रहा था। सड़कों पर यातायात के नियम का मानकीकरण शुरू हुआ था । 'दूसरी कसम के बहाने' फणीश्वर नाथ रेणु और बासु भट्टाचार्य शहरीकरण की प्रक्रिया पर एक व्यंग करते हैं। इसी व्यंग के संदर्भ में हीरामन एक गाना गाता है– 'दुनिया बनाने वाले क्या तेरे मन में समायी, काहे को दुनिया बनायी'। यह एक

दार्शनिक गाना है । गांव के एक सरल, भोले–भाले गाड़ीवान के हृदय से निकले इस गाने में भारतीय लोक संस्कृति की गहराई झलकती है। वह एक दुर्घटना का शिकार होता है और कसम खाता है कि अब वह बांस नहीं ढोएगा।

इसके बाद वह सवारी ढोने लगता है। इसी क्रम में उसकी मुलाकात शहर की एक नौटंकी कंपनी की नर्तकी हीराबाई से होती है। वह हीराबाई को शहर के रेलवे स्टेशन से दूर के कस्बे में ले जाता है जहां नौटंकी होने वाली है । उस कस्बे में बहुत से गाड़ीवान एक छोटे से कस्बाई होटल के सामने बैठकर लोकगीत गाते हैं । हीरामन भी अपने साथी गाड़ीवानों के साथ उस लोकगीत का हिस्सा बन जाता है। हीराबाई हीरामन की बैलगाड़ी में रात को आराम करती है। हीरामन का एक दोस्त रात को उसकी रखवाली करता है। दूसरे दिन हीराबाई नौटंकी कंपनी के टेंट में चली जाती है लेकिन हीरामन से आग्रह करती है कि वह नौटंकी देखने के लिए कस्बे में रुक जाए। हीरामन रुक जाता है। दरअसल रास्ते में ही दोनों के बीच रागात्मक संबंध विकसित हो गया था जो धीरे–धीरे प्रेम के रूप में ठोस शक्ल लेता है।

हीराबाई के जीवन में प्रेम की ऐसी निश्छल अनुभूति अनोखी घटना थी। उसने हीरामन जैसा पुरुष कभी पहले देखा ही नहीं था। न हीरामन ने हीराबाई जैसी किसी स्त्री को देखा था। हीराबाई ने दुनिया देखी थी, दुनियादारी देखी थी लेकिन ऐसा निश्छल प्रेम, इतना भोला इंसान, ऐसा रागात्मक संबंध नहीं देखा था। लेकिन वह जमाने के डर से डर जाती है और हीरामन को छोड़कर शहर चली जाती है। हीरामन उसे जाते देखता है। उसे रोकने की कोशिश नहीं करता है। लेकिन उसका दिल टूट जाता है और वह तीसरी कसम खाता है कि अब वह किसी कंपनी की बाई को अपनी गाड़ी पर नहीं बैठायेगा। और फिल्म यहीं समाप्त हो जाती है। हीरामन अपने गांव और अपने घर लौट जाता है।

1966 के दर्शकों को यह अंत अच्छा नहीं लगा। दर्शक चाहते थे कि हीराबाई हीरामन के साथ अपनी गृहस्थी बसाती और इस फिल्म का सफल अंत होता । यदि इस फिल्म के निर्देशक राजकपूर होते तो नि:संदेह इसका सुखद अंत होता। 'आग' से 'राम तेरी गंगा मैली' तक अपनी सभी फिल्मों में राजकपूर की फिल्मों का अंत सुखद रहा है। दरअसल वे आशावादी फिल्मकार थे। जबकि बिमल रॉय की फिल्मों के अंत निश्चित नहीं होते थे। बासु भट्टाचार्य एक प्रयोगवादी फिल्मकार थे जिनकी फिल्मों में निराशा या अवसाद का स्थायी भाव रहा है। परंतु 'तीसरी कसम' मूलत: शैलेन्द्र एवं रेणु की फिल्म थी, बासु भट्टाचार्य मात्र इसके निर्देशक थे। 'तीसरी कसम' का अंत त्रासदी में रूपांतरित नहीं होता। हीरामन देवदास की तरह एक ट्रैजिक हीरो

नहीं है। वह ऋषिकेश मुखर्जी के नायक 'आनंद' (1970) से मिलता–जुलता जिंदादिल इंसान है। वह कसम खाकर अपनी जिन्दगी का गुबार निकाल कर आगे बढ़ जाता है। वह अपनी सनातनी जीवन दृष्टि के साथ हर स्थिति में मस्त रहता है। अपने इसी मस्त चरित्र के कारण 'तीसरी कसम' का नायक हीरामन एक कालजयी चरित्र बन गया है।

हीरामन के रचयिता रेणु का जन्म 4 मई 1921 को हुआ था और 11 अप्रैल 1977 को उनकी मृत्यु हुई। 'तीसरी कसम' के निर्माता एवं गीतकार शैलेन्द्र का जन्म 30 अगस्त 1930 को हुआ था और उनकी मृत्यु 14 दिसंबर 1966 को हुई । रेणु को डर था कि औद्योगीकरण की पश्चिमी प्रक्रिया को अपनाने के क्रम में भारत अपनी पहचान खो सकता है। शैलेन्द्र को भय था कि इस परिवर्तन की प्रक्रिया में भारतीय सिनेमा को गैर–भारतीय बनाने के प्रयास होंगे। शैलेन्द्र अपने फिल्मी गीत लेखन के क्षेत्र में रेणु के साहित्यिक काम को ही विस्तार दे रहे थे। 'तीसरी कसम' दोनों की श्रेष्ठतम रचना है। यह घोर भारतीय रचना है। इसमें भारतीय संस्कृति के बीज तत्व हैं।

❑❑❑

'खंडहर' से 'हाउसफुल' तक (1983 – 2010)

मृणाल सेन की फिल्म 'खंडहर'(1983) मूल रूप से वेटिंग फॉर गोदो की संरचना से प्रभावित ठेठ भारतीय फिल्म है । इसमें मृणाल सेन की पत्नी गीता सेन ने एक अंधी और बूढ़ी मां का रोल निभाया था जो इंतजार कर रही है उस आदमी के लौटने का जो लौटकर उसकी बेटी से शादी करेगा, यह वायदा करके गया था। बेटी है शबाना आजमी, जो यह जानती है कि वह आदमी कभी नहीं आएगा। वह तो पहले ही शादी करके कोलकाता में रह रहा है और एक बच्चे का पिता भी है।

अंधी मां के पास प्रतीक्षा का आशावाद है। वह खंडहर होते जीवन के बीच उम्मीद के विजन को ध्वस्त नहीं होने देगी। वह एक खंडहर में मैले–कुचैले बिस्तर पर पड़ी रहती है। यह खंडहर पुराने मूल्यों का खंडहर है। जान पड़ता है कि अंधी मां भारतीय जनता है, जो यथार्थ की तह में नहीं जा पाती और एक रोमांटिक कुहासे के पार नहीं देख पाती। वह एक अनंत प्रतीक्षा के छोर पर है। खंडहर ने एक ऐसा बियाबान सृजित किया था, जो भारतीय उजाड़ को बड़ी तकलीफ के साथ आकार देता था कि जैसे वह लोकतंत्र का वीराना हो। भारतीय मुफलिसी का मेटाफर। एक ढहती हुई राजनीतिक और अर्थतंत्र की प्रतीकात्मक छवि। सारी बड़ी रचनाओं में दृश्य और दृश्य के पार जाने के बीच निरंतरता का गुण हुआ करता है।

1983 में मृणाल सेन की 'खंडहर', जितेन्द्र – श्रीदेवी की 'हिम्मतवाला' और एकदिवसीय क्रिकेट में कपिलदेव के नेतृत्व में वर्ल्ड कप एक साथ आया था। उससे पहले 1982 में एशियन गेम्स हुए थे और रंगीन टेलीविजन पर मनोरंजक सीरियल का आगमन हो चुका था। मृणाल सेन की 'खंडहर' व्यावसायिक रूप से असफल फिल्म थी । 'हिम्मतवाला' को छप्पड़फाड़ सफलता मिली थी । 1991 में नरसिम्हाराव ने उदारीकरण शुरू किया ।

1991 में अमिताभ बच्चन की 'हम' आयी । यह अपने एक फूहड़ गाने के कारण

चर्चित हुई। गोविन्दा भी 'हम' में था। लेकिन गोविन्दा को फूहड़ता का बादशाह डेविड धवन ने बनाया । 1992 में डेविड धवन ने गोविन्दा के साथ 'शोला और शबनम' बनाकर सफलता का झंडा गाड़ा। 1993 में 'आँखें' आई और गोविन्दा का युग शुरू हुआ । 2001 तक गोविन्दा युग चलता रहा। 1999 में सलमान खान ने डेविड धवन के साथ 'बीबी नम्बर वन' की। इसी साल 'हेलो ब्रदर' आई और 1989 से सफल सलमान खान का फूहड़ फेज शुरू हुआ। सन् 2000 में प्रियदर्शन ने एक्शन हीरो अक्षय कुमार को 'हेरा–फेरी' का नायक बनाया और अक्षय कुमार की कॉमेडी शुरू हुई। सन् 2000 से 2010 के 'हाउसफुल' तक अक्षय कुमार की सफलता 1990 के दशक के गोविन्दा और 1980 के दशक के जितेन्द्र की तरह थी।

समकालीन भारतीय समाज धीरे–धीरे फूहड़ मनोरंजन का प्रशंसक होता जा रहा है । अक्षय कुमार इसका प्रतीक है । 'हाउसफुल' (2010, निर्देशक साजिद खान) इसका प्रतीक है। साजिद खान ने पहले भी अक्षय कुमार को लेकर 'हे बेबी' बनायी थी । 'हे बेबी' भी हिट थी। 'हाउसफुल' सुपरहिट है। साजिद की बहन फराह खान भी अक्षय कुमार को लेकर 'तीस मार खां' बना चुकी है। अब तक फराह खान शाहरूख खान को लेकर 'मैं हूँ ना' और 'ओम शांति ओम' बना चुकी है। फराह के पति शिरीष कुंदुर की फिल्म 'जानेमन' में भी अक्षय कुमार और सलमान खान थे। यह असफल फिल्म थी। 'ओम शांति ओम' में शाहरूख–फराह खान ने तथा 'सिंह इज किंग' में अक्षय कुमार और अनीस बज्मी ने दर्शकों को मूर्ख बनाया था। दोनों की सफलता प्रायोजित थी। इनकी तुलना में राजकुमार संतोषी की (2009) में आई कॉमेडी फिल्म 'अजब प्रेम की गजब कहानी' एक बेहतर फिल्म है। 'इश्किया' (अभिषेक चौबे) भी एक औसत दर्जे की मनोरंजन फिल्म है। 'वेक अप सिड' (अयान मुखर्जी) भी एक औसत दर्जे की पारिवारिक फिल्म है । 'लाइफ इन ए मेट्रो' (अनुराग बसु) की तरह इसमें सामाजिक बदलाव को पकड़ने की कोशिश की गई है । जबकि 'इश्किया' माइन्डलेस मनोरंजन की फिल्म है। 1983 से जितेन्द्र, 1993 के आसपास से गोविन्दा, 1999 से सलमान खान तथा 2000 से अक्षय कुमार ने हास्य फिल्मों में फूहड़ चरित्रों को निभाना शुरू किया। 2003 से राजू हीरानी ने हास्य फिल्मों को नया आयाम देना शुरू किया। इसके बावजूद अक्षय कुमार की सफल फिल्मों की संख्या सब पर भारी पड़ने लगी।

1982–1983 से भारतीय समाज में फूहड़ आधुनिकता और पूंजीवादी मूल्यों के प्रति मध्यवर्गीय आकर्षण बढ़ने लगा । इसी की परिणति हिन्दी सिनेमा और टेलीविजन सीरियलों में अभिव्यक्त हुई है। मृणाल सेन ने 1969 में 'भुवन शोम'

बनायी थी । इससे हिन्दी में समानांतर सिनेमा का जन्म हुआ था । 1983 तक आते–आते समानांतर सिनेमा का अंत हो गया । 'खंडहर'(1983) के द्वारा मृणाल सेन ने इसको भी अभिव्यक्ति दी। 'भुवन शोम' (1969) एक मनोरंजक फिल्म थी।

उसमें एक नयापन था। एक प्रकार की चाक्षुष (विजुअल) गति थी । मृणाल सेन 1969 में रचनात्मकता से बलबला रहे थे। 1983 में उनकी रचनात्मकता थकी–थकी नजर आती है। तब तक इप्टा के लोग भी थक कर बिखर चुके थे । दाऊद इब्राहिम का खूनी पंजा बॉलीवुड को अपनी गिरफ्त में लेने लगा था। इसी समय इंदिरा गांधी ने अपना समाजवादी केंचुल उतारना शुरू किया। 1973 से 1983 तक अमिताभ बच्चन अपना सर्वश्रेष्ठ काम कर चुके थे। 1983 में 'कुली' बनी थी। इस फिल्म की एक दुर्घटना में वे बुरी तरह घायल हुए थे। वे जीवन–मृत्यु से जब अस्पताल में जूझ रहे थे तो सारा देश थम गया था। बीमारी के सन्नाटे में एक महानायक का जन्म हुआ। 'कुली' को आशातीत सफलता मिली। 1984 के 31 अक्टूबर को इंदिरा गांधी की मृत्यु हुई। उनकी लाश को तीन दिनों तक टी वी पर दिखलाया गया और साल के अंत में राजीव गांधी को अभूतपूर्ण सफलता मिली। अमिताभ बच्चन इलाहाबाद के सांसद बने। उन्होंने हेमवतीनंदन बहुगुणा को हरा दिया और कुछ वर्षों के लिए वे सिनेमा से दूर हो गए। परन्तु उनकी फिल्में 1992 तक लगातार प्रदर्शित होती रहीं। 1983 के बाद उनको मेगास्टार कहा गया। मनमोहन देसाई उनको 'वन मैन इन्डस्ट्री' कहते थे।

इसके बावजूद 1983 से 1988 तक हिन्दी सिनेमा का ट्रेंड बदल गया था और इसे जितेन्द्र–श्रीदेवी का युग कहा जा सकता है। इस ट्रेंड को 1989 में सूरज बड़जात्या की 'मैंने प्यार किया', यश चोपड़ा की 'चांदनी' और सुभाष घई की 'राम–लखन' ने बदला । 1988 में माधुरी दीक्षित की 'तेजाब' और जूही चावला–आमिर खान की 'कयामत से कयामत' तक आ चुकी थी। 1983 से 1988 तक सिनेमा हॉल में दर्शकों ने सपरिवार जाना बंद कर दिया था। इस पीरियड में टीवी और होम वीडियो ने दर्शकों का ध्यान खींचा था। सिनेमा के प्रति मध्यवर्गीय दर्शकों में उन्माद घट गया था । 1988–89 से दर्शकों ने सिनेमा हॉल में दोबारा जाना शुरू किया। यह माधुरी दीक्षित का युग–प्रवेश था। 1989 में 'चांदनी' श्रीदेवी की अंतिम भव्य सफलता थी । 1988 के 'तेजाब' से 1994 के 'हम आपके हैं कौन' तक माधुरी दीक्षित युग था। 1993 से गोविन्दा और शाहरूख खान की फिल्मों को लगातार सफलता मिलती रही। दोनों का अपना फैन–सर्किल बना । 2000 से ऋतिक रोशन और अक्षय कुमार का उदय हुआ। 2001 से आमिर खान ने खुद को

रिडिफाइन किया। तीनों में अक्षय कुमार की सफल फिल्मों की संख्या सबसे ज्यादा रही है। आमिर खान और ऋतिक रोशन बहुत कम फिल्में करते हैं। लेकिन विज्ञापन फिल्मों में शाहरूख खान, सचिन तेंदुलकर और अमिताभ बच्चन का जलवा सब पर भारी रहा। शाहरूख खान जैसा व्यवस्थित व्यवसाय हिन्दी फिल्मों में किसी ने नहीं किया। विज्ञापन फिल्मों से शादी–ब्याह में नाचने तक, क्रिकेट के व्यवसाय से लेकर राजनीतिक तिगड़म तक शाहरूख खान ने 1993 से वह सब कुछ किया जो व्यावसायिक सफलता और पैसा कमाने के लिए किया जा सकता है। लेकिन टैलेन्ट और सिनेमाई लोकप्रियता में अमिताभ बच्चन, आमिर खान, गोविन्दा और ऋतिक रोशन के सामने शाहरूख उन्नीस पड़ते हैं। शाहरूख केवल अभिनेता नहीं हैं, वे एक ब्रांड हैं और किंग खान के रूप में उन्होंने अपनी सफल ब्रांडिंग की है। वे ओवर एक्टिंग करते हैं। 'चक दे इंडिया' एकमात्र अपवाद है। उनमें रॉ टैलेन्ट की कमी है। वे स्वाभाविक अभिनय नहीं कर सकते। वे गोविन्दा की तरह डांस, ऋतिक और अक्षय कुमार की तरह स्टंट, अमिताभ और अमिर की तरह अभिनय नहीं कर सकते। गोविन्दा और अक्षय कुमार की तरह वे कॉमेडी भी नहीं कर सकते। परन्तु उनसे बेहतर व्यवसायी कोई नहीं है । उनको बड़े बैनर का हमेशा सहयोग मिलता रहा है । शाहरूख अच्छे आदमी हैं। वे बहुत मेहनती हैं। उनमें व्यावसायिक चातुर्य है। उनमें स्टार अपील भी है लेकिन वे बहुत टैलेन्टेड अभिनेता नहीं हैं। वे बहुत भाग्यशाली हैं कि इतने कम टैलेन्ट में उनको इतनी सफलता मिली। अक्षय कुमार ने 1991 से अभिनय शुरू किया था। लेकिन उनको बड़ी सफलता सन् 2000 में प्रियदर्शन की 'हेराफेरी' से मिली। प्रियदर्शन ने 1992 में 'मुस्कराहट' नामक फिल्म से हिन्दी सिनेमा में प्रवेश किया था। यह मलयालम फिल्म किलुक्कम का हिंदी संस्करण थी। 1997 में प्रियदर्शन ने 'विरासत' बनायी थी जिसकी काफी चर्चा हुई थी। परन्तु सन 2000 से वे कॉमेडी फिल्मों के उस्ताद के रूप में उभरे। शाहरूख ने 1992 से अभिनय शुरू किया और पहली फिल्म से ही उनको सफलता मिल गई। अक्षय कुमार की सफलता की तुलना गोविन्दा, अमिताभ बच्चन और जितेन्द्र की सफलता से की जा सकती है। चारों ने बहुत लंबा संघर्ष किया है । चारों को सफलता देर से मिली है। इनमें अमिताभ निराले हैं। उनकी तुलना भारत में किसी से नहीं की जा सकती। बी बी सी के एक ओपिनियन पॉल में उनको मिलेनियम स्टार का दर्जा मिला है। परन्तु जितेन्द्र, गोविन्दा और अक्षय कुमार की तुलना की जा सकती है। तीनों आम जनता के बीच काफी लोकप्रिय रहे हैं। भले ही इन पर फूहड़ता का आरोप लगा हो परन्तु दोष केवल इनका नहीं है, निर्देशकों और दर्शकों का भी है, निर्माताओं का भी है। हम जिस तरह के देश, जिस तरह की राजनीति, जिस तरह की अर्थव्यवस्था और

जिस तरह की संस्कृति गढ़ रहे हैं उसमें फिल्मी मनोरंजन भी उसी प्रकार का होगा। लेवी स्ट्रॉस की भाषा में उपरोक्त सभी आयामों में सहधर्मिता है। परम्परावादी भारतीय समाज धीरे–धीरे आधुनिक फूहड़ता को अपनाता जा रहा है।

❑❑❑

अध्याय – दो

सिनेमा और संस्कृति

1. भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता 137
2. भारतीय संस्कृति का स्वरूप 145
3. भारतीय संस्कृति में रस की अवधारणा 167
4. धर्म एवं सिनेमा 187
5. हिन्दी सिनेमा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ 199

भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता

भारतीय संस्कृति मनुष्य के विचारों एवं व्यवहारों के प्रतिमान को इंगित करती है। इसके अंतर्गत मूल्य, विश्वास, आचार संहिता, राजनीतिक प्रतिमान तथा आर्थिक संगठन भी शामिल हैं। संस्कृति के ये तत्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रक्रियाओं द्वारा हस्तांतरित किए जाते हैं।

संस्कृति समाज के सदस्य के रूप में हमारे विचार और कार्य (चिंतन एवं व्यवहार) के तरीकों का समुच्चय है। फलस्वरूप सामूहिक जीवन की समस्त उपलब्धियों को सम्मिलित रूप से संस्कृति कहा जाता है। लोकप्रिय दृष्टि से, संस्कृति के भौतिक पक्ष जैसे वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों को सभ्यता कहा जाता है एवं समूह की उच्च अभौतिक उपलब्धियों को (जिसमें कला, संगीत, साहित्य, दर्शन, धर्म एवं विज्ञान के सिद्धांत शामिल हैं) विशिष्ट संस्कृति कहा जाता है।

सभ्यता समाज का संगठित पक्ष है जो संस्कृति की दशाओं का निर्माण करती है। संस्कृति इसी सभ्यता रूपी संगठन की उपज है जो भाषा, कला, दर्शन, धर्म, सामाजिक आदतों, प्रथाओं, आर्थिक संगठन एवं राजनीतिक संस्थाओं में अभिव्यक्त होता है।

संस्कृति एक व्यापक शब्द है जिसमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं :

- व्यवहार के प्रतिमान एवं तरीके।
- उत्पादन की तकनीक एवं प्रौद्योगिकी, सामाजिक संगठन, कला, विज्ञान, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं अन्य सेवाओं के प्रोत्साहन के लिए बनी संस्थाएँ।
- बुनियादी मुद्राओं, मूल्यों, विश्वासों, विश्वदृष्टियाँ इत्यादि जिनकी अभिव्यक्ति कला, संगीत, साहित्य, दर्शन एवं धर्म के माध्यम से होती है।

संस्कृति के अंतर्गत तकनीक, उपकरण, भौतिक वस्तुएँ, उपभोक्ता वस्तुएँ, गृह–सज्जा एवं भवन निर्माण कलाओं, उत्पादन विधियों, व्यापार, वाणिज्य, युद्ध कला एवं अन्य सामाजिक गतिविधियों को शामिल किया जाता है। अभौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानदंडों, मूल्यों, विश्वासों, मिथकों, अनुष्ठानों, साहित्य, कर्मकाण्ड, कला–रूपों एवं अन्य बौद्धिक–साहित्यिक गतिविधियों को सम्मिलित किया जाता है। संस्कृति के दोनों पहलू सामान्यतः एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। परन्तु कभी–कभी भौतिक संस्कृति में जल्दी परिवर्तन हो जाता है जबकि अभौतिक संस्कृति में काफी धीमी गति से परिवर्तन होता है।

भारतीय संस्कृति की अवधारणा

सामाजिक संरचना की दृष्टि से समाजशास्त्रियों द्वारा पारंपरिक भारतीय संस्कृति का संबंध मोटे तौर पर राजाओं, पुजारियों, साधुओं, मुनियों, संन्यासियों, भिक्षुओं, विद्वानों, धनपतियों एवं समृद्ध समूह के साथ जोड़ा जाता है। परन्तु यह एक प्रकार के दृष्टि असंतुलन का उदाहरण है। पारंपरिक भारतीय संस्कृति की संरचना में सबसे प्रमुख स्थान गृहस्थ किसान या शिल्पकार का है। आचार्य नरेन्द्र देव ने संस्कृति को चित्त की खेती कहा है। पारंपरिक भारतीय संस्कृति को समकालीन संस्कृति विमर्श के दायरे में समझा ही नहीं जा सकता। समकालीन संस्कृति विमर्श के केन्द्र में यूरोपीय 'कल्चर' विमर्श का अतिरंजित प्रभाव है।

अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' और संस्कृत शब्द 'संस्कृति' में गुणात्मक अन्तर है। जर्मन विद्वानों ने 'कल्चर' शब्द की व्याख्या आधुनिक सभ्यता के पूँजीवादी संदर्भ को एकमात्र सभ्यता मानकर किया है। इस संदर्भ में 'कल्चर' का संबंध अभिजात संस्कृति से है। अभिजात संस्कृति पूँजीवादी उद्योगों का एक कृत्रिम उत्पाद है। थियोडोर एडोर्नो तथा रेमण्ड विलियम्स जैसे विद्वानों ने ऐसी अभिजात संस्कृति को संस्कृति उद्योग के उत्पाद के रूप में विश्लेषित किया है।

यह पश्चिम का दुर्भाग्य है कि इसने अपने समाज में आधुनिकता–पूर्व की सांस्कृतिक विरासत को बचाकर नहीं रखा। पश्चिम में परंपरा एक काल्पनिक वस्तु है जिसका समाज एवं संस्कृति में कोई वजूद नहीं है। इसका अस्तित्व केवल कला, साहित्य और सिनेमा में है परन्तु इस परंपरा का पश्चिम के समाज से कोई जीवंत रिश्ता न है, न हो सकता है। यह आधुनिकता से उकताये कुछ पश्चिमी कलाकारों, साहित्यकारों एवं संवेदनशील व्यक्तियों की काल्पनिक फैंटेसी, स्वप्न या यूटोपिया का उदाहरण है।

ऐसे ही कुछ विद्वानों ने भारत जैसे पारंपरिक देशों को अपने रूमानी यूटोपिया की अभिव्यक्ति के रूप में पेश करना चाहा है। इस तरह की प्रस्तुति आज प्राच्यवाद या भारतविद्या के नाम से आधुनिक विश्वविद्यालयों में लोकप्रिय है। इसकी भारत में बढ़ती लोकप्रियता घातक है। यूरोप की तुलना में भारत की सभ्यता जटिल है। इसकी संस्कृति को समझने के लिए इसकी भाषा परंपरा को समझना आवश्यक है। इसके निवासियों की प्रथाएँ तथा रीति–रिवाजों को समझना आवश्यक है। इसकी विविधता के बीच इसकी एकता को समझना आवश्यक है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक, उत्तर भारत से लेकर दक्षिण भारत तक, पूर्वी भारत से लेकर पश्चिमी भारत तक, संस्कृत, पालि, प्राकृत, तमिल से लेकर समकालीन भारतीय भाषाओं और बोलियों तक, हिन्दू, जैन, बौद्ध, सिक्ख से लेकर मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी और प्रकृति पूजक भारतीयों के बीच तक भारतीय संस्कृति के रूप में कुछ मूलभूत समानतायें हैं। ऊपरी मतभेदों, आवरण–भेद, अभिव्यक्ति–भेद के बावजूद कुछ समानतायें हैं ।

सबसे बड़ी समानता यह है कि भारतीय लोग संस्कृति को प्रकृति का संस्कार या परिष्कार मानते हैं। पश्चिम में प्रकृति को संस्कृति और सभ्यता का विलोम माना जाता है। फ्रायड से लेकर मार्क्स तक, हॉब्स से लेकर धार्मिक तत्ववादियों तक सभी प्रकृति को खतरनाक, अव्यवस्थित, असभ्य, अधार्मिक, अदैवीय मानते हैं। इसको सभ्य समाज का शत्रु मानते हैं। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता में प्रकृति और संस्कृति का अस्तित्व एक साथ संभव नहीं है। इसके विपरीत भारत में संस्कृति और प्रकृति के बीच न केवल सह–अस्तित्व संभव है बल्कि दोनों के बीच पूरकता है। पश्चिम में मनुष्य और प्रकृति के बीच एक अवधारणात्मक खाई है जबकि भारत में मनुष्य खुद प्रकृति का अंग है।

मनुष्य और प्रकृति दोनों ईश्वरीय रचनाएँ हैं। संस्कृति उसी तरह मनुष्यों के चित्त का परिमार्जन करती है जिस तरह कृषि प्रकृति का दोहन करती है। कृषक उसी तरह जमीन या प्रकृति का दोहन करता है जिस तरह बछड़ा अपनी माँ (गाय) के दूध का दोहन करता है। इसी अर्थ में गाय भारतीय संस्कृति में पूज्य भी है और प्रतीक भी। उत्तर भारत के हिन्दीभाषी लोक में अक्सर कहा जाता है कि खुद कमाना और खाना प्रकृति है। दूसरों की कमाई खाना विकृति है। खुद कमाना, दूसरों को खिलाना और जो बचे उसे प्रसाद समझकर भक्ति भाव से खाना संस्कृति है। इस मानक पर फलदार वृक्ष एवं गाय सुसंस्कृत जीवों के सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। माँ, सामान्य गृहिणी और गृहस्थ किसान इसके मानवीय उदाहरण हैं।

इस संस्कृति का सर्वोत्तम विकास गाँव के लोक में होता रहा है। सिंधु घाटी की सभ्यता के दिनों से भारत में नगरों का निरंतर अस्तित्व रहा है लेकिन नगरों की भूमिका केन्द्रीय न होकर पूरक या सहयोगी क्षेत्र जैसी रही है। नगर या तो स्थानीय राजधानी रहे हैं या तीर्थस्थान या वाणिज्य–व्यापार के पारंपरिक व्यवस्था के स्थान रहे हैं। इन नगरों की प्रमुख भूमिका इन गाँवों एवं कृषि केन्द्रित पारंपरिक जीवन पद्धति का संरक्षण, संवर्धन एवं पोषण करना रही है। लोक कला, गीत, संगीत एवं नृत्य भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में सामान्यतः गाँवों में ही फलते–फूलते रहे हैं। शिल्प भारतीय संस्कृति में उत्कृष्ट कला मानी जाती रही है। अंग्रेजी राज से पहले (यानी 1757 से पहले) तक इस पारंपरिक संस्कृति की रचनात्मक बनावट में सभ्यतामूलक निरंतरता रही है। अंग्रेजी राज में भारतीय संस्कृति के संरचनात्मक आधार में रूपांतरण होना शुरू हुआ। गाँवों, कृषि, गो–पालन पारंपरिक शिल्प एवं पारंपरिक नगरों का महत्व गौण होने लगा और अंग्रेजों द्वारा विकसित महानगरों, उद्योग–धंधों, वाणिज्य–व्यापार, कोर्ट–कचहरी, अप्राकृतिक एवं असंतुलित विकास एवं राज्य संस्था का महत्व बढ़ने लगा।

आधुनिक काल के दौरान शास्त्रीय परंपरा तथा स्थानीय लोकपरंपराओं के बीच पहले जैसा सामंजस्य कायम नहीं रह पाया। पारंपरिक संतुलन को आधुनिकीकरण के कारकों तथा प्रक्रियाओं ने प्रभावित किया। आधुनिक सामाजिक शक्तियों ने शास्त्रीय तथा लोकपरंपराओं के संबंध को विघटित किया। शहरी क्षेत्रों में नये मध्यमवर्ग का विकास हो रहा है तथा यह वर्ग आधुनिक पश्चिम की शास्त्रीय परंपरा को अपनाने की कोशिश कर रहा है। मध्यमवर्ग की विश्व दृष्टि तथा अभिरुचियाँ लोकपरंपरा के वाहकों से मूल रूप से भिन्न हैं। ये लोग अधिकांशतः पश्चिमी सांस्कृतिक मूल्यों, प्रतिमानों, विचारों, अभिरुचियों एवं संस्थाओं के वाहक हैं तथा अंग्रेजी इनके लिए शास्त्रीय भाषा बन चुकी है।

सामान्यतः लोक तथा जनजातीय परंपराएं तुलनात्मक रूप से राजनीतिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों से अप्रभावित रही हैं। शास्त्रीय परंपराओं का महत्व राजनीतिक शक्ति संरचना में परिवर्तन के साथ कई बार बदलता रहा है, परन्तु लोक तथा जनजातीय परंपराएं हमेशा जीवंत बनी रही हैं। पारंपरिक भारत में शास्त्रीय परंपराओं ने हमेशा ही लोक तथा जनजातीय संस्कृति को उचित स्थान तथा महत्व दिया है। परन्तु आधुनिक पश्चिम की और शास्त्रीय सांस्कृतिक परंपराओं के वाहकों ने लोक तथा जनजातीय परंपराओं के प्रति कम सहिष्णुता दिखलाई है। ये लोग पारंपरिक संस्कृति को सामान्यतः आधुनिक संस्कृति की तुलना में पिछड़ा, बर्बर एवं

अंधविश्वासी मानते हैं। ये लोग भारतीय संस्कृति के सभी तत्त्वों एवं धाराओं का आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण करने की कोशिश करते हैं। आजकल पश्चिमीकरण, औद्योगीकरण, नगरीकरण, वैश्वीकरण तथा जनतंत्रीकरण जैसी प्रक्रियाएँ भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों को प्रभावित कर रही हैं। परंतु आधुनिकता एवं पंथ–निरपेक्षता की ये शक्तियाँ भी भारतीय संस्कृति की परंपरागत धार्मिक जड़ों को पृथक् नहीं कर पायी हैं। समकालीन भारतीय संस्कृति के शास्त्रीय तथा लोकप्रिय दोनों रूपों में पारंपरिक संस्कृति के कुछ पहलुओं का रचनात्मक सात्मीकरण हो चुका है।

पारंपरिक भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ

पारंपरिक भारतीय संस्कृति अपने संतुलित दृष्टिकोण एवं लोकमंगल के प्रति अपने सर्वोपरि आग्रह के कारण सार्वभौमिकता, अन्त्योदय, सर्वोदय, परोपकार, लचीलापन, उदारता, सरलता तथा सादगी जैसे मूल्यों को प्रोत्साहित करती है। भारतीय संस्कृति की कुछ मुख्य विशेषताएँ जो विभिन्न जातियों, जनजातियों, नृजातीय समूहों, धार्मिक समूहों एवं संप्रदायों में समान रूप से पायी जाती हैं। निम्नलिखित हैं:–

वैश्विक दृष्टि

भारतीय संस्कृति के ढाँचे में मानव प्राणी को ईश्वर जनित जगत की अवधारणा के संदर्भ में समझा जाता है। यह दृष्टि मनुष्य केन्द्रित न होकर सृष्टि की सभी सजीव एवं निर्जीव रचना को ईश्वरीय अभिव्यक्ति मानती है। इसीलिए यह ईश्वरीय योजना का सम्मान करती है तथा सह–अस्तित्व के आदर्श को प्रोत्साहित करती है। यह दृष्टि मनुष्य, प्रकृति तथा ईश्वर को एक ही एकात्मक पूर्णता के आयाम के रूप में संयोजित करती है। यह दृष्टि सत्यं, शिवं, सुंदरं के आदर्श में प्रतिबिंबित होती है।

सामंजस्य

भारतीय दर्शन तथा संस्कृति आंतरिक सामंजस्य एवं व्यवस्था प्राप्त करने तथा इन सबका पूरे विश्व तक विस्तार करने की कोशिश करती है। भारतीय संस्कृति की मान्यता है कि प्राकृतिक वैश्विक व्यवस्था ही नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्था का मार्गदर्शन करती है। आंतरिक सामंजस्य बाहरी सामंजस्य का आधार है। आंतरिक सामंजस्य के आधार पर स्वाभाविक रूप से बाहरी व्यवस्था तथा सौन्दर्य का विकास होता है। भारतीय संस्कृति भौतिकता एवं आध्यात्मिकता के बीच सामंजस्य स्थापित

करने की कोशिश करती है। इस सामंजस्य की अभिव्यक्ति 'पुरुषार्थ' की अवधारणा में होती है।

सहिष्णुता

भारतीय संस्कृति यथार्थ के बहुआयामी पक्ष को स्वीकार करती है तथा दृष्टिकोणों, व्यवहारों, प्रथाओं एवं संस्थाओं की विविधता का स्वागत करती है। यह एकरूपता के विस्तार के लिए विविधता के दमन की कोशिश नहीं करती। भारतीय संस्कृति का आदर्श–वाक्य 'अनेकता में एकता' एवं 'एकता में अनेकता' दोनों हैं।

कर्त्तव्य पर बल

अधिकार की तुलना में भारतीय संस्कृति धर्म या नैतिक कर्त्तव्य पर बल देती है। यह माना जाता है कि अपना अधिकार मांगने की तुलना में अपना कर्त्तव्य निभाना ज्यादा महत्वपूर्ण है। यह अपने कर्त्तव्य और दूसरों के अधिकार की पूरकता पर बल देती है। इस तरह, सामुदायिक या पारिवारिक कर्त्तव्यों पर बल देकर, भारतीय संस्कृति व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता की जगह परस्पर निर्भरता को प्रोत्साहित करती है।

आत्मोत्सर्ग एवं बलिदान

भारतीय संस्कृति उन लोगों का सम्मान करती है जो दूसरों के सुख के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान करते हैं। महर्षियों, संतों तथा संन्यासियों को, राजाओं एवं व्यापारियों से हमेशा ऊँचा माना जाता है। भारतीय संस्कृति नायक के रूप में शहीदों को हमेशा ही राजाओं एवं व्यापारियों से अधिक महत्त्व देती है।

निरंतरता के दायरे में परिवर्तन

भारतीय संस्कृति ने हमेशा निरंतरता के दायरे में ही परिवर्तन को पसंद किया है। यह क्रमिक परिवर्तन या सुधार की पक्षधर रही है। यह आकस्मिक या क्षणिक परिवर्तन को प्रोत्साहित नहीं करती है। इसी कारण, अधिकांश वैचारिक परिवर्तन के क्रम में, मौलिक चिंतन में बदलाव के बदले, नए और पुराने के बीच समन्वय को वरीयता दी जाती है, न कि पुराने को बदल कर नए को स्वीकार करने पर जोर दिया जाता है।

संयुक्त परिवार का आदर्श

विवाह के स्तर पर भारत में काफी विविधता है परन्तु परिवार के स्तर पर आश्चर्यजनक समानता है। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार का आदर्श या मूल्य करीब–करीब सभी भारतीय स्वीकार करते हैं। सभी व्यक्ति एक संयुक्त निवास–स्थान में रहें यह आवश्यक नहीं है। लेकिन संयुक्त परिवार का आदर्श कायम रहता है। संयुक्त परिवार को भारतीय संस्कृति की पारिभाषिक विशेषता माना जाता है। भारतीय लोग व्यक्तिगत पहचान एवं पारिवारिक पहचान में अंतर करते हैं।

कर्म का सिद्धांत

ज्यादातर भारतीय मानते हैं कि एक व्यक्ति अपने कर्मों के फल भोगने से बच नहीं सकता। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि भाग्य का संबंध पुराने कर्मों से है।

स्थानीय पंचांग एवं कालचक्र

भारत के हर क्षेत्र एवं भाषा–समूह में स्थान एवं समय को समझने एवं अपने सांस्कृतिक जीवन को गतिशील संतुलन देने के लिए लोक या स्थानीय भाषा में पंचांग का इस्तेमाल किया जाता है। इसका सैद्धांतिक आधार तो भारतीय ज्योतिष विज्ञान है लेकिन व्यावहारिक आधार ऋतु चक्र परिवर्तन की पारंपरिक अनुभूति है। पंचांग एक ओर प्राकृतिक चक्र में परिवर्तन को पारंपरिक माह एवं ऋतु के क्रम में प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर सांस्कृतिक चक्र में परिवर्तन को संक्रांति, व्रतों एवं त्योहारों के क्रम में प्रस्तुत करता है।

ग्रेगरीयन कैलेंडर का इस्तेमाल मूल रूप से सरकारी कार्यालय एवं आधुनिक संस्थाओं के कार्य–व्यापार में होता है परन्तु धार्मिक, सांस्कृतिक एवं व्यक्तिगत जीवन में भारतीय लोग अपने समुदाय, क्षेत्र एवं भाषा–समूह अथवा सम्प्रदाय में लोकप्रिय पंचांगों का ही व्यवहार करते हैं। चैत्र (चैत), वैशाख (वैशाख), ज्येष्ठ (जेठ), आषाढ़ (आषाढ़), श्रावण (सावन), भाद्रपद (भादों), आश्विन (क्वार), कार्तिक (कार्तिक), मार्गशीर्ष (अगहन), पौष (पूष), माघ (माघ), फाल्गुन (फागुन) बारह महीने हैं। अलग–अलग पंचांगों में इन्हें अलग–अलग नाम से प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु हर महीने का प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक महत्व करीब–करीब समान ही रहता है। मुख्य रूप से तीन ऋतुएँ होती हैं – शीत ऋतु, ग्रीष्म ऋतु और वर्षा ऋतु। किन्तु आयुर्वेद में छः ऋतुओं की चर्चा है – वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद,

हेमन्त और शिशिर। ग्रीष्म और वर्षाकाल के बीच की ऋतु प्रावृट कहलाती है। सामान्यतः चैत्र–वैशाख में वसन्त ऋतु, जेष्ठ–आषाढ़ में ग्रीष्म ऋतु, सावन–भादों में वर्षा ऋतु, आश्विन–कार्तिक में शरद ऋतु, मार्गशीर्ष–पौष में हेमन्त ऋतु, एवं माघ–फाल्गुन में शिशिर ऋतु मानी जाती है। परन्तु प्रति दिन–रात में भी इन ऋतुओं की अनुभूति होती है। प्रातःकाल वसन्त, दोपहर में ग्रीष्म, संध्या के समय वर्षा, आधी रात में शरद और सूर्योदय से पूर्व ब्रह्म–मुहूर्त में हेमन्त ऋतु के लक्षण पाये जाते हैं। दोपहर बाद प्रावृट ऋतु पायी जाती है।

योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा

भारतीय संस्कृति में योग, ध्यान, प्राणायाम एवं प्राकृतिक चिकित्सा का महत्व करीब–करीब हर समुदाय, हर क्षेत्र एवं हर भाषा समूह के एक आदर्श के रूप में स्वीकारा जाता है। व्यावहारिक स्तर पर हर व्यक्ति तो योग, ध्यान या प्राणायाम नहीं करता, परन्तु वह इन्हें करने योग्य आदर्श व्यवहार अवश्य मानता है। दूसरी ओर अधिकांश भारतीय लोग अस्वस्थ होने पर तुरंत डाक्टर के पास अस्पताल जाने की बजाय पारंपरिक, घरेलू या प्राकृतिक चिकित्सा के द्वारा ही स्वस्थ होने की कोशिश करते हैं।

नृत्य, गीत एवं संगीत

भारतीय संस्कृति में जीवन की हर दशा, दिशा एवं स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए तदनुरूप नृत्य, गीत एवं संगीत का इस्तेमाल होता है। भारत में शायद ही कोई परिवार, जाति या समुदाय ऐसा हो जिसमें दुख एवं सुख, सफलता एवं असफलता, विवाह, जन्म एवं मृत्यु, ऋतु परिवर्तन एवं व्यावसायिक उपलब्धियों की अभिव्यक्ति बिना नृत्य, गीत या संगीत के की जाती हो। भारत में संगीत, गीत एवं नृत्य एक ओर मनोरंजन के सर्वप्रमुख माध्यम हैं तो दूसरी ओर जीवन की गहनतम अनुभूतियों एवं अभिव्यक्तियों के भी माध्यम हैं। भारतीय सिनेमा की सफलता, असफलता एवं कलात्मकता में भी गीत, संगीत एवं नृत्य की प्रमुख भूमिका रही है।

अनेकता या बहुलता

भारतीय संस्कृति में अनेकता या बहुलता को जीवन, विचार तथा प्रथमा प्रथाओं की स्वाभाविक स्थिति माना जाता है। अधिकांश भारतीय मानते हैं कि हर मार्ग, तरीके, प्रथा, परंपरा या पूजा–पद्धति से आत्म–साक्षात्कार एवं ब्रह्म–साक्षात्कार संभव है।

❑❑❑

भारतीय संस्कृति का स्वरूप

भारतविदों के अनुसार भारतीय संस्कृति का मूल आधार केवल पारंपरिक सामाजिक संहिता में ही नहीं वरन् जीवन के आध्यात्मिक आधार में भी है। विस्तृत रूप से हम भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख तत्त्वों की चर्चा कर सकते हैं : (क) शास्त्रीय, अभिजात या मार्गी संस्कृति, (ख) लोक या देसी संस्कृति एवं (ग) जनजातीय संस्कृति। प्राथमिक रूप से यह केवल अवधारणात्मक वर्गीकरण है। उपर्युक्त में से कोई भी सांस्कृतिक तत्त्व अपने शुद्ध रूप में भारतीय समाज में देखने को नहीं मिलता है। लोक एवं शास्त्रीय तत्त्व सामान्यतः एक–दूसरे के काफी समान हैं और कभी–कभी तो यह कहना मुश्किल हो जाता है कि किस बिंदु पर एक समाप्त होता है और दूसरा प्रारंभ होता है। उपर्युक्त वर्गीकरण केवल कामचलाऊ अवधारणात्मक उपकरण उपलब्ध कराता है जिसके सहारे भारतीय संस्कृति के आदर्श–प्रारूप एवं मौलिक विशेषताओं का वर्णन एवं विश्लेषण किया जा सके।

यह भारतीय समाज में पाई जाने वाली अनुभवाश्रित सांस्कृतिक वर्गीकरण का वस्तुगत चित्रण नहीं है। देश के प्रत्येक क्षेत्र तथा विभिन्न ऐतिहासिक काल में असंख्य सांस्कृतिक विविधताएँ रही हैं। भारतीय परंपरा की तीन विशेषताएँ हैं। इसकी पहली विशेषता है जीवन की अखंडता और निरंतरता की पूरी स्वीकृति, जीवन जो सामने है उसकी भी, जो परोक्ष है उसकी भी। दोनों प्रकार के जीवन एक दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए यह परंपरा न मनुष्य को केन्द्र में रखती है, न उसके परिवेश को, बल्कि समष्टि को एक–दूसरे के लिए सापेक्ष बनाने पर बल देती है। इसकी दूसरी विशेषता है कि यह देशकाल के प्रति सजग होते हुए भी इसके अतिक्रमण के लिए प्रयत्नशील रही है, ताकि दूसरा देशकाल भी अपना हो सके। एक विशेष प्रकार की चिंतन–पद्धति इसका निजतत्त्व है। इसका दर्शन और भावना–पद्धति सफलता के लिए क्षुद्रता की बलि देनेवाली पद्धति है। इसकी तीसरी विशेषता है इसका वाक्–केंद्रित होना, इसमें वाक् का महत्वपूर्ण होना और फलतः वाक् की पवित्रता, वाक् की संयोजकता, वाक्

की सत्यता और वाक् की धारावाहिकता का महत्वपूर्ण होना। इसी कारण इसमें सामान्यतः रूढ़ संस्थाबद्धता नहीं आ पाती और इसी कारण इसमें शास्त्र लोकापेक्षी रहता है और लोकशास्त्र से प्रभावित।

शास्त्रीय, अभिजात या मार्गी परंपरा

भारतीय संस्कृति की शास्त्रीय परंपरा के दायरे में विभिन्न विषयों, भाषाओं और कलाओं को शामिल किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्योतिष विज्ञान, दर्शनशास्त्र, संगीत, नाट्यशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, वास्तु एवं शिल्प आदि।

इस परंपरा को कई नामों से पुकारा जाता है, जैसे– शास्त्रीय, मार्गी और अभिजात। इस परंपरा की काफी लंबे समय से निरंतरता बनी हुई है। शास्त्रीय संस्कृति की उल्लेखनीय विशेषता इसकी अभिव्यक्ति में उच्च श्रेणी की निपुणता एवं उत्कृष्ट कौशल–विन्यास का विकास है। शास्त्रीय संस्कृति के किसी आयाम में निपुणता के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण एवं लंबे समय तक निरंतर अभ्यास की आवश्यकता होती है। इसे साधना या रियाज कहते हैं। यह ज्ञान की विभिन्न शाखाओं तथा हर प्रकार की कला के लिए आवश्यक होता है।

भारतीय संस्कृति के शास्त्रीय तत्त्वों के विभिन्न रूपों में उल्लेखनीय रचनात्मकता देखने को मिलती है। इसमें लोक एवं जनजातीय परंपराओं के तत्त्वों को शास्त्रीय संस्कृति में समाहित करने की अलौकिक क्षमता भी शामिल है। इस प्रक्रिया के समुचित विकास में भारतीय संस्कृति में पाई जाने वाली ऊँचे स्तर की सहिष्णुता से भी सहायता मिलती रही है। भारतीय संस्कृति ने यदि आदर्श व्यवहार के लिए कुछ मानक तय किये हैं, तो विश्वास के मामले में काफी स्वतंत्रता भी दी गई है। उदाहरण के लिए, अलग–अलग प्रकार के धार्मिक विश्वासों एवं कर्मकाण्डों को उपरोक्त आधार पर ही सहज एकता के सूत्र में पिरोया गया है। भारतीय संस्कृति में शास्त्रीय परंपरा की निरंतरता का यही सबसे बड़ा कारण है।

लोक या देसी परंपरा

भारतीय जनसंख्या के अधिकांश लोग लोकपरंपरा के वाहक रहे हैं। यह परंपरा सामान्यतः मौखिक रही है और प्रत्यक्ष रूप से पुस्तकों पर निर्भर नहीं रही है।

लोकसंस्कृति तथा जनजातीय संस्कृति के बहुत से तत्त्व समान हैं, परन्तु इनके बीच कुछ महत्वपूर्ण अंतर भी पाया जाता है। किसी जनजाति की सांस्कृतिक परंपरा

अपने आप में स्वावलंबी और समग्र होती है, जबकि लोकपरंपरा हमेशा ही शास्त्रीय परंपरा की पूरक रही है। भारत में शास्त्रीय से लोक एवं लोक से शास्त्रीय के बीच चक्रीय आदान–प्रदान होता रहा है और दोनों परंपराओं ने एक दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए, कई लोक–धुनों को कुछ परिष्कार के बाद शास्त्रीय रागों में सम्मिलित कर लिया गया है।

लोकसंस्कृति में भाषाओं, बोलियों, अभिव्यक्तियों एवं छवियों की दृष्टि से काफी विविधता है, परन्तु विचारों, विषय–सूचियों एवं मूल्यों के मामले में मौलिक एकता है। यद्यपि बाह्य अभिव्यक्तियों में विविधता है, परन्तु संस्कृति के अधिकांश आयामों के बुनियादी ढाँचे एवं संस्कृति की आत्मा में मौलिक एकता है। भारत के करीब–करीब हर गाँव के अलग–अलग विशेष देवता होते हैं, परन्तु विश्वास एवं कर्मकाण्ड की दृष्टि से करीब–करीब पूरे देश में समानता है। उदाहरण के लिए, नाग देवता एवं शीतला माता की पूजा भारत के लगभग हर गाँव में होती है परन्तु उनके स्थानीय नाम अलग–अलग हो सकते हैं।

लोकसाहित्य, लोकगीत, महाकाव्य, कहानियाँ, कहावतें, पहेलियाँ एवं जादू के सूत्रों की लोकप्रियता कई भाषाई क्षेत्रों की सीमा को पार करती है, परन्तु सार लगभग एक जैसा ही होता है; उसी प्रकार महाकाव्यों के लोक संस्करणों के कथानकों के प्रतिमान में विभिन्न क्षेत्रों के बीच भी सामान्यतः समानता होती है। क्षेत्रीय विविधता न केवल लोकसंस्कृति में अपितु शास्त्रीय संस्कृति में भी देखने को मिलती है। लोकसंस्कृति का भी एक व्यापक सार्वभौमिक पहलू है। यह न तो छोटे स्थान तक सीमित है, और न ही इसकी प्रकृति संकीर्ण है। लोकसंस्कृति छोटे या पृथक् समुदायों का भी निर्माण नहीं करती है। लोकसंस्कृति भी सभ्यता का एक अंग है। हालाँकि गाँव के ज्यादातर लोग लोकपरंपरा के वाहक होते हैं, परन्तु लोकसंस्कृति केवल गाँवों तक सीमित नहीं है। शहरों में भी सामान्यतः लोग लोकपरंपरा के वाहक होते हैं। इस प्रकार, लोकपरंपरा की हदें काफी विस्तृत होती हैं। लोकपरंपरा को लोकप्रिय परंपरा भी कह सकते हैं जबकि समाजशास्त्रीय अवधारणा की दृष्टि से लोक को 'फोक' एवं लोकप्रिय को 'पॉपुलर' कहने का चलन है। सामान्यतः लोक एवं शास्त्रीय सांस्कृतिक परंपराओं के वाहक न केवल एक–दूसरे के समीप रहते हैं, अपितु अधिकांशतः एक ही परिवार में भी रहते हैं। कभी–कभी तो एक ही व्यक्ति दोनों परंपराओं का वाहक होता है। दोनों परंपराएं एक ही विश्व दृष्टि को समान रूप से स्वीकार करती हैं, यह समान मौलिक मूल्यों पर आधारित होती हैं तथा समान तात्विक विचारों को ग्रहण करती हैं। दोनों परंपराओं के बीच प्रमुख अन्तर इनके परिष्कार, व्यवस्थितिकरण, विशेषज्ञ प्रशिक्षण तथा साधना के अंशों में अंतर्निहित है।

लोककलाओं, दस्तकारी एवं लोकसंस्कृति की तकनीकों को सामान्यतः जीवन की सामान्य चर्चा के रूप में दैनिक कार्यों, उत्सवों या अनुष्ठानों में भागीदारी करते हुए सीखा जाता है। दूसरी ओर, शास्त्रीय परंपराओं को एक विशिष्ट प्रशिक्षण के द्वारा किसी ख्यातिप्राप्त विशेषज्ञ की व्यावसायिक निगरानी में सिखलाया जाता है। इसका यह आशय नहीं है कि लोकविचार या लोककला की अभिव्यक्तियां अपरिपक्व होती हैं। लोकगीतों एवं लोकनृत्यों का एक पारंपरिक प्रतिमान होता है, जिसे लंबे काल से देखा, समझा, सिखाया एवं संजोया जाता है। मूल अंतर यह है कि लोककला में नैसर्गिक प्रतिभा का सहज परिस्थिति में स्वाभाविक विकास होता है। छोटी पीढ़ी के लोग बड़ी पीढ़ी के लोगों को कार्य करते देखकर सहज ही उनकी नकल करने लगते हैं। खेल–खेल में, बात–बात में कठिन से कठिन मुद्रा, शिल्प, तकनीक एवं रीति–रिवाज सीख जाते है। दूसरी ओर, शास्त्रीय कलाओं एवं शिल्पों में नैसर्गिक प्रतिभा के बावजूद किसी स्थापित गुरु, संस्था या घराना से औपचारिक प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक माना जाता है।

जनजातीय सांस्कृतिक परंपराएँ

जनजातीय संस्कृतियाँ तुलनात्मक रूप से अलग–अलग एवं स्वायत्त होती हैं। एक जनजातीय संस्कृति अन्य संस्कृतियों से कुछ तत्त्व उधार ले सकती है परन्तु यह लेन–देन आकस्मिक या कभी–कभी ही होता है। इसलिए जनजातीय संस्कृतियाँ लोक एवं शास्त्रीय संस्कृतियों से गुणात्मक रूप से भिन्न होती हैं। कभी–कभी एक जनजातीय संस्कृति शास्त्रीय या लोक संस्कृतियों के इतने करीब आ जाती है कि उन पर निर्भर हो जाती है। कालक्रम में यह जनजातीय परंपरा विशिष्ट परिस्थितियों में शास्त्रीय या लोकपरंपराओं का एक भाग बन जाती है।

जनजातीय संस्कृतियों की चार विशेषताएँ होती हैं : छोटा आकार, सजातीयता, विशिष्टता एवं आत्मनिर्भरता। जनजातीय संस्कृतियों की अनेक विशेषताएँ लघु समुदायों वाली होती हैं। एक समुदाय की विशेषताएँ समान भू–भाग तथा साझा मनोभाव होते हैं।

भारत में अनेक जनजातीय संस्कृतियाँ हैं। देश के विस्तृत भू–भाग में चारों ओर जनजातियाँ बिखरी हुई हैं। इनके बीच आमतौर से बहुत कम सांस्कृतिक आदान–प्रदान होता है। विभिन्न जनजातियों के आर्थिक, तकनीकी, संस्थागत एवं धार्मिक प्रतिमानों में विविधता पायी जाती है।

एक लंबे अरसे से भारत में शास्त्रीय, लोक एवं जनजातीय सांस्कृतिक धाराओं

का सह–अस्तित्व रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारतीय संस्कृति की इन तीनों सांस्कृतिक धाराओं के मौलिक अथवा बुनियादी हितों में आमतौर से शायद ही टकराव रहा है। जनजातीय संस्कृति मुख्यधारा के विश्वासों या मूल्यों को माने अथवा न माने, परन्तु जनजातीय और गैर–जनजातीय संस्कृतियों के बीच भारत में संघर्ष नहीं रहा है।

भारतीय संस्कृति में लोक एवं शास्त्र का पारंपरिक स्वरूप

श्रीअरविंदो, आनंद कुमारस्वामी, ए. के. सरण एवं विद्यानिवास मिश्र जैसे विद्वानों के अनुसार भारतीय परंपरा वाक्–केन्द्रित परंपरा है। पीढ़ी–दर–पीढ़ी माता–पिता से संतान को या गुरु से शिष्य को सौंपी जानेवाली थाती परंपरा कहलाती है। सौंपने वाले को सौंपने की एवं ग्रहण करनेवाले को ग्रहण करने की पात्रता या क्षमता प्राप्त करनी होती है। भारतीय परंपरा में नियम, विधि और भाव का महत्व इनकी प्रस्तुति के माध्यम से माना जाता है। पश्चिमी समाज की तुलना में भारत में संस्थाबद्धता को न्यूनतम महत्व मिला है, चाहे वह संस्था धर्म हो, राज्य हो या समाज हो। करपात्रीजी के अनुसार किसी भी धर्माचार्य या किसी भी शासक या किसी भी समुदाय–नायक का महत्व बस इतनी ही दूर तक है कि वह परंपरा की स्मृति सुरक्षित रखता है, वह उसका प्रसार करता है। धर्म, विधि, भाव, योग, ध्यान आपने किस गुरु, किस संस्था, किस संगठन के माध्यम से सीखा इसका सीमित महत्व है। इसी तरह अष्टावक्र गीता में कहा गया है कि गुरु के प्रति आदर और कृतज्ञता का भाव तो होना चाहिए, परन्तु गुरु या उसके व्यक्तित्व का बंदी नहीं होना चाहिए। करपात्रीजी यह भी कहते थे कि गुरु प्रमाण नहीं है, उसकी वाणी प्रमाण है। कोई भी अनुष्ठान हो, उसको पवित्रता मंत्र से, मंत्र की शुद्धता से प्राप्त होती है। मंत्र का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है मनन का साधन, ध्यान का आलंब। मंत्र सम्पूर्ण सत्ता का, बाह्य या आभ्यंतर दोनों प्रकार की सत्ता का, बौद्धिक अमूर्तीकरण है। जो वेद का प्रमाण नहीं स्वीकार करते, वे भी किसी–न–किसी आगम शास्त्र से ही परिचालित होते हैं। बौद्ध, जैन सभी आगमों से निर्देश लेते हैं। संघ और गण बनाकर भी बौद्ध और जैन सम्प्रदाय एकांततः स्थविर या गणी से अनुशासित नहीं हुए। अनेक वैष्णव, शाक्त और शैव सम्प्रदाय भी आचार्यों से एकांततः अनुशासित नहीं हुए। इसके पीछे अमूर्त चिंतन की वाणी को महत्व देने की प्रवृत्ति ही काम करती रही है। यह आकस्मिक नहीं है कि भक्ति की सगुण और निर्गुण दोनों धाराओं का संयोजक सूत्र नाम–स्मरण है। यह अमूर्तन शक्ति के केन्द्रीकरण को बराबर रोकता रहा है। यह भक्तों को संस्थाओं के अनाचारों का प्रतिरोध करने की शक्ति देता रहा है। इसी के कारण इस परंपरा में एक लचीलापन बना रहता है, जड़ता नहीं आ पाती।

भारतीय संस्कृति में शब्दों के अर्थ ग्रहण करने की विशिष्ट पारंपरिक या शास्त्रीय विधि है। भारतीय परंपरा में शास्त्र और विधि अविभाज्य हैं। जब इनका विभाजन होता है तो ये अर्थहीन हो जाते हैं। ऐसा अनेकों बार हुआ है, आज भी हो रहा है, परन्तु शास्त्र को जीने वाले व्यक्ति और शास्त्र में अपने को विलीन करने वाले व्यक्ति के माध्यम से शास्त्र पुनर्नवा होता रहा है।

विद्यानिवासजी ने लिखा है कि लोक की उपेक्षा करने वाली विधि शास्त्र का निषेध है। यह विधि समावेशक और संश्लिष्ट है। बहुत से लोकाचार, लोकानुष्ठान और उसके अंगभूत लोकगीत तथा लोकाख्यान कहीं–कहीं तो वैदिक मंत्रों की गूँज जान पड़ते हैं। कहीं–कहीं बहुत से तांत्रिक अनुष्ठानों की गूँज वहाँ मिलती है। भारतीय परंपरा तो संश्लिष्ट है, उसमें कितना प्रतिशत वैदिक है, कितना तांत्रिक, कितना जनजातीय, यह विश्लेषण अनावश्यक है, क्योंकि परंपरा इतिहास से या तिथि–क्रम में पुरानेपन से प्रमाणित नहीं होती, वह प्रमाणित होती है वर्तमान मान्यता और सफलता से। हर मोड़ पर, हर बिन्दु पर वह पूर्णता प्राप्त करती रही है। उदाहरण के लिये, बौद्ध परंपरा के स्थविरयान, महायान और वज्रयान में शाखा–भेद तो है परन्तु इनमें सातत्य भी है। जैसे तिब्बती भोट परंपरा में क्रिया और चर्या के स्तर पर हिन्दू धर्म से समानता दिखाई पड़ती है। पूजा का क्रम लगभग वही है, जो हिन्दू पूजा का है। यही नहीं, अवतार की अवधारणा भी वैसी ही है जैसी हिन्दू परंपरा में विकसित हुई है। वेद वाक्य का प्रमाण न स्वीकार करते हुए भी परंपरा उसके अध्ययन–क्रम को जारी रखती है, उसको वैचारिक स्तर पर स्वीकृति देती है। महायान सम्प्रदाय में जिस सुजाता ने बोधि के पूर्व खीर खिलाई थी उसने साल भर तक भगवान बुद्ध को बोधि की प्राप्ति में सहयोग के लिए एक सौ आठ ब्राह्मणों से वेद–पाठ कराया था। इसी प्रकार, जैन परंपरा में भी राम और कृष्ण की कथाएँ अनुस्यूत हो जाती हैं। प्रारंभ जैसे भी हुआ हो, इन सभी परंपराओं में तर्क–विचार और कर्मकांड की एक ही भाषा संस्कृत रह जाती है। यहाँ तक कि उत्तरकालीन पालि और प्राकृत भी संस्कृत की प्रत्यक्षर छाया बन जाती है। परंपरा की एकसूत्रता बनाए रखने का भाव सहज रूप में भारत में बना रहा है। परंपरा की एकसूत्रता का अर्थ प्राचीन से निभाव नहीं है, क्योंकि परंपरा में स्वीकार–परिहार दोनों चलते हैं। कुछ चीजें छूटती जाती हैं, कुछ जुड़ती जाती हैं, पर किसी का एकदम लोप नहीं होता। विरोध भी परंपरा के प्रभाव में कुछ दूर अलग–अलग चलकर विरोध नहीं रह जाते, विकल्प बन जाते हैं। इस असंलक्ष्य रूपांतर की प्रक्रिया में अलग उपादान तत्वों की पहचान उतना महत्व नहीं रखती जितना परिणति महत्व रखती है। परिणति स्वयं परिणामोन्मुख है।

भारतीय संस्कृति में समन्वय की तुलना में तादात्म्य पर जोर है। इसमें समन्वय एक सीमित अर्थ में है, एक मुख्य अर्थ को अंगीभूत बनाने के अर्थ में, एक बड़े लक्ष्य के आगे दूसरे लक्ष्यों को छोटा बनाने के अर्थ में, उन्हें बड़े लक्ष्य का सापेक्ष बनाने के अर्थ में। रामकृष्ण परमहंस इस्लामी, मसीही, तांत्रिक साधना की सभी पद्धतियों से गुजरे, सबके साथ एकात्म हुए, पर किसी एक पद्धति तक सीमित न रहे। उन्हें ये सभी मार्ग सोपान लगे। माँ का वात्सल्य पाने की पात्रता इनसे आई, क्योंकि जगज्जननी का वात्सल्य पाने के लिए जगत मात्र के सारतत्त्व के साथ अपने को जोड़ना उन्हें आवश्यक लगा।

भारतीय परंपरा की विशेषता उसकी अतिक्रामी क्षमता है। भारतीय परंपरा का रुझान मनुष्य के भीतर अपने अतिक्रमण की संभावना और उस अतिक्रमण की आवश्यकता जगाने की ओर है। इसी से उसमें न प्रकृति या उसकी ऊर्जा के स्रोत का ऐकांतिक महत्व है, न मानव समाज की समरसता का। सामाजिक समरसता और नैतिकता का आग्रह, जो प्राचीन चीनी परंपरा में रहा है, वह भी मनुष्य के ऊपर अधिकतर आरोपित रहा है। मनुष्य के हृदय का संवाद उसके साथ नहीं रहा है। भारतीय परंपरा बाह्य प्रकृति को अंतःप्रकृति का प्रक्षेप मानती है। अतः उस पर विजय को ध्येय भी नहीं मानती, क्योंकि उसे निरपेक्ष नहीं समझती और उसके लिए वह मोह नहीं पालती। पश्चिमी अर्थ में सामाजिक समरसता, सामाजिक नैतिकता, सामाजिक न्याय भी नियामक रूप में भारतीय परंपरा को मान्य नहीं है। भारतीय परंपरा आत्मचिंतन को आत्म होकर सोचने को महत्व देती है, देह या इंद्रिय होकर नहीं। विषय होकर भी नहीं, अपितु यह जगत में व्याप्त ऊर्जा के प्रवाह की एक अवस्था के रूप में सोचने को महत्त्व देती है जिससे मनुष्य के भीतर यह साहस उत्पन्न हो कि वह सभी प्रतिबद्धताओं का अतिक्रमण कर सके। नागार्जुन की तरह वह तथागत का और शंकर की तरह सोपाधि ईश्वर का अतिक्रमण कर सके।

भारतीय संस्कृति की तर्क पद्धति : आगम एवं निगम

भारतीय संस्कृति में दोनों प्रकार की तर्क पद्धति लोकप्रिय है। एक को निगमनात्मक तर्क पद्धति कहते हैं और दूसरे को आगमनात्मक तर्क पद्धति कहा जाता है। इन्हीं तर्क पद्धतियों से आगम और निगम नामक शास्त्र पद्धति का विकास हुआ है। वैदिक परंपरा में निगम का महत्व ज्यादा माना जाता है। तांत्रिक एवं श्रमण परंपरा में आगम ज्यादा लोकप्रिय है। निगम प्रथम सिद्धांत है, यह सृष्टि का प्रतिरूप है। इसके अनुसार, एक ओर जीवन की सम्पूर्णता, निरंतरता और अन्योन्य सापेक्षता स्थापित है, दूसरी ओर तप से ऋत और सत्य का प्रवर्तन होता है। भारतीय परंपरा में

तपोवन ही वैचारिक ऊर्जा का अधिष्ठान है। तप का एक अर्थ तो एक लक्ष्य, एक साधन पर निरंतर कायम रहना है। इसका दूसरा अर्थ है प्राणी मात्र की प्रीति को अपनी प्रीति मानना, आवश्यकताएँ इतनी कम रखना कि दूसरों पर अवलंबित न रहना पड़े। जीवन के सहज काम को स्वच्छ बनाए रखना, अभय और विश्वास का भाव उत्पन्न करना। विश्वव्यापी प्रेम और करुणा के रस की उद्‌भावना के लिए प्रज्ञा की एक आग धधकाए रखना। एक तेजस्विता और स्वाधीनता जगाए रखना, जिसको कोई राज्यसत्ता छू न सके। विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है कि भारतीय परंपरा में समर्पण और अतिक्रमण की दोहरी प्रक्रिया बराबर (कभी–कभी थोड़ी सुषुप्तावस्था के अंतरालों को छोड़कर) चलती रही है। पहली प्रक्रिया को हम कर्ममार्ग कह सकते हैं, स्वधर्म–पालन कह सकते हैं। जो कुछ प्राप्त है, उसको ग्रहण करें, उसके अनुकूल अपने को बनाएँ। इसी को वैदिक भाषा में 'ऋत' कह सकते हैं। 'पोराण पकिति' (पुराण प्रकृति) या पुरखों की रीति कह सकते हैं। आनन्द कुमारस्वामी कहते हैं कि ऐसे समाज का एक मुख्य विभेदक अभिलक्षण है पूरे समुदाय का, समुदाय के रूप में सभ्यतामूलक व्यवस्था का। समस्त जीवन कुछ पहचाने साँचों में पलकर चलता है। इस सोच या दृष्टि की प्रामाणिकता के बारे में कोई प्रश्न नहीं करता। व्यक्ति के कुछ विशिष्ट प्रकार्य अलग साधे जाते रहें, पर समुदाय के रूप में यह सामुदायिक जीवन पद्धति के लिए अर्पित है। ऐसी सभ्यतामूलक व्यवस्था के अनुपालन में ही आत्मसाक्षात्कार की, व्यक्ति की सीमा के अतिक्रमण की संभावनाएँ तीव्रतर होती हैं। इसका प्रतिपालन साहित्य–सर्जना या कला–सर्जना के क्षेत्रों में या साधना के क्षेत्रों में ज्यादा और आर्थिक–राजनैतिक क्षेत्रों में कम देखने को मिलता है।

समकालीन भारतीय राजनीति एवं अर्थनीति में आगमनात्मक तर्क प्रणाली का प्रभुत्व है। परन्तु भारतीय परंपरा, पारंपरिक कला एवं चिन्तन प्रणाली में प्रमाण की विधि निगमनात्मक है। दूसरे शब्दों में, हमारे कलाकार या विचारक आगमनात्मक विधि का प्रमाण या उसका कलात्मक अनुपात या मॉडल बनाने के लिए प्रयोग नहीं करते। उनके विमर्श का प्रमाण या कला की संरचना, मॉडल या अनुपात परंपरा से विरासत में प्राप्त होती है। उनको केवल इसे अपने व्यक्तित्व एवं अनुभूति में आत्मसात करना होता है। उसका अनुशीलन करके उसे अपने भीतर पूर्णतर करना होता है। इसके बाद जो कलाकृति उससे रची जाएगी वह उसकी नहीं होगी, उसकी परंपरा की होगी। उसकी मौलिकता मूल से हटकर नहीं है, मूल के निर्वाह में है। कोई अच्छी तरह बनाया घोड़ा–हाथी दूसरे की नकल नहीं होता, हर एक की एक अलग पहचान है। वे ही कलाकृतियाँ रम्य मानी जाती हैं, जो शास्त्र–मान के अनुसार रचित हैं। परंपरा में व्यक्तिगत रुचि कोई कसौटी नहीं है। किसी पारंपरिक कलाकार के नाम से कोई वाद

भारत में नहीं चला, कलाकार किसी सम्प्रदाय के नाम से ही जाना गया। बहुत कम कलाकारों ने अपनी रचनाओं में अपने नाम दिए। प्रामाणिकता, निष्ठापूर्वक अनुवर्तन और चैतस (केवल ज्ञानात्मा या केवल भावात्मक नहीं) ऐक्य से आती है। उसमें नवसर्जन भी होता है, उसी समाधि–स्थिति में नए मंत्र भी रचे जाते हैं। सम्पूर्ण को अंत: साक्ष्य करके ही कोई उस सम्पूर्ण के साथ सामंजस्य की सृष्टि कर सकता है। सामंजस्य के बिना नूतन सृष्टि का कोई अर्थ नहीं है।

भारतीय परंपरा में एक प्रक्रिया दी हुई पद्धति को उत्तमतर रूप से प्रस्तुत करती है तो दूसरी सहवर्ती प्रक्रिया साधना के द्वारा नई पूर्णतर पद्धति का आविष्कार करती है। इस प्रक्रिया को मैक्स मूलर, विलियम जोंस और अन्य पश्चिमी भारतविद् अपने भिन्न संस्कारों तथा यूरोप केन्द्रित दृष्टि के कारण ठीक से समझ नहीं पाये। हाल के वर्षों में श्रीअरविंदो, आनंद कुमारस्वामी, विद्यानिवास मिश्र जैसे विद्वानों ने निरुक्त के आधार पर वाक् केन्द्रित पारंपरिक दृष्टि को नये संदर्भ में प्रस्तुत किया। इस पारंपरिक दृष्टि के अनुसार नए कला सम्प्रदाय, नए धर्म सम्प्रदाय, नए अभिव्यक्ति विधान इसी प्रकार उद्भुत होते हैं। वे विधि के द्वार से होकर निषेध, या ठीक–ठीक कहें तो अतिक्रमण बनते हैं। सच्चाई बाहर से भीतर और भीतर से बाहर अभिव्याप्त होकर सनातन रूप से अक्षुण्ण बन जाती है। मद के वश में न होना, मद को नष्ट करने वाली मधुर वाक् की साधना करना ही परंपरा की सिद्धि है।

विद्यानिवासजी के शब्दों में विजय यात्रा का अर्थ किसी को हराना नहीं है, इसका अर्थ अपराजेय भाव है, अक्षुण्ण भाव है, अप्रतिहत गतिशीलता है। भारतीय परंपरा में विजेता और विजित कभी भी दो नहीं माने गये। इंद्र ही वृत्र है, वृत्र ही इंद्र है। इंद्र वृत्र के भीतर कैद है और वृत्र इंद्र के भीतर। दोनों एक–दूसरे से मुक्ति चाहते हैं। दूसरे शब्दों में, दोनों भेद की स्थिति से मुक्ति चाहते हैं। राजसूय यज्ञ का अर्थ ही है जीतकर हार जाना, भरपूर होकर बँट जाना, संपन्न होकर अकिंचन हो जाना। आर्य शब्द जिससे बना है उसमें मूल अर्थ गति है, लाक्षणिक अर्थ श्रेष्ठतर होना है, पर्याप्ततर होना है। अलम और अरम एक है। 'दास' शब्द का भी वेदों में प्रयोग किसी नस्ल के संदर्भ में नहीं है, न नौकर के संदर्भ में। उसका अर्थ है देवता का वह आवरण, वह मोह, वह ढोंग, जो उसे नष्ट करता है। इसी 'दास' का संवादी शब्द पारसी धर्मग्रंथ अवेस्ता में 'दाहक' है, जो अहि या साँप भी कहा गया है। अहि का अर्थ है जो छूट न पाए।

भारतीय सभ्यता में तथाकथित आर्य, द्रविड़, कोल, किरात नस्लें कभी प्रागैतिहासिक काल में अलग रही भी हों, ऐतिहासिक काल में ये सभी मिश्रित हो चुकी

थीं। ईसा पूर्व 6000 वर्ष के आसपास के जो मानव अस्थि–पंजर और समकालीन धान के बीज या पशु–पंजर मिले हैं, वे इस बात का भौतिक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। वैदिक वाङ्मय में भी आर्य सत्य का अर्थ आर्य जाति का सत्य नहीं है, उसका अर्थ वरेण्य सत्य है। महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि रक्त या जाति के आधार पर श्रेष्ठता का निर्णय नहीं करना चाहिए क्योंकि कोई जाति शुद्ध नहीं है। श्रेष्ठता का सही आधार केवल शील हो सकता है। उन्नीसवीं सदी के नस्लवादी भाषाविज्ञान और डार्विन के अपूर्ण विकासवादी चिन्तन के प्रचार–प्रसार के पहले विश्वमोहन सौंदर्य की श्यामलता हमारी आँखों में बसी थी। हमारी परंपरा में पूज्य राम और कृष्ण सांवले थे और महाभारत के रचयिता वेदव्यास काले थे, यह बात हम भूलने लगे हैं। आधुनिक पश्चिमी प्रभाव में अब गोरी चमड़ी का महत्व बढ़ने लगा है। जे. पी. एस. उबेराय ने अपने शोध के आधार पर दिखलाया है कि मजेन्टा या बैंगनी रंग का महत्व समझे बिना पारंपरिक सभ्यता में विज्ञान एवं संस्कृति का अद्वैत समझा ही नहीं जा सकता। आधुनिकता के प्रभाव में हम पारंपरिक अवधारणाओं को भूलने लगे हैं। इसी संदर्भ में विद्यानिवासजी कहते हैं कि हमारी संस्कृति का एक मूल वाक्य 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम' है। इसका अर्थ सारे संसार को हिन्दू बनाना नहीं है। एक–सा बनाना भी नहीं है। इसका अर्थ सबको पूर्णतम बनाना है, सबके भीतर पूर्णतम होने की आकांक्षा उत्पन्न करना है। अकेले कोई पूरा नहीं होता, समष्टि भाव से भरकर ही पूरा हुआ जा सकता है। इसी आदर्श से अनुप्राणित विभिन्न आचार पद्धतियों का विकास भारतीय संस्कृति में हुआ है।

भारतीय संस्कृति में राष्ट्रीय स्तर पर आचार–व्यवहार का कभी मानकीकरण नहीं हुआ। प्रादेशीय आचारों को मान्यता मिलती रही। भारतीय परंपरा एकरूपता के लिए नहीं, सहमति के लिए, सर्वसहमति के लिए चिंतित रही है। इन प्रश्नों पर वही विचार कर सकता है, जो वैचारिक रूप से उन्मुक्त होगा, बंधा नहीं होगा। कवि रहीम ने ठीक ही कहा कि 'देनहार कोउ और है भेजत है दिन रैन, लोग भरम मो पौ करैं तासों नीचे नैन।' भारतीय संस्कृति में लेन–देन की भी अद्वितीय प्रथा विकसित हुई। यहाँ लेते समय बड़े होकर नहीं लेते तो वह लेना भीख हो जाता है। देते समय छोटे होकर नहीं देते तो वह देना दंभ बन जाता है। भारतीय परंपरा ने विराट होकर, हाथ बड़ा करके लिया है। हम उसे ले रहे हैं जो हमारे सहभागी का अनुभव है।

कुमारस्वामी के अनुसार भारतीय परंपरा का जो प्रभाव वियतनाम या अन्यत्र पड़ा वहाँ भारतीय परंपरा ने वर्ण्य विषय दिया, भीतरी अन्विति दी; पर शैली नहीं दी। इसके फलस्वरूप अलग–अलग शैलियों में अलग–अलग बल के साथ वही

रामकथा, वही गोचर और आभ्यंतर की एकता इन देशों की कलाओं में प्रस्फुटित हुई। जबकि चीन का जहाँ गहरा प्रभाव पड़ा वहाँ देसी शैली नष्ट हो गई, यद्यपि वर्ण्य विषय प्रभावी देशों के ही बने रहे। बाली और जावा की रामलीला में जो विशिष्ट है, वह देसी प्रतिभा के प्रभाव के कारण। भारतीय परंपरा देश के अंदर या बाहर कभी भी आक्रामक नहीं रही। यह उसकी दुर्बलता नहीं है, उसकी शक्ति है।

इस अनाक्रामक संस्कार के निर्माण में गौतमबुद्ध, भक्ति आन्दोलन एवं कृषक मानसिकता का योगदान तो है ही, सामान्य गृहिणियों ('मातृशक्ति') का भी योगदान है। इस शक्ति का मूलतत्त्व सतोगुण एवं तमोगुण है। इस शक्ति के केन्द्र में रजस तत्त्व का सन्तुलन है। जब रजस तत्त्व समाज में बढ़ता है तो महत्वाकांक्षा बढ़ती है, लालच बढ़ता है, फूट बढ़ती है, पतन होता है। रजस के अभाव के कारण हम पराजित नहीं हुए, बल्कि समाज के कुछ लोगों में रजस की वृद्धि के कारण हम पराजित हुए। जयचंद में रजस का अभाव नहीं था। अंग्रेजी राज को लाने और इस देश में बनाए रखने में भी हमारे देश के प्रभुवर्ग का असन्तुलित रजस था। हमारा राजनीतिक पराभव कायरता के कारण नहीं हुआ, पुरुषार्थ के अभाव में भी नहीं हुआ बल्कि भोग–लालसा, ईर्ष्या–द्वेष और दृष्टि–दोष के कारण हुआ। हमारा पतन तब हुआ जब अनेक में एक की पहचान धूमिल हुई। ऐसा जब–जब हुआ तब–तब हम खंडित होते रहे, परस्पर सहयोग की बात भूलते रहे और पराजित होते रहे। पराभव के बावजूद कुछ लोग किसी प्रकार अगर अपनी सांस्कृतिक अस्मिता बचा कर रख पाये तो इसका कारण अपने स्वभाव एवं स्वधर्म में आस्था थी। जिनकी पारंपरिक आस्था कमजोर हो गयी। वे परिस्थितियों के दबाव में खंडित व्यक्तित्व एवं दृष्टि–दोष के कारण परस्पर आक्रामक एवं शंकालु हो गए। हमारे शास्त्रकार लोक की, गोचर संसार की कभी भी उपेक्षा नहीं करते थे; दूसरी ओर, लोक भी शास्त्र का पूरक बनने के लिए शास्त्र द्वारा विस्मृत जीवन–पद्धति को, शास्त्र द्वारा सरल मानकर छोड़ी हुई पद्धति को पुनः उन्मीलित करता रहा है। लोक शास्त्र के ठहराव को कभी झकझोरता, कभी उसको तोड़ता और कभी उसको अपने कंधे पर ढोता भी रहा है। इसी के कारण विच्छिन्न शास्त्रीय परंपरा को सफल होने का अवसर प्राप्त होता रहता है। लोक–प्रचालित व्यवहार शास्त्र की रक्षा भी करते हैं और शास्त्र का नियमन भी करते हैं। यह दृष्टि ही भारतीय परंपरा को पोथीवादी नहीं बनाती। इस परंपरा में पोथी का महत्व है, पर लोक जीवन से जुड़कर। अभ्यास के अभाव में इसी से कभी–कभी शास्त्र निगूढ़ हो जाते हैं। तब उन्हें लोक–प्रसूत व्यवहारों के द्वारा आकलित करना पड़ता है। व्याकरणशास्त्र, नाट्यशास्त्र, योगशास्त्र और कलाशास्त्र की बहुत–सी गुत्थियाँ प्रयोग की पारंपरिक, लौकिक पद्धतियों के अध्ययन से ही सुलझाई जाती हैं। लोक–

प्रसिद्धि को प्रायः सभी शास्त्रों ने मान्यता दी है। हमारा जीवन–क्रम धर्म से अनुशासित है। परन्तु धर्म के स्वरूप को लोक और शास्त्र व्यावहारिक रूप से निरूपित करते हैं।

भारतीय परंपरा न तो प्रबुद्धवादी या अभिजात्यवादी परंपरा है, न वह अबौद्धिक या भावनात्मक प्रवाह है। बहुत–सी तर्कातीत बातों की स्वीकृति देने के पूर्व उनकी तार्किक परीक्षा होती है। यही परंपरा को जड़ नहीं होने देता, उदार बनाता है, प्रयोगशील बनाता है। यज्ञ की वेदी का नक्शा इसी से विकसित होकर मंदिर का विन्यास बन जाता है। यज्ञ–यूप गरुड़ स्तंभ बन जाता है। पर प्रयोगधर्मिता विच्छृंखल नहीं होती, कुछ प्रतिमानों के अनुसार होती है, मूल्य दृष्टि के अनुसार होती है। जब–जब हमने कहीं से कोई चीज ली और हमारी विश्व–दृष्टि से उसका सामंजस्य स्थापित नहीं हो सका, उसे हमने कुछ ही समय बाद तिरस्कृत कर दिया। उदाहरण के लिए, अखमनी साम्राज्य के वैभव से चमत्कृत होकर सम्राट अशोक ने बड़े–बड़े स्तंभ बनवाए। इन वैभव सूचक स्तंभों का निर्माण क्रम आगे नहीं चला। इनकी कला की भव्यता को लोक में प्रतिष्ठा नहीं मिली। अजंता, एलोरा आख्यानों के अंकन के माध्यम से जीवन की प्रवाहशीलता निरूपित करते हैं, जीवन की शिखरता नहीं। अमीर खुसरो का कथन है कि कोई भी भाषा तभी समृद्ध हो सकती है जब वह लचीली हो, दूसरे प्रभावों के साथ अपना सामंजस्य रख सकती हो। हिन्दी ने अरबी की तरह दूसरी भाषाओं से लिया तो है, पर अपने स्वरूप में ढालकर लिया है, अपने स्वरूप को विकृत नहीं होने दिया है। एक मायने में हिन्दी अरबी से भी अधिक लचीली है। वह गाँव की बोली से भी मौजूद शब्द और भाव लेती रहती है। अमीर खुसरो की यह टिप्पणी समूची भारतीय सांस्कृतिक परंपरा पर लागू है। जिसमें संवहन क्षमता होती है, वेग होता है, वही नदी सहायक नदियों एवं नालों के जल को आत्मसात कर सकती है, उनकी अशुचिता भी दूर कर सकती है। वह क्षमता और वह वेग उसके अपने होते हैं। वे अगर अनुपात से अधिक दूसरों के दान से बोझिल हो जाएँ तो नदी मरने लगती है। जनपद या लोक का व्यवहार मूल स्वरूप की खोई पहचान का संस्मरण कराता है तो कबीर, सूर, तुलसी जन्म लेते हैं; हरिदास, बैजू और तानसेन जन्म लेते हैं। मुग़ल दरबार से अलग एक चित्रकारी जन्म लेती है। लोककला का अर्थ उसकी विधि, उस विधि की भावना में ही मिलेगा। मिट्टी में चैतन्य का आवाहन ही तो सुहाग है, सौंदर्य की सिद्धि है। वैदिक अनुष्ठान से लेकर लौकिक अनुष्ठान तक में इसी विधि के प्रत्यक्ष अनुभव से चित्त के संस्कार बनते हैं। परंपरा के दोनों अक्षय स्रोतों 'लोक' एवं 'शास्त्र' का एक ओतप्रोत भाव है। इस तप से तपोवन लोक–संश्रय बनता है। जनजीवन में भी आह्लाद का क्षण तप के स्मरण से ही मांगलिक बनता है। इन सभी

उदाहरणों में अपने को खाली करके, रीता करके विशाल भाव से भरे जाने की तैयारी की कामना अकिंचनता बोधक है। अकिंचनता के बिना विराट का आभरण नहीं होता; क्योंकि विराट भी तो महाशून्य है, महानिष्किंचन है। जीवन आभरण है, यह भाव जितना साधकों की अनुभव भाषा में व्याप्त है उतना ही जनजीवन के सामान्य अनुष्ठान में भी व्याप्त है।

निगम की पुष्टि आगम से होती है, सिद्धांत की प्रतिपूर्ति प्रयोग से होती है। आगम अनेक हैं, क्योंकि प्रयोग की संभावना अनंत है – बौद्ध आगम, जैन आगम, शैव आगम, वैष्णव आगम, शाक्त आगम। इनके भी अलग–अलग सम्प्रदाय, उनके अलग–अलग ग्रंथ। निगम और लोकाचार के बीच आगम एक प्रकार से सेतु का काम करते हैं। कोई भी आगम देशकाल की उपेक्षा नहीं करता, परिवेश की उपेक्षा नहीं करता और वह एक रचनात्मक भाषा के उपयोग के द्वारा सच्चाई को तरल रूप में ग्रहण करता चलता है। भारतीय संस्कृति में रचनात्मक भाषा के उपयोग को अवदान रचना या पुराण रचना या मिथक रचना कहते हैं। हमारी परंपरा में जब तक यह रचना–सामर्थ्य रही तब तक उसमें खुलापन और भरापूरापन रहा, जब से हमने यह सामर्थ्य खोना शुरू किया तब से परंपरा खंडित होती गई, बँधती गई। धीरे–धीरे पुराण को सच्चाई के निर्वाचन के रूप में न देखकर ऐतिहासिक विवरण के रूप में देखा जाने लगा और तब पूर्ववर्ती परंपरा को परवर्ती परंपरा की कड़ी बनाने का भाव जाता रहा, लचीलापन गाँठ बनता रहा।

भारतीय संस्कृति में निगम और आगम परस्पर पूरक हैं। निगम के ज्ञान की पूर्ति आगम की क्रिया में, निगम के विधि पक्ष की पूर्ति आगम के आत्मनिषेध में, निगम के यज्ञ की पूर्ति आगम की उपासना में, निगम के प्रभु भाव की पूर्ति आगम के सख्य भाव में होती रहती है। किसी एक का पलड़ा भारी पड़ने पर जब विशृंखलता आती है तो लोकाचार इस स्थिति को संभाल लेता है और नए आगम का कार्य करने लगता है। बहुत से आगम, इसी प्रकार, सामंजस्य की प्रक्रिया में बने। रामायण और महाभारत की रचना भी आगम के रूप में ही हुई। पंचम वेद, सनातन लीलागाथा, गीतगोविंद और रामचरितमानस की रचना भी इसी तरह हुई। इस प्रकार, शास्त्र और लोक में आपसी संवाद होता रहा और परंपरा इनकी संवादी क्रियाशीलता को ग्रहण करके स्वयं संवादिनी होती रही।

पुराण रचना का एक लोकप्रिय उदाहरण देवी महापुराण है। इसमें रामायण और श्रीमद्भागवत की कथा का मिथकीय रूपान्तरण है। राधा की उद्भावना की एक मिथकीय उत्पत्ति देवी महापुराण में मिलती है। इस महापुराण के अनुसार राम को

विवश होकर सीता की स्वर्णमूर्ति को यह आश्वासन देना पड़ा कि मेरे अगले जन्म में तुम राधा होगी और तब तुम नित्य संयुक्त रहोगी। हाँ, तुमने इतनी जिद ठानी, इसलिए तुम नित्य वियुक्त भी रहोगी। राधा एकनिष्ठ प्रेम की सबसे परिशुद्ध अभिव्यक्ति है। शुद्ध भाव रूप है। मिलन की आकांक्षा की तीव्रता ही मिलन–बिछुड़न का अनुभव साथ–साथ कराती रहती है। श्रीकृष्ण की प्राप्ति का यह वरदान उद्वेलन बनकर ही सार्थक होता है। इसी तरह तांत्रिक परंपरा में यह माना जाता है कि काली कृष्ण के रूप में अवतरित होती हैं और शिव राधा के रूप में। काली का विध्वंसन स्वभाव कृष्ण को मिलता है। फलस्वरूप वे सारे नाते–रिश्ते निछोह होकर तुड़वा देते हैं। कोई भी ऐसी सत्ता नहीं रहने देते हैं जो उनके सापेक्ष न हो। दूसरी ओर शिव की अवतार राधा शिव की तरह भोली–भाली रहती है, वैसी ही तपोनिष्ठ, वैसी ही एकाग्र और निश्चल; शक्ति की सारी वक्रता और चंचलता कृष्ण में संक्रांत हो जाती है। जब तक इस तरह के मिथक रचे जाते रहे तब तक हम भावप्रवण बने रहे, इनके मंद पड़ने पर हमारे भीतर जकड़न भी आई। इस अपूर्व पुराण–निर्मात्री प्रतिभा को समझे बिना अपनी परंपरा की शक्ति पहचानना मुश्किल है।

सनातन भारतीय संस्कृति, धर्म और लोकशास्त्र

भारतीय संस्कृति विविधता के प्रति काफी सहिष्णु रही है। भारत के प्रमुख धार्मिक समूहों के बीच शास्त्रीय, लोक एवं जनजातीय संस्कृति की धाराएँ विद्यमान रही हैं। आनंद कुमारस्वामी ने दावा किया है कि भारत की सभी धार्मिक परंपराओं में शास्त्र एवं लोक के बीच अंतःक्रिया के प्रतिमान करीब–करीब एकसमान रहे हैं।

भारत में हिन्दू, बौद्ध एवं जैन परंपराएं एक–दूसरे की पूरक रही हैं। न केवल शासक बल्कि आम जनता ने भी बिना स्वतंत्रता की भावना का त्याग किए धार्मिक विविधता का समायोजन किया है। राजनीतिक विचलन के बावजूद समायोजन की भावना आज भी भारत में व्याप्त है। समायोजन एवं सहिष्णुता की यह भावना पवित्र नदियों, धर्म स्थानों एवं दूर–दराज में स्थित मठों में एकत्रित हुए लोगों के बीच देखी जा सकती है। भारत ने न सिर्फ विभिन्न धर्मों को पनाह दी बल्कि इन धर्मों के बीच पाए जाने वाले विभिन्न पंथों को भी आदरपूर्वक कायम रखा है। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, मुस्लिम, ईसाई, पारसी एवं यहूदी समुदाय के लोग यहाँ अपने विभिन्न सम्प्रदायों के साथ शांतिपूर्वक रहते आए हैं। विभिन्न सम्प्रदायों ने एक साझी विरासत को स्वीकारते हुए भी अपनी अलग–अलग विचार दृष्टियों को अभिव्यक्त किया है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज में विभिन्न प्रकार के आदर्श एवं व्यावहारिक प्रतिमानों का जन्म हुआ है। भारतीय लोगों ने व्यावहारिक दृष्टिकोण विकसित करने के लिए मूल

ग्रंथों के अर्थों की रचनात्मक व्याख्या या भाष्य की परंपरा विकसित की। भाष्यों का भी युगानुकूल भाष्य होता रहा है। फलस्वरूप परंपरा के दायरे में परिवर्तन की धारा सदैव बहती रही है।

आनंद कुमारस्वामी ने रेखांकित किया है कि कला के क्षेत्र में भारत के विभिन्न समुदायों के बीच समानता है। भारत के विभिन्न मंदिरों, स्मारकों एवं राजदरबारों के भवन–निर्माण एवं स्थापत्य कलाओं में उल्लेखनीय समानताएँ दिखाई देती हैं। भारतीय कला पवित्र विषय वस्तुओं एवं विस्तृत आदर्शों पर केन्द्रित एक प्रतीकात्मक प्रारूप है। कुमारस्वामी के अनुसार हिन्दू, मुस्लिम एवं ईसाई परंपराओं में कला समान धार्मिक स्रोतों एवं समान आध्यात्मिक अर्थों पर आधारित है।

विभिन्न समुदायों के बीच भाषा एवं साहित्य में, कला एवं भवन निर्माण कला में, संगीत एवं चित्रकला में, नृत्य एवं नाट्य कला में, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन में, सामाजिक आदर्शों एवं प्रथाओं में सह–अस्तित्व एवं आपसी समझ की भावना विद्यमान रही है। मुस्लिम एवं हिन्दू मतों के बीच रचनात्मक आदान–प्रदान से भक्ति एवं सूफी मतों के विकास को संबल मिला। भक्ति आंदोलन से जुड़े सम्प्रदायों ने सभी धर्मों के बीच समानता एवं ईश्वरीय अवधारणाओं के बीच मौलिक एकता पर जोर दिया। इन सबने सरल उपासना एवं विश्वास को मुक्ति के साधन के रूप में स्वीकारा तथा आवश्यकता से अधिक कर्मकाण्ड एवं रूढ़ियों का विरोध किया। सूफी सम्प्रदाय ने आत्म–साक्षात्कार तथा आध्यात्मिक हर्षोन्माद में ब्रह्म के प्रति समर्पण का उपदेश दिया। यह भारत में ईरान से आया और बौद्ध धर्म, वेदान्त एवं योग के प्रभाव में विकसित हुआ।

इस प्रकार, भारतीय समाज में एक लंबे समय से उद्‌गम की दृष्टि से कई संस्कृतियों एवं धर्मों को मानने वाले लोग रहते रहे हैं। समकालीन भारतीय सभ्यता एक जटिल प्रघटना है, जिसकी उत्पत्ति कई शताब्दियों के दौरान विभिन्न तत्त्वों के बीच हुए समन्वित विकास के क्रम में हुई है। इसमें शास्त्रीय, लोक, जनजातीय तथा विभिन्न धार्मिक जीवन धाराओं का एक प्रकार्यवादी, संतुलित एवं समन्वित प्रतिमान के रूप में समायोजन हुआ है।

आनंद कुमारस्वामी, रामस्वरूप, ए. के. सरण एवं विद्यानिवास मिश्र जैसे विद्वानों का कहना है कि यदि सनातन धर्म शुद्ध रूप से पोथी–धर्म रहता तो पशुयज्ञ और गोमेध अब भी होता, पर लगभग दो हजार वर्ष से दोनों बंद हो गये, क्योंकि लोक में ऐसे आंदोलन हुए जिन्होंने इस अनुष्ठान को मंगलकारक नहीं माना। उन आंदोलनों

को बाद में शास्त्रीय प्रतिष्ठा भी मिली। दूसरी ओर, जैन और बौद्ध धर्म का प्रचार जनभाषाओं में पहले हुआ, पर इन्हीं धर्मावलम्बियों ने जब अपने को प्रतिष्ठित करने का उपकरण किया तो उन्होंने संस्कृत का आश्रय लिया। यहाँ तक कि कबीरदास के बीजक पर संस्कृत में भाष्य लिखा गया। ईसा के आसपास की शताब्दियों के अभिलेख देखने पर पता चलता है कि बाहर से आया हुआ और देश की मुख्य धारा में समाविष्ट रुद्रदामन ईसा की पहली–दूसरी शताब्दी में संस्कृत में शिलालेख लिखवाता है और उसी के समकालीन सातवाहन राजा प्राकृत में अभिलेख टंकित करते हैं, अपने को ब्राह्मण कहते हैं और भगवान बुद्ध के मार्ग के श्रमणों के लिए भिक्षु–विहार बनवाते हैं। इसी युग की विभूति महाकवि कालिदास अपने कुमारसम्भव में शिव–पार्वती विवाह के प्रसंग में सरस्वती के द्वारा शिव की स्तुति संस्कृत में और पार्वती की स्तुति प्राकृत (सुखग्राह्य भाषा) में कराते हैं। यहाँ वस्तुतः शास्त्र और लोक का आदान–प्रदान निरंतर होता रहा है, मध्यकाल में भी यह प्रक्रिया चलती रही। मध्यकाल में अकबर ने सामुदायिक सहिष्णुता एवं साझी सांस्कृतिक समझ विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। शिवाजी के अंगरक्षक एवं कुछ सेनापति मुस्लिम मत मानने वाले थे। मुहम्मद गोरी ने हिन्दू देवी लक्ष्मी की प्रतिमा वाला सोने का सिक्का चलाया था। दाराशिकोह भारतीय दर्शन एवं साहित्य के प्रचार का महान समर्थक था। आज भी यह प्रक्रिया जारी है।

सनातन धर्म लोकसंग्रही धर्म है, उसका लोक बहुत विशाल है। लोक के कई अर्थ हैं। एक अर्थ है प्रकाश। प्रकाश का स्वभाव है प्रसरण, सब तरफ फैलना। दूसरा अर्थ है चौदह भुवन (ऊपर के सात भू–लोक भुवर्लोक, स्वर्लोक, तपोलोक, लोक, जनलोक, महोलोक, सत्यलोक और नीचे के सात तल, अतल, सुतल, पाताल, रसातल आदि)। तीसरा अर्थ है प्रकाश और भुवन जैसी फैली हुई प्रकृति का मनुष्य, सामान्य जन (आज के मुहावरे का आम आदमी) या लोकमानुष। लोकमानुष केवल अपने लिए और केवल अपनी आँख से नहीं देखता, वह 'सब' को देखता है तथा सब में एक को देखता है। शास्त्र लोकमानस में एक–दूसरे की आँख हैं, वह एक के माध्यम से सबको देखता है। वह अध्ययन करने वाले व्यक्ति का साधन है, वह भीतर से अनुशासित है। विद्यानिवास मिश्र के अनुसार भारतीय परंपरा में शास्त्र सनातन धर्म की दाहिनी आँख है, सूर्य है, सविता है, विवेक है, ज्ञान है, तर्क प्रज्ञा है और लोक उसकी बायीं आँख है, चन्द्र है, रस है, बहाव है, भाव है। सनातन धर्म ज्ञानमय भाव है, न वह ज्ञानरूप है, न विश्वासरूप, न कोरा भावरूप। भाव और ज्ञान अलग होते हैं तो सनातन धर्म खंडित होता है। जब–जब खंडन के ऐसे अवसर आये हैं, तब–तब लोक ने अपने–आपको मथा है। उदाहरण के लिए, पुराणों में वेन की कथा आती है।

वह निरंकुश शासक हो गया था। ऋषियों ने कुशों से उसे मार डाला। पर पुनः शासक की अपेक्षा हुई तो उसी के शव का मन्थन किया। उससे पहले निषाद एवं पृथु पैदा हुए। पृथु ने वीरान और उजाड़ पृथ्वी को बसाया। पृथ्वी का नाम पृथु के कारण पृथ्वी पड़ा। इस पृथु का भाई है निषाद। वह लोक भाव की अग्रज संतान है, पृथु उसके छोटे भाई हैं। पृथु शास्त्र और लोक के संयोजक सूत्र बनते हैं। शास्त्र जब–जब जड़ या लोकनिरपेक्ष हो गया है तब एक–न–एक नया बौद्धिक और भावनात्मक आन्दोलन हुआ है। उस आंदोलन ने शास्त्र की जड़ता को तोड़ा है। पर उसने शास्त्र की विधि का अतिक्रमण नहीं किया। शास्त्र की विधि तो कहती ही है कि ज्ञानचक्षु से सबकुछ देखो। शास्त्र में जो कहा गया है उसे करो पर जानते हुए करो कि ठीक कर रहा हूँ या नहीं और जाँचते हुए करो कि विधि का तात्पर्य समझ रहा हूँ कि नहीं। शास्त्र अंतरात्मा की पूरक है, विकल्प नहीं। लोक मन में अंतरात्मा की आवाज़ का महत्व शास्त्र से ज्यादा माना जाता है। परन्तु अंतरात्मा की आवाज को समझने–समझाने में शास्त्र की विधि का महत्व असंदिग्ध है। एक अर्थ में शास्त्र अपुरुषेय माना जाता है। शब्द रूप में शास्त्र को ब्रह्म माना गया है। एक दूसरे अर्थ में शास्त्र संस्कृति में स्थापित प्रयोग की विधि है। इस दूसरे अर्थ में शास्त्र जब कुंठित होता है तब उससे विद्रोह करने का विधान भी शास्त्र में निहित है। शास्त्र विधि का तात्पर्य शास्त्र का पाठ नहीं, शास्त्र की समझ है। शुद्ध भाव से किया गया लोक–व्यवहार इस समझ को निखारता रहता है, पर जब लोक–व्यवहार ऋत और सत्य से स्वछन्द हो जाता है तो शास्त्रों का अनुस्मरण ही उसे ठीक रास्ते पर लाता है।

आधुनिक काल में परमहंस रामकृष्ण ने अपने जीवन से, स्वामी विवेकानंद ने अपनी व्याख्या से, स्वामी दयानन्द ने अपनी तेजस्विता से, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी ने अपनी लोक भावना से और गोपीनाथ कविराज आदि ने अपने लेखन से सनातन शास्त्र को नई दिशा दी। जहाँ कहीं हमारे सोचने में ठहराव आ गया था, वहाँ–वहाँ उन्होंने गतिशीलता दी, पर एक असंतुलित विजातीय शिक्षा के बोझ ने और मूल्यहीन राजनीतिक परिवेश के प्रभाव से पारंपरिक शास्त्रों का प्रभाव कम हुआ है। ऊपर से देखने पर लगता है कि पूजा–पाठ बढ़ रहा है, मंदिरों में चढ़ावा ज्यादा आ रहा है। आयुर्वेद, शास्त्रीय नृत्य, संगीत एवं वास्तुशास्त्र का प्रचार–प्रसार देश–विदेश में खूब हो रहा है, योग और तंत्र का निर्यात व्यापार बड़े पैमाने पर हो रहा है, गंडों और मालाओं की मांग ऐसी बढ़ी है कि रुद्राक्ष की चोरबाजारी हो रही है, परन्तु कुल मिलाकर सनातन–शास्त्र की पारंपरिक अर्थों में समझ कम हो रही है। सनातन बौद्धिकता न केवल तर्क है, न केवल व्याख्या है, न केवल इलहाम (अंतःकरण से आया प्रकाश) है, न केवल ज्ञान है, न केवल भाव है, वह इनको समाविष्ट करने वाला

व्यापार है। यह बौद्धिकता सत्संग अथवा सुनने, सोचने और ध्यान से आती है। इस बौद्धिकता को लोक एवं शास्त्र दोनों संपोषित करते हैं। लोकप्रिय अर्थों में इसको आध्यात्मिकता कह सकते हैं।

भारतीय परंपरा में शास्त्र की अवधारणा काफी विकसित है। केवल वेद, पुराण, उपनिषद नहीं, धम्मपद एवं जिनसूत्र भी शास्त्र हैं। व्याकरण, ज्योतिष, वास्तु, आयुर्वेद, धनुर्वेद, दर्शन, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, योगशास्त्र, मंत्रशास्त्र, तंत्रशास्त्र, यंत्रशास्त्र, महाकाव्य आदि शास्त्र के अन्य उदाहरण हैं। इन शास्त्रों के मूर्त रूप प्राचीन मंदिर, चित्र, शिल्प और संगीत आदि भी सनातन शास्त्र हैं। जीवन को जो भी आस्वादनीय बनाता है, वह सब सनातन शास्त्र है। सनातन शास्त्र निरंतर लिखा जाने वाला शास्त्र है। सनातनी मंदिरों में कबीर, तुलसी, सूर, मीरा और अन्य भक्तों के भजन गाये जाते हैं। इन्हें शास्त्रीय गौरव प्राप्त है, क्योंकि इनमें शास्त्र विधि का अनुवर्तन है। इनमें शास्त्र लोक के साथ जुड़कर प्रखर हुआ है। आज सनातनी शास्त्रों के गहरे और व्यापक अनुशीलन की आवश्यकता है। कुमारस्वामी, भरत सिंह उपाध्याय, ए. के. सरण और विद्यानिवास मिश्र जैसे विद्वानों की रचनाओं के माध्यम से देखने पर हम पाते हैं कि बुद्ध–वचन में उपनिषदों की प्रतिध्वनि है, कबीर में शैवागम की व्यवस्थित प्रक्रिया है। जिसे हम लोकतत्त्व कहते हैं, वह शास्त्र का ही विसरण है। लंबी गुलामी के दौर में हमारी शास्त्रीय परंपरा का व्यवस्थित अध्ययन–अध्यापन की परंपरा तो कमजोर हुई है परन्तु लोकसंस्कृति में हमारी परंपरा अब भी जीवंत है। इस लोकतत्त्व में (चाहे वह गीत हो, चित्रकला हो, शिल्प हो, नृत्य हो, नाट्य हो, लीला हो) और भारत के अनपढ़ आम आदमी के सोचने के ढंग में पारंपरिक शास्त्र का सत्व अधिक सुरक्षित है। दूसरी ओर, आधुनिक विश्वविद्यालयों में भारतीय शास्त्रों का जिस रूप में अध्ययन और विवेचन हो रहा है, उसमें आधुनिक दृष्टि पारंपरिक दृष्टि पर हावी है। इनमें शास्त्रों का विरूपीकरण हो रहा है। इसमें परंपरा को भूतकाल (प्राचीन एवं मध्यकाल) से जोड़ कर अप्रासंगिक बनाने एवं बताने की कोशिश चल रही है। महात्मा गांधी की कृति 'हिन्द स्वराज' भारतीय परंपरा को समकालीन समय में समझने के लिए महत्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत करती है।

भारतीय संस्कृति के पक्ष

कला एवं भवन निर्माण कला भारतीय कला धर्म से अनुप्राणित है तथा धार्मिक रूप से पवित्र समझी जाने वाली विषय–वस्तुओं के आस–पास केन्द्रित है। परन्तु भारतीय धर्म एवं कला अपने मूल रूप में पारलौकिक न होकर इहलौकिक एवं सांसारिक है। जीवन, प्रकृति तथा मनुष्यों की सनातन विविधता भारतीय कला रूपों

में प्रतिबिंबित हुई है। सिन्धु घाटी के दिनों से ही भारत में स्थापत्य कला तथा भवन निर्माण कला काफी विकसित रही है। भारत लोक तथा जनजातीय कलाकृतियों का बहुत बड़ा भंडार है। भारतीय कला, धर्म एवं संस्कृति संसार को ईश्वरीय शरीर का विस्तार मानती है। भारतीय कला ईश्वरीय लीला (संसार) की अनुकृति है। भारतीय धर्म भी इसी अर्थ में ईश्वर का अनुकीर्तन है। आत्मा और परमात्मा तथा पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सहधर्मिता है। अनुकृति और अनुकीर्तन की अवधारणा इसी का स्मरण कराते हैं। स्मृति साहित्य के मूल में भी यही स्मरण है। भारतीय कला एवं भवन–निर्माण कला में भी यही स्मरण है। मंदिर ब्रह्माण्ड की अनुकृति है और मंदिर की उपासना पद्धति एवं विग्रह निर्माण कला में अनुकीर्तन है।

संगीत – संपूर्ण भारत में संगीत शब्द के अंतर्गत गायन एवं वादन दोनों रूपों को सम्मिलित किया जाता हैं। ऋग्वेद तथा सामवेद की धुनें शब्दों को संगीत में पिरोने का सबसे पुराना उदाहरण है। भारतीय संगीत का सबसे पुराना एवं विस्तृत सिद्धांत भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है, जिसका समय ईसाई संवत् के प्रारंभ में माना गया है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के दो रूप हैं, पहला उत्तर भारतीय हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत एवं दूसरा दक्षिण भारतीय कर्नाटक संगीत। शास्त्रीय संगीत के ज्यादा विशिष्ट संप्रदायों को 'घराना' के नाम से जाना जाता है। घरानों से जुड़े शास्त्रीय संगीत को भारतीय संस्कृति के विश्वविख्यात पक्ष के रूप में याद किया जाता है।

गायन एवं नृत्य हमेशा से ही भारतीय सामाजिक गतिविधियों एवं कार्यक्रमों के भाग रहे हैं। मेला, विवाह, उत्सव तथा अन्य आयोजनों को इनके बिना अधूरा माना जाता है। फिल्मी गानों ने आधुनिक काल में संगीत की लोकप्रियता को आमजनों के बीच और अधिक विस्तृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

नृत्य – भारतीय शास्त्रीय नृत्य भारतीय मानस की आध्यात्मिकता एवं कलात्मकता का सुंदर एवं महत्वपूर्ण प्रतीक है। पारंपरिक भारतीय शास्त्रों में नृत्य (संगीत) एवं नाट्य (नाटक) के कई वर्णन आए हैं। नृत्य एवं संगीत के कार्यक्रम भारतीय गृहस्थ जीवन के हर सोपान पर आवश्यक रूप से शामिल किए जाते हैं। एक वर्गीकरण भारतीय नृत्य के तीन रूप बताता है नाट्य, नृत्य तथा नृत्त। नाट्य नाटक का समानार्थी है। नृत्य विश्लेषणात्मक नर्तन का उदाहरण है जो शब्दों के संगीतबद्ध ताल पर किया जाता है। जबकि नृत्त शुद्ध नर्तन का उदाहरण है जहाँ शारीरिक गतियों के द्वारा किसी भाव की अभिव्यक्ति की जाती है।

भारत में शास्त्रीय एवं लोक नृत्यों की समृद्ध विविधता है। कुचिपुड़ी (आंध्र प्रदेश), ओडिसी (उड़ीसा), कथाकाली (केरल), मोहिनीअट्टम (केरल), भरतनाट्यम (तमिलनाडु), मणिपुरी (मणिपुर) और कत्थक (उत्तरप्रदेश) आदि भारत में कुछ उल्लेखनीय नृत्य रूप हैं। इसके अलावा, भारत में लोक–कथाओं, आख्यानों, मिथकों आदि की समृद्ध परंपरा रही है, जिनमें नृत्य और गायन को मिश्रित करके समन्वित कला रूपों का विकास किया गया है।

नाटक – यह मान्यता है कि शास्त्रीय नृत्य का जन्म दैवीय स्रोत से हुआ है जबकि नाटक का जन्म आमजन के बीच में हुआ। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को पारंपरिक भारतीय नाट्य विधा का संपूर्ण मार्गदर्शन करने वाली कृति माना गया है। आधुनिक भारतीय नाटकों की विधा का जन्म तीन औपनिवेशिक नगरों कलकत्ता, बंबई, मद्रास (वर्तमान में कोलकाता, मुंबई एवं चेन्नई) में हुआ। यह यूरोपीय नाट्य विद्या की मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों से बहुत ज्यादा प्रभावित रहा है।

पारंपरिक भारतीय नाटकों के अंतर्गत कई स्पष्ट धाराएँ रही हैं। पहली धारा के नाटकों की भाषा संस्कृत थी। यह नाट्य परंपरा राजदरबारों एवं मंदिरों तक सीमित रही है और काफी परिष्कृत तथा प्रशिक्षित संवेदात्मक अभिरुचियों की अभिव्यक्ति करती है। दूसरी धारा के अंतर्गत स्थानीय भाषाओं और बोलियों में खेला जाने वाला नाटक है जो विभिन्न स्थानों एवं क्षेत्रों में खेला जाता है। भारत में सामान्यतः नाटक तब खेला जाता है जब फसलें कट जाती हैं। अभिनेताओं तथा दर्शकों दोनों के पास फुर्सत का समय होता है। यह खुले रंगमंचों पर खेला जाता है। नाटक का कथानक सामान्यतः एक मिथक होता है जो दर्शकों को पहले से पता होता है। इस कथानक को नृत्य, संगीत, अभिनय और नृत्य संयोजन के माध्यम से नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय सिनेमा को कई लोग भारत की नाट्य परंपरा का तकनीकी रूपांतरण एवं विस्तार मानते हैं। इसमें पश्चिमी तकनीक एवं भारतीय कथानक का समन्वय हुआ है। भारतीय सिनेमा की मुख्यधारा में शास्त्रीय एवं लोकसंगीत का भरपूर इस्तेमाल होता है। भारतीय सिनेमा का जन्म सन् 1913 में राजा हरिश्चंद्र नामक मूक फिल्म के निर्माण से हुआ है। 1931 में आलमआरा नामक पहली सवाक फिल्म बनी थी। सन् 2000 में सिनेमा निर्माण एवं वितरण को एक उद्योग का दर्जा दिया गया।

भारत में राज्य, बाजार एवं संस्कृति

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्य ने संस्कृति के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राज्य ने साहित्य अकादमी, संगीत नाटक अकादमी, ललित कला अकादमी, नेशनल गैलरी ऑफ मॉडर्न आर्ट जैसी अनेकों संस्थाओं को कला, साहित्य तथा संस्कृति के संरक्षण तथा संवर्धन के लिए विकसित किया है। संस्कृति विभाग सांस्कृतिक संस्थाओं का नियमन करने वाली केंद्रीय संस्था है। परन्तु हाल के वर्षों में धीरे–धीरे गैर–सरकारी क्षेत्र भी कला तथा संस्कृति के महत्वपूर्ण समर्थक एवं आयोजक के रूप में उभर रहे हैं।

बाजार, राज्य व्यवस्था तथा संस्कृति के बीच भारत में काफी घनिष्ठ अंतःक्रिया होती है। व्यापार में व्यक्तियों की गतिशीलता को संभव बनाया है तथा सांस्कृतिक उत्पादों एवं गतिविधियों के लिए बाजार का निर्माण किया है। व्यापार से जुड़ी वाणिज्यिक गतिविधियाँ एवं शासकों के संरक्षण ने साहित्यिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों को भी प्रभावित किया है। भारत में महत्वपूर्ण पारंपरिक नगर (कांचीपुरम, काशी, उज्जैन, इत्यादि) व्यापार के भी महत्वपूर्ण केंद्र रहे हैं।

भारतीय संस्कृति में कला को संरक्षण देने से हमेशा सम्मान तथा प्रतिष्ठा मिलती रही है। प्रचलित मान्यता के अनुसार एक स्थापित या महत्त्वाकांक्षी कलाकार को मदद देने वाले को पुण्य की प्राप्ति होती है। पारंपरिक काल में और कुछ हद तक आज भी मंदिरों के व्यवस्थापक भी कला के संरक्षकों एवं सुविधादाताओं की भूमिका निभाते रहे हैं। हालाँकि समकालीन समय में कला तथा परिष्कृत सांस्कृतिक गतिविधियों के मुख्य संरक्षक राज्य की संस्थाएँ तथा बाजार हैं। वैश्वीकरण के इस युग में व्यापारिक संघों एवं बाजार की शक्तियाँ विशेष महत्वपूर्ण बन गई हैं।

संस्कृति तथा जनसंचार के साधन

आधुनिक जनसंचार के साधनों–रेडियो, दूरदर्शन, फिल्म, अखबारों, पत्रिकाओं, शोध–पत्रिकाओं ने अखिल भारतीय स्तर पर भारतीय संस्कृति को हाल के दिनों में संवर्धित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। रेडियो का प्रसारण 1927 में शुरू हुआ तथा ऑल इंडिया रेडियो की स्थापना 1936 में हुई। ऑल इंडिया रेडियो तथा हाल के दिनों में गैर–सरकारी चैनलों के माध्यम से भारतीय शास्त्रीय संगीत के श्रोता पूरे देश में बने रहे हैं। यह फिल्म तथा लोकप्रिय संगीत के प्रचार–प्रसार के लिए भी महत्वपूर्ण माध्यम रहा है।

भारतीय टेलीविजन का तंत्र आज विश्व का सबसे विस्तृत टेलीविजन तंत्र बन गया है। डिश एंटीना तथा केबल टी.वी. ने आज अधिकांश शहरी तथा ग्रामीण घरों को काफी संख्या में टेलीविजन चैनलों से जोड़ दिया है। टेलीविजन का विकसित तंत्र एक तरह से करीब–करीब हर प्रकार के कला तथा सांस्कृतिक रूपों के प्रसारण का लोकप्रिय माध्यम है। दूसरी तरफ, टेलीविजन बाजारी शक्तियों एवं विज्ञापन शुल्कों के प्रभाव में ऐसे लोकप्रिय कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दे रहा है जो सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक दृष्टिकोण से मूल्यहीन कहे जा सकते हैं।

भारतीय फिल्में अपनी उपलब्धियों और सीमाओं के साथ भारतीय सांस्कृतिक जीवन की सबसे प्रामाणिक अभिव्यक्तियों में शामिल की जाती हैं। भारत आज दुनिया में सबसे ज्यादा फिल्मों का निर्माण करता है। करीब एक दर्जन भाषाओं में लगभग आठ सौ फिल्में भारत में हर वर्ष बनती हैं। कुल मिलाकर भारत में सिनेमा मूलतः एक शहरी माध्यम रहा है। ग्रामीण इलाकों पर इसका प्रत्यक्ष प्रभाव अपेक्षाकृत कम रहा है। लेकिन रेडियो एवं टेलीविजन, टेपरिकॉर्डर एवं वीडियो पार्लर के बढ़ते प्रचार–प्रसार से गाँवों में भी सिनेमा का प्रभाव धीरे–धीरे बढ़ रहा है। भारत में फिल्म संगीत आजकल सबसे लोकप्रिय संगीत के रूप में उभरा है। फिल्म संगीत का स्वाभाविक एवं समृद्ध विकास पुराने लोकसंगीत के स्रोत से हुआ है। आज फिल्म संगीत को आधुनिक भारत के लोकसंगीत का दर्जा हासिल है। आजकल जिसे शास्त्रीय संगीत माना जाने लगा है उनमें से अधिकांश का जन्म उस संगीत से हुआ है जिसका लक्ष्य लोक दर्शकों का मनोरंजन रहा था।

सांस्कृतिक क्षेत्र में फिल्मों एवं टेलीविजन कार्यक्रमों ने सामूहिक राष्ट्रीय चेतना के संरक्षण एवं संवर्धन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पारंपरिक एवं धार्मिक विषयों जैसे आध्यात्मिक महाकाव्यों, आख्यानों के प्रसारण के साथ–साथ शासन एवं लोकतांत्रिक राजनीति के प्रचार–प्रसार में टेलीविजन के विभिन्न चैनलों एवं सुरुचिपूर्ण फिल्मों का राष्ट्रीय एकता बढ़ाने में सराहनीय योगदान रहा है। परन्तु टेलीविजन का मुख्य सरोकार क्रिकेट जैसे खेल और आधुनिक–पाश्चात्य शैली के लोकप्रिय मनोरंजन के प्रायोजित कार्यक्रमों का प्रसारण होता जा रहा है। इससे धीरे–धीरे एक अन्य प्रकार की सामूहिकता का प्रचार हो रहा है।

❑❑❑

भारतीय संस्कृति में रस की अवधारणा

भारतीय संस्कृति में 'रस' की अवधारणा का केंद्रीय महत्व है। खाद्य पदार्थों– सब्जी एवं फल में मधुरतम तरल पदार्थ का द्योतक है। संगीत में कानों द्वारा प्राप्त आनंद का नाम रस है। आयुर्वेद में सर्वोत्कृष्ट प्राणदायिनी औषधियों को 'रस' कहा जाता है। आयुर्वेद में रस–शास्त्र का अर्थ पारा आदि का संस्कार करके चिकित्सा में प्रयोग से है, यही अर्थ इन विद्याओं का भी है जो अंग्रेजी में अल्केमी कहलाती हैं। शरीर में भोजन के जल का जो विशेष सत्व शरीर को पोषक बनाता है, उस पोषक सत्व को भी रस कहा जाता है। रस का यह स्थूल अर्थ है। वैदिक सूत्रों में रस का सामान्य अर्थ जल है। भारतीय संस्कृति में जल को एक दैवीय माध्यम माना जाता है। सनातन पूजा पद्धति में इसलिए जल का बारंबार प्रयोग होता है। जल जीवन का प्रतीक है। जीवन की तरह जल भी एक रहस्य माना जाता है। जल जितना व्यक्त है उससे कहीं ज्यादा अव्यक्त है। जल में हमारे अस्तित्व को पुनः सृजित करने की अथवा पुनः उत्पादित करने की क्षमता है। अव्यक्त के भीतर व्यक्त होने की जो छटपटाहट है उस प्रक्रिया को जल के बिंब द्वारा समझा जा सकता है। रस भी इसी तरह अव्यक्त को व्यक्त करता है। रस की अभिव्यक्ति द्वारा प्रत्येक रचना की पुनः रचना हो जाती है। इस पुनः रचना होने की क्षमता कला और साहित्य की सबसे पहली कसौटी होती है। बार–बार देखने, पढ़ने और सुनने पर यदि रचना में कुछ नूतनता आ जाए वही अपूर्व कहलाता है। इस अपूर्व को आत्मसात करने की प्रक्रिया ही रस है।

भारतीय संस्कृति में रस का एक दूसरा अर्थ भी है। रस का दूसरा अर्थ आसक्ति या लगाव भी है जिसे अपभ्रंश के कवियों ने अम्बन एवं अमलोनापन कहा। कहीं न कहीं जीव की रसना में यह आसक्ति या अम्बन लगा रहता है। यह लगाव आसानी से नहीं छूटता । इन सब प्रचलित अर्थों को भरत मुनि ने रस की अवधारणा के अंतर्गत व्यवस्थित रूप से शामिल किया। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने स्थापना दी कि नाटक

में रस के अतिरिक्त कोई और अन्विति है ही नहीं। इतना तक कि देश और काल की भी कोई अन्विति नहीं है। अन्विति शब्द अन्वय धातु से बना है जिसका अर्थ है एक बात की सिद्धि से दूसरी बात की सिद्धि का सम्बन्ध। इसका दूसरा अर्थ औचित्य है। भरत मुनि के कहने का तात्पर्य यही है कि नाटक में या लीला में हर चीज की सिद्धि रास की सिद्धि के माध्यम से ही होती है। लेकिन रस की सिद्धि किसी स्थूल या व्यक्त माध्यम से नहीं होती। किसी कृत्रिम कार्य–कारण सम्बन्ध से नहीं होती। रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक प्रकार की रहस्यमयता, अलौकिकता बनी रहती है। रस की उत्पत्ति करीब–करीब अचानक होती है, जैसे दधि मथते–मथते मक्खन अचानक निकलता है। उसी तरह कला और साहित्य में अन्विति किसी ऐसी चीज के लिए होती है, जो पहले नहीं दिखती है। रचना प्रक्रिया से पहले अनुमान नहीं होता कि रस की उत्पत्ति ऐसे ही होगी। रचना प्रक्रिया के दौरान अचानक रस की उत्पत्ति हो जाती है। रस काव्य के लिए तो गौणरूप है लेकिन नाट्य के लिए आवश्यक है। हमारा रंगमंच प्रतीकात्मक रहा है। नाटक की प्रस्तुति प्रतीकों के द्वारा की जाती है। ऐसे प्रतीकों के द्वारा जिसके बारे में लोगों को पहले से जानकारी होती है और इसके बारे में लोकसंस्कृति में शिक्षा मिलती रहती है। भारत में यथार्थवादी नाटक या कला की परम्परा नहीं रही है। कला प्रतीकात्मक और सांकेतिक ही रही है। इसमें अन्यथाकरण का विधान है। भ्रांतिमान अलंकार में भी भ्रांति का बीज है, भ्रांति नहीं है। अध्यात्म के क्षेत्र में स्वयं परमात्मा को ही 'रस' कहा गया है। इसी प्रकार साहित्य (काव्य) के आस्वादन से प्राप्त आनंदानुभूति को ही रस कहा गया है। संक्षेप में, रस शब्द भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं सिनेमा में चरम आनंद की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का स्वाभाविक माध्यम है।

रस अंतःकरण की वह शक्ति है जिसके कारण इंद्रियां अपना कार्य करती हैं, मन कल्पना करता है, स्वप्न की स्मृति रहती है। रस आनंद रूप है और यही आनंद विशाल का, विराट का अनुभव भी है। यही आनंद अन्य सभी अनुभवों का अतिक्रमण भी है। आदमी इंद्रियों पर संयम करता है तो विषयों से अपने आप हट जाता है। परंतु उन विषयों के प्रति लगाव नहीं छूटता। रस का प्रयोग सार तत्त्व के अर्थ में चरक सुश्रुत में मिलता है । दूसरे अर्थ में यह अवयव तत्त्वों के रूप में मिलता है। सब कुछ नष्ट हो जाए, व्यर्थ हो जाए पर जो भाव रूप तथा वस्तु रूप में जो बचा रहे, वही रस है। रस के रूप में जिसकी निष्पत्ति होती है, वह भाव ही है। जब रस बन जाता है तो भाव नहीं रहता। केवल रस रहता है। उसकी भावना अपना रूपांतर कर लेती है। रस अपूर्व की उत्पत्ति है। नाट्य की प्रस्तुति में सब कुछ पहले से दिया रहता है, ज्ञात रहता है, सुना हुआ या देखा हुआ होता है। इसके बावजूद कुछ नया अनुभव मिलता

है। वह अनुभव दूसरे अनुभवों को पीछे छोड़ देता है। अकेले एक शिखर पर पहुंचा देता है। रस का अपूर्व रूप अप्रमेय और अनिर्वचनीय है।

भारत में रस सिद्धांत के प्रमुख आचार्यों में भरत मुनि, भटनायक, अभिनवगुप्त, भोजराज, विश्वनाथ, जगन्नाथ, रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी एवं नागेंद्र की गणना की जा सकती है। रस सिद्धांत के समर्थक आचार्य काव्य, नाटक या अन्य कला रूपों का लक्ष्य पाठक, श्रोता या दर्शक को आनंदानुभूति प्रदान करना स्वीकार करते हैं। आनंद की कलात्मक अनुभूति ही 'रस' है। पाठक, श्रोता या दर्शक को भावनाओं के उद्वेलन में ही आनंदानुभूति या रसानुभूति होती है। रस सिद्धांत के अनुसार भावों का दो रूपों में वर्गीकरण किया जाता है – (1) स्थायी भाव, और (2) संचारी भाव। स्थायी भाव धीरे–धीरे विकसित होकर दीर्घकाल तक हृदय में स्थित रहते हैं, जबकि संचारी भाव बिजली की तरह एकाएक प्रकाशित होकर कुछ भी क्षणों में लुप्त हो जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रेम, घृणा, उत्साह आदि स्थायी भाव हैं, जबकि रोष, भय आदि परिस्थितियों के अनुसार संचारी या स्थायी रूप में प्रकट होते हैं। वे व्यक्ति या पदार्थ जो भावोत्तेजना के मूल कारण हैं, विभाव कहलाते हैं। विभाव के भी दो भेद माने गए हैं – आलम्बन और उद्दीपन। मानव हृदय में भावनाओं का प्रस्फुटन किसी बाह्य वस्तु, दृश्य या किसी परिस्थिति–विशेष की कल्पना द्वारा ही होता है, इसी को आलम्बन कहते हैं। भावोद्दीपन के लिए परिस्थितियों की अनुकूलता भी अपेक्षित है। इसी को उद्दीपन कहते हैं। जिस प्रकार वर्षा के बीच आग बुझ जाती है, ठीक वैसे ही 'उद्दीपन' की प्रतिकूलता में आलम्बन का प्रभाव भी नष्ट हो सकता है। उदाहरण के लिए, रमणी की मनोरम छवि को देखकर भी श्मशान भूमि में श्रृंगार का विकास नहीं होता। जिस व्यक्ति के हृदय में आलम्बन और उद्दीपन के प्रभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, उसे आश्रय कहा जाता है। हृदयगत भावों के उद्वेलन से आश्रय की शारीरिक एवं मानसिक अवस्था में थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है, जैसे क्रोध में नेत्रों का लाल हो जाना। इस परिवर्तन के द्योतक चिन्हों को अनुभाव कहते हैं। हृदयस्थ भावों की व्यंजना अनुभावों के माध्यम से होती है।

एक ही स्थायी भाव के बीच–बीच में परिस्थितिवश अनेक भावों का भी संचार होता है। जैसे प्रेम एक स्थायी भाव है। इसके अंतर्गत हर्ष, दुःख, क्षोभ, चिंता जैसी परिस्थितिजन्य संचारी भावों की अनुभूति हो सकती है। स्थायी भाव के विकास या पुष्टिकरण में उसके अनुकूल संचारियों का ही आयोजन किया जाता है। जब पाठक, श्रोता या दर्शक को स्थायी भाव की अनुभूति हो जाती है तो उसे रसानुभूति कहते हैं।

भरत मुनि के अनुसार रस का सामान्य लक्षण तो उसका रसात्मक, आह्लादक या मनोरंजक होना है फिर भी प्रत्येक रस का स्वरूप या विशेष लक्षण उसके स्थायी भाव की प्रकृति के अनुरूप होता है। अतः जितने प्रकार के स्थायी भाव हैं, उतने ही रस हैं :

स्थायी भाव	**रस**
रति	श्रृंगार
हास	हास्य
शोक	करुण
उत्साह	वीर
क्रोध	रौद्र
भय	भयानक
जुगुप्सा	वीभत्स
विस्मय	अद्भुत
शांति/निर्वेद	शांत
वात्सल्य	वात्सल्य
सख्य/मैत्री	सख्य
श्रद्धा/भक्ति	भक्ति

भरत मुनि ने मूलतः उपरोक्त प्रथम आठ रसों की ही चर्चा की थी परंतु नवें शांत रस की चर्चा भी उनके नाट्यशास्त्र में है। भवभूति के अनुसार करुण रस ही सर्वमुख रस है। दूसरी ओर, अभिनवगुप्त शांत रस को सर्वोपरि मानते हैं। इसी तरह भोजराज ने श्रृंगार रस को रस–राज घोषित किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भारत में पूर्ववर्ती काल में 'रस' शब्द का अर्थ श्रृंगार ही समझा जाता था और यद्यपि परवर्ती आचार्यों के शक्तिशाली ग्रंथों ने इस अर्थ को बहुत कुछ दबा दिया था, पर वह बिल्कुल लुप्त कभी नहीं हुआ। कवियों का एक समूह बराबर श्रृंगार रस को ही एकमात्र या प्रधान रस मानता रहा। हज़ारों वर्षों की सुदीर्घ परंपरा में इस समूह के कवियों की कभी भी कमी नहीं हुई।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल रस–निष्पत्ति की विवेचना काव्य की सौंदर्य दृष्टि के साथ–साथ लोकमंगल की दृष्टि से भी करते हैं। इसलिए 'रस' के मूल 'भाव' क्षेत्र को वे अत्यंत पवित्र मानते हैं, क्योंकि न केवल वह सत्कर्म–प्रवर्तक है, अपितु शीलविधायक भी है। परंपरा जहाँ भाव का विचार सहृदय के वासनावासित हृदय से जोड़कर करती है, शुक्लजी वहाँ लौकिक विषय (पात्र) से जोड़कर मनोविकार के रूप में करते हैं। शुक्लजी के अनुसार काव्य–अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति से भिन्न जाति की नहीं है, और प्रत्यक्षानुभूति में प्रभाव मनोविकार के रूप में लौकिक विषय से ही सम्बद्ध होता है। इसीलिए मनोविज्ञान के आलोक में भाव या मनोविकार को प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति – तीनों का गूढ़ संश्लेष कहते हैं। शुक्लजी मानते हैं कि ज्ञान, कर्म तथा उपासना में सर्वोच्च स्थिति उपासना या भक्ति नामक भाव की ही है, जो धर्म की रसात्मक अनुभूति है, और धर्म अव्यक्त के सत्त्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति का ही नाम है। अभिप्राय यह है कि भाव निरूपण के मूल में उनका मनोविज्ञान तथा रुचिविशेष का द्योतक लोकमंगलवाद भी है। इस भाव के व्यष्टिगत होते हुए भी उसमें परार्थता, समष्टिगमिता के साथ–साथ परार्थता की भी संभावना है। 'इमोशन' भाव है और 'सेंटीमेंट' स्थायी भाव। उनके अनुसार एक वस्तु या व्यक्ति के प्रति एक अवसर पर व्यक्त मनोवेग 'भाव' तथा अनेक अवसरों पर व्यक्त 'स्थायी भाव' या चिरभाव है। विशेष या निर्दिष्ट के सामने से हट जाने पर भी यदि वह मनोवेग किसी के प्रति प्रकट होने लगे तब 'स्वभाव' (शीलदशा) है। इनके अतिरिक्त लोकरक्षण तथा लोकरंजन की दृष्टि से उन्होंने 'बीजभाव' (करुणा तथा प्रेम) का भी उल्लेख किया है।

शुक्लजी रस की उत्तम और मध्यम दो कोटियां मानते हैं – पूर्ण रसदशा और शीलदशा। जहां कवि, भावक और आश्रय तीनों का तादात्मय हो, वहाँ रस की पूर्णदशा होती है और वह उत्तम कोटि का होता है। जहाँ भावक और आश्रय का तादात्म्य न हो, फलतः उसकी भावदशा अतृप्त रह जाए, वहाँ रस मध्यम कोटि का होता है। उन्होंने एक और रस की कल्पना की और उसे प्रकृत रस कहा और बताया की प्रकृति का उद्दीपनात्मक रूप ही नहीं होता, आलंबनात्मक रूप भी होता है, जहाँ चिर साहचर्यजन्य प्रकृतिनिष्ठ वासना तृप्त होती है। जहाँ कवि प्रकृतिचित्रण को बारीकियों के साथ संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करे, वहाँ समझना चाहिए कि प्रकृति आलंबनात्मक रूप में प्रकट हुई है।

रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में शुक्ल जी का अविस्मरणीय सिद्धांत साधारणीकरण है। कई विकल्प प्रस्तुत करते हुए शुक्ल जी ने अंततः कहा कि साधारणीकरण

आलंबन का नहीं, अपितु आलंबनत्व धर्म का होता है। कल्पना में मूर्ति तो व्यक्ति विशेष की ही आती है पर उसमें विन्यास ऐसी साधारण विशेषताओं का होता है जो सर्वसामान्य (सहृदय भावक) में समान भाव ही व्यक्त करती है।

रस सिद्धांत में काव्य, नाटक और कला का प्रमुख तत्त्व भाव को माना जाता है। भाव की उद्दीप्ति या अभिव्यक्ति से पाठक को आनंद प्रदान करना काव्य या कला का लक्ष्य है। पश्चिम में भी बर्क, हरमन लात्ज, जॉर्ज सैंटियान, कॉलिंगवुड, ई. एफ. कैरिट्ट आदि ने कला और साहित्य का मूल लक्ष्य भावों के चित्रण या उनकी अभिव्यक्ति द्वारा समाज को आनंद प्रदान करना स्वीकार किया है।

विद्यानिवास मिश्र के अनुसार भारतीय रागबोध को समझने के लिए इसकी पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। इसकी पृष्ठभूमि सर्वमयता, परस्परावलम्बन और परस्पराकांक्षा की है। इसकी पृष्ठभूमि 'पर' में 'स्व' का अर्थ पाने की है। इसलिए इसमें सातत्य है, एक सामरस्य है, संगति है। संगति ही इसका मुख्य लक्ष्य है। वह संगति सबको सहज देखने से तो दिखाई पड़ती है, नहीं तो बिखराव लगता है।

आनंद कुमारस्वामी के अनुसार भारत में कला, साहित्य और धर्म अलग-अलग चीजें नहीं हैं। तीनों का सम्बन्ध मिथक रचना से है। मिथक का पारम्परिक अर्थ जीवन के प्रथम सत्य की साक्षात्कृति है। उस प्रथम सत्य के सबसे समीप जो भाषा हो सकती है, उसके द्वारा उसे व्यक्त करने का प्रयत्न ही 'मिथ' है। सृष्टि का नवीनीकरण और अखंडता की बार-बार प्राप्ति मिथकों का लक्ष्य है। यही कला, साहित्य एवं यज्ञ का भी लक्ष्य है। किसी भी संस्कृति में टूटने और जुड़ने की क्रिया बराबर चलती रहती है। हम जो बार-बार टूटते हैं, उनके बार-बार जुड़ने का संकल्प, बार-बार जुड़ने की प्रक्रिया ही सनातन संस्कृति में जीवन कहलाता है। कला, साहित्य एवं धर्म के द्वारा इसी सत्य का बार-बार स्मरण किया जाता है और इसी की पुनर्रचना की जाती है। भारतीय कला सृष्टि, सृष्टि की पुनःस्थापना है। सृष्टि का अनुकरण है। नव सृष्टि है, जिसको वेद में विशेष सृष्टि कहा गया है। कला के लिए नाट्यशास्त्र में अनुकीर्तन शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुकीर्तन का अर्थ हू-ब-हू या ज्यों-का-त्यों नकल करना नहीं है बल्कि, सार तत्त्व को अभिव्यक्त करना है। सृष्टि के मूल रहस्य को सामने लाना है और लाने के लिए जो उपाय है, वह एक प्रकार की दूसरी सृष्टि है। भारतीय कला दर्शन में नई उद्भावना का कोई संकल्प नहीं होता। नवीनता नवीन बनने में नहीं, नवीन होने में है। कला जीवन की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है। सत्य की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम है। कला जीवन के लिए है और जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए है। कला मनुष्य के जीवन के मनोमय कोष का भोजन तथा अंग है और

इसीलिए वह मूलतः धार्मिक है। धार्मिक का अर्थ जीवन के ऊँचे उठने के कार्य से जुड़ा होना है। इस प्रकार के जीव एवं जीवन के साथ एकाकार होना है। जीवन के मूल स्वर, मूल भाव तथा प्रकृति के साथ एकाकार होकर उसे पुनः प्राप्त करना है। कला जीवन तथा सत्य की पुनःप्राप्ति कराने में सहायक होती है। पूरे युग की कला में एक प्रकार की विशिष्टता, एक प्रकार की छाप होती है, जो उस युग के तमाम विश्वासों, उत्सव, उल्लासों, संघर्षों, जीवन की तमाम आपदाओं, विपदाओं से तथा अनेक प्रकार के संचारियों और मिथकों से जुड़ी होती है। शुद्ध कला दर्शन अपनी पर्याप्तता का प्रत्यय है, इसलिए भारतीय कला दर्शन अलंकार का दर्शन है। इसे कुमार स्वामी ने 'रेटॉरिक' और 'फिगर ऑफ स्पीच' कहा है। अलंकार का अर्थ पर्याप्तीकरण है, जो अपर्याप्त है, अयथेष्ट है, नाकाफी है, उसको पर्याप्त बनाना। अलंकार का मूल अर्थ यही है, और इस अर्थ में जीवन में जितनी अयथेष्टता है, जितनी रिक्तता है, जहाँ–जहाँ खालीपन है, उसको भरना और भरते रहना ही कलाकार का काम है। जो कला दर्शन इस भरने की आकांक्षा को देखता है वह पर्याप्तता और अलंकरण है। कला में अन्यथाकरण अत्यंत आवश्यक है। जहां से अविच्छिन्नता दिखती हो, वहां से देखना अन्यथाकरण है। अन्यथाकरण में वस्तु के प्राकृतिक स्वभाव का तत्त्व है। विभिन्न कला व्यापार कथ्य या विन्यास की दृष्टि से अलग–अलग होते हैं, लेकिन यह सभी कला व्यापार उत्पादन सामग्री के रूप में अलग–अलग हैं, पर कौशल की एकाग्रता, आत्मविसर्जन, कला को चित्र संज्ञा के रूप में देखने और कलाकृति को जीवन के उत्पादन के रूप में सृजित या प्रायोजित मानने के धरातल पर एक हैं।

इस संदर्भ में अभिनवगुप्त का कहना है कि संसार वैसे तो केवल पत्थर जैसा है लेकिन सरस्वती का तत्त्व या वाग्देवता का तत्व अपने रस के संसार से उसको सारवत्त बनाता है। उसको सत्व प्रदान करता है। वह सत्व उसके कुछ नया होने या कुछ अन्य होने की बेचैनी है। हर वस्तु में तथा हर जीव में एक बेचैनी है। जो जिस स्थान पर, जिस काल में है, उसमें उससे कुछ भिन्न होने अथवा विस्थापित होने की बेचैनी होती है। बेचैनी इसलिए होती है कि वह अपने स्वरूप का अनुसंधान करना चाहता है, अपने को फिर से प्राप्त करना चाहता है। इसलिए कला सृष्टि का विकल्प नहीं है। सृष्टि का जिस रूप में अनुकरण कहा जाता है, अनुकरण भी नहीं है। सृष्टि के विरोध में भी नहीं है। कला सृष्टि को विस्थापित भी नहीं करती है। कला सृष्टि की प्राणवत्ता और सारवत्ता को रेखांकित करती है प्रारंभ अंगों के न्यास से ही होता है। संगीत में टुकड़ों की योजना होती है। अन्य कलाओं की रचना–प्रक्रिया भी इसी तरह शुरू होती है। हर कला किसी लय का अनुसारी है। लय का अनुसरण करने का अर्थ ही है एक का दूसरे में समाना। एक प्रकार का चरण–न्यास बाद वाले चरण–न्यास में

समाया हुआ है। यह न्यास काफी नपा–तुला रहता है। पर यह अनायास होता है, क्योंकि तन्मयता इसमें नहीं रहती। तन्मयता रस में रहती है। रस केंद्र में है और उसमें अगर तन्मयता रहती है तो उपांग अनायास बनते चले जाते हैं। नृत्य में अनेक प्रकार से उसी संचारी के विकल्पों की आवृत्ति होती है। अभिनय भाव की प्रस्तुति होती है। अभिनय केवल किसी चेष्टा विशेष की प्रस्तुति नहीं होती। अभिनय शरीर की प्रस्तुति नहीं है बल्कि भाव की प्रस्तुति है। लेकिन भाव विषय से अपने आप को हटा देता है। विषय का एक तरह निर्विषयीकरण करता है। विषय, विषय नहीं रह जाता। वह आत्म–रूप हो जाता है। यही भाव की विशेषता होती है। जब भाव का आवेग आता है तब विषय की ओर ध्यान नहीं रहता।

भारतीय कला, नाटकों या फिल्मों में कोई नई रचना नहीं होती। हम इसका दावा भी नहीं करते कि हम कोई नई बात ला रहे हैं। कहानी पुरानी है, पात्र परिचित हैं, सब कुछ जाना हुआ है। हम जिस रूप में उसे ला रहे हैं वह नया है, वह अपूर्व है। यह अपूर्व शब्द कई शास्त्रों में आया है और उसका एक ही अर्थ है कि प्रत्येक कला प्रक्रिया के रूप में अपूर्व है। सिद्ध वस्तु के रूप में अपूर्व नहीं है। रूपांतरण का क्षण अपूर्व है। कला विश्व का एक संक्षिप्त रूपांतर और दूसरे रूप में अपने को खोजने की तैयारी है। कला में हम जो कुछ करते हैं, सबकी ओर से करते हैं और सबके लिए करते हैं। कला का उद्देश्य हमारी निजता (शूद्र निजता) को नष्ट करना है। जब हम कला क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो वहां पहले हमारी अनुष्ठानिक मृत्यु हो जाती है। जब कोई संन्यास लेता है तब भी इसी तरह की अनुष्ठानिक मृत्यु हो जाती है। व्यक्ति को खुद ही अपना दाह–संस्कार करना पड़ता है। बात चाहे यज्ञ की हो, कला की हो या पूजा की, सब में एक ही प्रक्रिया होती है। यजमान, कलाकार या कर्ता पहले अपने भीतर के संकोच शरीर को सुखाता एवं जलाता है। उसके बाद उसमें से जो ऊर्जा आएगी वह छोटी सीमा की ऊर्जा नहीं होती है। उसकी ऊर्जा देवता का साक्षात रूप होती है। यजमान और इज्य में कोई अंतर नहीं रहता। अपने भीतर के देवत्व के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए यजमान को इज्य बनना पड़ता है। यज्ञ का आराध्य होना पड़ता है। मनुष्य का आराध्य होना पड़ता है। यह साधारणीकरण किसी पदार्थ का साधारणीकरण नहीं है। यह साधारणीकरण वृत्ति का साधारणीकरण है।

कला साधना के समय कलाकार की वृत्ति बदल जाती है। उसकी वृत्ति विराट की ओर उन्मुख हो जाती है। कला या कोई भी अनुष्ठान जीवन का अंग है। दैनन्दिन व्यवहार का सौष्ठव अंग है। वह पराया नहीं अपना ही बिंब है। अपना ही एक ऐसा स्वरूप है जो हमको पूर्णता प्रदान करता है। कलाकार के रूप में इस संसार में हम

कुछ नया नहीं कर रहे हैं। हमसे कोई कुछ करा रहा है। वह जो दूसरा है, वह पर है और श्रेष्ठतर है, वही हमसे करा रहा है। हम उसके अभिकरण बन रहे हैं। हम नदी की धारा बन रहे हैं। हम नदी की धारा में चलने वाले नहीं रह जाते, धारा ही बन जाते हैं। ऐंद्रिय संसार लुप्त नहीं होता, रहता है। उससे वैराग्य नहीं होता है, उससे विराग, विशेष राग बना रहता है। विषयों के प्रति आसक्ति बनी रहती है। वह आसक्ति महा–आसक्ति होती है। कला और अध्यात्म में यही अंतर है। जब आप साधना के क्षेत्र में जाते हैं तो वहां अनासक्ति होती है, कला में अनासक्ति नहीं होती। आसक्ति रहती है। एक महाराग छा जाता है, एक छोटा सा राग महाराग में परिवर्तित हो जाता है। इसका विषय हम स्वयं हैं। कलाकार रहता है। कला का वर्ण्य विषय रहता है। जो नहीं रहता, वह है, वर्ण्य विषय के साथ निजता, आत्यंतिक निजता । इसलिए भारतीय कला, साहित्य, नृत्य में उत्तम आवेग और संयम दोनों रहते हैं। पारंपरिक कला साधना कहीं ना कहीं संयम से निकलती है। इसमें धारा का आवेग और तटों का संयम अपेक्षित होता है। यह साधना प्रक्रिया बड़ी कठिन होती है। लेकिन जब क्षुद्रता नहीं रहती, एक विशाल दृष्टि रहती है, तब कला साधना साध्य हो जाती है। जब लोभ नहीं रहता तो संयम अपने आप आ जाता है। वैष्णव कवियों ने कहा है कि भक्तकवि का संबंध संसार से छूटता है और ब्रह्मा से उसका संबंध और दृढ़ हो जाता है। संसार में रहते हुए भी वह नहीं रहता। संसार के प्रति उसकी दृष्टि में रूपांतरण हो जाता है।

कला के प्रति हमारी जीवन दृष्टि तीन सूत्रों में व्याख्यायित हुई है। पहला सूत्र, सत्य एक है। एक ही अस्तित्व है। उसकी विविध अभिव्यक्तियां हैं। दूसरा सूत्र भी इसी से निकलता है वह एक है पर वह अविभाज्य रहते हुए विभक्त भी हो सकता है। तत्वतः वह अविभाज्य है। उसको टुकड़ों में बांटा जा सकता है। खंड है, पर यह खंड परस्पर सापेक्ष है। वे साकांक्ष खंड है। एक–दूसरे के बिना उनकी पूरी व्याख्या नहीं होती। एक–दूसरे के कार्य में सहयोगी हैं। दूसरा सूत्र यही है कि उनकी परस्पर आबद्धता, सम्बद्धता रहे। तीसरा सूत्र है कि नैरंतर्य है। नाश या विध्वंस, प्रधवंस नहीं होता। प्रलय शब्द का अर्थ विध्वंस नहीं है। सम्हार शब्द का अर्थ विध्वंस नहीं है। सम्हार शब्द का अर्थ समेटना है। वस्तुएं बिखर जाएं, एक दूसरे से संबंध भूल जाएं तो समेटना पड़ता है। समेटने के बाद फिर से उसको फैलाते हैं, प्रसारित करते हैं। पूर्णता को प्राप्त करने के बाद आदमी अपने लिए नहीं जीता। सबके लिए जीता है और ऐसे जीने में किसी अलग प्रकार की विशिष्टता का बोध नहीं होता । वह अनुभव करता है कि यह उसका स्वभाव है कोई वैशिष्ट्य नहीं है। उस स्वभाव को परखना ही अध्यात्म है।

वस्तुओं के स्वभाव तथा जीवधारियों के स्वभाव में कोई अंतर नहीं है। दोनों के स्वभाव एक ही हैं। उस स्वभाव से जुड़ना ही अध्यात्म है। भारतीय संस्कृति में ब्रह्मा का परिभाषित रूप केवल आनंद है। वह आनंद शरीर में ही प्रकट होता है। शरीर के रोमांच में, नीम बेहोशी में, अश्रुपात में, शरीर के ऊपर एक प्रभा मंडल में, इन सबमें आनंद की प्रतीति होती है। अलग से कोई आनंद की प्रतीति नहीं होती। स्थूल शरीर में आनंद की अनुभूति होती है। स्थूल शरीर अपने आप में एक अभिकरण है। रस सबको संचारित कर रहा है। जीवन में कुछ नया हो नया करने की चाह हमें संचारित कर रहा है। प्रत्येक रचना पुनः रचना हो जाती है। यह पुनः रचना होने की क्षमता भारतीय संस्कृति में कला, साहित्य या सिनेमा की पहली कसौटी है। बार–बार देखने पर, बार–बार पढ़ने पर, बार–बार सुनने पर जिसमें कुछ नूतनता आ जाए वही अपूर्व है और इस अपूर्व को आत्मसात करने की प्रक्रिया ही रस है।

भारतीय संस्कृति में हम कुछ भी समझना चाहें इसके लिए वाक् की अवधारणा को समझना जरूरी है। वाक् के तीन स्तर हैं। वह स्वयं सृष्टि है, सृष्टि की प्रक्रिया है, शब्द है और आख्यान है। वह देवता भी है। दूसरे शब्दों में, तमाम अवरोधों के बावजूद अव्यक्त का व्यक्त होना वाक् कहलाता है। अव्यक्त जब व्यक्त होता है तो पूरा व्यक्त नहीं होता है। कुछ अव्यक्त बना रहता है। अगर वह अव्यक्त ना बना रहे तो उसके लिए एक तड़प, उसके लिए एक बेचैनी, उसको समझने के लिए एक आग्रह न रहे। इसलिए कुछ–ना–कुछ अव्यक्त बना ही रहता है। भारतीय संस्कृति में सौंदर्य की सबसे मोहक अभिव्यक्ति साड़ी और घूंघट में होती है। घूंघट में सौंदर्य जितना व्यक्त होता है उतना ही अव्यक्त होता है। साड़ी में भी सौंदर्य जितना व्यक्त होता है उतना ही अव्यक्त होता है।

अपनी सृष्टि से मोह या दृष्टि से आसक्ति ब्रह्म द्वेष कहलाता है। ब्रह्मा ने वाक् की सृष्टि की और उसके ऊपर उन्हें आसक्ति हुई। सृष्टा को अपनी कृति से मोह ना हो इसलिए सृष्टि स्वयं संहारकर्ता से कहती है कि सृष्टि को समेटो। सृष्टि खुद सृष्टा के हाथ बाण देती है कि अपने को समेटो। इसलिए भारतीय संस्कृति में ब्रह्मा के शरीर की पूजा नहीं की जाती, उनकी मूर्ति नहीं बनाई जाती। इस आत्मग्लानि से सृष्टा ब्रह्मा संध्या की लाली में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी बेला में परिवर्तित हो जाता है जो ध्यान की बेला बनती है, जो आत्मचिंतन की बेला बनती है।

अव्यक्त से व्यक्त की उठी हुई पुकार की वाक् है। वह अव्यक्त ही रस है। उसमें जनक होने की, उत्पन्न करने की आकांक्षा होती है। जल, जल नहीं रहना चाहता है। जल चाहता है कि इसमें से पृथ्वी निकले। सृष्टि का जल ने वहन किया है। वह उसको

रूपायित देखना चाहता है और रूपायित देखने की चाह ही वाक् है। मूल स्तर पर इसका अर्थ केवल भाषा ही नहीं है। इसलिए हर रचना प्रवाह में वाक् वाकदेवी सरस्वती से जुड़ी हुई है चाहे वह रचना संगीत हो, चित्रकला हो, साहित्य हो या स्वयं नदी रूपा हो। वाक् स्वयं सिंधु है, रसरूपा है। परंतु सरस्वती केवल रसरूप नहीं है वह प्रकाश का द्रुत होना, बहना भी है। प्रकाश को रस के रूप में परिवर्तित करना, उसको स्पंद के रूप में, बहाव के रूप में लाना भी सरस्वती का ही रूप है। सरस्वती ज्योतिरूप रस है और उनकी प्रकाश की ओर, स्पंद की ओर, विमर्श की ओर यह यात्रा हर साधक के लिए एक मानक है। साहित्य एवं कला के क्षेत्र में ऐसे ही यात्रा होती है। सरस्वती कला, साहित्य और रस की देवी है। बिना सरस्वती की आराधना किए शायद ही कोई साधक कला–साधना करता है। साधना की स्थिति में साधक खुद सरस्वती रूपी रस बन जाता है।

रस निष्पत्ति

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में रस सिद्धांत के घटक तत्त्वों या अवयवों की चर्चा की है। उनका कहना है कि विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस निष्पत्ति की प्रक्रिया के बारे में भरत मुनि ने कोई सिद्धांत प्रस्तुत नहीं किया। आचार्य भट्टलोल्लट, आचार्य भट्टनायक एवं आचार्य अभिनवगुप्त ने रस–निष्पत्ति की प्रक्रिया को विस्तार से समझाया है।

आचार्य भट्टलोल्लट ने रस निष्पत्ति की तीन प्रक्रियाओं की चर्चा की है – (क) उत्पत्ति, (ख) प्रतीति, तथा (ग) पुष्टि। उनका कहना है कि विभावों के स्थायी भाव से सहयोग के उपरांत उत्पत्ति की प्रक्रिया शुरू होती है। इसी तरह अनुभवों के स्थायी भाव से संयोग के उपरांत प्रतीति की प्रक्रिया एवं संचारी भावों के स्थायी भाव के संयोग से पुष्टि की प्रक्रिया प्रारंभ होती है।

संचारी भाव स्थायी भाव के साथ संस्कार रूप में ही रहता है। जब स्थायी भाव उद्‌बुद्ध या जागृत होता है तब परिस्थिति भेद के अनुसार वह नाना रूपों में व्यक्त होता है। स्थायी प्रेम की अभिव्यक्ति नाना प्रकार के संचारी भाव में हो सकती है। जैसे–हर्ष, शोक, क्रोध, ईर्ष्या, करुणा। वस्तुतः स्थायी भाव का उद्‌बोधन ही संचारी भावों के माध्यम से होता है।

रस की निष्पत्ति नाटक/काव्य की पटकथा (कलात्मक रूप) के मूल पात्रों में ही संभव है। अभिनेता या अभिनेत्रियाँ तो उसकी केवल अनुकृति मात्र प्रस्तुत करते हैं। शकुंतला नाटक में प्रणय के स्थायी भाव की वास्तविक अनुभूति को मूल पात्रों दुष्यंत

और शकुंतला को हुई थी। नाटक में अभिनय करने वाले दुष्यंत और शकुंतला परस्पर वास्तविक प्रेम का अनुभव नहीं करते अपितु उस अनुभूति का केवल अभिनय करते हैं। दर्शक भी अभिनेता अभिनेत्रियों में नाटकीय पात्रों के अनुरूप अभिनय को देखकर ही प्रेम की प्रतीति करते हैं। इसे तद्रूपतानुसंधान–प्रतीति का सिद्धांत कहा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार स्थाई भाव सामान्य लौकिक अनुभूति है जबकि रस विशिष्ट कलाजन्य अनुभूति है। रस निष्पत्ति की निम्नलिखित तीन प्रक्रियाएं हैं :

1. अभिधा की प्रक्रिया
2. भावकत्व की प्रक्रिया
3. भोजकत्व की प्रक्रिया।

सर्वोत्तम काव्य के अनुशीलन द्वारा हम उसका अर्थबोध करते हैं। इसको अभिधा की प्रक्रिया कहा जाता है। अभिधा शक्ति के द्वारा प्राप्त अर्थ हमारे भौतिक विज्ञान के स्तर तक ही सीमित रहता है। जब अर्थबोध के अनंतर वस्तु हमारे हृदय में भी भावना या अनुभूति का उद्वेलन करने लगे तो इस स्थिति को भावकत्व की प्रक्रिया कहते हैं। भावकत्व के अनंतर भोजकत्व की स्थिति आती है, जब हमारी काव्यजन्य अनुभूतियां अपनी लौकिक सीमाओं से मुक्त होकर आनंद में परिणत हो जाती हैं।

जब काव्यगत अनुभूतियां व्यक्ति विशेष तक सीमित न रहकर सर्वसाधारण तक व्याप्त हो जाती हैं तो उसको साधारणीकरण या तादात्मीकरण कहते हैं। काव्य में गुण, अलंकार आदि के कारण सौंदर्य का संचार हो जाता है। यह सौंदर्य ही साधारणीकरण का मूल आधार है। नाटक में भी अभिनय कला के सौंदर्य के कारण ही साधारणीकरण होता है। साधारणीकरण का दूसरा पक्ष पाठक, श्रोता या दर्शक से संबंधित है। काव्यास्वादन के समय पाठक–दर्शक–श्रोता निजी मोह से ऊपर उठने के बाद ही साधारणीकरण में सफल हो सकता है। इसको निर्वैयक्तिकता भी कहते हैं।

कलात्मक आस्वादन के लिए सतोगुण की सूचक तटस्थता या निर्वैयक्तिकता की आवश्यकता होती है। कवि नाटककार की भावनाओं के साधारणीकरण के फलस्वरूप कवि और पाठक में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। भोजकत्व का अर्थ है आनंद की अनुभूति। रस का स्वरूप आनंदमय है। अतः रस की अनुभूति का अर्थ है आनंद की अनुभूति। भावकत्व की प्रक्रिया के फलस्वरूप साधारणीकरण होता है और साधारणीकरण की चरम स्थिति रसानुभूति या आनंदानुभूति में होती है।

सांख्य दर्शन के आधार पर भट्टनायक ने कहा है कि हमारी आत्मा का स्वाभाविक गुण ही आनंद है, किंतु रजोगुण एवं तमोगुण के प्रभाव से यह आनंद का गुण लुप्त या आवृत हो जाता है। जब कला–स्वादन या योग–समाधि या किसी अन्य साधना के द्वारा आत्मा से रजोगुण एवं तमोगुण का आवरण हट जाता है, तो सत्वगुण (सतोगुण) का प्रकटीकरण सहज रूप में हो जाता है। यह सत्वगुण ही आनंद की स्थिति का द्योतक है। दूसरे शब्दों में, सतोगुण का उद्रेक ही आनंदानुभूति का मूल आधार है। वास्तव में यह सारा संसार ही सौंदर्य से युक्त है, किंतु हम अपनी–अपनी वैयक्तिकता की सीमाओं तथा राग–द्वेष से ग्रस्त होने के कारण निर्द्वन्द्व भाव से उस सौंदर्य का आस्वादन नहीं कर पाते। सौंदर्य को देखते ही हम उसे प्राप्त करने की लालसा से उद्वेलित हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप वह सौंदर्य भावना जो कि आनंदादायी शक्ति से युक्त है, लुप्त हो जाती है, और हम अपनी वासनाओं, इच्छाओं और लालसाओं से पीड़ित होकर दुखी एवं अशांत हो जाते हैं। साहित्य, कला लोकजीवन में तटस्थ, निर्वैयक्तिक एवं सतोगुणात्मक दृष्टिकोण विकसित करके देखने पर तो समस्त संसार एक रंगमंच एवं संसार की सभी क्रियाएं सौंदर्य की अभिव्यक्ति नजर आती हैं। साथ ही प्रत्येक क्षण आनंद की अनुभूति प्राप्त होती है। भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन एवं साधना पद्धति में इसी स्थिति को 'आत्मानुभूति' की स्थिति कहा गया है। आनंद की चरम स्थिति है। भट्टनायक के उपरोक्त सिद्धांत मम्मट और अभिनवगुप्त की रचनाओं के आधार पर प्रस्तुत किए गए हैं।

अभिनवगुप्त (10–11वीं शताब्दी) ने भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की विस्तृत टीका के रूप में 'अभिनव भारती' की रचना की। अभिव्यक्तिवाद नामक सिद्धांत का निरूपण इसी ग्रंथ में हुआ है। इस सिद्धांत की प्रमुख स्थापनायें निम्नलिखित हैं :

1. रस नाटक या काव्य रचना का कोई एक अंग या तत्त्व नहीं है अपितु वह समस्त रचना में व्याप्त सर्वांगीण तत्त्व है। साहित्य कला में रस का वही स्थान है जो जीवन के शरीर में प्राण का होता है। रस का संबंध नाटक या काव्य के संपूर्ण अर्थ से है।

2. स्थाई भाव जहां सामान्य जीवन की लौकिक अनुभूति है वहां की अनुभूति कला, नाटक या काव्य के माध्यम से होती है। इसमें स्थाई भाव विभिन्न शैलीगत तत्त्वों से समन्वित होकर सौंदर्ययुक्त हो जाता है, जबकि स्थाई भाव साधारण शब्दावली में व्याप्त होता है। इसी तरह रस में स्थाई भाव साधारणीकृत रूप में व्यक्त होता है जबकि व्यवहारिक जीवन में ऐसा नहीं होता। रस का आस्वाद सदैव आनंदमय होता है तथा रस की अनुभूति यदि होती है तो निर्विघ्न होती है।

3. किसी भी काव्य नाटक में मुख्यतः तीन आधार पर रस की प्राप्ति होती है :

(क) काव्यगत आधार – जब तक काव्य नाटक में विषय–वस्तु को कलात्मक या सौंदर्ययुक्त शैली में प्रस्तुत नहीं किया जाता तब तक उससे रसानुभूति संभव नहीं है।

(ख) सामाजिक आधार – पाठक, श्रोता या दर्शक सामाजिक प्राणी हैं। किसी भी समाज में कई प्रवृत्तियों के लोग रहते हैं। अभिनवगुप्त की मान्यता है कि पाठक, श्रोता या दर्शक अपनी जन्मजात वासनाओं या सहज प्रवृत्तियों के कारण ही रसानुभूति प्राप्त करते हैं। काव्य या नाटक के आस्वादन के समय हमारी वासनाएं और सहज प्रवृत्तियां प्रभावित, उद्‌बुद्ध एवं उद्वेलित होकर व्यक्त होती हैं। काव्यगत पात्रों से हमारा ऐसा तादात्म्य स्थापित हो जाता है कि उनके माध्यम से हम अपनी ही भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। हमारी सभी भावनाएं किसी–ना–किसी वासना या सहज प्रवृत्ति पर आधारित हैं। अंततः काव्य, नाटक या कला से हमारी अपनी ही वासनाएं या भावनाएं अप्रत्यक्ष रूप में उद्वेलित होकर व्यक्त होती हैं। इस दृष्टि से काव्यास्वादन से प्राप्त होने वाला रस या आनंद मूलतः हमारी अपनी ही वासनाओं, भावनाओं एवं सहज प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का आनंद है। अभिनवगुप्त ने अरस्तु की तरह वासनाओं को दूषित या हेय नहीं मानकर उनके सामान्य रूप को स्वीकार किया है।

(ग) परिस्थितिगत आधार – यदि काव्यास्वादन के समय हमारी अपनी मनःस्थितियाँ और परिस्थितियां अनुकूल न हुईं, तो उस स्थिति में बाधा उपस्थित करने वाली प्रतिकूल स्थितियों को अभिनवगुप्त ने विभिन्न की संज्ञा देते हुए उसके सात भेद बतलाये हैं :

1. अर्थबोध की असमर्थता
2. निजी सुख–दुख का प्रभाव
3–4 . देश और काल की अविच्छिन्नता
5. माध्यम की अस्पष्टता
6. प्रधान की प्रधानता
7. प्रदर्शन की संशयात्मकता

रस–निष्पत्ति के लिए जहां रचना में सौंदर्य का होना आवश्यक है, वहां पाठक की वासनाओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति का होना तथा काव्यास्वादन के समय किसी भी प्रकार के विघ्न का उपस्थित होना भी आवश्यक है।

अभिनवगुप्त के लिए रस केवल काव्यगत रस ही नहीं है अपितु सभी कलाओं से प्राप्त होने वाले आनंद का पर्याय है। कलाकृति में व्यक्त वासनाएं एवं भावनाएं शैली के सौंदर्य से युक्त होती हैं। दूसरे, उनका साधारणीकरण हो जाता है। इन दोनों तत्त्वों के कारण ही घृणा, भय, शोक जैसे लौकिक जीवन के कटुभाव भी कला के माध्यम से व्यक्त होकर मधुर अनुभूति या आनन्दानुभूति अथवा रसानुभूति में परिणत हो जाते हैं।

भारतीय नाट्य परंपरा

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक को अनुकृति मूलक कार्य माना गया है। अनुकृति का लक्ष्य है दर्शकों के मनोगत भावों के उन्मेष द्वारा काव्यरस की प्रतीति कराना। रस की निष्पत्ति ही भारतीय नाटक का प्रधान उद्देश्य माना गया है। रस की सृष्टि ही नाटक–रचना का मुख्य उद्देश्य है।

नाटक का कथानक (वस्तु) तीन प्रकार का हो सकता है – प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। प्रख्यात कथानक किसी प्राचीन, पौराणिक या ऐतिहासिक व्यक्ति से संबंधित होता है। उत्पाद्य नाटक में कवि अपनी कल्पना द्वारा पात्रों की सृष्टि करता है। मिश्र कथानक वह है जिसमें उत्पाद्य और प्रख्यात कथानकों का मिश्रण हो। इसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि प्राचीन कथा में ऐसी काल्पनिक बातें न जोड़ी जायें जिनसे श्रोताओं के विश्वास को धक्का लगे और रस–भंग हो। महाकाव्य में नायक के दोष भी दिखाये जा सकते हैं किन्तु नाटक के सीमित आकार में नायक के दोष–दर्शन के लिए स्थान नहीं है। ऐसा करने से रस के निष्पन्न होने में बाधा पड़ती है।

वृत्ति

रसानुकूल प्रभाव उत्पन्न करने के लिए वृत्तियों के प्रयोग का विधान है। वृत्तियाँ चार प्रकार की मानी गई हैं– कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती। कैशिकी में नृत्य और गान अधिक होते हैं। इसमें पुरुष–स्त्री दोनों भाग लेते हैं। शृंगार–प्रधान नाटकों में इसी वृत्ति का उपयोग होता है। वीर, अद्भुत और भयानक के अनुकूल सात्वती वृत्ति है। आरभटी भयानक और रौद्र के लिए अधिक अनुकूल है। इसमें छल, जादू आदि की प्रधानता होती है। भारती वृत्ति केवल भाषा–प्रयोग पर आधारित होती

है। सभी रसों में इसका अनुकूल प्रयोग हो सकता है। नाटक की भाषा पात्र के अनुकूल होनी चाहिए। नृत्य के भी दो भेद हैं – तांडव और लास्य। नृत्य और गान भी रस का नृत्य है। नाटक में वीर और श्रृंगार–रस प्रधान होते हैं। अद्‌भुत रस नाटकीयता प्रभाव की सृष्टि के लिए लाया जाता है। भारतीय नाट्य परम्परा में वस्तु (कथानक), अभिनेता/अभिनेत्री, रस और संवाद चारों उपकरणों का महत्व है। भारत में नाट्य–रचना का मुख्य उद्देश्य रस की सृष्टि ही है।

नाटक की पश्चिमी एवं भारतीय परम्परा

पश्चिमी परम्परा के अनुसार नाटक का प्रमुख तत्व 'वस्तु' अथवा नाट्य–घटना है। अरस्तु के अनुसार चरित्र तो व्यक्तियों का निष्क्रिय गुण है, जबकि वस्तु मानव–जीवन का सक्रिय और गतिशील रूप है। नाट्य–वस्तु ही चरित्रों को प्रभावित करती है और उनको विशिष्ट स्वरूप देती है। वस्तु अथवा नाट्य–घटना ही चरित्रों के सुख–दुःख का कारण होती है। चरित्र के बिना नाटक बन सकता है, परन्तु वस्तु के बिना उसकी सत्ता नहीं रह सकती। नाटकीय प्रभाव, निर्माण होता है। वस्तु नाटक का सचेतन और गतिशील आधार है। नाटकीय वस्तु अपने में पूर्ण तथा निरपेक्ष होनी चाहिए; साथ ही, उसका एक समुचित आकार अथवा विस्तार भी आवश्यक है। पश्चिमी नाट्य परम्परा में त्रासदी (ट्रेजडी) का सबसे अधिक महत्व है। अरस्तू के अनुसार त्रासदी–जन्य आनंद दूषित एवं हेय वासनाओं का विरेचन या निष्कासन करता है।

ए. बी. कीथ के अनुसार भारतीय नाटक यूनानी नाटकों की भांति जन–समाज के लिए नहीं लिखे गए। उनका प्रसार जनता में नहीं हुआ। यूनानी नाटकों में वस्तु और चरित्र का यथार्थ चित्रण होता है। जबकि भारतीय नाटकों की सृष्टि में भाव और रस की कलात्मक सृष्टि होती है। भारतीय नाटकों में यूनानी दुखांत नाटकों की भांति ऐसी शक्तियां और स्थितियों का चित्रण नहीं किया जाता जो स्वतंत्र हैं, और जिन पर मानव–बुद्धि का कोई वश नहीं।

भारतीय नाटक आदर्शवादी कहे जा सकते हैं जबकि यूनानी नाट्य परम्परा यथार्थवादी रही है। संस्कृत नाटक में किसी सत्पुरुष का भाग्य के दुर्दमनीय चक्र में पड़कर विफलताओं से टक्कर खाना और अंत तक भटकना नहीं दिखाया गया है। संस्कृत नाटक सदैव सुखांत रहे हैं। केवल वीर और श्रृंगार रस की ही सृष्टि संस्कृत नाटक में होती है और घटना–चमत्कार की सृष्टि के लिए अद्‌भुत रस के प्रसंग भी आ सकते हैं। पात्रों का चरित्र–चित्रण भी रसानुगामी ही रहा है। संघर्ष की यथार्थता की

अनुभूति कराने में संस्कृत नाटककार उत्सुक नहीं रहे हैं। भारत में संस्कृत नाटक की शैली का प्रभाव लगभग हमेशा बना रहा है। कीथ के अनुसार संस्कृत नाटक केवल एक अल्पसंख्यक वर्ग–विशेष की कलाभिरुचि और हास्य एवं मनोविज्ञान के विषय रहे हैं। उनका सम्बन्ध सामान्य भारतीय समाज से नहीं रहा है।

कीथ ने संस्कृत नाटकों की जो त्रुटियाँ दिखाई हैं उनमें अतिरंजना अधिक है और तथ्य को जानने का प्रयत्न कम। भारतीय नाटक सुखात्मक और दुखात्मक दृश्यों के प्रदर्शन एवं निरूपण में समान अभिरुचि और सामर्थ्य रखता है। वास्तव में संस्कृत नाटक करुणा, संवेदना और जीवन–संघर्ष की भावनाओं से भरे हुए हैं। नाटक की परिसमाप्ति सुख/आनंद में होने का कारण भारतीय नाटकों के सौंदर्यशास्त्र और शैली विज्ञान के सिद्धांतों में है न कि वर्ग–विशेष की कलाभिरुचि आदि में।

भारतीय दर्शन सुख और दुःख दोनों को एक ही श्रेणी की वस्तु मानते हैं और उनमें कोई तात्विक अंतर नहीं देखते। काव्य और कला को भारत में आदर्शात्मक वस्तु माना जाता है, केवल जीवन की साधारण वास्तविकता (यथार्थ) की अनुभूति नहीं। मानव–जीवन की वास्तविकता और उसके अनिवार्य संघर्षों और दुखों को स्वीकारने के बावजूद भारतीय नाटककार रस को काव्य और कला की आत्मा मानते हैं और रस को अलौकिक आनंदस्वरूप कहते हैं। रस का सम्बन्ध काव्यानुभूति और काव्य कला से है। रस की अभिव्यक्ति राम और रावण के निरूपण तथा सत् और असत् की अनुभूति में एकसमान हो सकती है। ध्वनि–सिद्धांत के आग्रह से काव्य मात्र में रस की सत्ता सिद्ध होती है। भारतीय नाटक रस या भावानुभूति को अपना मुख्य तत्त्व मानता है और चरित्र निर्देश उसके लिए अपेक्षाकृत गौण वस्तु–विन्यास और भी ऊपरी तथ्य है ठीक इसके विपरीत, पश्चिमी नाटक वस्तु या कथानक को नाटक का सर्वप्रमुख तत्त्व मानता है और चरित्र–चित्रण को दूसरा स्थान देता है। रसात्मक आस्वाद या सौंदर्यबोध को पश्चिमी नाटक बहुत दिनों तक स्वतंत्र तत्त्व मानते ही नहीं थे। एक विशिष्ट आध्यात्मिक तथ्य के रूप में काव्यानुभूति तो पश्चिम के लिए और भी नई बात है। भारतीय दृष्टि में चरित्र–चित्रण और स्वभाव निरूपण अंततः साधन ही हैं, साध्य नहीं। वर्तमान युग में विज्ञान और यथार्थवाद और वास्तविकता का प्रभाव बढ़ रहा है। आज समय के अनुसार भारतीय नाटक भी अपने स्वरूप में कुछ परिवर्तन कर रहा है। व्यावहारिक रंगमंच की दृष्टि से समकालीन भारतीय नाटक और उसके विस्तार सिनेमा को तकनीक की दृष्टि से पश्चिम से बहुत कुछ सीखना पड़ा है। परन्तु जहाँ तक सैद्धांतिक विवेचन का प्रश्न है भारतीय आचार्यों का नाटक–सम्बन्धी सैद्धांतिक विवेचन काफी हद तक आज भी मान्य और प्रमाणिक है। नाटकों

में गीत–संगीत और नृत्य का उपयोग भारत में प्राचीन काल से होता रहा है। समकालीन नाटकों और सिनेमा में भी इसका सफल प्रयोग जारी है। भारतीय नाटककार नाट्य–व्यापार को तीव्र और गतिशील बनाने के बहुत पक्ष में नहीं रहे हैं। वे नाटक में रमना चाहते हैं। घटनाओं में दौड़ लगाना ग्रीक नाटकों की परम्परा रही है। हॉलीवुड के सिनेमा में भी इस परम्परा का विस्तार हुआ है। यह अलग बात है कि अब पश्चिमी सिनेमा और रंगमंच भी धीरे–धीरे तथाकथित यथार्थवादी प्रस्तुति से प्रत्ययवादी (आइडिएशनल) प्रस्तुति की ओर झुक रहा है। हमारा पारम्परिक रंगमंच और मुख्यधारा वाला भारतीय सिनेमा पहले से ही प्रत्ययवादी रहा है। प्रत्ययवादी होने का अर्थ यथार्थ से विमुख होना नहीं है बल्कि यथार्थ की आत्मा को, उसके सार–तत्त्व को, उसके रस को प्रभावकारी तरीकों से प्रस्तुत करना है। रस मानवीय अनुभव का पारावार है और वह अपनी विलक्षणता के साथ ऐसी जगह व्यक्त होता है जहाँ उसकी कोई संभावना नहीं देखी जाती। 'बॉक्स ऑफिस हिट' या दर्शकों द्वारा अप्रत्याशित परन्तु सहज रूप से लोकप्रिय या सराही गई ('ब्लॉक बस्टर्स') फिल्मों एवं नाटकों की लोकप्रियता को भी इसी अपूर्व रसानुभूति में खोजा जा सकता है।

व्यावसायिक रूप से सबसे सफल या लोकप्रिय भारतीय फिल्मों में शृंगार रस, हास्य रस एवं वीर रस की भूमिका सर्वप्रमुख होती है। करुणा एवं वात्सल्य रस की भूमिका भी अवश्य होती है परन्तु कुल मिलाकर करुण एवं वात्सल्य रसों का प्रयोग शृंगार, हास्य या वीर रस के कथानक का अतिक्रमण करके चरमानुभूति देने के लिए होता है। बिना वात्सल्य या करुण रस के सहयोग शृंगारिक, वीर या हास्य रस वाले नायक–नायिकाओं में महाकाव्यात्मक या मिथकीय महानता आरोपित करना या उन चरित्रों को कालजयी आयाम देना संभव नहीं होता। वात्सल्य रस और करुण रस में बहुत घनिष्ठ संबंध माना जाता है। शृंगार रस का विकास वात्सल्य रस में होता है और वात्सल्य रस का विकास करुण रस में होता है। शृंगार रस एक विशेष प्रकार का रस है जो दो व्यक्तियों के प्रेम सम्बन्ध में पाया जाता है। उदाहरण के लिए, प्रेमी–प्रेमिका के बीच का प्रेम। जब शृंगार रस का परिवार या नातेदारी के दायरे में सामान्यीकरण हो जाता है तो उसे वात्सल्य रस कहते हैं। उदाहरण के लिए, माता–पिता का अपनी संतानों से जो प्यार होता है तो उसे वात्सल्य रस कहते हैं। वात्सल्य रस का जब पूरे समाज, संसार या ब्रह्माण्ड के स्तर पर सामान्यीकरण होता है तो यह करुण रस हो जाता है। पश्चिमी समीक्षक कई बार यह नहीं समझ पाते कि तथाकथित फैमिली–ड्रामा भारतीय सिनेमा और टेलीविज़न सीरियलों में इतना लोकप्रिय क्यों है ? अगर त्रासदी (पश्चिमी परम्परा का ट्रेजेडी) भारतीय परम्परा का लोकप्रिय रूप नहीं है तो मीनाकुमारी की फिल्में और एकता कपूर के सीरियल इतना लोकप्रिय क्यों है ?

इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शक नायक–नायिका के दुःख से दुखी नहीं होता बल्कि करुणावश उनके दुःख को कम न कर पाने की अपनी विवशता पर रोता है। दूसरा कारण यह है कि पश्चिमी ट्रेजेडी के मूल में नायक–नायिका पाप कर्म करते हैं और अपने पाप बोध के कारण उनमें आत्मग्लानि होती है। यही उनके दुःख का आधार होता है। इसके विपरीत, भारतीय नाट्य या सिनेमा परम्परा में नायक – नायिका दूसरों के अपराध या पाप को स्वेच्छा से या परिस्थितिवश भोगते हुए भी अपने धर्म और आदर्श पर कायम रहते हैं। तीसरा, भारतीय रंगमंच एवं सिनेमा की परम्परा में खलनायक या खलनायिका को अंततः हारना पड़ता है। उसकी हार के कई रूप होते हैं – कई बार उनकी मृत्यु हो जाती है, कई बार उन्हें दंड मिलता है, कई बार वे आत्मग्लानि से भर उठते हैं, इसके बावजूद केवल उन्हीं प्रयोगधर्मी फिल्मों या नाटकों को सफलता मिलती है जो भारतीय मानकों पर खरे होते हैं। उदाहरण के लिए 'दीवार' फिल्म के प्रतिनायक (अमिताभ बच्चन) को अंततः मरना पड़ता है और नायक (शशि कपूर) की ही अंततः जीत होती है। ऐसे भी उस फिल्म का सबसे लोकप्रिय संवाद शशि कपूर द्वारा बोला गया यह वाक्य है, मेरे पास माँ है अतः दीवार की सफलता भारतीय मानक के खिलाफ जाकर नहीं हुई। इसी तरह भारतीय मानक के विपरीत जाकर ट्रेजेडी किंग दिलीप कुमार भी 'दिल दिया दर्द लिया' और 'आदमी' जैसी फिल्मों को सफलता नहीं दिला सके। भारतीय मानकों पर खरी फिल्म 'सरफ़रोश' चली थी, लेकिन भारतीय मानकों से भटकने पर उसी निर्देशक की फिल्म 'शिखर' नहीं चली।

भारतीय आश्रम व्यवस्था में शृंगार रस का सम्बन्ध गृहस्थ आश्रम से है। वात्सल्य रस का सम्बन्ध वानप्रस्थ आश्रम से है तथा करुण रस का सम्बन्ध संन्यास आश्रम से है। वैदिक परम्परा में गृहस्थ आश्रम से संन्यास आश्रम तक क्रमिक विकास की वकालत की गई है, जबकि श्रमण परम्परा में गृहस्थ आश्रम एवं वानप्रस्थ आश्रम से गुजरना आवश्यक नहीं माना गया है। दोनों परम्पराओं में पहला आश्रम ब्रह्मचर्य माना गया है और अंतिम आश्रम संन्यास। फलस्वरूप करुण रस का महत्व दोनों परम्पराओं में सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। अतएव करुण रस को सबसे महत्वपूर्ण रस माना जाना स्वाभाविक है। बिना करुण रस की उत्पत्ति के मोक्ष संभव नहीं है और बिना पाये कालजयी रचनाओं की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। चाहे वह रचना आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक हो या कलात्मक। इसलिए हर लोकप्रिय साहित्य एवं सिनेमा में करुण रस का होना आवश्यक है। करुण रस की सबसे प्रभावी अभिव्यक्ति नृत्य, संगीत एवं गीत के द्वारा होती है। फलस्वरूप भारतीय सिनेमा में नृत्य, गीत एवं संगीत सफलता के सबसे बड़े आधार होते हैं।

भारतीय संस्कृति में रसों का सम्बन्ध व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन के हर आयाम से तो है ही, भारतीय संस्कृति में उपयोग की जाने वाली वनस्पतियों, फलों–फूलों, साग–सब्जियों तथा अन्नों से भी है। रसों का सम्बन्ध विभिन्न ऋतुओं तथा साल के बारह महीनों से भी है। भारतीय साहित्य, कला एवं सिनेमा में रस सिद्धांत का जितना उपयोग होता है उससे कहीं ज्यादा इसका इस्तेमाल लोकसंस्कृति में रसे–पगे लोग करते हैं। भारतीय संस्कृति में रस का समाजशास्त्रीय अध्ययन अभी तो आरम्भ ही हुआ है। इसके विकास के लिए परम्परा का और गहरा अनुशीलन आवश्यक है।

❑❑❑

धर्म एवं सिनेमा

भारत में मंदिर केवल मूर्तिपूजा स्थल नहीं है बल्कि यह अपने आप में एक पवित्रतम जगह है। मंदिर में प्रवेश करते ही हमारी आत्मा एक शुद्ध वातावरण में प्रवेश करती है। मंदिर हमारे भीतर दैवीय अनुभूतियों को भरता है। यह हमें ईश्वरीय प्रेरणा एवं शांत वातावरण की परिधि में लपेट कर विशिष्ट बना देता है। नास्तिक व्यक्ति को भी थोड़ी देर के लिए ही सही, आस्तिक अनुभूतियों से भर देता है। भारत में मंदिरों के कई प्रकार हैं। इन्हें मूलत: उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय मॉडलों में समझा जा सकता है। उत्तर भारतीय मंदिर, उत्तर भारतीय समाज एवं हिन्दी सिनेमा के बीच अन्योन्याश्रित संबंध है, जिसे दक्षिण भारतीय संदर्भ से अलग करके देखना एवं समझना पड़ेगा। दक्षिण भारतीय मंदिर, दक्षिण भारतीय समाज तथा दक्षिण भारतीय सिनेमा ऐतिहासिक रूप से एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। ऐतिहासिक विकास एवं भाषाई विन्यास की दृष्टि से दक्षिण एवं उत्तर भारत का विकास अलग–अलग तरह से हुआ है। फलस्वरूप इनको एक साथ समझने में व्यावहारिक कठिनाइयां आती हैं। सैद्धांतिक स्तर पर भी इनको एक फ्रेमवर्क में नहीं समझा जा सकता।

अंग्रेजी राज में शंकराचार्य की सैद्धांतिक शब्दावली में, भारत के मंदिरों की व्यवस्था समझने–समझाने की कोशिश होती रही है जबकि भारतीय समाज के भीतर रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य जैसे भक्तिआचार्यों का प्रभाव ज्यादा रहा है। शंकराचार्य की व्यवस्था के अनुसार भारत के चारों कोनों में मठों का निर्माण हुआ था। दक्षिण में श्रृंगेरी, उत्तर में बद्रीकाश्रम, पूर्व में पुरी, एवं पश्चिम में द्वारका में शंकरपीठ बनाए गए। इसके साथ शंकराचार्य ने नागा संन्यासियों का दसनामी सम्प्रदाय भी बनाया था। लेकिन गृहस्थ हिन्दुओं के लिए भक्ति आंदोलन के दौरान अनगिनत मंदिरों का निर्माण हुआ और इनकी पूजा पद्धति विकसित हुई जिस पर भक्ति साहित्य का प्रभाव है। दुर्भाग्य से भक्ति साहित्य के धार्मिक एवं साम्प्रदायिक महत्व का अब तक अध्ययन नहीं हुआ है। इसे मात्र कथा एवं काव्य तथा नाट्य साहित्य मानकर अध्ययन हुआ है। 12वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी तक खासकर उत्तर भारत में भक्ति साहित्य की

अविरल धारा लगातार बहती रही, जिसके प्रभाव में उत्तर भारत का समाज और उत्तर भारत के मंदिरों की पूजा पद्धति विकसित हुई।

18वीं शताब्दी से अंग्रेजी राज भारत में आया जिसने भारतीय समाज का आधुनिकीकरण शुरू किया परंतु इसका दक्षिण एवं उत्तर भारत में अलग–अलग प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव को उत्तर एवं दक्षिण भारत के आधुनिक साहित्य एवं सिनेमा में आसानी से देखा जा सकता है। परंतु समाज विज्ञानों में स्टडीज़ (भारतविद्या अध्ययन या अभिगम) के तहत पश्चिमी विद्वानों ने हिन्दू शास्त्रों के आधिकारिक पाठों को संपादित एवं प्रकाशित किया जिस पर यूरोपीय मान्यताओं का स्पष्ट असर है। यूरोपीय मान्यताओं के अनुसार शंकराचार्य को अखिल भारतीय स्तर का एकमात्र सिद्धांतकार घोषित किया गया तथा उत्तर भारतीय मंदिरों को दक्षिण भारतीय मंदिरों का भग्नावशेष माना गया। यह माना गया कि मुस्लिम आक्रमण के दौरान उत्तर भारत की व्यवस्था टूट गई थी। फलस्वरूप उत्तर भारत के श्रद्धालु मंदिरों में ईश्वर की प्रतिमाओं को स्पर्श करने लगे जबकि दक्षिण में श्रद्धालु मंदिरों में ईश्वर की प्रतिमाओं का स्पर्श नहीं कर सकते, केवल दूर से दर्शन कर सकते हैं।

यह एक प्रकार का कृत्रिम अनुमान है जिसका उत्तर भारतीय समाज से कोई लेना–देना नहीं है। साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, दर्शन, नीतिशास्त्र, कृषि, त्योहार, व्रत, मंत्रोपचार और सामाजिक रीतिरिवाज का पारंपरिक सिद्धांतों के तहत समन्वित अध्ययन होना अभी बाकी है। समकालीन समय में स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा गांधी ने भारतीय समाज को समझने के लिए अलग–अलग विमर्श विकसित किया है। दोनों विमर्शों में भारतीय समाज की समकालीन परिस्थिति के लिए एक प्रकार का क्षोभ एवं क्रोध है जबकि भारत के पारंपरिक विमर्श की भाषा में करुणा पाई जाती है। उदाहरण के लिए भगवान बुद्ध और रामकृष्ण परमहंस की भाषा में करुणा है।

ईश्वर की बनाई दुनिया में ईश्वरीय सत्ता की सूक्ष्म उपस्थिति हर जगह है। इस उपस्थिति के प्रति मनुष्य का अज्ञान ही उसे एक त्रासदी से दूसरी त्रासदी में घसीटता है। 'माया' महाठगिनी रही है। लोभ, मोह, मद, क्रोध, अहंकार ने बहुतों को नचाया है। नारद जैसे महामुनि तक को नचाया। विश्वामित्र जैसे महर्षि को भरमाया। रावण जैसे महान योद्धा और महान पंडित को कुमार्ग पर ले गया। संतोष नहीं हो तो माया बहुत छकाती है। मंदिर के दर्शन से माया की ताकत घटती है और विवेक बढ़ता है। इसीलिए हिन्दू मंदिरों में अधिकांश समय श्रद्धालुओं की भीड़ लगी रहती है।

नेहरू के चमत्कारिक व्यक्तित्व और आभामंडल से प्रभावित होकर हिन्दुस्तानी सिनेमा में जिस प्रकार के नायक और कथानक को 1948 से 1962 तक फिल्मों की व्यावसायिक सफलता की गारंटी माना जाता था वह धीरे–धीरे व्यावसायिक अनिश्चितता का खेल बन गया। दर्शकों में यह विचारधारा, यह कलात्मक संवेदना, यह सौंदर्यशास्त्र अपना आकर्षण खोता गया और नई प्रवृत्तियों, नए रुझान वाले निर्माताओं का आगमन हुआ। 1962 में राजश्री प्रोडक्शंस की पहली फिल्म 'आरती'(1962) आई। अशोक कुमार, प्रदीप कुमार और मीनाकुमारी की इस फिल्म ने ताराचंद बड़जात्या और राजश्री प्रोडक्शन को स्थापित कर दिया। 1962 में ही संगीतकार हेमंतकुमार निर्माता बने और उनकी बिना सितारा वाली हॉरर फिल्म 'बीस साल बाद' केवल अपने गीत, संगीत और पार्श्व संगीत के बल पर 1962 की सफलतम फिल्म बन गई। 1962 में ही पहलवान दारा सिंह की पहली फिल्म 'किंगकांग' आई, जो 1962 की 5वीं सबसे सफल फिल्म थी।

हिन्दू चेतना के फिल्मकारों में दूसरा वर्ग उन लोगों का है जो महात्मा गाँधी, सी. राजगोपालाचारी, आर. के. नारायण,शिवराम कारंत के प्रभाव में फिल्में बनाते थे। इनमें सबसे प्रमुख नाम एस. एस. वासन, एल. व्ही. प्रसाद, श्रीधर, के. विश्वनाथ, एस. रामानाथन जैसे फिल्मकारों का है।

हिन्दू चेतना की तीसरी अभिव्यक्ति आर्यसमाजी चेतना के फिल्मकारों की है। इसमें दो नाम सबसे उल्लेखनीय हैं– पहला, चेतन आनंद का जो गुरुकुल कांगड़ी से विधिवत शिक्षा लेकर फिल्मों में आये और 1946 से 1962 तक इप्टा के सक्रिय सदस्य रहे। उनकी 1962 तक की फिल्मों में आर्यसमाजी संवेदना पर मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव है। लेकिन 1964 के बाद वे आर्यसमाज से सनातन धर्म की ओर बढ़ते चले गए। 1964 की 'हकीकत' से लेकर 'आखिरी खत', 'हीर रांझा', 'हंसते जख्म' से होते हुए वे 'कुदरत' और 'हाथ की लकीरें' जैसी सनातनी अवधारणाओं, कथानकों और आख्यानों के आधार पर हिंदी सिनेमा में पारम्परिक सौंदर्यशास्त्र के समकालीन प्रवर्तक बनते चले गए। दर्शकों ने इन्हें सराहा लेकिन फिल्म आलोचकों एवं समीक्षकों ने उनकी 1962 की इन क्लासिकल फिल्मों की उसी तरह उपेक्षा की जिस तरह इप्टा में सक्रिय रहते हुए उनकी प्रयोगात्मक फिल्म 'अंजली'(1957) को दर्शकों ने प्रमादवश नजरअंदाज किया था। समाज सुधार की कहानियां इन लोगों ने भी बनायीं । समाज सुधार की इनकी कहानियों पर पी. वी. काणे के धर्मशास्त्र के इतिहास का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ये लोग धर्मसुधार की बात नहीं करते, परन्तु सनातन या वैदिक धर्म के दायरे में समाज–सुधार या कुरीतियों के खिलाफ कथानक का चुनाव करते थे।

आर्यसमाज के वैचारिक दायरे में दूसरा महत्वपूर्ण नाम फिल्मकार बी. आर. चोपड़ा का रहा है। वे समाज सुधार के साथ धर्म सुधार के आर्यसमाजी सरोकारों से शुरू से अंत तक बँधे रहे। वे मूर्तिपूजा, विधवा विवाह, तलाक, नाजायज औलाद, नाजायज प्रेम, सस्पेंस, थ्रीलर, रोमांस, हर तरह से समकालीन भारतीय समाज के ज्वलंत मुद्दे उठाते रहे लेकिन उनके कथानक का समाधान अधिकांशतः आर्यसमाजी संस्कारों से होकर निकला। इस काम में उनके स्टोरी डिपार्टमेंट में मुखराम शर्मा, राही मासूम रजा और नरेंद्र शर्मा जैसे बड़े साहित्यकारों की उपस्थिति से भी मदद मिली।

हिन्दू चेतना वाले चौथे वर्ग के फिल्मकारों में वे लोग आते हैं जो बंगाल नवजागरण के प्रभाव में पले–बढ़े। इन लोगों में सर्वप्रमुख नाम देबकी बोस, केदार शर्मा, बिमल रॉय, हेमेन गुप्ता, सत्येन बोस, असित सेन, ऋषिकेश मुखर्जी, राजकपूर, लेख टंडन, बासु चटर्जी, राजा नवाथे, प्रकाश अरोड़ा, रघुनाथ झालानी, दुलाल गुहा, रणधीर कपूर जैसे फिल्मकारों का आयेगा। इन लोगों के ऊपर चंडीदास, रामकृष्ण परमहंस, बंकिमचंद्र और कुछ हद तक शरतचंद्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। गाँधी का प्रभाव भी कुछ हद तक इन पर दिखलायी देता है। लेकिन टैगोर और विवेकानंद का प्रभाव इन पर नहीं है। टैगोर और विवेकानंद केवल समाज सुधारक नहीं थे, ये लोग धर्म सुधारक भी थे।

अंग्रेजी राज में भारतीय मुसलमानों ने देवबंद में एक गुरूकुल बनाया था। यह एक अद्भुत प्रयास है। इसकी आज भी प्रासंगिकता है। गुरूकुल कांगडी, शांतिनिकेतन एवं बी. एच. यू. अप्रासंगिक हो चुके हैं। विवेकानंदवादियों ने अपना नारा जमीन पर नहीं उतारा। शांतिनिकेतन ही उनकी नीतियों के अनुकूल था।

सिनेमा मूलतः यहूदी, मुस्लिम, पारसी एवं पेगन माध्यम है। यह ईसाई मानसिकता की कला नहीं है। हॉलीवुड एवं बॉलीवुड दोनों जगह, सिनेमा के निर्देशन में ईसाई लोग वर्तमान की कथा कहने में अपवादस्वरूप ही सफल हुए हैं। ईसाई फिल्मकार भूत–काल या भविष्य–काल की कथा को तो सिनेमा के माध्यम से कह पाते हैं लेकिन वर्तमान की कथा कहने में वे असहज एवं असंतुलित हो जाते हैं। यूरोपीय इतिहास में पेगन शब्द का प्रयोग सेमेटिक धार्मिक सम्प्रदायों– यहूदी, ईसाई, मुस्लिम– से पहले के मूर्तिपूजक, प्रकृतिपूजक धार्मिक समुदायों के लिए किया जाता रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप में प्रचलित सनातन धर्म के सभी संप्रदाय जिन्हें आज जैन, बौद्ध, आजीवक, शाक्त, शैव, वैष्णव, स्मार्त जैसे नामों से जाना जाता है तथा एशिया और अफ्रीका के वे धार्मिक संप्रदाय जो सेमेटिक धर्मों की तरह

मनुष्य–केंद्रित न होकर प्रकृति, ब्रह्माण्ड या ब्रह्म–केंद्रित रहे हैं और जिसकी विश्वदृष्टि में मनुष्य चौरासी लाख योनियों में एक योनि मात्र है और किसी भी दृष्टि से अन्य योनियों में अभिव्यक्त जीवों में सर्वोच्च न होकर उनका सहोदर मात्र है। पेगन या सनातन धर्म के ही रूप हैं। सनातन धर्म की पारिभाषिक विशेषता पूर्णता है। हर प्रकार की अपूर्णता को यह असहज, अधर्म एवं अग्राह्य मानता है। आधुनिकता को पूर्ण बनाना हो तो अरस्तु, हिटलर एवं गांधी का संश्लेषण एक मॉडल है, मुहम्मद, मार्क्स एवं गांधी का संश्लेषण दूसरा मॉडल है। बुद्ध, चाणक्य एवं रामानुज का संश्लेषण एक तीसरा मॉडेल हो सकता है।

सनातनी फिल्मकारों ने अपने देशकाल को अपनी कथा फिल्मों के केंद्र में रख कर एक नए सौंदर्यशास्त्र की सिनेमायी अभिव्यक्ति दी, जैसे 'श्री 420'(1955) फिल्म में निर्देशक राजकपूर ने नेहरू की नीतियों की आलोचना की है। इसमें एक मराठी महिला, इलाहाबादी राजकपूर को, पनाह देती है। उस वक्त मुंबई का भूगोल विकास के नाम पर फैल रहा था। नेहरू के औद्योगीकरण की नीति की बहुत सूक्ष्म आलोचना करना फिल्म 'श्री 420' का उद्देश्य था। टी. टी. कृष्णामाचारी ने नीति बनायी थी कि खनिज (मूलतः कोयला) अपने उत्पादन क्षेत्र में जिस कीमत पर मिलेगा, उसी कीमत पर देश के हर क्षेत्र में मिलेगा। महानगरों के भीतर उद्योगों के विकास में इससे बहुत मदद मिली। उद्योगों का विकास समुद्र के किनारे बसे बंदरगाहों या नदी किनारे बसे नगरों में हुआ। इससे माल ढोने में सुविधा हुई। अतः मुंबई या चेन्नई केवल मराठियों या तमिलों की विरासत नहीं हैं। यह राष्ट्र की साझा विरासत हैं। इसी तरह पंजाब, 'हरित क्रांति' की राष्ट्रीय नीति के तहत प्रयोग स्थल बना।

बिमल रॉय ने अपनी फिल्म 'परख'(1960), गुरुदत्त ने अपनी फिल्म 'प्यासा'(1957), बी.आर. चोपड़ा ने अपनी फिल्म 'नया दौर'(1957), मनोज कुमार ने अपनी फिल्म 'उपकार'(1967) और शैलेन्द्र ने बासु भट्टाचार्य निर्देशित अपनी फिल्म 'तीसरी कसम'(1966) में नेहरू के भारत और गाँधी के सपनों के भारत में एक कलात्मक संघर्ष दिखलाया है। महात्मा गांधी की नीतियों के केन्द्र में सहकार एवं सहकारी आंदोलन था। सहकारी समितियों के जरिये गांवों का विकास उनका लक्ष्य था। नेहरू की नीतियों के अंत होते ही गांधी की प्रासंगिकता बढ़ी है। नेहरू की सारी नीतियां गलत थीं ऐसा कहना सरलीकरण होगा। उनकी विचारधारा समाजवादी थी। वे स्वभाव से तानाशाह थे। उनकी कुछ नीतियां युगानुकूल थीं, जो काल–बाह्य हो गयीं। देश नया–नया स्वतंत्र हुआ था। वे अंग्रेजी राज से अभिभूत थे। अतः उन्होंने कई क्षेत्रों में अंग्रेजों की नीतियों को जारी रखा। कुछ अन्य क्षेत्रों में वे

सोवियत संघ से प्रभावित थे। विदेश नीति के क्षेत्र में उन्होंने गुट–निरपेक्ष राजनीति करनी चाही। कश्मीर और तिब्बत के मुद्दे पर वे लड़खड़ाये। 1962 में चीन से वे हार गए। इस हार के बाद उनके कई समर्थक फ़िल्मकार नेहरूवादी फंतासी से ऊबकर स्वतंत्र फिल्में बनाने लगे। चेतन आनंद इनके प्रेरक बने। चेतन आनंद ने फिल्म 'हक़ीक़त' (1964) के द्वारा नेहरूवादी फंतासी की लोकप्रिय फिल्म, महबूब खान की 'मदर इंडिया' (1957) का तिलिस्म तोड़ कर, भारतीय समाज के यथार्थ की वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति करने के लिए बहुआयामी कथानकों का नया संसार हिंदी सिनेमा के दर्शकों को दिखलाना शुरू किया। इसमें बी. आर. चोपड़ा की 'वक़्त' (1965), शक्ति सामंत की 'कश्मीर की कली' (1964) तथा 'आराधना' (1969), ऋषिकेश मुखर्जी की 'असली–नकली' (1962), 'अनाड़ी' (1959), विजय आनंद की 'गाइड'(1965), राज खोसला की 'बॉम्बे का बाबू' (1960), अमरजीत की 'हम दोनों'(1961), दुलाल गुहा की 'धरती कहे पुकार के' (1969) तथा 'दुश्मन' (1971), लेख टंडन की 'प्रिंस' (1969), के. शंकर की 'राजकुमार (1964)' क्लासिक फ़िल्में हैं।

गांधी को स्वतंत्रता के बाद अपनी नीतियों को व्यवस्थित तरीके से अभिव्यक्त करने का मौका नहीं मिला। उनकी हत्या के बाद नेहरूवादी विद्वानों ने गांधी की विरासत को तोड़–मरोड़ कर अपने अनुकूल कर लिया। लेकिन 1991 के बाद गांधी का महत्व लगातार बढ़ा है। सिनेमा, साहित्य, समाज तीनों जगह उनका महत्व बढ़ा है लेकिन सरकार के स्तर पर नेहरूवादी विरासत अब भी कायम है।

राजकुमार संतोषी द्वारा निर्देशित फिल्म 'अजब प्रेम की गजब कहानी'(2009) एक ईसाई फिल्म नहीं है बल्कि यह एक ब्रह्म–समाजी (केशव चन्द्र सेन) मानसिकता की हिन्दू फिल्म है। इसमें ईसामसीह सशरीर आते हैं चूँकि जेनी गिरिजाघर में भक्तिभाव से बाइबिल पढ़ रही है। उसके पास अपने प्रेम को पाने का और कोई उपाय नहीं है। वह एक अनाथ ईसाई लड़की है जिसके पालक माता–पिता उसकी शादी एक अमीर ईसाई परिवार में करना चाहते हैं जबकि वह अंततः यह समझ लेती है कि प्रेम ही उसका असली जीवन–साथी है। यह लैला–मजनूं टाइप प्रेम नहीं है। यह रोमियो–जुलियट वाला प्रेम भी नहीं है। यह हिन्दू प्रेम है। यह आत्म–साक्षात्कार से निकला दाम्पत्य वाले प्रेम का आधुनिक रूप है। यह संयोग है कि ईसामसीह सहयोग करते हैं। इस फिल्म में ईसामसीह प्रेम के देवता के रूप में सामने आते हैं। ऐसे भी ईसामसीह पर भारतीय दर्शन के प्रभाव को अब स्वीकार किया जाने लगा है। दुनिया भर में क्रिसमस के जश्न के बीच भारत के साथ ईसामसीह के लंबे संपर्क का दावा किया गया

है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि ईसामसीह ने अपने जीवन के शुरूआती 17 वर्ष भारत में बिताए थे। उन्होंने 13 से 30 साल की उम्र तक भारत में बौद्ध धर्म और वेदों का अध्ययन किया था।

ब्रिटिश फिल्म निर्माता केंट वाल्विन कहते हैं, ''बचपन में यीशु के परिवार के नाजरेथ (इजरायली शहर) में रहने के प्रमाण मिलते हैं। लेकिन जब उन्हें दूसरी बार नाजरेथ में देखा गया तब वह 30 साल के थे। यीशु ने कहा था कि जितने दिन वह गायब रहे उन्होंने अपनी बुद्धि और कद में विकास किया।'' वर्ष 2009 के दयावती पुरस्कार विजेता वाल्विन, जो यीशु के शुरूआती जीवन पर ही आधारित फिल्म 'यंग जीसस : द मिसिंग ईयर्स' बना रहे हैं, इसके अनुसार 'एपोस्टोलिक गासपेल्स (ईसा मसीह के जीवन पर प्राचीन धार्मिक वर्णन) और अभिलेखिय सामग्री' के मुताबिक यीशु को 13–14 साल की उम्र में अंतिम बार पश्चिम एशिया में देखा गया था। अभिलेखिय सामग्री में यीशु के भारत से संपर्क के कई संदर्भ मिलते हैं। रूसी चिकित्सक निकोलस नोतोविच की 1894 में आई किताब ' द अननोन लाइफ ऑफ क्राइस्ट' में भी इसी विषय को उठाया गया है। ये किताब नोतोविच की अफगानिस्तान, भारत और तिब्बत यात्रा पर आधारित थी। उनकी इस किताब में कई ऐसे संदर्भ मिलते हैं, जो बताते हैं कि यीशु भारत आए थे और उन्होंने यहां वेदों व बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था। एक अन्य रूसी लेखक निकोलस रोइरिच के मुताबिक यीशु ने काशी (वाराणसी) समेत भारत के कई प्राचीन शहरों में समय बिताया था। जर्मन विद्वान होल्जर क्रिस्टन की किताब 'जीसस लिव्ड इन इंडिया' के मुताबिक यीशु ने सिंध में बौद्ध धर्म का अध्ययन किया था।

'अजब प्रेम की गजब कहानी'(2009) के ईसाई परिवार एवं पात्र में नायकत्व नहीं है। वे या तो खल पात्र हैं या हास्यास्पद पात्र हैं। नायकत्व तो सलमान खान को दिया गया है। उसे सूफी दरवेश की तरह, प्रेम के पुजारी की तरह पेश किया गया है। नायक काफी भोला है। वह अपनी प्रेमिका के लिए शाकाहारी होते हुए भी मांस खाने को तैयार है। ईसाई फिल्म होती तो गिरिजाघर में विवाह होता। कोर्ट में हुआ विवाह ईसाई धर्म में वैध नहीं है। उस स्थिति में नायक को धर्मांतरित होना पड़ता। पश्चिमी मानसिकता के फिल्म समीक्षकों को यह लगता है कि यह एक गंभीर फिल्म न होकर दिमागहीन कॉमेडी फिल्म है। 'चोरी चोरी'(1956) की प्रेम कथा को 'बॉबी' का तड़का लगाकर 'अंदाज अपना अपना'(1994) स्टाइल में पेश किया गया है। यह रणबीर कपूर की चौथी और सबसे सफल फिल्म है। 'सावरियां' (2007) ने पानी भी नहीं मांगा था। उस घोर असफलता के बाद 'बचना ऐ हसीनों' और 'वेकअप

सिड'(2009) आयी थी। दोनों औसत सफल फिल्में थीं। इस चौथी फिल्म से रणबीर कपूर सितारा बन गया था। कैटरीना कैफ भी सुपर सितारा बन गई थी।

इसके निर्देशक राजकुमार संतोषी हैं। जिन्होंने एक्शन फिल्मों 'घायल' (1990), 'घातक' (1996), 'चाइना गेट' (1998), सोशल फिल्म 'दामिनी' (1993), कॉमेडी फिल्म 'अंदाज अपना अपना' (1994), सस्पेंस फिल्म 'खाकी' (2004) के बाद महाकाव्यात्मक फिल्म 'अजब प्रेम की गजब कहानी' (2009) बना कर हिंदी सिनेमा के दर्शकों को झकझोर दिया। फिल्म देख कर लगा कि पी. एल. संतोषी जैसे महान फ़िल्मकार का बेटा राजकुमार संतोषी इस फिल्म के द्वारा अपने पिता को पिंडदान कर रहा है । वह पितृऋण उतार कर उभर रहे सनातनी भारत का स्वागत कर रहा है ।

'अजब प्रेम की गजब कहानी'(2009) फिल्म में सूत्रधार एक पुरानी मूर्ति है। ईसाई फिल्मों में पत्थर की मूर्ति नहीं बोलती । दरअसल यह एक असजग हिन्दू कॉमेडी फिल्म है परन्तु भारतीय सौंदर्यशास्त्र, भारतीय विवाह एवं प्रेम की सनातन पद्धति और रस सिद्धांत से अनजान समीक्षकों को यह नहीं दिखायी देता, चूँकि इन लोगों की ठेठ भारतीय कहानियों, फिल्मों, मूर्तिकला, नृत्य और संगीत को समझाने वाली संवेदना और अनुभूति चेतना शून्य पड़ी हुई है।

'प्रीतम' का संगीत उबाऊ नहीं है। राजकुमार संतोषी ने वर्षों बाद एक सफल फिल्म बनायी थी। 'हल्ला बोल' (2008), 'खाकी' (2004), 'शहीद भगत सिंह' (2002), 'लज्जा' (2001), 'चाइना गेट' (1998) असफल फिल्में थीं। 'घायल' (1990), 'घातक' (1996), 'दामिनी' (1993), 'अन्दाज अपना अपना' (1994) के बाद 'अजब प्रेम की गजब कहानी' (2009) में सफलता मिलना संतोषी की रचनात्मकता के लिए एक अच्छी खुराक है। विशुद्ध हास्य फिल्म के रूप में 'अजब प्रेम की गजब कहानी' में गुदगुदाने वाले कई दृश्य हैं। खासकर वह दृश्य जिसमें स्मिता जयकर, दर्शन जरीवाला को बाथरूम जाने से रोकती है क्योंकि बाथरूम में कैटरीना कैफ नहा रही होती है। प्रौढ़ प्रेम की वह अदा अद्भुत है। जाकिर हुसैन, गोविन्द नामदेव आदि ने भी अच्छा अभिनय किया है। परन्तु मूलतः फिल्म की जान रणबीर कपूर और कैटरीना कैफ ही हैं। दोनों ने मनोरंजक एवं मनभावन अभिनय किया है। इस फिल्म की पहले हफ्ते की कमाई 40 करोड़ थी, बाद में इसकी कमाई 134 करोड़ तक पहुंच गई।

'नमस्ते लंदन' (2007), 'वेलकम' (2007), 'सिंह इज किंग' (2008), 'पार्टनर' (2007), 'रेस' (2008) के बाद 'अजब प्रेम की गजब कहानी' कैटरीना कैफ की लगातार छठी सफलता थी। जबकि करीना कपूर ने अपने पूरे कैरियर में केवल चार हिट फिल्में दी हैं – 'कभी खुशी कभी गम' (2001), 'ओमकारा' (2006), 'जब वी मेट' (2007, 'गोलमाल रिटर्न्स' (2008)। प्रियंका चोपड़ा ने 'वक्त' (1965), 'कृष', ' फैशन' (2008), 'दोस्ताना और कमीने' में सफलता पायी है।

श्रेष्ठ कलाकृतियां हमारी श्रेष्ठतम अनुभूतियों पर स्वर–संगति में प्रस्तुत नाद ब्रह्म की अनुकृति होती है। कलाकृति के सम्मोहन संस्पर्श से हमारे हृदय के सुप्त भावों और संवेदनों के तार झंकृत हो उठते हैं। कलाकृति से संसर्ग की प्रतिक्रियास्वरूप हम अंतरतम से आंदोलित होकर जागृत हो उठते हैं। हम अनकहे को सुनने लगते हैं। अप्रस्तुत को देखने लगते हैं। रचनाकार ने जो महसूस किया था उसे हम अपने हृदय में महसूस करने लगते हैं। रचना के आवाहन पर भूली–बिसरी पुरानी स्मृतियां हमारे सामने अर्थवत्ता लेकर जागृत हो उठती हैं, भय और लालसाओं द्वारा दबा दी गई वे आशाएं, जिन्हें पहचानने की हिम्मत हममें नहीं होती, नए गौरव के साथ सामने उठ खड़ी होती हैं। हमारा मन वह कैनवास है, जिस पर कलाकार–रचनाकार अपने रंगों से चित्र अंकित करते हैं। हमारे संवाद उनके रंग हैं।

कला में समानधर्मी हृदयों के मिलन से अधिक श्रेष्ठ क्षण दूसरा नहीं होता। इस मिलन के क्षण में कलाप्रेमी अपने 'स्व' को पार कर जाता है। अनंत की, असीम की झलक पा लेता है। इस क्षण में उसकी आनंदानुभूति को स्थूल शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। कला धर्म की तरह मानवता का उदात्तीकरण करने लगती है। कलाकृति हमारे लिए उसी हद तक मूल्यवान होती है, जिस हद तक वह हमसे संवाद करती है। हमारी अपनी वैयक्तिकता भी एक हद तक हमारी समझ की सीमा होती है। अंततोगत्वा हम संसार में अपना प्रतिबिंब ही देखते हैं।

जैसे हिन्दू समाज की विशिष्टता इसके सनातन धर्म तथा ग्रामीण समुदाय की तुलनात्मक स्वायत्तता में अभिव्यक्त हुई है, ठीक उसी प्रकार इस्लाम की विशिष्टता उसकी कला एवं शिल्प में अभिव्यक्त हुई है। उसी तरह यूरोप की विशिष्टता विज्ञान एवं तकनीक तथा प्रबंधन में अभिव्यक्त हुई है। राष्ट्रराज्य की संस्थाओं एवं राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा मध्यकालीन यूरोप में कैथोलिक ज्ञानोदय, जिसे सामान्यतः पुनर्जागरण कहा जाता है के प्रभाव में यूनानी तथा रोमन कला तथा शिल्प को पुनर्नवता दी गई। उसकी अभिव्यक्ति लियोनार्डोदा विन्ची, माइकल एंजेलो,

राफेल, दांते तथा गोएथे की कलाभिव्यक्तियों में देखी जा सकती है । रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, गांधी, विनोबा और ओशो रजनीश ने इस्लाम को भी मुक्ति का एक पथ माना है। मूलत: यह भक्ति या प्रेम मार्ग है। कुछ हद तक इसे कर्म मार्ग भी कह सकते हैं। इसकी अभिव्यक्ति सूफी गीत–संगीत तथा इस्लामी शिल्प में हुई है।

किसी भी समाज में तकनीक के नए रूपों के आने से उत्पादन की संस्कृति बदलती है और किसी भी नए धार्मिक विश्वास के आने से उपभोग की संस्कृति बदलती है तथा प्रभावित होती है। भारतीय सिनेमा के कथानक में धार्मिक विश्वास, धार्मिक कर्मकांड, उपभोग की संस्कृति दिखलाने के क्रम में, सिनेमा कला का एक माध्यम भर ही नहीं है, इसमें विचारधारा की राजनीति भी स्थूल या सूक्ष्म रूप में सामने आती है।

हर समाज में बुरे लोग रहते हैं। हर समाज में प्रभुवर्ग विलासी होता है। हर समाज कुछ हद तक अपने प्रभुवर्ग का नियमन करना चाहता है। यथार्थ में न सही, साहित्य और कला में, अपने अन्यायी और अत्याचारी प्रभुवर्ग की कड़ी आलोचना करता है। अपने न्यायप्रिय और संयमशील शासकों को आदरांजलि देता है। लेकिन जब राज्य का शासक धर्म का भी शासक बन जाता है तो आम जनता के सामने सीमित विकल्प बचते हैं। धर्म का शासक जब राजनीति में अपना हित साधने लगता है तब भी यही होता है।

भारतीय सिनेमा में धार्मिक समुदायों का निरूपण भी हुआ है और विरूपन भी हुआ है। जैसे कुछ फिल्मों में यह संकेत किया गया है कि आम मुसलमान अपने बच्चों के स्वास्थ्य या शिक्षा के बारे में बहुत चिंतित नहीं रहता है। उसे लगता है कि अल्लाह सब ठीक करेंगे। वह फैमिली प्लानिंग के कृत्रिम उपाय नहीं आजमाता। उसके यहां ब्रह्मचर्य पर भी जोर नहीं है। वह अपने धर्म पर आज भी अडिग है। उसे नहीं लगता कि उसके धर्म में परिवर्तन आवश्यक है। उसे नहीं लगता कि दुनिया गुणात्मक रूप से बदल गई है। आधुनिक दृष्टि से यह चाहे जितना अग्राह्य लगता हो परंतु भारत की पारंपरिक दृष्टि से इसमें क्या गलत है? सिवाय इसके कि वह अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु है। परन्तु यह असहिष्णुता तो पारंपरिक ईसाइयत, आधुनिक पूंजीवाद और मार्क्सवादी साम्यवाद में भी पायी जाती है। इसमें नया क्या है? यह तो आधुनिक हिन्दू सम्प्रदायों में भी आ गयी है।

उसी तरह कुछ फिल्मों में हिंदू विश्वासों, संस्थाओं, कर्मकांडों या हिंदू व्यवस्था या पेशे की जान–बूझकर स्थूल या सूक्ष्म खिल्ली उड़ाई गई है। जबकि ऐतिहासिक या

समाजशास्त्री दृष्टि से इसे न तो तार्किक माना जा सकता है, न न्यायसंगत। जैसे मध्यकालीन सामंतवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद से उपजी बदहाली और असमानता को शोषण के आर्थिक, राजनीतिक, तकनीकी संदर्भों से हटाकर, केवल हिंदू धार्मिक विश्वास या कर्मकांड से जोड़ देना, 1940, 50, 60, 70 के दशकों में, कला के नाम पर सिनेमा के व्यावसायिक माध्यम में, वैचारिक दुराग्रहों का लोकप्रिय फार्मूला बनकर उभरा था। इसकी प्रतिक्रिया 1960 के दशक से ही समाज, संस्कृति एवं सिनेमा में दिखने लगी थी। बाद में इन्हीं सिनेमाई दुराग्रहों को आधार बनाकर भारतीय राजनीति में दक्षिणपंथी विचारों को लोकप्रिय बनाने की अनवरत कोशिश होती रही। अंततः इसकी परिणति 1991 के आर्थिक उदारीकरण तथा अर्थव्यवस्था के खगोलीकरण में अभिव्यक्त होने लगी।

इस राजनीतिक–आर्थिक परिवर्तन से निर्मित हिंदू धर्म के बारे में नया कलात्मक विमर्श विशिष्ट ठसक के साथ, 1994 की फिल्म 'हम आपके हैं कौन' (राजश्री प्रोडक्शन/सूरज बड़जात्या) में अभिव्यक्त हुआ। फिर 'दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे' (यशराज फिल्म्स/आदित्य चोपड़ा) ने 1995 में इसे नई ऊंचाई दी। वामपंथी समीक्षकों ने इसे डॉलर सिनेमा कहना शुरू किया। मुख्यधारा के वामपंथी सिनेमा का स्वर्ण काल (1940 के दशक से 1960 के दशक तक) पहले अपने बिखराव के कारण 1964 में, फिर देश में आपातकाल (1975–1977) लगाए जाने के कारण, फिर वामपंथी कलाकारों की मृत्यु के कारण और अंत में निर्माताओं तथा वितरकों की लगातार उपेक्षा के कारण, आठवें दशक में विवादास्पद, असंतुलित और अकलात्मक माना जाने लगा था। वामपंथी फिल्में 1960 के पूर्वार्ध तक मुख्यधारा की लोकप्रिय फिल्में थीं। लेकिन 1978–79 तक ईरान की धार्मिक क्रांति और 1991 में सोवियत संघ के पतन ने इन्हें अलोकप्रिय और अवांछनीय बना दिया। अब खुलेआम कहा जाने लगा कि हिन्दू व्यवस्था सिद्धांतः दुनिया की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था रही है। लेकिन पिछले 800 वर्षों से लगातार विपरीत परिस्थितियों को झेलते–झेलते इसका व्यावहारिक ताना–बाना जर्जर हो गया है।

भारतीय प्रभुवर्ग की समस्या यह है कि हिंदी अखिल भारतीय स्तर पर न सरकारी भाषा है न लोक भाषा। बिना अपनी देसी भाषा के कोई भी संस्कृति या सभ्यता लंबे समय तक स्वायत्त बनी नहीं रह सकती। सरकारी प्रयास या सामाजिक उत्साह के अभाव में, ले–देकर भारतीय या हिंदुस्तानी सिनेमा ने ही पारम्परिक संस्कृति के संरक्षण–संवर्धन की ज्यादा बड़ी भूमिका निभायी है। दर्जनों भाषाओं से संपन्न भारतीय समाज, अपनी संस्कृति के संरक्षण–संवर्धन के लिए, उपयुक्त शिक्षा

के पाठ्यक्रम का विकास नहीं कर पाया है। यह देश सत्ता और सरकार से निरपेक्ष होकर आनंद में रहता है। प्रकृति ने भारत को अपने में आनंद से रत्त स्वायत्त इकाई बनाया था जिसमें तीन तरफ से समुद्र और एक तरफ से पहाड़ था। यह तो हमने देश का बंटवारा हो जाने दिया। साथ ही तिब्बत चीन को दे दिया। वरना न हम किसी से लड़ते हैं न कोई हम से लड़ता।

अंग्रेजी राज तक हिन्दू समाज में अपने आदर्श के लिए मर–मिटने वालों की संख्या निर्णायक थी। इसकी तुलना में अब अवसरवादी लुटेरों की संख्या कम से कम सार्वजनिक जीवन में निर्णायक हो गई है। आम आदमी अपनी सुविधाभर अपने आदर्श पर अब भी चलने की कोशिश करता है लेकिन दबाव बढ़ने पर वह भी समझौतावादी हो जाता है। हिन्दुओं की नई पीढ़ी आधुनिकता की गिरफ़्त में आ चुकी है। इनका लक्ष्य हर हालत में पैसा कमाना और शॉर्टकट से सफलता प्राप्त करना हो गया है। यह हिन्दू संस्थाओं की आंतरिक कमज़ोरी के कारण हुआ है। नई पीढ़ी नाम के लिए हिन्दू है परंतु उसके जीवन की प्रेरणा काल्विनवादी है या लोकवादी है। साधन–शुचिता अब कोई मुद्दा नहीं रह गया है, खासकर सार्वजनिक जीवन में। यह नज़रिया हिंदुत्ववादी माना गया। पर राजनीतिक हिंदुत्व की तुलना में भारतीय सिनेमा का कलात्मक हिंदुत्व एक चीज है। डॉलर सिनेमा (1994 से 2012) ने इसका सरलीकरण कर दिया था। 2012 के बाद से सामाजिक, राजनीतिक तथा सिनेमाई परिदृश्य बदला है।

इसका केवल इतना ही मतलब है कि वर्तमान इतिहास के दौर में हिन्दू समाज एक आत्म–सजग समाज के रूप में अप्रासंगिक होता जा रहा है। हिन्दू समाज संक्रमण काल से गुजर रहा है। अभी विश्व इतिहास के निर्णायक खेल में पारम्परिक इस्लाम 'ईश्वर' का युद्ध लड़ रहा है और पूंजीवादी ईसाई सभ्यता 'शैतान' का युद्ध लड़ रही है। इस निर्णायक लड़ाई में दोनों एक–दूसरे को लहूलुहान करेंगे। दोनों पस्त हो जाएंगे। शायद तब प्रभु की प्रेरणा से अन्य समाजों में नवचेतना आए।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि ईश्वर अब महत्वपूर्ण नहीं रहे। इसका यह मतलब नहीं है कि सत्य, न्याय, मंगल, कल्याण या मोक्ष अब मात्र शब्द हैं। आधुनिक मनुष्य, आधुनिक तकनीक और आधुनिक व्यवस्था भी ईश्वरीय लीला का ही विस्तार है। इसका केवल इतना ही अर्थ है कि ईश्वरीय खेल का स्वरूप बदल गया है। ईश्वरीय खेल के नियम बदल गए हैं। उदाहरण के लिए पोप फ्रांसिस, दलाईलामा, सैयद हुसैन, नस्र, रैमंडो पन्निकार, जे. पी. एस. उबेराय, आचार्य महाप्रज्ञ, आनंद केंटिश कुमारस्वामी, ए. के. सरण के अनुयायी विकल्प की तलाश कर रहे हैं।

❑❑❑

हिन्दी सिनेमा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

2001 में प्रदर्शित फिल्म 'लगान' समकालीन हिन्दी सिनेमा का मूल पाठ है। इसके निर्देशक आशुतोष गोवरिकर हैं। यह कहानी और पटकथा की दृष्टि से 1957 की फिल्म 'नया दौर' (बी. आर. चोपड़ा) से बेहतर फिल्म है। तांगा और मोटर (मैन बनाम मशीन) की रेस में तांगा की जीत 1957 में लोग देख–समझ–कुछ हद तक विश्वास कर सकते थे चूँकि नेहरू युग में महात्मा गाँधी की विचारधारा एक वैकल्पिक स्वप्न के रूप में जिन्दा थी। आज की नई पीढ़ी 'नया दौर' को भूतकाल की स्मृति में एक यात्रा मानकर उसी तरह देखती है जैसे पुरातात्विक संग्रहालय देखा जाता है। उसमें 'नया दौर' 1957 की प्रतिनिधि फिल्म न होकर 18वीं शताब्दी की फिल्म लगती है। 18वीं–19वीं शताब्दी के बीच की ही कहानी 'लगान' में भी है। ''गोस्त खाओ तो ''क्रिकेट के खेल में जीत, लगान में माफी'' या ''गोस्त खाओ तो मंदिर में पूजा की व्यवस्था की जा सकती है'' जैसी नैतिक दुविधा से भारतीय लोग 1757 और 1857 के बीच जूझ रहे थे। बाद में भारतीय मध्यवर्ग का उसी तरह विकास हुआ जिस तरह क्रिकेट, चाय, अंग्रेजी शिक्षा, अफीम, कुत्ता पालना, कोट–पतलून और सरकारी नौकरी का महिमामंडन हुआ। 1983 का एक दिवसीय विश्वकप (कपिल देव) संभवतः आशुतोष गोवरिकर के लिए स्थूल मेटाफर रहा हो (लॉर्ड्स के मैदान पर 1983 में वेस्टइंडीज़ को हराकर विश्वकप जीतना)। भुवन में कपिल देव की छाया है या धोनी का भविष्य लेकिन 2001 में बनी 'लगान' देबकी बोस से मनोज कुमार ('चंडीदास' से 'क्रांति' या 'रोटी कपड़ा और मकान') तक की धारा का पुनरोदय है।

कलात्मक रूप से 'स्वदेस'(2004) और 'जोधा अकबर' (2008) में आशुतोष उत्तरोत्तर निखरते चले गए। वे देबकी बोस, लेखटंडन परम्परा के फिल्मकार हैं। उनका संबंध थियेटर से रहा है। मराठी थियेटर या हिन्दी थियेटर का उनका एक ग्रुप था। जिसमें आमिर खान भी शामिल थे। कई फ्लॉप के बाद 'लगान'(2001) बनी। 'लगान' एक डिफेंसिव फिल्म है। 'स्वदेस' में एक एजेंडा या

मेनिफेस्टो है। लेकिन 'जोधा अकबर' में एक ऐतिहासिक दृष्टि है। यह सनातन धर्म की स्वाभाविक कथा है जिसमें ऐतिहासिक जबड़े में मनुष्य की स्वतंत्र चेतना अपनी आत्माभिव्यक्ति करती है। यह राज्य बनाम लोक, समाज बनाम सामान्य नारी के सत्ता विमर्श की अनहोनी अनगढ़ कथा है, जिसे संरचनात्मक विन्यास के संभावना शून्य रेगिस्तान में एक दूब की तरह उगते दिखलाया गया है। 2008 भारतीय सिनेमा के लिए अद्भुत वर्ष है। 2007 में 'भूल भूलैया', 'गुरू' और' नमस्ते लंदन' महत्वपूर्ण फिल्में थीं। 2008 में 'रेस', 'जाने तू या जाने ना', 'किस्मत कनेक्शन', 'सिंह इज किंग' वर्ष 2007 की 'चक दे इंडिया', 'तारे जमीन पर' और 'खुदा के लिए' की श्रृंखला है। 'आ जा नचले', 'भूतनाथ' या 'थोड़ा प्यार थोड़ा मैजिक' की नीयत अच्छी थी। 'सांवरिया' में महान बनने की सनक आड़े आ गयी।

महान बनने व कहलाने की सनक संजीदा इंसान की सबसे बड़ी कमजोरी (रोग) साबित होती है। कलाकार या साधक को महानता की प्राप्ति के लिए सनक या जुनून न हो तो उसमें जोश या उत्साह नहीं होता। लेकिन महानता के पीछे भागने वाले लोग आत्ममुग्धता के रोग से ऐसे ग्रसित होते हैं कि 'हम दिल दे चुके सनम'(1999) की ऊंचाई से 'देवदास', 'ब्लैक', 'सांवरिया' की यात्रा कर बैठते हैं। या 'सरफरोश'(1999) से 'शिखर' पर पहुंच जाते हैं या 'आग'(1994) से 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'(1978) और 'राम तेरी गंगा मैली'(1985) तक पहुंच जाते हैं या देवर्षि नारद से बंदर बन जाते है। इसीलिए कला की कसौटी पर भक्तिमार्ग के साधकों ने सबसे ज्यादा उपलब्धि प्राप्त की है। कर्ममार्ग या ज्ञानमार्ग में महानता का रोग महामारी की तरह फैलता रहा है। विश्वविद्यालय एवं कला के क्षेत्रों में सामान्य साधकों का हमेशा अभाव रहा है, 'महान साधक' ही ज्यादा रहते हैं। व्यक्तिगत पतन और कलात्मक उत्पाद कलियुग में अलग–अलग चीजें हैं। मनोज कुमार, राजकपूर, मनमोहन देसाई या यश चोपड़ा से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। 'उपकार'(1967), 'रोटी, कपड़ा और मकान'(1975), 'पूरब और पश्चिम'(1970) तथा 'शहीद'(1965) की तुलना मेहबूब, शांताराम, बिमल रॉय या केदार शर्मा की फिल्मों से की जानी चाहिए।

मनोज कुमार और ताराचंद बड़जात्या, शक्ति सामंत और ऋषिकेश के समकक्ष हैं। अभी आशुतोष गोवरिकर, विपुल शाह और राजकुमार हीरानी सबसे महत्वपूर्ण हैं। 1990 के दशक में सूरज बड़जात्या, आदित्य चोपड़ा और मंसूर खान सबसे महत्वपूर्ण थे। मणिरत्नम, राकेश रोशन, रामगोपाल वर्मा, भंसाली और प्रियदर्शन भी महत्वपूर्ण फिल्मकार हैं।

समकालीन हिन्दी सिनेमा की एक अन्य प्रवृत्ति पंजाबी संस्कृति का प्रचार–प्रसार है। फिल्मों में पंजाब की फार्मूला छवि के कारण ही पूरे भारत में पंजाबी भाषा के कुछ शब्द अखिल भारतीय लोकप्रियता प्राप्त कर चुके हैं। परंतु फिल्म में पंजाब की पूरी हकीकत प्रस्तुत नहीं की जाती है। दरअसल हिंदुस्तानी सिनेमा में आंचलिकता उतनी ही स्वीकार की जाती है, जितनी उसकी सार्वभौमिक अपील होती है। मसलन शैलेन्द्र और बासु भट्टाचार्य ने रेणु की कहानी के हर शब्द का प्रयोग 'तीसरी कसम'(1963) फिल्म में किया है। यहां तक कि फिल्म के सारे गीतों के मुखड़े रेणु की कथा में मौजूद हैं।

हिन्दी सिनेमा की मुख्य धारा को पंजाब के फिल्मकारों ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया है। पंजाब के लोकगीत अखिल भारतीय स्तर पर स्वीकार किए गए हैं, इसलिए इनके बॉक्स ऑफिस मूल्य के कारण इनका अक्सर इस्तेमाल होता है। लाहौर में बनी फिल्मों में भरपूर पंजाबियत थी। विभाजन के बाद पंजाब की अमर प्रेम कहानियां भी मुंबई आ गईं । चोपड़ा परिवार ने पंजाबियत को मुंबई में स्थापित करने में सबसे ज्यादा भूमिका निभाई। खासकर पंजाबी गीत – संगीत – कहानी को। ओ. पी. नैय्यर, साहिर, रवि, आनंद बक्शी आदि को चोपड़ा परिवार ने खूब मौका दिया। राजकपूर की फिल्मों में पंजाबियत स्थूल रूप में नहीं रही है। इसका बड़ा कारण शायद यह था कि उनके कोर–ग्रुप के लोग खासकर उनके संगीतकार, लेखक और कैमरामैन पंजाबी नहीं थे।

इसी तरह बंगाल के फिल्मकार हिन्दी सिनेमा की वैकल्पिक धारा के प्रतिनिधि रहे हैं। उदाहरण के लिए देबकी बोस ने अपने संगीतकार आर. सी. बोराल को साफ–साफ कहा कि वे हिन्दी फिल्मों में रबीन्द्र संगीत का प्रयोग भी करें। इसी परम्परा में पनपे हेमंत कुमार और सलिल चौधरी ने रबीन्द्र संगीत को मुंबई फिल्म उद्योग में पहुंचा दिया। लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा में लगभग सारे अंचलों के प्रभाव को स्वीकार किया गया है और इसकी हमेशा से शर्त रही है बॉक्स ऑफिस पर सफलता। खुशहाल भारत की तस्वीर में पंजाब, पंजाबी और पंजाबियत की छवि प्रस्तुत करना सुविधाजनक भी है और यह बॉक्स ऑफिस पर भी खरा है। फिल्मों में यथार्थ के बदले हमेशा लोकप्रिय अवधारणाएं ही प्रस्तुत की जाती रही हैं। हॉलीवुड भी अमेरिका को प्रस्तुत नहीं करता बल्कि अमेरिका की लोकप्रिय छवि को प्रस्तुत करता है। और यह 'लोकप्रिय छवि' एक सामाजिक या फेनोमेनल निर्माण है जिसे कलाकार और लेखक एक कैनन के आधार पर स्टीरियोटाइप के रूप में गढ़ते हैं। बी. आर. चोपड़ा के विपरीत यश चोपड़ा ने ज्यादा स्विटजरलैंड को प्रस्तुत किया है।

बी. आर. चोपड़ा और लेखक निर्देशक के रूप में आदित्य चोपड़ा मध्यमार्ग वाले बाउन्ड स्क्रिप्ट वाले, आर्यसमाजी स्क्रिप्ट के सामाजिक आदर्श को महत्व देने वाले उपरोक्त तीसरे वर्ग में भारतीय सिनेमा में हिन्दू चेतना वाले तीन तरह के फिल्मकार रहे हैं। पहली श्रेणी में दादा साहब फाल्के, वी. शांताराम, जयंत देसाई, विजय भट्ट जैसे फिल्मकार आते हैं जिन पर तिलक महाराज और आर. जी. भंडारकर का प्रभाव स्पष्ट रूप से आता है। दूसरी ओर निर्देशक यश चोपड़ा और निर्माता आदित्य चोपड़ा प्रथम वर्ग के माइंडलेस सिनेमा के लोकप्रिय फिल्मकार हैं। 'नया दौर', 'धर्मपुत्र', 'वक्त', 'दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे' और 'वीरजारा' में पंजाबियत है। बी. आर. चोपड़ा एवं आदित्य चोपड़ा से अलग यश चोपड़ा की जो फिल्में हैं वे माइंडलेस सिनेमा की फार्मूला फिल्में हैं। इनमें ज्यादातर असफल रही हैं। यश चोपड़ा की अधिकांश सफल फिल्मों की सफलता के अन्य दावेदारों का महत्व सर्वविदित है। उसमें यश चोपड़ा की रचनात्मक भूमिका गौण मानी जाती रही है। माना जाता है कि वे व्यावसायिक समझौतों को आसानी से स्वीकार कर सफलता का सेहरा पाते रहे हैं। वे भाग्यशाली तो हैं लेकिन उन्हें भारतीय सिनेमा के श्लाकापुरुषों में अपने बड़े भाई एवं बेटे के साथ अक्सर शामिल नहीं किया जाता। इसके बावजूद यश चोपड़ा और देवआनंद या प्राण के लंबे अनुभव को दरकिनार करके लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा की बात नहीं की जा सकती।

भारतीय सिनेमा में पंजाबियों और बंगालियों के बाद पारसी समुदाय के लोगों की भूमिका संभवतः सबसे अधिक रही है। भारतीय सिनेमा को कलकत्ता से छोटे शहरों और कस्बों तक ले जाने में कलकत्ता के मदान थियेटर के मदान साहब और बाद में सोहराब मोदी की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। मदान ने प्रदर्शन श्रृंखला का निर्माण किया था। सोहराब मोदी ने भी चलते-फिरते सिनेमा को लेकर अनेक नगरों और कस्बों की यात्राएं कीं तथा प्रदर्शन क्षेत्र में सफलता अर्जित करके फिल्म निर्माण में प्रवेश किया। सोहराब मोदी ने ठेठ पारसी थियेटर की परम्परा में इतिहास आधारित सिनेमा का विकास किया। 'सिकंदर'(1941) और 'पुकार'(1983) ने भारी सफलता अर्जित की लेकिन 'रानी लक्ष्मीबाई' की व्यावसायिक असफलता ने मिनर्वा मूवीटोन की कमर तोड़ दी।

आजाद भारत के दर्शक की बदलती हुई रुचियों की अवहेलना के कारण सोहराब मोदी समेत कई महारथियों के सिनेमा का दुखांत हुआ और दशकों से संचित जायदाद और गुडविल का क्षरण शुरू हुआ। भारत के सबसे पुराने और सर्वाधिक गौरवशाली घराने टाटा ने भी किसी जमाने में पहल की थी। जे. बी. एच. वाडिया और

मेहबूब खान की कुछ फिल्मों में उन लोगों ने पैसा लगाया था। अभी कुछ वर्ष पूर्व टाटा की एक शाखा ने फिल्म निर्माण में पूँजी लगाई थी परन्तु निर्माता के गैर व्यवसायी तौर–तरीकों से तंग आकर उस शाखा को ही किसी अन्य कॉरपोरेट को बेच दिया। अनुशासन को धर्म मानने वाले पारसी लोग सितारा मूड से शासित उद्योग के साथ सहकार करने में असहजता महसूस करते रहे हैं। वाडिया भाइयों ने सितारों को लेकर फिल्में बनाने की बजाय अपनी शर्तों पर अपनी शैली की फिल्में बनायीं। जैसे राजश्री प्रोडक्शंस वाले बनाते रहे हैं या महेश भट्ट बनाने की कोशिश करते हैं।

'ऐतबार'(2004) (अमिताभ, जॉन अब्राहम) में टाटा का पैसा लगा था और इसे सुजीत कुमार के बेटे ने बनाया था। टाटा ने मुंबई में एक सिनेमा घर का भी निर्माण किया है जो आज भी चल रहा है। वाडिया ब्रदर्स की स्टंट फिल्मों में ट्रिक फोटोग्राफी का विकास हुआ था। वाडिया के स्टूडियो में तकनीकी प्रयोग लगातार होते रहे। बाबू भाई मिस्त्री और पीटर परेरा जैसे ट्रिक फोटोग्राफी के महारथी वाडिया ब्रदर्स के ही शागिर्द थे। पीटर परेरा ने 'मि. इंडिया' की लोकप्रियता में भूमिका निभायी थी।

जाल मिस्त्री और उनके भाई फाली मिस्त्री भी पारसी थे। जाल मिस्त्री ने राजकपूर और चेतन आनंद की फिल्मों में अद्भुत फोटोग्राफी की थी। उदाहरण के लिए फिल्म 'बरसात' एवं 'कुदरत' में। मेहबूब खान को आर्देशर ईराणी, टाटा परिवार और फरदून ईराणी का सहयोग मिलता रहा था। फरदून ईराणी 'डॉन' (1978) के निर्माता थे। मीनू कात्रक और सरोश मोदी मेकअप के क्षेत्र में तकनीकी दक्षता के प्रतिमान हैं। फारूख रत्नोशी ने 'खुद्दार', 'काश' और 'जुबैदा' का निर्माण किया। भारतीय सिनेमा के तकनीकी पक्ष को विकसित करने में पारसी समुदाय के लोगों की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही है। अभिनय में भी तकनीकी दक्षता की दृष्टि से अरुणा ईराणी या बोमन ईराणी की तुलना किसी भी दक्ष कलाकार से की जा सकती है। भारतीय सिनेमा के वर्तमान फिल्म उद्योग में कॉरपोरेट शैली के उदय के साथ पारसी प्रतिभा और अनुशासन का मॉडेल उपयोग में आ सकता है।

हिन्दी सिनेमा के दर्शकों की मानसिकता समझने की भी आवश्यकता है। हिन्दी सिनेमा के समकालीन दर्शकों की पसन्द में विविधता है। उदाहरण के लिए 2008 में प्रदर्शित फिल्म 'बचना ए हसीनों' में कुछ युवा दर्शकों को प्रायश्चित्त करता हुआ नायक हजम नहीं हो रहा है। हमने समाज में आनंद और उत्सव का विराट भ्रम खड़ा किया है और इसमें प्रायश्चित्त करता हुआ नायक इन्हें यथार्थ का स्मरण कराता है जिसके कारण इनका यूफोरिया (स्वस्थ होने का भ्रम) टूटता है। 'वीरजारा'– युवा

वर्ग को नायक की 20 वर्ष की सजा हजम नहीं हुई गोया कि उनकी इच्छा थी कि नायक और नायिका जवानी या अधेड़ अवस्था में ही मिल जाते तो बेहतर था। दरअसल पश्चिम परस्त युवा–पीढ़ी का देहेतर प्रेम में विश्वास नहीं है। प्रेम और यौन संबंध की भारतीय परिभाषा से इनका लगाव कम ही है। परंतु 'विवाह'(2006) और 'मुन्नाभाई' श्रृंखला की फिल्मों की सफलता चौंकाती है। 'तीसरी कसम', 'मेरा नाम जोकर, (1970)', 'सूरज का सातवां घोड़ा'(2001), 'ओमकारा'(2006) की तुलना में 'विवाह' ज्यादा सफल थी। 'हम आपके हैं कौन'(1994) ज्यादा सफल थी। 'एक दूजे के लिए'(1981), 'हीरो', 'लवस्टोरी', 'बेताब', 'पहेली'(2005), 'विवाह', 'कयामत से कयामत तक'(1988), 'जब वी मेट'(2007), 'ओम शांति ओम'(2007), 'सिंह इज किंग'(2008), 'रेस'(2008) की तुलना करने पर अंतर्विरोधी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। वास्तव में एक सफल या अच्छी फिल्म से भारतीय दर्शक क्या चाहता है? एक भारतीय दर्शक क्या एक खास तरह की अपेक्षा लेकर फिल्म देखने जाता है?

'बचना ए हसीनों' एक सार्थक प्रेम कथा है। यह औसत से सफल फिल्म है। लेकिन इसे बॉक्स ऑफिस हिट तो नहीं कहा जा सकता। प्रेम, वासना और प्रायश्चित्त को रेखांकित करने वाली फिल्म का नाम 'बचना ए हसीनों 'उपयुक्त है क्या ? इसमें बिपाशा को प्रेम में धोखा खाने के बाद एक विकल्प के रूप में सफलता अर्जित करने का जुनून सवार हो गया था। आज की युवा पीढ़ी सफलता अर्जित करना चाहती है और उनके इसी जुनून का एक हिस्सा प्रेम भी हो गया है।

❑❑❑

अध्याय – तीन

सिनेमा पर चिन्तन : चुनिंदा छोटी टिप्पणियां 205

तीन अभिनय शैलियां और देश की मिट्टी

मीना कुमारी और उनकी पार्श्व गायिका गीता दत्त 'साहिब बीवी और गुलाम' की बीवी से कभी मुक्त ही नहीं होने पाईं और दोनों शराबनोशी के कारण लीवर सिरोसिस से मृत्यु तक पहुंच गयीं। नसीरुद्दीन शाह ने सई परांजपे की 'स्पर्श' के लिए अंधे की भूमिका करने के लिए कड़ा परिश्रम किया। आंख पर पट्टी बांधकर अपने घर पर वे कितनी बार कितनी चीजों से टकराये और चोटिल हुए।

राजकपूर स्टूडियो में हंसी–मजाक और छेड़छाड़ में डूबे रहते थे परंतु फिल्मकार के बुलाते ही भूमिका के अनुरूप कमाल का शॉट देते थे। उन्हें कभी तैयारी की जरूरत ही नहीं थी। जाने वे किस विधा से यह कमाल करते थे। महान लेखक फणीश्वर नाथ रेणु ने शैलेन्द्र से कहा कि यह गोरा–चिट्टा महानगरीय राजकपूर कैसे 'तीसरी कसम' के ठेठ गांवठी का अभिनय कर पाएगा। शैलेन्द्र ने उन्हें पहले शूटिंग दौर का रफ प्रिंट दिखाया तो रेणु ने कहा कि यही मेरा हीरामन है। राजकपूर को ठेठ भारतीय होना ही उनसे इस तरह का अभिनय कराता था। बेचारे इस दौर के अभिनेता, भारत खोजने कहां जाएं?

सार्थक फिल्मकार और सितारा फिल्में

विगत चार दशकों से समानांतर फिल्म आंदोलन से जुड़े, सार्थक फिल्में बनाने वाले, प्रायः कम बजट में सार्थक फिल्में बनाते रहे हैं और इसी सार्थकता के नाम पर नसीर, ओमपुरी, शबाना, स्मिता पाटिल से कम मेहनताने में काम कराते रहे हैं।

सच तो यह है कि सितारे के कारण, जमकर खेलने के लिए, बड़ा बजट मिल जाता है, अधिक दर्शक भी मिल जाते हैं। भारत में यही बात युवा आक्रोश के तेवर रखने वाले नेताओं के साथ होती है कि सत्ता मिलने पर वे उस व्यवस्था का अंग हो जाते हैं, जिसे उखाड़ फेंकने का कभी उन्होंने दावा किया था। यहां तक कि गरीब या दलित मेधावी छात्र परीक्षा में मेडल पाने के बाद ऊंची नौकरी पाकर न सिर्फ अपने समाज को भूल जाता है वरन् उसके साथ अपनी जड़ों को भी कालीन से छुपाता है।

दीवाली पर अपने गरीब रिश्तेदारों को घर आमंत्रित करता है केवल अपना वैभव दिखाने के लिए। हमारे देश में सफलता और सत्ता की मिक्सी मनुष्य का डीएनए तक बदल सकती है।

तनु और राज शेखर की 'घर वापसी'

बहरहाल ऊबी हुई तनु अंग्रेजी मेम बनकर अपने घर लौट आती है और पश्चात्ताप करता पति भी भारत आया है, परन्तु उसकी मुलाकात तनु की हमशक्ल हरियाणवी खिलंदड़ लड़की से होती है। गोया कि फिल्म एक दंगल की तरह होगी, जिसमें अंग्रेज मेम ठेठ हरियाणवी खिलंदड़ से भिड़ेगी। जब कोई भारतीय महिला विदेश से लौटती है तब वह मूल मेम साहिबा से ज्यादा नखरीली होती है। ओढ़े हुए व्यक्तित्व प्रखर ही होते हैं। जैसा हम आए दिन नेताओं में देखते हैं। कलई लगा बर्तन हमेशा असल तांबे के बर्तन से चमकीला लगता है। संस्कृतियां कभी आपस में टकराती नहीं हैं। वे तरल होती हैं और एक दूसरे से मिलकर नया प्रभाव पैदा करती हैं।

शिक्षा, सिनेमा और घर का कुरुक्षेत्र

हिन्दुस्तान के कई क्षेत्रों में देशी चीजें जड़ से उखाड़कर फेंकने के प्रयास हो रहे हैं और कहीं न कहीं हमारे भीतर भी देशीपन से चिढ़ है, क्योंकि कोई भी परिवर्तन थोपा नहीं जाता।

अब मुद्दा है कि भारतीय सिनेमा सारे संसार में क्यों नहीं देखा जाता, परन्तु इससे भी गंभीर मुद्दा यह है कि फिल्में पूरे भारत में क्यों नहीं दिखाई जातीं। हमारी सफलतम फिल्म भी चार करोड़ दर्शक ही सिनेमाघर में देखते हैं। भारत के अनेक छोटे शहरों और कस्बों में सिनेमाघर नहीं हैं और अगर उसके नाम पर कोई सुविधाहीन ठठिया सिनेमाघर है भी, तो पारिवारिक दर्शक उसमें नहीं जाते। हमारे देश में केवल नौ हजार एकल सिनेमा और बमुश्किल तीन हजार मल्टी स्क्रीन हैं, जबकि वैज्ञानिक सर्वेक्षण है कि भारत में कम से कम तीस हजार एकल सिनेमा चाहिए। आज टेलीविजन पर प्रोमो देखने के कारण कस्बाई दर्शक भी पहले सप्ताह फिल्म देखना चाहता है। इस इच्छा का लाभ अवैध वीडियो पार्लर को मिल रहा है।

असली चिंता की बात यह है कि हमारी शिक्षा भी अमेरिकन प्रणाली से प्रेरित है। बाजार व विज्ञापन द्वारा समाज में सफलता को मूल्य की तरह स्थापित कर दिया गया है। अब शिक्षा अच्छा मनुष्य नहीं सफल आदमी रच रहीं है।

यह परीक्षा परिणाम का मौसम है और घर–घर में कुरुक्षेत्र चल रहा है। चौरासी प्रतिशत लाने वाला प्रताड़ित किया जा रहा है, 94 प्रतिशत क्यों नहीं। गोया कि पूरा समाज 'उसकी कमीज मेरी कमीज से उजली क्यों के चक्रव्यूह में फंसा है। माता–पिता को क्या दोष दें, जब अच्छे अंक पर ही प्रवेश आधारित हैं।

प्रेम त्रिकोण : गैर को चाहोगी तो मुश्किल होगी

युवा वर्ग को हॉलीवुड रास आ गया है। ज्ञातव्य है कि हॉलीवुड ने यूरोप के छविगृहों पर अधिकार करके वहां के सिनेमा को लगभग मार दिया है। हॉलीवुड के अश्वमेध के घोड़े को भारत के दर्शक ने रोक लिया था, परन्तु वर्तमान में वह उसे पुष्पमाला डाल रहा है। भारत में मात्र नौ हजार एकल सिनेमा ने उसकी आय सीमित कर दी है और तीस हजार एकल सिनेमाघर की आवश्यकता के दौर में सैटेलाइट द्वारा ट्रांसमिशन के दाम एकल सिनेमा चुका नहीं पा रहा है, इसलिए उनकी संख्या घट रही है। मध्यप्रदेश, राजस्थान में विगत कुछ महीनों में दर्जनों एकल सिनेमाघर बंद हो चुके हैं।

कुछ दशक पूर्व ऐसा ही खतरा चीन के सामने आया था और उन्होंने पैंसठ हजार सिनेमाघर बनाकर अपनी आय बढ़ा ली है। वे वर्ष में केवल बारह हॉलीवुड फिल्मों और दो भारतीय फिल्मों के प्रदर्शन की आज्ञा देते हैं। भारतीय कथा फिल्मों को इस संकट से बचाने के लिए फिल्मकारों को अधिक सजग और मौलिक होना होगा तथा दर्शक का प्रेम पुनः प्राप्त करना होगा।

याद आती हैं साहिर की पंक्तियां 'तुम अगर मुझको न चाहो तो कोई बात नहीं, तुम किसी गैर को चाहोगी तो मुश्किल होगी'।

एक गॉडफादर की हत्या की पहेली

गुलशन कुमार का उदय धूमकेतु की तरह हुआ परंतु 1997 में उनकी नृशंस हत्या कर दी गई। कहा गया कि संगीतकार 'नदीम' ने उनकी हत्या की 'सुपारी' दी थी। इस 'सुपारी' देने का शक नदीम के साथ 'टिप्स' के मालिक पर भी था, परन्तु सघन पूछताछ में वे निरपराध पाए गए। उन दिनों नदीम लन्दन में थे और उन्हें भारत लाने का प्रयास असफल हो गया। मुंबई हाईकोर्ट ने 2002 में नदीम को निर्दोष पाया परंतु वे भारत नहीं आए और विगत वर्षों में लंदन और दुबई उनका कार्यक्षेत्र है। संगीतकार अब खुशबू बेचने का व्यवसाय कर रहा है। उनकी पत्नी उनके साथ हैं परन्तु वृद्ध मां–बाप भारत में ही हैं और उनके पार्टनर श्रवण भी भारत में ही हैं। उनके

मन में स्वदेश आने की तड़प है परंतु उनका कहना है कि गुलशन कुमार की हत्या के बाद वाले दिनों में उनकी मां ने कहा था कि वह भारत न आए, क्योंकि यहां उसे फंसा दिया जाएगा। यह भी कहा कि माता–पिता मर भी जाएं तो यहां नहीं लौटना। यह बात आधारहीन भले ही हो परंतु कुछ लोगों का दृढ़ विश्वास है कि भारत में कुछ लोगों को कभी न्याय नहीं मिलता।

इस घटना का आरंभ इस तरह हुआ कि गुलशन कुमार ने ही नदीम–श्रवण नामक विराट किंवदंती को रचा था। वे उनके गॉडफादर थे। नदीम का एक गैरफिल्मी एलबम असफल हुआ और उन्होंने गुलशन कुमार पर आरोप लगाए कि उन्होंने यथेष्ट प्रचार नहीं किया। गौरतलब है कि क्या यह यथेष्ट कारण है अपने गॉडफादर की सुपारी देने का? इससे भी बड़ा सवाल है कि सरकारी दल लंदन की अदालत में यथेष्ट प्रमाण क्यों नहीं दे पाया?

सिनेमाई दंगल और कर्महीनता के वीकेंड में हमारा जीवन

सच तो यह है कि सिनेमा घर में कितनी भी सीट लगी हों, भीड़ केवल पहले तीन दिन ही रहती है। यह वीकेंड उद्योग रह गया है। आज जनता के पास मनोरंजन के बहुत विकल्प हैं। चौथे दिन तो खाली–खाली सीटें हैं और सिनेमाघर परिंदों का रैन–बसेरा रह जाता है। सिनेमा ही नहीं पूरा सामाजिक जीवन वीकेंड बनकर रह गया है। प्रायः कॉर्पोरेट दफ्तर में शुक्रवार की शाम से बेचैनी छा जाती है। सबको पांच बजे का इंतजार सुबह दस बजे से शुरू हो जाता है और सोमवार को हैंगओवर लेकर लौटता है, जो वीकेंड में अधिक शराबनोशी का परिणाम है। मंगलवार और बुधवार को पूरी क्षमता से काम होता है और गुरुवार से ही वीकेंड का इतंजार शुरू हो जाता है। कभी तीज त्यौहार के कारण चार दिन का वीकेंड हो जाता है, जो सपनों के साकार होने की तरह है। इस प्रवृत्ति का कारण एक अनवरत ऊब और अकारण क्रोध है, क्योंकि हमने अपने काम को कभी धर्म माना ही नहीं। हमारे देश में प्रतिदिन गीता बांचने वाला भी कर्म के लिए तैयार नहीं है। संभवतः गीता में ही यह भी लिखा है कि मनुष्य का सारा कार्यकलाप और जीवन–मरण पहले से ही लिखा है, वह तो पटकथा में अपनी भूमिका भर का निर्वाह कर रहा है। ये सब गलत व्याख्याओं का परिणाम है।

न्यूनतम सफलता वाला अवाम का सिनेमा

वर्ष 2015 में भारत में हजार से अधिक फिल्में बनी हैं, जिनमें हिंदुस्तानी भाषा में बनी मात्र दो सौ एक फिल्में हैं। क्षेत्रीय भाषाओं में अधिक संख्या में फिल्में बनती रही हैं। हिंदी को हिंदुस्तानी इसलिए लिखा जा रहा है कि वह पूरे भारत में प्रदर्शित

होती हैं।

इसी तरह भाषाएं भी मिलनसार होती हैं और संस्कृतियां भी घुलनशील एवं लचीली होती हैं। दरअसल, इन बातों को लेकर अपने स्वार्थ के लिए लोग भाषा और रक्त की शुद्धता का हव्वा खड़ा करके उन्माद जगाते हैं।

इन दो सौ एक फिल्मों से केवल अठारह फिल्मों ने मुनाफा कमाया है परंतु इनमें भी कुछ ऐसी हैं, जिनके निर्माता ने लाभ कमाया परंतु वितरक और प्रदर्शक घाटे में रहे, जैसे शाहरुख खान की 'दिलवाले'।

सारांश यह है कि यह महत्वपूर्ण माध्यम है और इसकी अनेक समस्याओं को केवल अधिक संख्या में एकल सिनेमाघर बनाकर हल किया जा सकता है। इसके लिए अवाम में जुनून है परंतु सिनेमाघरों के अभाव के कारण सफलतम फिल्म को भी मात्र दो करोड़ लोग ही सिनेमाघरों में देखने जाते हैं। आश्चर्य है कि बाजार को बढ़ावा देने के नाम पर चुनाव जीती सरकारें अवाम के इस मनपसंद उद्योग के विकास के प्रति उदासीन हैं। आप बड़े–बड़े फ्लाईओवर बना रहे हैं, बुलेट ट्रेन की योजनाएं बन रही हैं परंतु अवाम के दिल तक जाने वाले फ्लाईओवर सिनेमाघर और मनोरंजन उद्योग हैं। जैसे भारत में बुलेट ट्रेन से ज्यादा बड़ी आवश्यकता हजारों मील की पुरानी रेलवे लाइनों के बदलने की है। वैसे ही सीमेंट और लोहे के फ्लाईओवर से अधिक आवश्यकता स्कूलों, योग्य शिक्षकों और सिनेमाघरों की है।

लड़खड़ाते देश का एक और हाईवे

भारत में अमीर और गरीब के बीच की गहरी खाई के कारण ही यह विसंगतियों और विरोधाभासों का देश बन गया है। गरीबों के आंगन में उगे गगनचुंबी भवन या इन भवनों की नींव ने, शोषित लोगों के खून से सने पत्थरों की जुबानी सभ्यता के इस व्यंग्य को, साहित्य सिनेमा और सारे कला माध्यम में खूब अभिव्यक्त किया जा रहा है परंतु सत्तासीन लोगों को पता ही नहीं है कि वे स्वयं के रचे ज्वालामुखी पर बैठे हैं मानो बारूद के कारखानों की पहरेदार माचिस है। यह लोकतांत्रिक पद्धति से जन्मा सामंतवाद है गोया कि रूप बदल गया है पर व्यवस्था वही है।

कोई आश्चर्य नहीं कि हिन्दुस्तानी भाषा में इम्तियाज अली की आलिया भट्ट अभिनीत 'हाईवे' भी राष्ट्रीय मुख्यमार्ग के एक सिरे पर दिल्ली के नवधनाढ्य परिवार की बचपन से उस रिश्तेदार द्वारा यौन शोषित कन्या, जिसके राजनीतिक प्रभाव पर परिवार की समृद्धि का भवन खड़ा है, वहीं दूसरे सिरे पर ग्रामीण शोषण से विद्रोह

करने वाला अपहर्ता खड़ा है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि फिल्मकार उमेश विनायक कुलकर्णी और इम्तियाज अली के सामाजिक दुख समान हैं और अपनी–अपनी भाषाओं में वे भारत ही प्रस्तुत कर रहे हैं। इन फिल्मकारों की तरह इनसे बहुत पहले कुमार अंबुज, जोशी, ज्ञानरंजन और विष्णु खरे की चिंताएं भी समान–सी हैं परंतु गौरतलब और अत्यन्त चिंतनीय तथ्य यह है कि इन सबकी रचनाओं से सत्ता में बैठे लोग डरते नहीं हैं और वे केवल अपने सरकारी तमाशानुमा उत्सवों से इन्हें दूर रखकर खुश हैं, जबकि तमाशे में नहीं शामिल इन लोगों की इस भीतरी ख़ुशी का उन्हें अदांजा नहीं है कि वे बचे हुए हैं।

अनेक दशक पूर्व अमेरिका में एक विज्ञापन फिल्म में चतुराई से हर पांचवीं फ्रेम में मौजूद नग्न छवि कभी सिनेमा के परदे पर नहीं उभरती थी परंतु वह दर्शक के अवचेतन तक पहुंच जाती थी। उस विज्ञापन को अपने प्रभाव के कारण प्रतिबंधित किया गया था। यह 'पांचवीं फ्रेम' आज भी अभिव्यक्ति के हर माध्यम में मौजूद है और अवाम के अवचेतन में दर्ज होती है। अतः किसी सृजनधर्मी को दुष्यंत कुमार के दुख से जूझने की आवश्यकता नहीं। 'वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता, मैं बेकरार हूं आवाज में असर के लिए'। वह असर पांचवीं फ्रेम का है।

प्रकृति के संकेत और भविष्य के संकेत

कोई चार दशक पूर्व अंग्रेजी भाषा में बनी 'एमराल्ड फारेस्ट' नामक फिल्म में जनजातियों के घने जंगल से उनके ही मिजाज की एक मतवाली नदी गुजरती है और पास के महानगर के रईसों को बिजली की कमी खटकती है, अतः वे दबाव बनाकर वहीं एक बांध की योजना स्वीकृत करा लेते हैं, विदेश में प्रशिक्षित एक बांध विशेषज्ञ की सेवाएं लेकर प्राइवेट कंपनी बांध का काम तीव्र गति से चलाती है। जनजातियों के प्रतिनिधि बांध का विरोध करते हैं, क्योंकि बांध के कारण लाखों वृक्ष डूब जाएंगे, अनेक गाँव नष्ट हो जाएंगे।

वहां वह अपने पुत्र की सांवली सलोनी षोडसी से भी मिलता है। वह महसूस करता है कि प्रकृति की गोद में पली जनजातियां कितने आनंद से रहती हैं और प्रकृति तथा जनजातियों का परस्पर संवाद निरंतर कायम रहता है।

पुत्र उसे बताता है कि बांध के ठेकेदारी में जनजाति की कई युवा लड़कियों में उसकी भावी बहू भी है। पिता–पुत्र मिलकर लड़कियों को स्वतंत्र कराते हैं। स्थितियों की गहराई में जाने के बाद प्रकृति और मानव निर्मित त्रासदी की विभीषिका पूर्वाभाष के विशेषज्ञ यह समझ लेता है कि यह बांध तबाही लाएगा। नदी के भीतर से डाले

सीमेंट के पिलर धरती को दुःख के संकेत दे रहे हैं और वह नाराज हो सकती है। वह यह भी जानता है कि पहाड़ी क्षेत्र में पैदा की गई बिजली महानगरों की सुविधा के लिए है और कार्य रोकने का हर प्रयास विफल कर दिया जाएगा। उसके एकमात्र पुत्र का जीवन संकट में है। वह साहसी निर्णय लेता है। एक रात अधबने बांध पर बारूद लगाकर उसे उड़ा देता है और स्वयं भी मर जाता है।

इस फिल्म की पाठशाला में संदेश स्पष्ट है कि सारी प्राकृतिक आपदाएं सचमुच प्राकृतिक नहीं हैं और उनमें मनुष्य की भूमिका भी है। यही टिहरी बांध के कारण उत्तराखंड में हुआ। गगनचुंबी इमारतों के कारण नेपाल में हुआ। हमने पांच हजार सालों में धरती का दस प्रतिशत दोहन किया था परंतु विगत डेढ़ सौ सालों में 40 प्रतिशत दोहन किया है। सच तो यह है कि विकास के मंत्र से वशीभूत लोग प्रकृति के संदेश को अनदेखा कर रहे हैं। आयुर्वेद के जानकारों को जड़ी–बूटियां ही नहीं मिल रही हैं। सब 'डूब' में आ गई हैं।

'एंग्री इंडियन गॉडेसेस' और 'हेट स्टोरी'

अभी हाल ही में लगी दोनों फिल्मों के नाम ही मोटे तौर पर वर्तमान भारतीय समाज और सरकार के रवैयों के प्रतीक माने जा सकते हैं परंतु उनकी कथाएं राजनीतिक नहीं हैं। एक फिल्म का नाम 'हेट स्टोरी' है अर्थात् नफरत की कहानी जबकि फिल्म एक उद्योगपति की वासना की है। दूसरी फिल्म का नाम है 'एंग्री इंडियन गॉडेसेस' अर्थात् आक्रोश भरी भारतीय महिलाएं। हमारे सेंसर के हुक्मरान पहलाज निहलानी ने 'गॉडेसेस, को भारतीय मायथोलॉजी की देवियां समझकर एतराज जताया था परंतु उन्हें बताया गया कि यह जैसे भाषण के प्रारम्भ में कहा जाता है, 'मौजूद महानुभावो और देवियों', यहां भी उसी संदर्भ में इस्तेमाल किया गया है। यह मायथोलॉजी फिल्म नहीं है। फिल्म के निर्देशक ने सार्थक विषय उठाया था और इसके कुछ दृश्य महत्वपूर्ण भी हैं। इसे अंतरराष्ट्रीय समारोह में सराहना मिली है।

शांताराम ने एक फिल्म बनाई थी, जिसकी नायिका अदालत में अपने पति की हिंसा के खिलाफ आवेदन करती है, तो पुरुष जज कहते हैं कि पति होने के नाते उसे इसका अधिकार है। इस अपमानजनक फैसले के बाद नायिका अपनी तरह त्रस्त महिलाओं का एक दल बनाकर अहंकारी पुरुषों पर आक्रमण करती है। इसी तर्ज पर 'गुलाबी गैंग' इत्यादि फिल्में बनी हैं परंतु विनय शुक्ला की 'गॉडमदर' अपनी ही श्रेणी की फिल्म है। इस समस्या पर अनेक लोगों ने लिखा है। हाल ही में 'अकार' में पवन करण की दस कविताएं प्रकाशित हुईं। पवन करण 'स्त्री मेरे भीतर' के लिए प्रसिद्ध हैं।

वे लंबे समय से नारी के दोहन पर कविताएं लिखते रहे हैं। उनके प्रारंभिक प्रयास में नारी की यौन स्वतंत्रता पर जोर था, जबकि उनकी आर्थिक स्वतंत्रता पर वे मौन रहे परंतु 'अकार' में प्रकाशित दस कविताएं उनकी काव्य यात्रा का ऊंचा मकाम हैं, क्योंकि इन कविताओं में उन्होंने इस्लामी विश्वास, बौद्ध धर्म के सदंर्भ, इतिहास में अजातशत्रु का संदर्भ इत्यादि का सटीक इस्तेमाल करके नारी उत्पीड़न पर सार्थक कविताएं लिखी हैं और यौन दमन हमेशा ही उनका प्रिय विषय रहा है। इस बार उनके तेवर बहुत सी उम्मीदें जगाते हैं। उनकी 'शुभारानी' की कुछ पंक्तियां – 'वे बोली जरा गौर से देखो, यहां इस जंगल में, जिसे तुम दुनिया कहते हो, मुझ–सी स्त्रियों की अनेक आंखें पड़ी हैं। सदियों पुराने इस जंगल में, पुरुषों के कहने पर हम स्त्रियां इसी तरह अपनी आँखें निकालकर फेंकती आई हैं। शुभारानी बौद्ध भिक्खुणी थीं, जिसने संसार के प्रलोभन से बचने के लिए अपनी आँखें निकाल दी थीं।

'हेट स्टोरी' हॉलीवुड की प्रसिद्ध 'इंडिसेंट प्रपोजल' से प्रेरित विचार का लचर संस्करण है कि एक उद्योगपति दूसरे की पत्नी के साथ एक रात गुजारना चाहता है और इनकार होने पर उसे तबाह करता है और पत्नी अपने पति को बचाने के लिए, उनके घर जाती है। 'इंडिसेट प्रपोजल' आर्थिक मंदी के शिकार व्यक्ति की लाचारी की रोचक कथा थी।

उत्सव का अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्र के उत्सव

उत्सव के दिनों में फिल्म व्यवसाय में औसत से अधिक आय होती है तथा कुछ उत्सव ऐसे भी हैं, जब आय औसत से कम हो जाती है। नवरात्र के प्रारंभ से दीवाली तक के समय में केवल दशहरे के दिन सिनेमाघरों की आय सामान्य से अधिक होती है अन्यथा व्यवसाय इस माह कम ही रहता है। शहर, गांव और कस्बों में भी नवरात्र के समय सारी रात डांडिया चलता है और सिनेमाघरों से भीड़ नदारद हो जाती है। विगत कुछ वर्षों में गणपति उत्सव से अधिक धूमधाम से नवरात्र मनाई जाती है। हमारे देश की विराट आर्थिक खाई ने उत्सवों को भी बांट दिया है। श्री गणेश उत्सव अब गरीबों और मध्यम वर्ग का रह गया है तथा नवरात्र उच्च मध्यम वर्ग और अमीरों का उत्सव इस मायने में बन गया है कि अनेक शहरों में अमीरजादे उत्सव के पूर्व ही नौ दिन के गरबे के लिए नौ ड्रेस बनवा लेते हैं। गणेश उत्सव के लिए ऐसा कुछ नहीं होता। यहां गणेश एवं मां दुर्गा के बीच किसी प्रतिद्वंद्विता की बात नहीं हो रही है।

लोकमान्य तिलक ने सार्वजनिक गणेशोत्सव की परम्परा प्रारंभ की थी और त्योहार के बहाने राष्ट्र–प्रेम की अलख जगाई जाती थी परंतु अब सार्वजनिक गणेश

मंडल उत्सव के समय एकत्रित धन का हिसाब करते हैं और चढ़ावे में आई राशि का संबंध जाने कैसे देवता की सिद्धि से जुड़ गया है। बरसों से सबसे अधिक धन लालबाग के गणपति पर चढ़ाया जाता है। ईश्वर तो सब जगह समान है, चाहे उनका उत्सव कहीं भी मनाया जाए, परंतु चढ़ावे जैसी बातों से देवता की आशीर्वाद क्षमता का आकलन कैसे स्वीकार किया जा सकता है। इन्सान ही अपने देवता के महत्व का आकलन घटाते–बढ़ाते हैं। उत्सवों को लेकर कुछ पूर्वग्रह भी बन गए हैं। अनेक व्यापारी श्राद्ध पक्ष में महत्त्वपूर्ण सौदे नहीं करते। गौरतलब यह है कि श्राद्ध अपने दिवंगत बुजुर्गों को स्मरण करने का समय है, तो यह अशुभ कैसे हो सकता है। इस तरह की मान्यताओं का प्रभाव गरीब मजदूर वर्ग पर पड़ता है। श्राद्ध पक्ष में नए भवन का काम प्रारंभ नहीं करने से कितने मजदूर फाकाकशी करते हैं। आए दिन की हड़तालें और उपद्रवी जुलूस इत्यादि के कारण कई घरों में चूल्हे नहीं जलते। इसका ही अन्य पक्ष यह है कि दिवाली के माह में घरों में रंगाई–पुताई होती है, नया फर्नीचर आता है और इस सब में अनेक मजदूरों को काम मिलता है। दिवाली के बाद मनोरंजन व्यवसाय में बढ़त भी इसी कारण होती है कि मजदूर वर्ग के पास अतिरिक्त धन होता है। कुछ संस्थाएं वेतन के साथ बोनस भी देती हैं और इस तरह मध्यम वर्ग के पास भी पैसा होता है। चुनाव में सारे दल खूब धन खर्च करते हैं और लोगों को मजदूरी कमाने का अवसर होता है। चुनाव भी आर्थिक फुगावे को जन्म देते हैं। सत्तारूढ़ दल कुछ ऐसे पॉवर लीवर दबाता है कि शेयर बाजार में भी तेजी आ जाती है। बाजार की तेजी या मंदी हमेशा स्वाभाविक नहीं होती, इसकी भी 'इंजीनियरिंग' होती है।

शैलेन्द्र के लिखे 'काला बाजार' के भजन की कुछ पंक्तियां याद आ रही हैं : 'तेरे चरणों की धूल मिल जाए तो श्याम तर जाऊं..... तेरे दिल ने ही जाल फैलाए, कैसे–कैसे नाग लहराए अब किधर जाऊं।

मनोरंजन क्षेत्र में इडली–सांभर और बर्गर

'बाहुबली' की सफलता के बाद दक्षिण के सुपरस्टार रजनीकांत का सिंहासन डोल रहा है और उन्हें दशकों से सुरक्षित अपनी सुपरस्टार हैसियत को कायम रखना है। 'बाहुबली' में अतिरेक की भरमार थी और इस अतिरेक के विशेषज्ञ वहां फिल्मकार शंकर रहे हैं, जिनकी 'रोबो' में हमने देखा था कि एक मशीनगन के स्थान पर सैकड़ों मशीनगन का प्रयोग किया गया था।

शंकर की तमिल फिल्म 'एंथीरन' का ही हिंदी संस्करण 'रोबो' था। ज्ञातव्य है कि शाहरुख खान ने शंकर को 'रोबो' के लिए अनुबंधित किया था, परंतु शंकर सारे

विशेष प्रभाव के दृश्य चेन्नई की प्रसाद लैब में करना चाहते थे, जबकि शाहरुख खान यह काम अपने 'विशेष प्रभाव' वाले मुंबई स्थित स्टूडियो में करना चाहते थे। इस मतभेद के कारण शंकर हट गए और शाहरुख खान ने अपनी उस तरह की फिल्म बनाने की इच्छा पूरी की 'रा–वन' नामक फिल्म बनाकर, जो असफल रही परंतु शंकर की रजनीकांत अभिनीत 'एथीरन' और 'रोबो' दोनों सफल रहीं।

जब राक्षस वध के लिए ईश्वर स्त्री का रूप ले सकते हैं तो उसी देश में महिला दोयम दर्जे की नागरिक क्यों है? पौराणिक कहानियों से उनके नैतिक आदर्श का लोप करके महज चमत्कारिकता के कारण उसे जिंदा रखा गया है। हर कथा के आदर्श के हरण की मौलिकता ही हमारी पूंजी हो गई है।

बहरहाल, 'बाहुबली' से घबराए रजनीकांत ने शंकर की 'एथीरन' की अगली कड़ी के लिए हॉलीवुड के अर्नाल्ड श्वार्टजनेगर को पच्चीस दिन की शूटिंग के लिए चेन्नई निमंत्रित किया है और अब शंकर की एथीरन में दो नायक होंगे, रजनीकांत और अर्नाल्ड।

हम हॉलीवुड की फिल्मों से कहानियां तो हमेशा ही लेते रहे हैं, अब सितारे भी ले रहे हैं। अतः किसी फिल्म का इडली–सांभर व बर्गर होना उतना घातक नहीं है, जितना वहां की जीवनशैली लेना, क्योंकि जीवनशैलियां जमीन व मौसम तय करते हैं। भारतीय फिल्म 'पीकू' में नायक का 'अपच' दरअसल आयात की गई जीवनशैली का प्रतीक है।

अवध संस्कृति के फिल्मकार मुजफ्फर अली

मुजफ्फर अली की फिल्म 'जांनिसार' का प्रचार तो हुआ है परंतु सिनेमाघरों की कमी के कारण प्रदर्शन कम शहरों में ही हो पाया। उनकी 'उमरावजान अदा' जिन दर्शकों की स्मृति में जीवित है और खय्याम साहब तथा आशा भोंसले का माधुर्य मन की वादियों में गूंजता रहता है, वे जरूर बीस वर्ष के बाद सिनेमा की ओर लौटे मुजफ्फर अली की 'जांनिसार' देखने जाते। इसे नहीं देख पाने की कसक है। मुजफ्फर अली ने जलाल आगा के साथ 'गमन' बनाई थी, रेखा और फारुख शेख के साथ 'उमराव जान अदा' बनाई। इसके बाद उन्होंने कश्मीर की सरकार के सहयोग से विनोद खन्ना और डिंपल अभिनीत 'जूनी' शुरू की थी और संभवतः दस रीलें बन गई थीं परंतु अज्ञात कारणों की वजह से वह पूरी नहीं हो पाई। उसी असफल प्रयास से जन्मे वैराग्य के कारण अली बीस वर्ष सिनेमा से दूर रहे।

बहरहाल, 'मदर इंडिया' के लिए प्रसिद्ध मेहबूब खान 'हब्बा खातून' की पटकथा पूरी कर चुके थे और नेहरू की मृत्यु का समाचार सुनकर हृदयाघात से मेहबूब खान की मृत्यु हुई। वे मेज पर उस जगह गिरे जहां हब्बा खातून की पटकथा रखी थी। अली की 'जूनी' भी हब्बा खातून का ही बायोपिक थी। अतः इस कहानी पर अभागे होने का गैरमुनासिब ठप्पा लगा दिया गया है। आज अगर अली या कबीर खान, दीपिका पादुकोण को लेकर हब्बा खातून बनाएं तो आज के दौर की सितारा हैसियत इस महान कथा पर से अभागी का ठप्पा हटा सकती है।

बहरहाल, अली उत्तरप्रदेश के सामंतवादी परिवार की संतान हैं और उस दौर की अवध संस्कृति पर आधुनिकता और विकास का लगातार हमला देखना उन्हें हताश कर जाता है। उनकी पहली फिल्म 'गमन' की पृष्ठभूमि महानगर है परंतु अवसर की तलाश में उत्तरप्रदेश और बिहार से आए लोगों की अपनी जमीन की याद थी। वह फिल्म और 'उमराव जान' भी उसी अवध संस्कृति से सराबोर रचना है। यह संभव है कि जांनिसार भी उसी ओर उठाया एक कदम हो। दरअसल, सामंतवादियों ने कला और संगीत को संरक्षण दिया था, यूं तो जब रोम जल रहा था तब नीरो बांसुरी बजा रहा था।

जिंदगी ख्वाब है या भला सच है क्या ?

अजय देवगन की 'दृश्यम' दक्षिण भारत की एक सफल फिल्म का हिन्दुस्तानी संस्करण है। उसके विज्ञापन में टाइटल के नीचे प्रचार पंक्ति है कि 'आंखों देखी पर विश्वास नहीं करें'।

शैलेन्द्र ने राजकपूर की 'जागते रहो' का एक गीत कुछ इस तरह लिखा 'किरण परी गगरी छलकाए, ज्योत का प्यासा प्यास बुझाए, मत रहना अंखियों के सहारे, जागो मोहन प्यारे'। कोई पैंसठ वर्ष पूर्व अकिरा कुरोसोवा की एक फिल्म में एक सत्य घटना के चार चश्मदीद गवाह हैं और अदालत में चारों के बयान से आभास होता है कि मानो चारों घटनाएं घटी हैं। हर मनुष्य कानों से सुनी या आंखों से देखी बात का वर्णन जब किसी अन्य को सुनाता है, तो उसके व्यक्तिगत पूर्वग्रह, पसंद और नापसंद के अनुसार वह विवरण देता है। गोया कि जस का तस विवरण संभव नहीं है। एक ही साक्ष्य के आधार पर जज अलग–अलग निर्णय देते हैं। हमारे महान ग्रंथ भी सुने हुए और सुनाए हैं, अतः मूल पाठ के विविध संस्करण उपलब्ध हैं। प्रामाणिक के लिए बहुत परिश्रम किया गया है, परंतु विद्वान उस पर एकमत नहीं हैं।

कई सदियों पूर्व राम–कथा कहने के लिए प्रख्यात संत रामदास की स्वयं राम द्वारा प्रशंसा सुनने पर हनुमान जी साधारण मनुष्य के रूप में कथा सुनने गए। उस दिन अशोक वाटिका में सीता माता के दुःखी होने का विवरण था। संत ने कहा कि चारों ओर सफेद फूल खिले थे, हनुमानजी ने आपत्ति उठाई कि वर्णित घटना के समय वे पेड़ पर बैठे थे और चारों ओर लाल फूल खिले थे। उनके अपने असली रूप दिखाने के बाद भी कथा वाचक अपने विवरण पर डटा रहा तो हनुमानजी श्रीराम के पास गए। श्रीराम ने मुस्कुराकर कहा कि कथा वाचक सत्य कह रहा है, उस समय सीता की अवस्था देखकर क्रोध के कारण हनुमान की आंखों में रक्त उतर आया और उन्हें सफ़ेद फूल लाल दिखे। सिनेमा की सारी सफलता का आधार भी यह है कि निर्देशक रूपी कथा वाचक केवल सच दिखा रहा है।

सच तो यह है कि व्यावहारिक जीवन में भी हम कई रिश्तों का निर्वाह तर्क को स्थगित करके ही कर पाते हैं। 'सत्यमेव जयते' सरकारी इमारतों और न्यायालयों में बड़े अक्षर में लिखा होता है, परंतु सबसे अधिक झूठ हम ही बोलते हैं और हमारे चुने हुए प्रतिनिधि इस खेल के चैम्पियन हैं। महान शायर मीर तकी मीर कहते हैं– 'अय झूठ आज शहर में तेरा ही दौर है, शेवा (चलन) यह सभी का, यही सबका तौर है, अय झूठ तू शुआर (तरीका) हुआ, सारी खल्क (दुनिया) का, क्या शाह का वजीर, क्या अहले दुल्क (जोगी) का, अय झूठ तेरे शहर में तबाई (अधीन) सभी मर जाएं, क्यों न कोई वे न बोल सच कभी।' बहरहाल अजय देवगन की 'दृश्यम' एक कर्तव्यपरायण इन्सपेक्टर (तब्बू) और अपने परिवार का संरक्षण करने वाले एक आम आदमी के द्वंद्व की कथा है। फिल्म में कई रोचक मोड़ हैं, परंतु पारिवारिकता मूल स्वर हैं। पूरी फिल्म गोवा में फिल्माई है, जहां रूसी माफिया का बड़ा जोर है। उपनिवेशवाद के कई मुखौटे हैं, कहीं संगठित अपराध तो कहीं पूंजीवाद।

दृश्य का प्रभाव और अवचेतन की छवि

इतवार को अजय देवगन की 'दृश्यम' टीवी पर दिखाई गई। फिल्म का नायक चौथी कक्षा तक पढ़ा है परंतु स्वयं के परिश्रम से उसने अपनी मध्यम वर्ग की गृहस्थी जमा ली है।

यहां यह गौरतलब है कि प्रायः सिनेमा पर यह आरोप लगाया जाता है कि उसकी प्रेरणा से लोग अपराध करते हैं, जबकि अपराध का इतिहास मनुष्य इतिहास के समान पुरातन है। सिनेमा में राम–सीता की कथा भी बनाई गई है और आज भी फिल्मों पर हमारी मायथोलॉजी का गहरा असर है परंतु मनुष्य प्रवृत्ति है कि वह नैतिक

पाठ अनदेखा करता है परंतु बुराई जल्दी ग्रहण कर लेता है। इसी तरह समाज भी अपने जीवन में कुछ अनचाही चीजों को शामिल कर लेता है। सिनेमा में प्रस्तुत अच्छाई या बुराई दर्शक अपनी सुविधा से चुनता है, अतः सिनेमा अपराध की गंगोत्री नहीं है वरन् आर्थिक खाई की कोख से अपराध जन्म लेते हैं और मनुष्य की गरीबी ही सबसे बड़ी समस्या है, जो नैसर्गिक नहीं है वरन् गरीबी का उत्पाद किया जाता है, किसी देश में अधिक और किसी में कम।

दृश्य का प्रभाव गहरा पड़ता है और वह मनुष्य की स्मृति में स्थायी रूप से जम जाता है परंतु टेक्नोलॉजी ने ऐसे–ऐसे अजूबे रचे हैं कि एक लेन्स विशेष के प्रयोग से दस हजार की भीड़ दस लाख की दिखाई जा सकती है। आज टेक्नोलॉजी आपको सत्य की रचना से अधिक झूठ रचने में मदद देती है। कबीर ने भी कहा था कि कानों से सुनी नहीं परंतु आंखन देखी पर भरोसा करना ।

फिल्म जगत के गीतकार शैलेन्द्र पर कबीर का प्रभाव है, वह शायद सभी रचनाधर्मी लोगों पर है। शैलेन्द्र ने 'जागते रहो' के गीत में लिखा है, किरण परी गगरी छलकाए, ज्योत की प्यास बुझाए, मत रहना अखियन के भरोसे.....जागो मोहन प्यारे।' फणीश्वरनाथ रेणु का जन्म बिहार में हुआ और शैलेन्द्र के पिता तथा दादा बिहार में जन्मे थे परंतु केवल इस कारण शैलेन्द्र ने रेणु की कथा पर 'तीसरी कसम' नहीं बनाई। उन्होंने तीसरी कसम इसलिए बनाई कि उसमें प्रस्तुत जीवन–मूल्य के पतन को वे स्पष्ट रूप से भविष्य में घटित होते देख पाए और वे कहते थे कि तीसरी कसम के नायक की तरह गंवई गाँव के भोले लोग आने वाले युग में संभवतः नजर नहीं आएंगे।

अब्दुल कलाम भी और आजाद कलाम भी

पूर्व राष्ट्रपति ए.पी.जे अब्दुल कलाम बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और अपने विविध स्वरूपों में स्वयं केवल शिक्षक के रूप में जाने जाते थे और शिक्षा देते हुए ही उन्होंने नश्वर देह त्यागी। हमारे दूसरे राष्ट्रपति राधाकृष्णन भी दार्शनिक शिक्षक थे और उनकी स्मृति में पांच सितंबर 'शिक्षक दिवस' के रूप में मनाया जाता है। कलाम साहब की इच्छानुसार ही उनकी मृत्यु के बाद भी उन्होंने हमें एक पाठ पढ़ाया कि काम अनवरत होता रहे– जीवन चलने का नाम, छुट्टियों से प्रेम करने वाले उत्सव प्रेमी देश में कुछ लोग इस 'आखिरी सबक' से दुखी हो गए। इंदौर में उत्तम झंवर के प्रयास से एक आई बैंक खुला, जिसके उद्घाटन पर कलाम साहब ने बताया कि भारत में कितने आई बैंक हैं और इस तरह की संस्थाओं की कितनी कमी है। वे पूरी

तैयारी से आए थे और आई बैंक के उनके आंकड़े चौंकाने वाले थे गोयाकि इस महान शिक्षक ने कभी अपना छात्र स्वरूप नहीं छोड़ा और निरंतर अध्ययन उनके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग रहा।

हर व्यक्ति के भीतर एक शिक्षक और छात्र मौजूद रहता है तथा किसी एक का पराभव दूसरे को खत्म कर देता है। आमतौर पर हम अपने भीतर के छात्र को जल्दी ही मार देते हैं, परंतु हमारे भीतर शिक्षक सदैव कुलबुलाता रहता है और हम दूसरों को इतना अधिक सिखाने का प्रयास करते हैं कि वह सीखने मात्र के विचार से ही खिन्न हो जाता है। असली शिक्षक कब पढ़ा रहा है, यह छात्र को ज्ञान ही नहीं हो पाता, क्योंकि शिक्षा निरंतर बहने वाली नदी की तरह है और 'शिक्षा देने की बीमारी का शिकार' इस नदी में हमेशा बाढ़ लाने का प्रयास करता है।

सभी साहित्यकार और कलाकार प्रायः अपने काम से शिक्षा ही देते हैं। इसी तरह फिल्मकार में भी एक शिक्षक हमेशा मौजूद रहता है। हमारे सिनेमा जगत के तीन आधार–स्तम्भ शांताराम, मेहबूब खान और राजकपूर पारम्परिक रूप से शिक्षक नहीं थे। मेहबूब खान तो कभी मदरसे नहीं गए, राजकपूर मैट्रिक फेल थे और शांताराम पढ़ने की उम्र में एक स्टूडियो में कारपेंटर के सहायक के रूप में जुड़े थे। परंतु इन तीनों की फिल्में मनोरंजन करते हुए हमें शिक्षा भी देती हैं और मैं इन्हीं के स्कूल से निकला छात्र हूं और मुझे अपने स्कूल पर गर्व है।

हिंदुस्तानी सिनेमा में मनोरंजन के साथ–साथ सामाजिक सरोकार की धारा हमेशा बहती रही है। आज राजकुमार हीरानी, कबीर खान, सुभाष कपूर, आनंद राय यही कर रहे हैं। इन सभी फिल्मकारों ने भरपूर मनोरंजन के साथ शिक्षा भी दी है। हमारे यहां तो 'बंडलबाज' जैसी फूहड़ फिल्म में भी एक शापित जिन्न पहाड़ चढ़ते समय कहता है कि 'आज मालूम हुआ कि आम आदमी का जीना कितना मुश्किल है।' 'मधुमति' जैसी जन्म–जन्मांतर की कथा में भी 'जंगल में मोर नाचा किसने देखा, हम थोड़ी–सी पी के बहके तो जमाने ने देखा (शैलेन्द्र) और संजीदा 'प्यासा' में ' तेल मालिश, सर जो तेरा चकराए (साहिर) जैसे मनोरंजक गीत रहे हैं। सिनेमा में 'स्कूल' हमेशा मौजूद रहा है, परंतु अब 'स्कूल' फिल्मी हो गए हैं।

आर. बाल्की की 'का' और 'की', अनूठी दाम्पत्य दास्तान

आर. बाल्की विज्ञापन फिल्मों में शिखर सिंहासन पर विराजे हैं और उन्होंने कथा फिल्मों का निर्माण तथा निर्देशन प्रारंभ किया 'चीनी कम' से, जिसमें पैंतीस–चालीस के बीच की तब्बू और करीब साठ के अमिताभ बच्चन की मनोरंजक प्रेम–

कथा थी। इस सफलता के बाद उन्होंने अमिताभ बच्चन और अभिषेक बच्चन के साथ 'पा' बनाई जो सफल रही। उनकी पत्नी गौरी शिंदे ने श्रीदेवी के साथ 'इंग्लिश विंग्लिश बनाई जो अत्यंत सफल रही। आर. बाल्की ने अमिताभ बच्चन और दक्षिण भारत के धनुष के साथ 'अमिताभ' रची जो उनकी एकमात्र असफल फिल्म है। अपनी पहली दो फिल्मों में आर. बाल्की अपनी फिल्मों पर पूरा नियंत्रण रखे हुए थे परंतु 'अमिताभ' संभवतः उन्होंने अमिताभ बच्चन के प्रशंसक के रूप में गढ़ी और फिल्म का मध्यांतर के बाद का भाग असंतुलित हो गया। उन्होंने धनुष के पात्र को अत्यंत जनप्रिय पात्र के रूप में गढ़ा और दर्शक छोटे कस्बे के गरीब गूंगे लड़के के सफल सितारे होने की यात्रा से भावनात्मक तौर पर जुड़ गए परंतु आर. बाल्की ने इस प्यारे पात्र को मार दिया और अमिताभ के साथ कई ऐसे दृश्य रचे जिनके साथ जुड़ना संभव नहीं था।

बहरहाल उनकी नई निर्माणाधीन फिल्म में करीना कपूर और अर्जुन कपूर पति–पत्नी की भूमिका में हैं। यह दाम्पत्य जीवन के आनंद और अवसाद की कथा हो सकती है और अपनी पहली तीन फिल्मों की तरह इसका टाइटिल 'का' और 'की' भी दर्शक की जिज्ञासा जगाता है। सुना है कि इस फिल्म में भी अमिताभ बच्चन और जया बच्चन की मेहमान भूमिकाएं हैं।

आर.बाल्की की पत्नी का नाम गौरी शिंदे है। स्पष्ट है कि उदारमना आर.बाल्की ने अपनी प्रेमिका को नाम बदलने के लिए बाध्य नहीं किया। यह सफल शादी के लिए अनिवार्य है कि दोनों अपने निजी व्यक्तित्व को कायम रखें और उसे विकसित करें। यह प्रकृति का अजूबा है कि कोई दो व्यक्ति एक से नहीं हैं।

'का और की' की कास्टिंग कमाल की है। करीना कपूर और अर्जुन कपूर दोनों ही राजकपूर से जुड़े लोग हैं। अर्जुन के दादा सुरिंदर कपूर राजकपूर के पड़ोसी रहे और दोनों परिवारों के बच्चे साथ खेले खाए हैं। अर्जुन ने दीपिका, नसीरुद्दीन शाह और पंकज कपूर जैसे शिखर अभिनेताओं के साथ 'फाइन्डिंग फैनी' में अपनी जमीन नहीं छोड़ी और आर.बाल्की की इस दाम्पत्य कथा में अमिताभ बच्चन व जया का तड़का भी है।

कंगना, केतन मेहता और निखिल आडवाणी

'कट्टी बट्टी' की सफलता आमिर खान के भांजे इमरान खान के लिए आवश्यक है, क्योंकि उनकी तीन फिल्में असफल रहीं। सच तो यह है कि उन्हें आमिर खान की बनाई दो फिल्मों में ही सफलता मिली है। फिल्म कलाकार का सितारा बनना कभी

तर्क के आधार पर समझा नहीं जा सकता। इमरान अपने मामू आमिर से ज्यादा हैंडसम हैं परंतु उनकी अदाएं व अभिनय दर्शकों में उत्साह नहीं जगाता। यह खेल अजीब है। 'जंजीर' से पहले अमिताभ बच्चन की लगभग दर्जन भर फिल्में असफल रहीं। शम्मी कपूर भी 'तुमसा नहीं देखा' से पहले सितारा नहीं बन पाए। मिथुन जब उद्योग में आए थे, कुछ निर्माता उन्हें बैंगनी रंग का व्यक्ति मानते थे परंतु 'डिस्को डांसर' के बाद उन्होंने दर्जनों सफल फिल्में कीं। इमरान खान निर्माता नासिर हुसैन की पुत्री के बेटे हैं और उनके दोनों मामा मंजूर हसन व आमिर खान सफल व्यक्ति हैं। एक ही माता–पिता की संतान सलमान सितारे हैं परंतु अरबाज और सोहेल सफल नहीं हुए। 'कट्टी बट्टी' की नायिका कंगना राणावत ने अभी तक किसी सुपर सितारे के साथ काम नहीं किया और संभवतः यह चिंता भी नहीं की, कि कौन साथ में है।

निखिल आडवाणी करण जौहर की पहली दो फिल्मों में उनके निकटतम सहयोगी रहे, क्योंकि फिल्म तकनीक के वे अच्छे जानकार हैं। उन्हें जौहर की शाहरुख अभिनीत 'कल हो न हो' के निर्देशन का मौका मिला। ऋषिकेश मुखर्जी की 'आनंद' के अवसाद तत्व को वे प्रस्तुत नहीं कर पाए। मतभेद होने पर आडवाणी करण जौहर से अलग हो गए और उनकी 'सलाम–ए–इश्क' ने पानी नहीं मांगा। चार घंटे की सिनेमाई कसरत में सबसे कमजोर भूमिका, सबसे अधिक लोकप्रिय, सलमान को दी।

यूरोप व अमेरिका के कुछ फिल्मकारों ने केवल तकनीकी पकड़ से सफलता पाई है। आडवाणी बड़े समझौतावादी हैं। उनकी 'हीरो' का फाइनल संपादन सलमान ने किया। अब 'कट्टी–बट्टी' का आमिर कर रहे हैं। उन्हें अगली फिल्म शाहरुख से लिखवानी चाहिए।

ताजा खबर यह है कि आजकल कंगना सुबह पांच बजे उठकर घुड़सवारी का अभ्यास कर रही हैं। शायद वे रानी लक्ष्मीबाई की भूमिका की तैयारी कर रही हैं। यह केतन मेहता की प्रस्तावित फिल्म है। केतन का सफर 'भवनी भवई' से 'मांझी द माउंटेनमैन' तक अनोखा रहा है। केतन–कंगना की टीम अविस्मरणीय फिल्म दे सकती है। इतिहास आधारित होने के कारण इसका बजट बड़ा होगा, जिसका भार अकेली कंगना नहीं उठा सकती परंतु कथा में इतने पात्र हैं कि अच्छी–खासी टीम खड़ी हो सकती है।

भारतीय चलचित्र और अमरकथा

एस. एस. राजमौली की 'बाहुबली' बॉक्स ऑफिस पर रिकॉर्ड बना रही है, पहले दिन के पचास करोड़ में छत्तीस करोड़ तमिलनाडु और आन्ध्रप्रदेश के हैं परंतु अमेरिका में पंद्रह करोड़ का व्यवसाय हुआ है। इस सिनेमाई अजूबे ने दूसरे दिन साठ करोड़ का व्यवसाय किया है। इस भव्य फंतासी की सफलता अब तमिल की दस फिल्मों के डब संस्करण के प्रदर्शन को संभव बना देगी और हॉलीवुड की पच्चीस एक्शन फिल्मों के आने से देश में बंद होते एकल सिनेमा भी बनने लगेंगे।

हिंदुस्तानी सिनेमा का आर्थिक आधार सौ वर्षों तक दर्शक रहे हैं और अब मुंबइया सिनेमा कॉर्पोरेट धन से संचालित है तथा सितारों का मेहनताना आसमान छू रहा है। उन्होंने इस तथ्य को भी नजरअंदाज किया है कि इस आर्थिक फुगावे के दौर में उनकी आय तो बढ़ रही है परंतु दर्शक संख्या घट रही है। जो उद्योग सौ वर्षों के आर्थिक आधार को नजरअंदाज करता है, वह पतन की ओर जा रहा है।

इस समय शिक्षा इत्यादि अनेक क्षेत्रों से भारतीयता का लोप हो रहा है और सिनेमा इससे अछूता नहीं है। हॉलीवुड की एक्शन फिल्में व विज्ञान फंतासी में वे सारे मसाले मौजूद हैं, जिन्हें दर्शक पसंद करता है। राजामौली की 'बाहुबली' में भी मसाले मौजूद हैं। निर्देशक ने आधुनिकतम तकनीक की सहायता से एक पुरातन कथा को संवारा है और उसके दृश्यों का संयोजन अमेरिकन फंतासी की तरह है परंतु सारी पैकेजिंग में मायथोलॉजी, चकाचौंध करने वाली भव्यता, साधनों का अतिरेक एवं रीतिकालीन श्रृंगार में मांसलता का स्पर्श मौजूद है।

हिंदुस्तानी सिनेमा के पहले दशक की सारी फिल्में धार्मिक आख्यानों से प्रेरित थीं। बाद में विविध प्रकार की फिल्में बनीं तथा पात्रों की वेशभूषा और वातावरण भी बदला लेकिन उनके मानस में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। अच्छाई की बुराई पर जीत के आदर्श को यथावत रखा गया है। इस तरह के मसाले के साथ ही कुछ फिल्मकारों ने अपना नया रास्ता बनाया है, जिस कारण मसाला मनोरंजन के साथ ही सार्थक सिनेमा की धारा भी अविरल बहती रही है।

भारत सभी प्रभावों को ग्रहण करते हुए अपने निजत्व की रक्षा करता है। सिनेमा का संकट भी टल जाएगा। फिल्मकारों की सृजन शैली भी लचीली है। उस सचित्र कथा श्रृंखला का नाम ही 'अमर कथा' है। भले ही यह संकट 'बाहुबली' दूर करे या अमेरिकन एक्शन फिल्म दूर करे, ये दोनों ही भारतीय मसाला फिल्म हैं। इनके माध्यम से बचकर हम अपनी मासूमियत और मसाला के मिश्रण तक फिर जा पहुंचेंगे।

बैचेनी के वक्त में बदलाव ही सच

गैजेट्स इतनी खतरनाक रफ्तार से आसान होते जा रहे हैं कि हमारा हुनर सिकुड़ता जा रहा है। अब जल्दी ही धरती की विरासत नादानों के हाथों में होगी।

आज कोई शादी यदि कामयाब नहीं होती तो वह आठ दिन के आगे नहीं चलती। दोनों में से कोई सामान बाधंकर रुखसत हो जाता है। बाकी का काम वकील कर देते हैं।

मोदी शानदार बहुमत से जीते। इसके पहले कि वे जम पाते, 'आप' ने दिल्ली जीतकर भाजपा को हैसियत दिखा दी। केजरीवाल अपना घर ठीक करते, इसके पहले ही मीडिया पीछे पड़ गया।

हर कोई तत्काल रईस बनना चाहता है, इसलिए नौकरियां बार–बार बदली जा रही हैं और नौकरियों की साइट पैसा कमा रही हैं, क्योंकि हर किसी को ऐसी नौकरी चाहिए, जो ज्यादा पैसा दे। नौकरियों में छलांग लगाने वालों की भरमार है। अधीरता ही हमारे वक्त की लत है। हम लगातार और की मांग करते हैं, इसलिए नहीं कि हमें अधिक आवश्यकता है। हम ऐसा इसलिए करते हैं, क्योंकि अधिक की मांग करना हमारी आनुवंशिकी में शामिल हो गया है। नया उपभोक्तावाद हमारे अधैर्य पर ही पल रहा है जैसे कि नई राजनीति।

ठीक से रो भी नहीं पाती नई पीढ़ी

डिम्पल कपाड़िया को लेकर 'रुदाली' फिल्म बनाई गई थी। यह रुदाली परम्परा कुछ प्रांतो में सदियों से जारी है। परिवार में किसी सदस्य की मृत्यु पर व्यावसायिक रूप से रोने वालों को मेहनताना देकर बुलाया जाता है। यह काम औरतें ही करती हैं।

रुदाली करने वाली महिला उस मृतक को जानती भी नहीं है, जिसकी मृत्यु पर उसे पारिश्रमिक देकर रोने के लिए बुलाया गया है, अतः वह संभवतः अपने किसी निकट की मृत्यु की याद दिल में जगाती है, तभी उसका रुदन दिल दहला देता है।

आंसू मनुष्य इतिहास का आवश्यक अंग रहा है। नीरो जैसा तानाशाह रोम को जलाकर बांसुरी बजा रहा था और जो आंसू उसने बहाए उसे उसके गुलाम कांच के बर्तन में एकत्रित करते थे। साहित्य में भी आंसुओं पर बहुत कुछ लिखा गया है। आंसू की एक मौलिक अभिव्यक्ति हमें रवीन्द्रनाथ टैगोर के ताजमहल वर्णन में मिलती है, 'ताज वक्त के गाल पर थमा हुआ आंसू है।' फिल्मी गीतकार क्यों पीछे रहते? हसरत जयपुरी ने लिखा, 'ये आंसू मेरे दिल की जुबान हैं।' महान जयशंकर प्रसाद ने लिखा,

'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तिष्क में स्मृति–सी छाई, दुर्दिन में आंसू बन कर वह आज बरसने आई'। कासिफ इंदौरी ने लिखा, 'सरासर गलत है इल्जाम–ए–बलानोशी का, जिस कदर आंसू पिए हैं, उससे कम पी शराब'। फिल्मी नायिकाएं आंसू बहाने के शॉट के पहले आंख में ग्लिसरीन डालती हैं, परंतु मीनाकुमारी ने कभी ग्लिसरीन का सहारा नहीं लिया, शॉट रेडी होते ही सचमुच के आंसू बहाती थीं। जाने कौन–सी घनीभूत पीड़ा थी उनके दिल में? जीवन के आंसू व मुस्कराहट को शैलेन्द्र ने क्या खूब बयान किया है। 'मरकर भी किसी को याद आएंगे, किसी के आंसुओं में मुस्कराएंगे, जीना इसी का नाम है'। इसी विचार को राजकपूर ने 'जोकर' के एक शॉट में पेश किया है जो, 'आंसू के मध्य से देखी मुस्कान को प्रस्तुत करता है।' 'परवरिश' का दत्ताराम द्वारा बनाया गया गीत है, 'आंसू भरी हैं जीवन की राहें, कोई उनसे कह दे हमें भूल जाएं। जानकारों का कहना है कि यह धुन भी राजकपूर की बनाई हुई है। यह घटना नरगिस से उनके अलगाव के बाद की है।

एक बुजुर्ग स्त्री कहती है, 'आज की पीढ़ी ठीक से रो भी नहीं पाती।' आज की युवा पीढ़ी आर्थिक उदारवाद के बाजार युग की संताने हैं। उन्हें कड़ी प्रतिद्वंद्विता के बीच केवल सफलता को साधना है और आंसू बहाने को वे कमजोरी समझने की भूल कर रहे हैं। साहसी व्यक्ति खून का दरिया बहा सकता है परंतु आंसू नहीं देख पाता।

कारण अनेक हो सकते हैं और उपचार केवल जीवन–मूल्य और सांस्कृतिक मूल्यों की स्थापना है।

सिनेमा, साहित्य और संगीत की महिमा

मानवीय भावनाओं का इन्द्रधनुष, भौगोलिक सरहदों पर तैनात आग उगलने वाली तोपों को, ठेंगा दिखाकर पूरे विश्व की मनुष्यता से जुड़ता है। साहित्य और सिनेमा भी इसी इन्द्रधनुष के रंग हैं। जापान के अकिरा कुरोसोवा की महंगी फिल्म 'कागामूशा' में अमेरिकन स्टीवन स्पिलबर्ग ने धन लगाया। पाकिस्तान के शोएब मंसूर की 'बोल' में फ्रांस की सरकार ने धन लगाया और अब ईरोस के साथ मिलकर वे करीना कपूर को लेकर फिल्म बना रहे हैं। यह शोएब मंसूर का साहस है कि वे पाकिस्तानी समाज पर, इस्लाम द्वारा लादी गई कुरीतियों के खिलाफ बनाई जाने वाली फिल्में पाकिस्तान में ही शूट करते हैं।

आज भी इस उद्योग को सरकारों से धन नहीं चाहिए। उसकी दो छोटी मांगें हैं। एक तो उसे तर्कहीन सेंसरशिप से बचाएं और प्रांतीय सरकारें सिनेमा लाइसेंसिंग को सरल करें।

आज भारत में सिर्फ नौ हजार एकल सिनेमा हैं और अनेक छोटे शहर और कस्बे इनसे वंचित हैं। अगर 30 हजार एकल सिनेमाघर बनें तो भारतीय फिल्म के प्रथम सप्ताह की आय तीन हजार करोड़ पहुंचेगी। तब कितना अधिक आयकर और कस्टम सरकार को मिलेगा। आज तक भारतीय फिल्मों की संभावित अपार आय का अनुमान ही नहीं लगाया गया है। बड़े औद्योगिक घराने फिल्म निर्माण में पैसा लगाकर सितारों की दासता कर रहे हैं। वे अगर एकल सिनेमा शृंखला खड़ी करें तो सितारे उनकी दासता करेंगे। क्या मुकेश और अनिल अंबानी तथा टाटा समूह इत्यादि शक्तिशाली लोगों व औद्योगिक घरानों तक कोई यह बात पहुंचाएगा?

नए लिखाए जा रहे सरकारी इतिहास में शायद यह तथ्य खारिज किया जाएगा कि बाबर के साथ पर्शियन संस्कृति और घुलनशील भारतीय संस्कृति के संगम से गंगा–जमुना संस्कृति बनी, जिसने भारतीय वास्तुशास्त्र के साथ पर्शियन आर्कीटेक्चर को मिलाकर ताजमहल जैसे अनेक अजूबों का निर्माण किया और संगीत तथा साहित्य के क्षेत्र में भी इस संस्कृति ने कमाल की कृतियां बनाईं।

भारतीय हिन्दी सिनेमा का यह निराला ढंग है कि दक्षिण व बंगाल की प्रतिभाशाली अभिनेत्रियां यहां सहज स्वीकार हो गईं परंतु नायक वहां से आयात नहीं किए। कैटरीना कैफ और जेकलीन, शर्मिला टैगोर और सुचित्रा सेन, पद्मिनी, जयाप्रदा, वैजयंतीमाला और श्री देवी के लिए दक्षिण से मुंबई तक रेड कारपेट बिछाया गया परंतु उत्तम कुमार, कमल हासन को जगह नहीं दी।

बहरहाल, पर्शिया की नायिका फिल्म में एक गायिका बनी है, जिसके स्वर से बीमारियां ठीक हो जाती हैं। इंदौर में कैंसर के डॉक्टर मधुसूदन द्विवेदी ने कैंसर अस्पताल में 24 घंटे संगीत बजाने की व्यवस्था की थी। अभी हमारे मेडिकल संसार और हमारी गूंगी, बहरी, अंधी सरकारें क्या जानें कि साहित्य और संगीत ही मनुष्य नामक पशु को सुसंस्कृत कर पाए हैं। आज अन्याय आधारित व्यवस्था ने भारत को गरीब बना दिया है परंतु जब तक लता मंगेशकर हैं, हम अमीर हैं।

साहित्य, विज्ञान व बॉब डायलन के गीत और नया विकास पंथ

गायक एवं कवि बॉब डायलन का जन्म 24 मई 1941 को हुआ अर्थात् दूसरे विश्व युद्ध के शिखर दिनों में इस प्रतिभाशाली व्यक्ति का जन्म हुआ। 1960 से 1970 तक उनके लिखे और गाए गीतों ने अपार लोकप्रियता प्राप्त की। उस दौर के सामाजिक आक्रोश को डायलन ने अपने गीतों में अभिव्यक्त किया। उनका गीत 'द टाइम्स दे आर चेंजिंग' और 'ब्लोइंग इन द विंड' तो उस दौर के युवा आक्रोश के

लिए 'एंथम' की तरह थे। ये गीत उसी तरह युवा एंथम थे जैसे पंजाब में एक युवा आंदोलन में 'साडा हक एथे रख' था।

हाल ही में लंदन में ऐसे विचार व्यक्त हुए कि मेडिकल विज्ञान से जुड़े हुए लोगों को डायलन के गीतों से शोध–कार्य में प्रेरणा मिलती है।

'प्रैक्टिकल नर्सिंग' नामक विज्ञान पत्रिका में डायलन के कुछ गीतों का समावेश है। बायोमेडिकल प्रकाशनों में अनेक बार डायलन के गीतों की पंक्तियों का उपयोग किया गया है। यह भी आकलन है कि दो सौ तेरह विज्ञान लेखों में डायलन के गीतों का उल्लेख है। गौरतलब है कि 1990 तक यह सिलसिला चला है और अधिकतर 'द टाइम्स दे आर चेंजिंग' और 'ब्लोन इन द विंड' का प्रयोग विज्ञान शोध–पत्रों में हुआ है।

कुछ शोध छात्रों ने तो यह भी स्वीकारा है कि उन्हें डायलन की पंक्तियों से शोध मार्ग नज़र आया है। अधिकतर लोगों के मन में कुछ फिल्मी गीतों की पंक्तियां प्रायः गूंजती रहती हैं और फिल्मी गीत अनेक लोगों के एकाकीपन के साथी रहे हैं। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में असीमित कष्ट सहते हुए लोग बिस्मिल्ला की पंक्तियां 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है। देखना है जोर कितना बाजु–ए–कातिल में है' गुनगुनाते थे।

दरअसल, इजरायल के प्रो. डेविड के आग्रह पर अमेरिकी विश्वविद्यालयों ने साहित्य, दर्शन व इतिहास विषय के अनुदान कम कर दिए और व्यापार प्रबंधन के बढ़ा दिए तथा हमने भी अनुकरण किया। विगत दो माह से दिल्ली में यूजीसी कार्यालय के बाहर छात्र आंदोलन कर रहे हैं, क्योंकि सरकारी विश्वविद्यालयों में साहित्य, दर्शन के छात्रों की स्कॉलरशिप निरस्त कर दी गई है। विगत सप्ताह तो हड़ताली छात्रों की पिटाई हुई और कुछ को जेल भेज दिया गया। यह एक नए विकास पंथ का हिस्सा है।

दो फिल्मी बमों के विकिरण

छोटे बजट की सितारविहीन फिल्म के असफल होने पर फिल्म उद्योग में कोई तूफान नहीं आता परंतु जब दो बड़े बजट की बहुप्रचारित सितारों से सजी फिल्में असफल होती हैं तो उद्योग के तालाब में समुद्र के समान उत्तुंग लहरें उठती हैं, सारे कूल–किनारे हिल जाते हैं। स्वयंभू शहंशाह शाहरुख और ढेरों सफल फिल्में देने वाले रोहित शेट्टी की 'दिलवाले' की प्रारंभिक तीन दिनों में बॉक्स ऑफिस पर आई रकम अत्यंत कम है। बड़बोले और बदमिजाज संजय लीला भंसाली की 'बाजीराव

मस्तानी'(2015) में आधे पुरुष सितारे के साथ अपनी सफलताओं से पुरुष सितारों–सा रुतबा हासिल करने वाली दो नायिकाएं मिलकर भी लगभग 150 करोड़ की लागत को नहीं बचा पा रहे हैं। तीन सौ करोड़ से अधिक आय अर्जित करने पर ही नेट आय 150 करोड़ रुपए हो पाती है। ग्रॉस का नेट पैंतालीस फीसदी ही होता है।

'बाजीराव मस्तानी'(2015) में केवल इतना ही ऐतिहासिक तथ्य है कि बाजीराव को झांसी को बचाने के पुरस्कार स्वरूप हीरे–मोती के साथ मस्तानी भी भेंट में मिली थी।

भंसाली की फिल्म को शाहरुख की नकारात्मकता का थोड़ा लाभ मिल रहा है, क्योंकि उनकी फिल्म में भव्यता है परंतु दिल को नहीं छूती। बहरहाल, इन दो भव्य फिल्मों की असफलता में फिल्म उद्योग के लिए कई संकेत हैं। उन छोटी पूर्ण फिल्मों की संख्या बढ़ेगी, जिनके प्रचार और प्रदर्शन पर दस करोड़ लगाकर कोई अपनी चार करोड़ की लागत निकालने का प्रयास नहीं करेगा।

अब फिल्मकारों के लिए अनावश्यक विरोध नामक नई मुसीबत आ गई है। अतः पलायनवादी फिल्म बनाने के अतिरिक्त कोई और रास्ता भी नहीं है। दोनों फिल्मों को क्रिसमस की छुट्टियों का लाभ मिल सकता है और उनका घाटा कम हो सकता है।

दो फिल्में जैसे पूनम को डूबता चांद व उगता सूरज

भंसाली की बाजीराव में अंतिम युद्ध पर जाते समय बाजीराव मस्तानी से कहता है कि जब आसमान में एक ओर सूर्य और दूसरी ओर चांद उफक पर होगा और बरसात भी हो रही होगी, तब हम मिलेंगे। पूनम की रात ऐसा होता भी है। इस सीन में चांद थोड़ा मद्धम है और सूरज भी बार–बार बादलों की ओट में चला जाता है।

' बाजीराव मस्तानी'(2015) के साथ ही रोहित शेट्टी की 'दिलवाले' भी लगी है। दोनों फिल्मों की लागत में भारी अतंर है, क्योंकि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाली फिल्मों में बहुत पैसा लगता है। संभव है कि लागत का अंतर आय में भी दिखे।

'मुगले आजम' (5 अगस्त 1960) में अनारकली का पात्र ही काल्पनिक है। सच तो यह है कि हमारी फिल्मों में विश्वसनीयता, तर्क, प्रामाणिकता खोजना घास में सुई खोजना है। फिल्म पर अंतिम अदालत जनता की अदालत होती है और अवाम ही न्यायाधीश है। फिल्म इतना महंगा माध्यम है कि उसमें पूंजी की वापसी संभव हो सके और लाभ भी मिले केवल यही प्रयोजन होता है। इस माध्यम में भी अनेक फिल्मकारों ने सामाजिक सोद्देश्यता को कायम रखा है।

भंसाली की फिल्मों में रंग और ध्वनि का अतिरेक होता है और अब वे अपने इस फॉमूले में बंध गए हैं। इस बार फिल्म का संगीत भी उन्होंने दिया और कुछ गीतों में अपनी पुरानी फिल्म का संगीत भी उन्होंने दिया और कुछ गीतों में अपनी पुरानी फिल्म के गीतों को रद्दोबदल के साथ प्रस्तुत किया।

फिल्म में मुस्लिम मस्तानी और महाराष्ट्रीयन रानी के चरित्र–चित्रण में कुछ बातें काबिले–तारीफ हैं। यह काशीबाई है, जो बाजीराव को बताती है कि मस्तानी का कत्ल किया जाने वाला है। यह उदारता सहज नारी सुलभ गुण है। इतिहास प्रेरित फिल्म में संवाद नाटकीयता को पैना बनाते हैं और 'बाजीराव' में नाटकीय संवादों की कमी नहीं है। विशेषकर मस्तानी–काशीबाई के आमने–सामने होने के दृश्य।

फिल्म के अंत में दोनों की मृत्यु हो जाती है और फिल्म समाप्त हो जाती है परंतु उस लेखक ने दृश्य लिखा था कि बाजीराव की मां और पत्नी आदेश देते हैं कि दोनों के मृत शरीर समारोह के साथ राजमहल में लाए जाएं। अभी फिल्म का अंत अधूरा सा लगता है। काश ! मस्तानी के शरीर को महल में आने का सौभाग्य मिलता।

बहरहाल, दोनों ही फिल्मों में कुछ विशेषताएं और कुछ कमियां हैं। सबसे शुभ बात यह है कि प्रशासन और पुलिस ने अच्छा इंतजाम किया है। थोड़े शहरों में ही गड़बड़ी हुई है। पुलिस प्रशासन को बधाई।

असली सितारा अभिनेता अथवा निर्देशक

छोटे शहर की कंगना राणावत अपने परिवार से विद्रोह करके मुंबई आई और अपने संघर्ष के दिनों में कई दिन उन्हें फुटपाथ पर सोना पड़ा। महेश भट्ट ने अनुराग बसु के निर्देशन में 'मर्डर' में उन्हें अवसर दिया। आनंद राय 'तनु वेड्स मनु'(2011) के लिए सितारा पाने में असफल होने पर कंगना राणावत के पास पहुंचे और इस सफल फिल्म ने कंगना को सितारा बना दिया और 'क्वीन'(2014) की सफलता से वे सुपर सितारा बन गईं। अपनी सफलता से प्रेरित कंगना ने अपने विकास के लिए अमेरिका में पटकथा लेखन का कोर्स किया। वे आनंद राय का बहुत आदर करती हैं और 'तनु वेडस मनु' भाग दो में हरियाणा की कन्या की भूमिका के लिए कंगना ने अपने व्यक्तित्व व पोशाक में परिवर्तन करके एक विश्वविद्यालय में दाखिला लिया। इसी प्रयास का नतीजा है कि 'तनु वेड्स मनु' भाग दो में हरियाणवी स्वरूप में कंगना को बहुत सराहा गया।

कंगना ने अब नई अनुबंधित फिल्मों की पटकथा में अपने सुझाव देना प्रारंभ किया और कुछ निर्माताओं से यह भी कहा कि पटकथा उनकी निगरानी में पुनः

लिखी जाए। यह शर्त आनंद राय को स्वीकार नहीं थी। उन्होंने तीसरी फिल्म 'रांझना'(2013) बिना कंगना के बनाकर सफलता प्राप्त की। उनका पटकथा लेखक अत्यंत प्रतिभाशाली है और उनका लेखक ही आनंद राय की कंपनी की रीढ़ की हड्डी है।

अभी तक कंगना राणावत का कॅरिअर कुछ इस तरह से चला है कि उसने किसी सुपर सितारे के साथ काम ही नहीं किया, जिसका नतीजा यह होता रहा कि फिल्म की सफलता का सारा श्रेय उन्हें मिलता रहा, परंतु अब उन्हें अहसास हो रहा है कि सुपर सितारे के साथ अर्जित सफलता से विज्ञापन फिल्मों के बेहतर प्रस्ताव उन्हें आएंगे और वे खूब धन कमा सकेंगी।

सारांश यह है कि वह इस फिल्म के लिए अपनी यह जिद्द छोड़ने को तैयार हैं कि पटकथा उनकी मर्जी से लिखी जाए।

यह प्रकरण दो बातें सिद्ध करता है– एक यह कि कंगना राणावत लोकप्रियता के गाफिल कर देने वाले नशे से उबरना चाहती हैं। दूसरी बात, यह प्रकरण फिल्म में लेखक के महत्व को पुनः रेखांकित करता है।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद फ्रांस के फिल्म में जुड़े लोगों ने 'ऑतर थ्योरी' दी थी, जिसके अनुसार जैसे एक किताब का श्रेय केवल लेखक को मिलता है, वैसे ही फिल्म भी एक किताब है, जिसका श्रेय निर्देशक को मिलना चाहिए।

विज्ञापन फिल्मों का मायावी संसार

साबुन की विज्ञापन फिल्म में रिक्शे से नवयुवती उतरती है। कपड़े साफ धुले हैं। उनमें चमक है। बैंक मैनेजर युवती का स्वागत करता है, जो आज ही नौकरी प्रारंभ कर रही है। वह पूछता है कि आप रिक्शे से क्यों आईं तो युवती सगर्व रिक्शाचालक का परिचय कराती है कि वे उसके पिता हैं और उनकी मेहनत से ही वह इतनी शिक्षित हो पाई। इसी समय पार्श्व ध्वनि गूंजती है कि यह चमक ही आपकी पहचान है। यह कपड़े धोने के साबुन का विज्ञापन आज के बाजारु दौर का परिचय दे रहा है कि चमक आपकी पहचान है जबकि प्रतिभा व सोच–विचार व्यक्ति की असली पहचान है। विज्ञापन अपनी चीजों को लोकप्रिय बनाने के काम के साथ जीवन–मूल्यों को बदलने की चेष्टा करते हैं। जैसे ही विज्ञापन में 'दिल मांगे मोर' गूंजा वैसे ही फिल्म में गीत आया 'पप्पू कान्ट डांस साला'। आज हिन्दुस्तानी गानों में अंग्रेजी शब्दों का बाहुल्य केवल भाषा की मिलावट नहीं है वरन् जीवन–मूल्यों को तोड़ने का भी प्रयास है।

अतः विज्ञापन एजेंसियों पर दबाव बनाएं कि वे अंग्रेजी शब्दों का बाहुल्य रखें तथा भारतीय जीवनशैली में अंग्रेजीयत इस तरह ठूंस दी जाए कि हमें प्रचार पर खर्च न करना पड़े।

इस बात पर लार्ड मैकाले ने कहा कि हर गुलाम देश किसी न किसी दिन आजाद हो जाएगा परंतु भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजीयत उसके स्वभाव या डीएनए में शामिल हो जाएगी। सांसदों ने बिल को मंजूरी दे दी। कूपमंडूकता ही भाषा और संस्कृति का विरोध करती है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी की सारी किताबें अंग्रेजी भाषा में हैं, यहां तक कि सिनेमाशास्त्र की किताबें भी अंग्रेजी में हैं। अब तक के तमाम नेताओं में अंग्रेजी भाषा पर सबसे अधिक अधिकार नेहरू और आंबेडकर जी का था और दोनों ने अपनी भारतीयता को भी अक्षुण्ण रखा।

बहरहाल, विज्ञापन फिल्मों को गौर से देखना चाहिए। खुशबू के एक विज्ञापन में स्क्रीन पर तीन डिओडेरेन्ड के छोटे सिलेंडर स्क्रीन पर उभरते हैं और किसी महिला की सुन्दर उंगलियाँ पहले दो सिलेंडर स्पर्श करती हैं तो वे सिकुड़ जाते हैं, लूज पड़ जाते हैं परंतु तीसरा सिलेंडर स्पर्श से खूब बड़ा आकार ग्रहण करता है। पुरुषों के लिए डिओडेरेन्ड का यह विज्ञापन अश्लील है परंतु सेंसर तो केवल कथा फिल्मों में ही अश्लीलता खोजता रहता है।

विज्ञापन फिल्में देखकर कम लोग ही वस्तुएं खरीदते हैं। केवल एक विज्ञापन यथेष्ट है कि विज्ञापन खर्च काटकर वस्तु इतने कम दाम में उपलब्ध है। यह संभव नहीं है, क्योंकि विज्ञापन महज उत्पाद का प्रचार नहीं, विचार प्रक्रिया बदलने का षड्यंत्र है।

तीन क्रिकेट–कथा फिल्में

इस समय तीन क्रिकेट–कथाओं पर फिल्में बन चुकी हैं–एम.एस धोनी बायोपिक, अजहरुद्दीन बायोपिक और काल्पनिक उपन्यास 'जोया फैक्टर' से प्रेरित फिल्म। धोनी बायोपिक की शूटिंग जून से अगस्त कर दी गई है क्योंकि शूटिंग पूर्व तैयारी पूरी नहीं हुई थी। धोनी की भूमिका सुशांत कर रहे हैं जो पहले 'काय पो छे' और 'पी.के.' में नाम कमा चुके हैं। अजहरुद्दीन की भूमिका में इमरान हाशमी ने अभिनय किया है और एकता कपूर का निर्माण कार्य था।

बहरहाल धोनी छोटे शहर के मध्यमवर्गीय परिवार का युवा है जो फुटबॉल खेलते हुए क्रिकेट में जा पहुंचा। अजहरुद्दीन हैदराबाद के इतने गरीब घर में पैदा हुआ कि क्रिकेटिंग किट उसे टेस्ट में चुने जाने के बाद नसीब हुआ और शृंखला में लगातार

तीन शतक जड़ कर वह सितारा बना। फिल्म की कहानी के लिए गरीब घर में जन्मा नायक दर्शक की सहानुभूति पा जाता है और आम जनता के टिकिट पर आधारित उद्योग में प्रायः गरीब नायक लिया जाता है परंतु पूरी फिल्म छद्म समाजवादी स्वरूप लेती है और 'लेफ्ट' की ओर झुकाव के बावजूद सारी फिल्में अपरोक्ष रूप से पूंजीवाद की ही पोषक सिद्ध होती हैं। यहां तक कि 'हसिया हथौड़ी' के चिन्ह को अपनी कम्पनी का प्रतीक चिन्ह बनाने वाले मेहबूब खान की कोई भी फिल्म सच्चे अर्थ में समाजवादी नहीं है। छद्म समाजवाद पूंजीवाद का मुखौटा है। बाजार की सबसे बड़ी सफलता यह है कि उसने मध्यम और गरीब वर्ग को अपनी आय में अय्यास बना दिया है, अतः क्रांति की संभावना ही समाप्त कर दी।

अब भारत में क्रिकेट एक बड़ा व्यवसाय है और आईपीएल नामक तमाशे के आते ही इसमें व्याधियां उभर आई हैं। जिस देश में बिजली और पानी हजारों गांवों में उपलब्ध नहीं, उस देश में क्रिकेट तमाशे में कितने वॉट बिजली और ग्राउंड के लिए कितने करोड़ लीटर पानी जाया होता है इसका कहीं कोई आंकड़ा उपलब्ध नहीं है। बहरहाल धोनी की फिल्म का क्लाईमैक्स क्या होगा?

शीत का प्रकोप और फुटपाथ पर पलता–ठिठुरता भारत

प्रबल शीत लहर का भयावह प्रभाव महानगरों के फुटपाथ पर जीवन व्यतीत करने वाले असंख्य लोगों पर पड़ता है। महानगरों में कुछ भवन आश्रय के लिए बनाए गए हैं परंतु वे नाकाफी हैं और वहां भी कुछ दादा, लोगों से पैसे वसूलते हैं जो सरकारी कोश में नहीं जाता। हमारे यहां इस तरह के जाने कितने अवैध तरीकों से धन एकत्रित होता है, जो कभी कोशालय नहीं जाता। फुटपाथ पर बसे लोग जगह–जगह अलाव जलाकर शीत से लड़ते हैं। महानगर के अनेक धनाढ्य व्यक्ति बहुत दान–धर्म भी करते हैं परंतु वे संगठित होकर इस धन से एक कमरे व किचन के घरों के बहुमंजिला इमारत नहीं बनाते और हर वर्ष फुटपाथ पर जीवन–बसर करने वालों की संख्या बढ़ जाती है। किसी विदेशी मेहमान के आगमन पर चंद घंटों के लिए फुटपाथ पर घर के नाम पर टाट के परदों के घर नष्ट कर दिए जाते हैं। इन टाट के परदों के भीतर बसे संसार पर 'टाट के परदे' नामक सआदत हुसैन मंटो की कहानी पढ़िए। कुछ फिल्मों में फुटपाथ पर पसरे जीवन की झलकियां देखने को मिलती हैं।

राजकपूर की 'श्री 420'(1955) में इलाहाबाद से आया एक बेरोजगार युवा फुटपाथ पर रात गुजारना चाहता है तो फुटपाथ के स्वयंभू मालिक उससे पैसा मांगते हैं और नहीं दे पाने पर पिटाई करते हैं। इस फिल्म में सेठ सोनाचंद धरमानंद की

कोठी के सामने बने फुटपाथ पर अनेक दृश्य और गीत फिल्माए गए हैं। एक पात्र कहता है कि इस फुटपाथ पर सोने का भाड़ा डबल है, क्योंकि सेठजी की कोठी में पकाए जाने वाले पकवानों की खुशबू आती है। हर कालखंड में हमारा अवाम यह खुशबू भरपेट सूंघकर ही बड़ा हुआ है। 'भूख ने इन्हें बड़े प्यार से है पाला'। इसी फुटपाथ पर बसे भारत में गीत गाए जाते हैं और आवाज से सेठजी का अमन भंग होता है तो वे पुलिस को फोन करते हैं और उसी समय गीत की पंक्ति है, 'बिना मौसम मल्हार न गाना वरना पकड़ लेगा पुलिस वाला।' यह फिल्म आजादी के सातवें वर्ष में प्रदर्शित हुई थी और उस समय सेठ सोनाचंद धरमानंद मात्र लखपति थे और आज वे करोड़पति हैं। वह 'इंडिया' है और फुटपाथ पर पलता 'भारत' अब और अधिक गरीब है। तमाम सरकारें सेठ सोनाचंद धरमानंद की मुट्ठी में रही हैं और आज भी उस लौहपाश से मुक्त नहीं हैं। वह उस गुदगुदी और गर्म मुट्ठी से मुक्त ही नहीं होना चाहता और हर वर्ष शीत ऋतु में फुटपाथ पर सोने वालों में मृतकों की संख्या बढ़ती जा रही है। उन बदनसीबों को केवल चिता में ताप मिलता है और जीवन भर की ठिठुरन समाप्त होती है। बस वह इस लम्हें के लिए तो जी रहा था। रमेश सहगल की राजकपूर अभिनीत 'फिर सुबह होगी' में अनेक दृश्य और गीत फुटपाथ पर रचे गए हैं। इसके एक गीत की पंक्तियां हैं, 'जेब है, अपनी खाली, वरना क्यों देता गाली, वह पासबां हमारा, वह संतरी हमारा'।

'जागते रहो'(1956) का प्रारंभ ही एक सामतंवादी सेठ के शराब के नशे में फुटपाथ पर लहराने से शुरू होता है और वह फुटपाथ पर सो रहे भिखारी के मुंह में शराब की चंद बूंदें डालता है और इस प्रक्रिया में एक–दो बूंदें फुटपाथ पर गिर जाती हैं। तब शैलेन्द्र की पंक्तियां हैं, 'मय का एक कतरा पत्थर के होठों पर पड़ा और उसने भी कहा जिंदगी एक ख्वाब है।'

जिया सरहदी की 'आवाज' और दिलीप कुमार अभिनीत 'फुटपाथ' (1953) में भी भारत के विरोधाभास और विसंगतियों को प्रस्तुत किया गया है। 'फुटपाथ' का बेरोजगार नायक सेठ सोनाचंद धरमानंद की मिलावट करके दवा बनाने के कारखाने में नौकरी करता है और हजारों मौत के बाद अदालत के कटघरे में खड़े होकर कहता है, 'मुझे अपनी सांसों में सैकड़ों मुर्दों की दुर्गन्ध महसूस होती है'। दिलीप कुमार ने संवाद भावना को इतनी तीव्रता से अभिव्यक्त किया था कि मरघट–सा सन्नाटा सिनेमा हॉल में छा जाता था।

गौरतलब है कि नकली दवाओं के उत्पादन पर ऋषिकेश मुखर्जी की राजकपूर–नूतन अभिनीत 'अनाड़ी' भी बनी थी। जहां यथार्थवादी 'फुटपाथ' असफल हुई, वहां

'अनाड़ी'(1959) सफल रही, क्योंकि इसे शक्कर में लिपटी कुनैन की तरह बनाया गया था और इसका गीत–संगीत मधुर था। शंकर–जयकिशन और शैलेन्द्र, हसरत ही वह दीवार है जो दोनों फिल्मों का अंतर है। 'अनाड़ी' के गीत हैं 'किसी की मुस्कुराहट पर हो निसार, ले सके तो ले किसी का दर्द उधार, मरकर भी याद आएंगे, किसी के आंसुओं में मुस्कराएंगे' और 'सबकुछ सीखा हमने ना सीखी होशियारी, सच है दुनिया वालो कि हम हैं अनाड़ी'। दोनों कालखंड में अंतर यह है कि आज 'होशियारी' की संख्या बढ़ गई है और 'अनाड़ी' घट गए हैं। निदा फाजली ने लिखा है, 'सोच–समझ वालों को मौला थोड़ा नादानी दे, बच्चों को गुड़–धानी दे। भारत बनाम इंडिया की जंग जारी है और इंडिया की चकाचौंध में भारत सिकुड़ता हुआ नजर आ रहा है। शीघ्र ही वह अदृश्य होने वाला 'मि. इंडिया' बन सकता है।

'औरत', 'ग्रेप्स ऑफ रेथ' और 'द गुड अर्थ'

यह आश्चर्य की बात है कि 1939 में भारत में मेहबूब खान 'औरत' बना रहे थे, जिसे 1956 में उन्होंने 'मदर इंडिया' के नाम से दोबारा बनाया, तब अमेरिका में जॉन स्टीनबैक के उपन्यास से प्रेरित 'द ग्रेप्स ऑफ रेथ' और पर्ल एस. बक की 'द गुड अर्थ' पर फिल्में बनाई जा रही थीं। जॉन स्टीनबैक तथा पर्ल एस. बक दोनों ही नोबेल पुरस्कार विजेता बने। जहां स्टीनबैक की किताब और फिल्म औद्योगीकरण के कारण जमीन से उखाड़े गए किसानों की व्यथा–कथा है, वहां पर्ल एस. बक की किताब और फिल्म चीन के किसानों की दुःख की गाथा है। इसके साथ महाजन की ब्याज की चक्की में पिसते भारतीय किसानों की कथा मेहबूब खान की 'औरत'(1940) थी। इससे संकेत स्पष्ट है कि दुनिया के किसानों का समान रूप से शोषण हुआ है और औद्योगीकरण एक विराट किसान विरोध के रूप में उभरा है। दरअसल, कृषि भूमि को बिना छुए भी औद्योगिकरण हो सकता था और वर्तमान में भी हो सकता है। खेती बनाम कारखाना कोई युद्ध नहीं है। 'ग्रेप्स ऑफ रेथ' का एक दृश्य है कि गांवों से रोजी–रोटी की तलाश में महानगर आए किसानों का पहला विरोध वे किसान करते हैं, जो उनसे पहले महानगर आए और अब तक बेरोजगार हैं, अर्थात् रोजी–रोटी के सवाल से जुड़े एक साधनहीन को दूसरे साधनहीन के विरुद्ध खड़ा करते हैं। जब दो भूखे एक–दूसरे से भिड़ेंगे तब दोनों ही जमीन पर चारों कोने चित्त पड़े हुए मिलते हैं। कौन है वह जो इन भूखों को आपस में भिड़ा रहा है? कौन है वह जो इनके आपसी युद्ध से लाभान्वित हो रहा है और यह सारा खेल एक विकसित सभ्यता में पुनः जंगल के कानून की वापसी का प्रयास हैं, जिसमें फिटेस्ट के बचे रहने की बात है। सबसे ताकतवर ही बना रहेगा या बड़ी मछली छोटी को खाती रहेगी।

जैसे ही आप शारीरिक ताकत को निर्णायक बनाते हैं, आप फिर असभ्यता की ओर बढ़ते हैं और विपरीत दिशा में लाए जाना भयावह संकेत है। यह जीवन का अवमूल्यन भी है।

उपरोक्त विचार गिरीश कर्नाड के महान नाटक 'हयवदन' का स्मरण कराता है, जिसकी प्रेरणा उस पुरातन कथा से ली गई है, जिसमें योद्धा राजकुमारों की स्वयंवर में मौजदूगी के बावजूद कन्या एक घोड़े के गले में वरमाला डालती है। 'हयवदन' दो दोस्तों की कहानी है। एक पहलवान है और दूसरा कवि है। पहलवान ने अपने कवि–मित्र के आग्रह पर एक सुंदर स्त्री से उसका विवाह कन्या के माता–पिता को यह कहकर कराया कि वह अपने मित्र कवि की आर्थिक इत्यादि सभी समस्याओं का हल कराता रहा है और करता रहेगा। विवाह के बाद कन्या देखती है कि उसका पति कल्पना के संसार का प्राणी है और कहीं काव्य रचना मात्र परिश्रम करने से बचने का साधन मात्र तो नहीं?

वह मन ही मन कर्मठ और मजबूत पहलवान की ओर आकर्षित है तथा एक यात्रा में वह दोनों को आपस में भिड़ा देती है और दोनों एक–दूसरे का सिर काट देते हैं। तब कन्या देवी मां से प्रार्थना करती है कि उसके पति को पुनः जीवित कर दें। उनींदी–सी प्रस्तुत देवी कहती है कि सिर धड़ के ऊपर रख दो वे जीवित हो जाएंगे और देवी पुनः निद्रालीन हो जाती है। यह उनींदी देवी प्रतीक है कि मनुष्य को ही काम करना है। पत्नी को ऐसा पति चाहिए जो कवि की तरह रोमांटिक तो हो परंतु पहलवान की तरह बलिष्ठ हो। वह कवि का सिर पहलवान के और पहलवान का सिर कवि के धड़ पर रख देती है। यह उनकी 'संपूर्णता' के लिए प्रयास है परंतु कालांतर में पहलवान दिमाग वाला धड़ जंगल में कसरत करके पुनः शरीर सौष्ठव प्राप्त करता है और कवि का सिर लगाया धड़ कल्पनालोक में खोए रहकर पुनः कमजोर हो जाता है गोयाकि 'संपूर्णता' एक भ्रम है।

सारे द्वंद्व रचे ही एक उद्देश्य के लिए हैं कि धरतीपुत्र अपनी जमीन से उखड़ जाएं क्योंकि उखड़े हुए लोगों को गुलाम बनाना आसान होता है। 'ग्रेप्स ऑफ रेथ' के आखिरी दृश्य में नाम–मात्र के वेतन पर महानगरों में नारकीय जीवन बिताने वाले अपने खेतों की ओर लौटते हैं। वे समझ चुके हैं कि केवल धरती पर परिश्रम ही बिना उनका आत्म–सम्मान हारे, उन्हें रोजी–रोटी दे सकता है। यह बार–बार जो जड़ों की ओर लौटना की बात होती है, उसका अर्थ है कि जीवन के सारभूत आदर्श की ओर लौटने तथा खेत भी बहाना ही है। इस खेत में गांव और शहर की अवधारणा भी एक हो जाती है।

सितारे के जन्मदिन पर तरबूज काटा जाना

दरअसल, पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों में कोई युद्ध है ही नहीं वरना यह गढ़ा गया है। संस्कृतियां घुलनशील होती हैं और इसकी संक्षिप्त तथा सरल परिभाषा यह है कि वह मनुष्य के भीतर का विकास है और जो भव्य इमारतें गढ़ी जाती हैं वह सभ्यता के तहत आती हैं, इसीलिए जब खुदाई में कोई पुरानी गढ़ी हुई इमारत मिलती है तो उससे हमें विगत सभ्यता की जानकारी मिलती है और उन ढही हुई इमारतों में कुछ चीजों से उस दौर की जीवनशैली सामने आती है तथा कुछ दस्तावेज या पत्थरों पर लिखी जो इबारतें मिलती हैं, उस कालखंड की संस्कृति पर प्रकाश डालती हैं। इस तरह सभ्यता बाहरी वस्तु है और दस्तावेज तथा पत्थर पर खुदी इबारतें भीतरी विकास की प्रतीक बन जाती हैं।

अब एक कठिन कल्पना करें कि आज के दौर की दुनिया जलमग्न हो जाती है या भूकंप से नष्ट हो जाती है और यह असंभव नहीं है, क्योंकि विचारहीन सरकारें बांधों की ऊंचाई बढ़ाती जा रही हैं और उनके टूटने पर जलप्लावन संभव है। हम समुद्र तल में टिकी द्वारिका की तरह हो जाएंगे और जब कुछ सौ वर्षों बाद हमारे चिन्ह मिलेंगे तो भावी पीढ़ी उन भव्य भवनों के अवशेष देखकर कहेगी कि कितनी भव्य सभ्यता थी परंतु किताबों और शिलालेखों के अभाव में वे हमारी सांस्कृतिक विरासत पर दुःखी हो जाएंगे कि कितना शून्य था इस क्षेत्र में। अगर विज्ञापन फिल्में उनके हाथ लग गईं तो साबुन के विज्ञापनों के आधार पर वे वर्तमान में गंदगी से भरे भारत को सबसे साफ–सुथरा देश कहेंगे। शायद इतिहास में भी किंवदंतियों का प्रवेश उसे भ्रामक बनाता है।

अब साहसी आशुतोष गवारिकर ने ऋतिक रोशन और नई तारिका के साथ 'मोहनजोदड़ो' बनायी और विषय ही उन्हें पात्रों को न्यूनतम वस्त्र पहनाने की स्वतंत्रता दिलाता है परंतु उस कालखंड की संस्कृति के विषय में वे क्या कहेंगे? लेखक रांगेय राघव के उपन्यास 'मुर्दों का टीला' ऐसे ही पुरातन की खोज पर प्रकाश डालता है। यह आकलन इस तरह भी किया जा सकता है कि नारी और पुरुष के न्यूनतम वस्त्र का अर्थ है कि उस कालखंड में शरीर अत्यंत महत्वपूर्ण था और उसके सौष्ठव को दिखाना या देखने को बुरा नहीं माना जाता था और शरीर ही अगर आत्मा के रहने का ठिकाना है तो उसे साफ–सुथरा रखने और दिखाने में कोई आपत्ति नहीं ली जा सकती। इस अर्थ में शरीर पूजा–स्थल की तरह पवित्र हो जाता है और आत्मा का अर्थ मनुष्य की विचार प्रक्रिया है और शरीर विचार प्रक्रिया से प्रभावित होता है। फारसी भाषा में एक शब्द है 'माज़'। इसका अर्थ एक ही वाक्य में संप्रेषित किया जा

सकता है कि वह उम्रदराज महिला जो जानलेवा बीमारी से जूझकर पुनः सेहतमंद हुई और अत्यंत सुंदर भी लग रही है। अतः शरीर को शुद्र कहना या नगण्य मानना एक किस्म की कूपमंडूकता है, जो हमारे जनमानस में गहरी पैठ गई है। किसी पुरानी सभ्यता के अवशेष में आपकी सेंसरशिप को कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रहार है और गणतांत्रिक मूल्यों के पतन का प्रतीक है।

'कट्टी–बट्टी' इमरान, निखिल और कंगना के भरोसे

इस सप्ताह डिज्नी – यूटीवी पिक्चर्स की 'कट्टी–बट्टी का प्रदर्शन हो रहा है। निखिल आडवाणी निर्देशित इस फिल्म में इमरान खान और कंगना राणावत मुख्य कलाकार हैं। फिल्म की निर्माण लागत चौबीस करोड़ रुपये है और पूरे विश्व के प्रिंट व प्रचार के खर्च सहित कुल लागत छत्तीस करोड़ रुपए होती है। महानगरों का युवा वर्ग इस फिल्म का टारगेट बेस है। नायक इमरान खान अपने कॅरियर के न्यूनतम स्तर पर है और निर्देशक निखिल आडवाणी ने पहली फिल्म 'कल हो न हो (2003)' के बाद आज तक कोई सफल फिल्म नहीं बनाई है। नायिका कंगना राणावत कॅरिअर के शिखर पर है और इस तरह फिल्म की केन्द्रबिंदु वही होती है।

पिछले सप्ताह प्रदर्शित 'हीरो'(2015) ने नए कलाकारों के बावजूद सलमान खान के नाम और गाने के भरोसे पहले दिन 6.75 करोड़ का अच्छा–खासा व्यवसाय किया था। निर्देशक निखिल आडवाणी से सुभाष घई की इस कमर्शियल क्लासिक के नए संस्करण को बनाने में कहीं न कहीं कुछ चूक हो गई और साप्ताहिक व्यवसाय लगभग 30.25 करोड़ रुपये रहा। फिल्म विशेषज्ञों ने भी फिल्म की भरपूर बुराई की, लेकिन उसके बावजूद फिल्म सोमवार से गुरुवार के बीच टिकट खिड़की पर धराशायी नहीं हुई तो उसका एकमात्र कारण फिल्म से सलमान खान का जुड़ा होना है। फिल्म की अपेक्षाकृत कम लागत और अच्छे प्रारंभिक व्यवसाय से हो सकता है कि विश्व वितरक इरोस इंटरनेशनल को घाटा न हो, लेकिन निर्देशक की गलती से स्वर्णिम अवसर हाथ से निकल गया।

भंसाली का विजन दर्शाते हैं बाजीराव मस्तानी के गाने

भारतीय सिनेमा में गानों का बहुत बड़ा योगदान रहा है, और फिल्म–दर–फिल्म बढ़ता रहा है। गाने फिल्मों के मुख्य अंगों में से एक होते हैं। निर्देशक संजय लीला भंसाली की हर फिल्म में गानों का विशेष दर्जा होता है, फिर उसे फिल्माना हो या गाने का संगीत सब अव्वल होता है। इरोस इंटरनेशनल और भंसाली फिल्म्स निर्मित 'बाजीराव मस्तानी'(2015) में भी यही रूप नजर आया।

इस फिल्म में कुल पांच गाने हैं और हर गाने के सुर, ताल अलग–अलग और बहुत ही सुरीले हैं। फिल्म का 'गजानना' गाना सामने आते ही हर जुबान पर छा गया। इस गाने को गायक सुखविंदर सिंह ने और भी वजनदार बना दिया। गणेशोत्सव के दौरान गजानना हर गणपति पंडाल की पसंद रहा। फिल्म के 'दीवानी मस्तानी' गाने में मराठी पोवाड़ा के साथ कव्वाली का मिश्रण बेहद उम्दा है। उन्होंने अच्छी–खासी रिसर्च की और इसे गाने के लिए असल कव्वाल मुज्तबा अजीज नजा, फरहान साबरी, अल्तमश फरीदी, शादाब फरीदी तथा पोवाड़ा गायक गणेश चंदनशिवे को बुलाया। इसे श्रेया घोषाल ने भी अपनी सुमधुर आवाज से सजाया था।

वहीं 'पिंगा' एक मराठी संस्कृति से प्रेरित गाना है जो फिल्म की दोनों मुख्य अभिनेत्रियों पर फिल्माया गया है। इसे भी खूब पसंद किया गया है। पिंगा गाने को गायिका श्रेया घोषाल और वैशाली माड़े ने अपने नाजुक आवाज से सजाया है। फिल्म के गानों को संगीत से सजाया है संगीतकार संचित बल्हारा संग संजय लीला भंसाली ने।

वैचारिक नेतृत्व कंपनी को हर मुश्किल से निकाल लेता है

'नंदिनी' ताजे दूध का ब्रैंड है, जिसका उत्पादन सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनी कर्नाटक को–आपॅरेटिव मिल्क प्रोड्यूसर्स फैडरेशन करती है। यह गुणवत्ता के लिए पहचाना जाता है और अमूल तथा मदर डेरी के बाद इस क्षेत्र का तीसरा सबसे बड़ा ब्रैंड है। मोटे अनुमान के मुताबिक यह कंपनी 18 से 23 रुपए के बीच की दर पर किसानों से दूध लेती है और प्रोसेसिंग के बाद इसे तैंतीस रुपए लीटर भाव से बेचती है। इस प्रकार वह सीधे दस रुपए का मुनाफा कमाती है।

कंपनी का विशाल आकार देखकर किसी अनुभवहीन आंत्रप्रोन्योर को भी खुशी होगी। इसके अलावा यह देश के इस हिस्से में सफल कंपनियों में से एक है, जिसे कई दशकों से दूध के अभाव वाला क्षेत्र माना जाता रहा है।

जहां तक बिक्री का सवाल है, कर्नाटक की यह कंपनी न सिर्फ सारे पड़ोसी दक्षिणी राज्यों को आपूर्ति करती है बल्कि जम्मू–कश्मीर और पूर्वोत्तर के कुछ राज्यों अंडमान व निकोबार जैसे दूरवर्ती क्षेत्रों तक इसके उत्पाद भेजे जाते है। इसने मुंबई के बाजार में उतरने की योजना भी बनाई है। नकद राशि से भरपूर तिरुपति– तिरुमाला देवस्थानम लड्डू बनाने के लिए सारा घी इससे ही खरीदता है और भारतीय सेना भी उससे बहुत बड़ी मात्रा में दूध पाउडर खरीदती है।

संक्षेप में यह कंपनी दूध संग्रहण में गुजरात के बाद दूसरे स्थान पर है और दक्षिण भारत में पहले स्थान पर, लेकिन दूध की यह महाकाय कंपनी अपने ही बोझ से ध्वस्त होने की कगार पर है।

चूँकि 2014 में कर्नाटक में आठ सौ से ज्यादा किसान आत्महत्या कर चुके हैं, सरकारी कंपनी वोट बैंक को विचलित नहीं करना चाहती, खासतौर पर उस वर्ष में जिसमें राज्य का ज्यादातर हिस्सा सूखे की चपेट में है। जब ऐसी ही समस्या न्यूजीलैंड की 'फोंटेरा' के सामने आई तो कंपनी ने अपने उत्पादों पर अलग–अलग कीमतों की व्यवस्था लागू की। कंपनी के एक प्रोडक्ट में 'गुणवत्ता व सेहत' का वादा होता तो दूसरे प्रोडक्ट में 'गुणवत्ता' का। इस प्रकार उसने क्रमशः 3.8 और 1.8 डॉलर की कीमत पर दो उत्पाद निकाले। आश्चर्य की बात यह है कि 'सेहत' वाला उत्पाद ज्यादा बिका, खासतौर पर अस्पताल व बच्चों से जुड़े संस्थानों में। ध्यान रहे कि न्यूजीलैंड ऐसा देश है, जिसके सामने दूध बहुतायत होने की समस्या है। इसके बावजूद फोंटेरा ने वैचारिक नेतृत्व देकर समस्या का न सिर्फ समाधान निकाला बल्कि उसे सफलतापूर्वक लागू भी कर दिखाया। ऐसी समस्याएं और मुश्किलों में ही वैचारिक नेतृत्व की गुणवत्ता की परीक्षा होती है।

फंडा यह है कि समस्या तो किसी भी संचालन पद्धति का हिस्सा है, लेकिन नए विचार पर आधारित नेतृत्व किसी भी नाजुक समस्या से बाहर निकाल सकता है।

हम अंग्रेजों के जमाने के जेलर हैं.....

एक दिन रमेश ने मुझे अपने ऑफिस बुलाया। मैं पहुंचा तो वे बोले, 'हम एक फिल्म बना रहे हैं – शोले। तुम्हारे लिए एक छोटा सा किरदार है'। वहां सलीम–जावेद भी थे। उन्होंने स्क्रिप्ट और डायलॉग लिखे थे। मुझे मेरे किरदार के बारे में जावेद ने बताया। उस किरदार के डायलॉग सुनते ही मेरे मुंह से निकल गया, 'यह क्या है यार? मेरे लिए यह रोल बड़ा मुश्किल है।' लेकिन जावेद ने हौसला बढ़ाया, 'असरानी, कर लो। दो–तीन दिन का ही काम है', मैंने भी कह दिया, 'ठीक है।' इसके बाद जावेद ने समझाया, 'आपका किरदार जेलर का है। वह हिटलर टाइप है। वह खुद को दिखाता तो बहुत होशियार है। लेकिन असल में है, बेवकूफ। कड़क होकर चलता है। मगर कई बार गिरते–गिरते बचता है। खुद को संभालकर फिर कड़क दिखाने लगता है। इसकी खास पहचान है कि यह अपनी बात 'आहा' जैसे किसी शब्द के साथ खत्म करता है। लेकिन यह कैसे बोलना है, तुम जानो।' तब इसके लिए मैंने हू–हे, फज्ञ–फो जैसे कई शब्द आजमाए। मगर सब बेकार। तभी

रोशन तनेजा सर ने मुझे रास्ता सुझाया। उन्होंने हिटलर की रिकॉर्डेड आवाज सुनवाई। वह 'हाफो', 'होशी' जैसा कुछ कहकर लोगों में जोश भरता था। मैंने वहीं से अपने किरदार के लिए इजाद किया–'हहा'। मैं इस किरदार के लिए खासकर सलीम–जावेद और सिप्पी साहब का हमेशा आभारी रहूंगा। क्योंकि इसी की बदौलत मुझे नई पहचान मिली।

शत्रुघ्न सिन्हा की जीवनी और 'दोस्ताना'

अनुभवी पत्रकार भारती प्रधान ने लगभग सात वर्ष तक विभिन्न शहरों में शत्रुघ्न सिन्हा और उसके परिवार के लोगों से बातचीत करके शत्रुघ्न के जीवन, प्रेम और कॅरिअर पर 'एनीथिंग बट खामोश' किताब लिखी है। शत्रुघ्न ने एक फिल्म में अपनी बुलंद आवाज में 'खामोश' कहा था और तभी से विभिन्न सार्वजनिक समारोहों में जनता के आग्रह पर 'खामोश' बोलते रहे हैं। सितारा कुछ तो अपने प्रयास से और कुछ प्रशंसकों के सहयोग से अपनी छवि गढ़ता है, जिसे हम उसका असली रूप मान लेते है। शत्रुघ्न जैसे बड़बोले इंसान की छवि के साथ जाने कैसे 'खामोश' जुड़ गया है, जबकि यह जुमला अमिताभ बच्चन के व्यक्तित्व को बेहतर ढंग से अभिव्यक्त करता है। उन्होंने यश जौहर की पहली फिल्म 'दोस्ताना'(1980) में काम किया था, जिसे सलीम–जावेद ने लिखा था। उनके उस दौर के दोस्ताने का यह आलम था कि सचिव पवन कुमार दोनों का काम देखते थे, परंतु मनमुटाव के बाद बच्चन ने दूसरा सचिव रख लिया।

शत्रुघ्न सिन्हा को बदलने का प्रयास न करें वे 130 करोड़ के देश में सबसे अलग नजर आते हैं। इस कवर पर आडवाणी एवं सुषमा स्वराज के कथनों के साथ रजनीकांत और चिरंजीवि के कथन भी हैं। भूमिका कांग्रेस नेता शशि थरूर ने लिखी है। स्पष्ट है कि भाजपा के नेता शत्रुघ्न के कुछ कांग्रेसी मित्र भी हैं और नीतिश तथा लालू प्रसाद यादव भी हैं।

शत्रुघ्न ने रीना रॉय के साथ इश्क़ की लंबी पारी खेली परंतु विवाह पूनमजी से किया। क्या शत्रुघ्न एक ही समय में विकेट के दोनों ओर से बल्लेबाजी कर रहे थे।

शत्रुघ्न बिहार के अत्यंत शिक्षित परिवार के सदस्य हैं और चारों भाइयों के नाम राम, भरत, शत्रुघ्न एवं लक्ष्मण हैं। यहां तक कि जुहू में शत्रुघ्न के बंगले का नाम भी 'रामायण' है और उनके पुत्रों का नाम लव–कुश हैं। मजे की बात है कि बंगला अमिताभ बच्चन के प्रथम बंगले 'प्रतीक्षा' की विपरीत दिशा में कुछ ही गज के फासले पर है। अमिताभ के राजनीति में प्रवेश के बाद शत्रुघ्न सिन्हा भी राजनीति में आए।

उस समय बच्चन कांग्रेस में थे तो शत्रुघ्न ने विपक्षी दल की सदस्यता ली परंतु आज तो सभी दल समान नज़र आते हैं और सत्ता के लोभ ने सबको बदरंग कर दिया।

खामोश करने वाली अनूठी बेबाकी

शत्रुघ्न सिन्हा की जिदंगी और कॅरिअर की रोमांचक कहानी पढ़ने वाले का मन मोह लेती है, क्योंकि इसमें न सिर्फ हिंदी फिल्म उद्योग का बेबाक वर्णन है, बल्कि उतनी ही रोचक राजनीतिक जगत की झलक भी है।

जब भाजपा की राजनीतिक प्रतिष्ठा नरेंद्र मोदी और अमित शाह के नए नेतृत्व के आगे नतमस्तक हो रही थी, तो शत्रुघ्न को बेबाकी से अपनी राय रखने में कोई झिझक महसूस नहीं हुई।

सिन्हा को न सिर्फ अपनी समकालीन शख्सियतों का सम्मान प्राप्त है, बल्कि चिरंजीवि और रजनीकांत जैसे दक्षिण के असंदिग्ध सुपरस्टार की अभिनय शैलियों को भी उन्होंने प्रेरित किया है।

कामना है कि अपनी आत्मकथा 'एनीथिंग बट खामोश' जैसी आनंददायक किताब और आने वाले वर्षों में उनके द्वारा किए जाने वाले जनसेवा के कार्यों के माध्यम से वे कभी खामोश न हों।

हनी ईरानी और सारिका का रिश्ता

सारिका और कमल हासन के बीच अलगाव व तलाक हो चुका है। उनकी पुत्रियां श्रुति और अक्षरा स्वतंत्र रहती हैं परंतु वे मां सारिका के ज्यादा करीब हैं। पति–पत्नी के 'गृहयुद्ध' की असली हानि बच्चों को झेलनी पड़ती है और यह भी होता है कि तलाक देने वाले पति–पत्नी के बच्चे बहुत मजबूत हो जाते हैं। जिन्होंने अपना आशियाना टूटते देखा हो, उनके भीतर अजीब सी धातु भर जाती है। जावेद अख्तर और हनी ईरानी के तलाक के समय फरहान व जोया शायद कमसिन हों या और भी छोटे परंतु दोनों ने अपने कॅरिअर बनाए तथा पिता जावेद, माता हनी के साथ ही शबाना से भी उन्होंने अच्छे संबंध बना रखे हैं। हनी तो वर्षों पूर्व कुडूर में बस गईं और विगत वर्ष उन्होंने श्रीमती कृष्णा कपूर, श्री राजेंद्र कुमार, श्री सलीम खान इत्यादि घनिष्ठ मित्रों को एक पखवाड़े के लिए कुडूर आमंत्रित किया था।

सबसे बड़ी बात दरियादिल हनी ने अपने बच्चों में कभी पिता या शबाना के प्रति दुर्भावना नहीं पनपने दी।

सारिका ने बाल कलाकार के रूप में फिल्में कीं। फिर किशोर अवस्था में उन्होंने सचिन के साथ अनेक फिल्में की। सारिका का सारा मेहनताना उनकी माता को दिया जाता था और आगे जाकर ऐसा भी दौर आया कि बिना किसी धन के सारिका कई दिनों तक अपनी कार में सोईं। उन दिनों वे दिन के समय साधना के घर चली जातीं, और साधना के लाख आग्रह के बाद भी रात में वे उनके घर नहीं रुकीं। ज्ञातव्य है कि उन दिनों वे साधना व उनके पति आर.के. नैयर की 'कत्ल' में काम कर रही थीं। उन्हीं दिनों कमल हासन व सारिका की प्रेम कहानी पनपी। विवाह हुआ और समय को पंख लग गए। सारिका की मां को शायद सोने के अंडे देने वाली पुत्री के जीवन से खारिज होने का दुःख हो परंतु गलती तो उन्होंने ही की थी। वे अंडे खातीं परंतु मुर्गी को दाना–पानी और थोड़ा प्यार तो देतीं।

आज हनी व सारिका ने अपने बच्चों को स्वतंत्रता दी है और उनके मन में सकारात्मकता का भाव भरा है। जो बात ये दो माताएं जान गईं, वो बात सरकारें और सत्ता अनदेखा करती हैं। संविधान में दी गई अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को नष्ट करने में उन्हें लगता है कि शासन–कला शायद इसी को कहते हैं।

पवित्र चित्त से सुनने में ही आनंद

अगर सुनना ठीक हुआ तो बोलना भी अच्छे से हो सकेगा। एक अच्छे वक्ता को अच्छा श्रोता भी होना चाहिए, क्योंकि जब हम कुछ सुन रहे होते हैं तो बहुत कुछ ऐसा चूक जाते हैं, जो महत्वपूर्ण है और बहुत बार बिना काम के शब्दों को अपने भीतर उतार लेते हैं। दोनों स्थितियों में ही नुकसान है। हम वही सुनना चाहते हैं, जो हमें पसंद है। तर्क से खारिज करना, छिद्रान्वेषण करना बुद्धि का स्वभाव है। अगर बुद्धि एकाग्र नहीं है तो सुने जा रहे शब्द बेकार में आहत होते रहेंगे। फिर मन को शून्य करिए, क्योंकि मन भागता बहुत है। बोलने वाले को लगता है कि मैं बोल रहा हूं। ये सुन रहे हैं, पर मन गायब हो चुका होता है। पति–पत्नी के बीच तो यह बहुत होता है। मां–बाप बच्चों से बात कर रहे हैं लेकिन बच्चों का मन उनको लेकर भाग चुका है, इसलिए मन को शून्य करना पड़ेगा। मन शून्य हुआ, आप वहीं रुके और जैसे ही आप रुककर किसी को सुनेंगे बस यहीं से योग आरंभ होता है, ध्यान घट सकता है। तीसरी बात चित्त को शुद्ध कर लें। जितने पवित्र चित्त से आप किसी की बात सुनेंगे उतना ही आप उसका आनंद ले सकेंगे, इसलिए अपने श्रवण को योग से जोड़ें।

अब क्रिया में कैसे उतरें। उसके भी तीन चरण हैं। पहला है भीतर लाना, दूसरा होगा शब्दों को रोकना और तीसरा चरण होगा कुछ शब्दों को तुरंत बाहर निकालना। पहले तो तैयार हो जाएं कि मन, बुद्धि, चित्त के साथ श्रवण करें, फिर करेंगे क्रिया।

भीतर आए शब्दों से खुद को जोड़ें

जब किसी से बातचीत कर रहे हों तो ऐसे सुनें जैसे कान से नहीं, रोम–रोम से सुन रहे हैं। जितने शब्द काम के हैं, उन्हें सांस के साथ भीतर रोक लीजिए। अभी जब हम शब्द सुनते हैं तो सांस अलग और शब्द अलग चल रहे होते हैं। आप सदैव ऐसा प्रयोग नहीं कर पाएंगे, पर कुछ समय और कुछ व्यक्तियों के साथ इस अभ्यास को करिए।

सामने आई ऋग्वेद की आश्वालयन संहिता

क्या है आश्वालयन संहिता? आश्वालयन संहिता के बारे में उन्होंने बताया कि यह ऋग्वेद की इक्कीस संहिताओं में से एक है। पैल, मांडुक जैसी कई अन्य संहिताएं आज भी लुप्त हैं। आश्वालयन संहिता में साकल ऋग्वेद से दो सौ ग्यारह मंत्र ज्यादा हैं। तीन ऐसे मंत्र हैं जो ऋग्वेद में हैं लेकिन आश्वालयन संहिता में नहीं हैं। प्रो. चौबे ने इसे दो खंडों में तैयार किया है। प्रत्येक खंड में पांच मंडल हैं। छः सौ तिहत्तर पृष्ठों का पहला खंड है तो दूसरा आठ सौ पृष्ठों का है। उन्होंने बताया कि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर की अलवर शाखा के पुस्तकालय में उन्हें 1991 में हस्तलिखित पांडुलिपि मिली। वहीं से फोटो स्टेट करवाकर लाए और उसका अध्ययन शुरू किया। ऐसी ही एक वैदिक पांडुलिपि लाहौर स्थित पंजाब विश्वविद्यालय में हैं। प्रोफेसर चौबे का कहना है कि यदि वह भारत आ जाय तो शोध में काफी सहायता मिल सकती है। इसे लाने में केन्द्र सरकार का सहयोग नहीं मिल रहा है।

मौन साधें तो शब्द प्रभावशाली होंगे

संवाद में एकाध शब्द जरुर ऐसा होना चाहिए, जो उस संवाद का प्राण हो, अर्थपूर्ण हो। किष्किंधा कांड में श्रीराम ने सुग्रीव के प्रति नाराजगी व्यक्त करते हुए लक्ष्मण से कहा था, 'जेंहि सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहं काली'। कल उस मूर्ख सुग्रीव को मारूँगा। कल शब्द को कहकर श्रीराम ने बड़े गहन अर्थ दे दिए, जिसको लक्ष्मण भी नहीं समझ पाए। उनका कहना था, मारना है तो आज ही मारिए, कल क्यों? लक्ष्मण युवा थे, आवेश में थे और श्रीराम के शब्दों में अद्भुत धैर्य छिपा है। उन्होंने कहा, संभव है कल तक सुग्रीव बदल जाए, सुधर जाए। तब लक्ष्मण का कहना था, ऐसा कैसे संभव है। श्रीराम कहते हैं, इसलिए संभव है कि सुग्रीव के साथ हनुमान है। मैंने हनुमान को निकट से देखा है। उनके पास जोश और होश दोनों हैं, इसलिए मैं कल तक की प्रतीक्षा कर रहा हूं। जिस समय ये दोनों भाई यहां बात कर

रहे थे उस समय हनुमान जी सुग्रीव को समझा रहे थे और सुग्रीव को अपनी भूल का एहसास हो रहा था। श्रीराम के संवाद में जो कल शब्द आया यह उनकी समझ के साथ प्रदर्शित हुआ। हमें श्रीराम से यह सीखना चाहिए कि बोले गए प्रत्येक संवाद में कुछ शब्द ऐसे होने चाहिए, जो गहन अर्थ लिए हों। चूंकि श्रीराम मौन की कला जानते थे, कब कितना बोलना है इसमें भी दक्ष थे, इसलिए रामकथा में वे कम ही बोले हैं।

चुप्पी और मौन में फर्क है। चुप्पी बाहर का मामला है, मौन भीतर घटता है। चुप्पी में हम दूसरों से बात करना बंद करते हैं और मौन में स्वयं से चर्चा समाप्त हो जाती है। मौन शब्दों की बोलने की एक सैद्धांतिक क्रिया है। जितना मौन साधेंगे, शब्द उतने ही प्रभावशाली हो जाएंगे। इस सिद्धांत पर विचार कीजिए।

❑❑❑

अध्याय – चार

हॉलीवुड और बॉलीवुड

1. द बीटल्स और हिंदी सिनेमा 245
2. यहूदी और पारसी लोगों का सिनेमा में योगदान 254
3. हॉलीवुड और ईसाइयत 262
4. उभरती हुई विश्व व्यवस्था और भारतीय सिनेमा 279
5. अमेरिका का नया 'अवतार' 283

द बीटल्स और हिंदी सिनेमा

ऐसे तो 1913 से ही पारंपरिक सनातनी मूल्यों पर फिल्में बनती रही थीं, लेकिन फिल्मों के आगमन के बाद आधुनिकता और परंपरा का टकराव धीरे–धीरे लोकप्रिय विषय बनने लगा। इन विषयों के प्रस्तुतीकरण में फिल्मी यूनिट की विचारधारा सर्वोपरि होती थी। खासकर निर्माता, निर्देशक, लेखक और गीतकार की विचारधारा निर्णयकारी होती थी।

1960 के दशक में हिंदी सिनेमा श्वेत–श्याम (ब्लैक एवं व्हाइट) से रंगीन भर नहीं हुआ, साथ ही साथ इसकी कहानी और पटकथा के कलेवर में भी परिवर्तन आया। 1966 आते–आते 'द बीटल्स', वैश्विक संगीत का एक जाना–पहचाना और फैशनेबुल नाम बन चुका था। जॉर्ज हैरिसन, जॉन लेनन ने लीवरपूल, इंग्लैंड में इसकी शुरुआत की थी। हॉलीवुड की नायिका मिया फैरो, जापानी अवांट–गार्दे, कलाकार योको ओनो, यूनानी मैजिक एलेक्स के साथ–साथ इस नई संगीत यात्रा में भारतीय सितार–वादक पंडित रविशंकर और आध्यात्मिक गुरु महर्षि महेश योगी इसकी केंद्रीय टीम में थे। पॉल मेकार्टनी, रिंगो स्टार, पैटी ब्वायड इसके अन्य सदस्य थे।

1958 में जॉर्ज हैरिसन, जॉन लेनन और पॉल मेकार्टनी ने मिलकर एक रॉक बैंड बनाया और लीवरपूल तथा हैम्बर्ग के क्लबों में अपने गीत गाने लगे। 1962 में रिंगो स्टार, जो ड्रम बजाते थे, उनके साथ आ गए। 1962 में इस ग्रुप का गीत 'लव मी डू' बहुत अधिक प्रसिद्ध हुआ। उनकी इस सफलता को 'बीटलमेनिया' नाम दिया गया। 1964 तक बीटल्स विश्वव्यापी स्टार बन चुके थे। 1964 में अमेरिका के पॉप संगीत में बीटल्स के रिकॉर्ड की सेल इतनी अधिक हो गई थी कि इसे ब्रिटिश आक्रमण कहा गया। 1964 में बीटल्स की पहली फिल्म (ए हार्ड डे'ज नाइट) प्रदर्शित हुई। द फैब फोर के अलावा ब्रायन एपस्टाईन (19 सितंबर 1934 – 27 अगस्त 1967) का बीटल्स की सफलता में बहुत योगदान है। पॉल मेकार्टनी, ब्रायन एपस्टाईन के बारे में कहते हैं, 'अगर कोई पांचवां बीटल था, तो वह ब्रायन था।'

1965 में बीटल्स का 'रबर सोल' एल्बम आया जिसके एक गीत 'नॉर्वेगियान वुड्स' में जॉर्ज हैरिसन ने सितार का प्रयोग किया था। इससे पश्चिम में सितार के प्रति लोगों की उत्सुकता बढ़ गई। रविशंकर को जॉर्ज हैरिसन का सितार को गिटार की तरह बजाना अच्छा नहीं लगा। जब जॉर्ज हैरिसन ने रविशंकर से सितार सीखने की इच्छा प्रकट की तो रविशंकर ने उसे बताया कि सितार और गिटार में बहुत अंतर है। सितार को पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के वाद्यों वायलिन और सल्लो की तरह माना जाना चाहिए। जॉर्ज हैरिसन रविशंकर के शिष्य बन गए।

मार्च 1965 से रविशंकर ने उसे सितार सिखाना शुरू किया। रविशंकर के अनुसार जॉर्ज को भारतीय शास्त्रीय संगीत सिखाने से पहले उसे भारतीय शास्त्रीय संगीत के तौर–तरीके से अवगत कराना जरूरी था। उदाहरण के लिए जॉर्ज कभी भी सितार को ऊपर से लांघ कर चला जाता था। पर जॉर्ज की लगन तथा सीखने की दृढ़ इच्छा को देखते हुए रविशंकर जॉर्ज को सितार सिखाने लगे। इसके कारण रविशंकर की बहुत आलोचना हुई, लेकिन रविशंकर ने इसकी परवाह नहीं की।

जॉर्ज हैरिसन ने बीबीसी को एक बातचीत में यह बताया था कि वह ईसाइयत से कहीं ज्यादा भारत के धर्मों में विश्वास रखते हैं। वह अपना गुरु रविशंकर को मानते थे जो अथक धैर्य एवं विनम्रतापूर्वक जॉर्ज को सितार बजाना सिखाते थे। वास्तव में रविशंकर अपने पांच घंटे के संगीत कार्यक्रम के दौरान ही पास बैठे शिष्यों को या प्रत्येक जिज्ञासु को सितार बजाने की आरंभिक शिक्षा दे देते थे। यानि किस प्रकार उँगली में सितार मिजराब पहनना है और फिर कैसे सितार बजाना है।

रविशंकर ने बीटल्स को कुछ शुरुआती सरगमें और धुनें सिखायीं और यह भी बताया कि सितार केवल मनोरंजन के लिए नहीं बजाया जाता है। गुरु ने अपने शिष्यों को बताया कि भारत में वैदिक काल से ही ध्यान और पूजा के लिए सितार बजाया जाता है। सितार की ध्वनि में श्रोताओं को आध्यात्मिक स्तर पर ले जाने की क्षमता है। जॉर्ज रविशंकर की बातों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ करता था। उसने एक साक्षात्कार में कहा, 'मैंने सोचा कि मैं अभी तुरंत अपना घर छोड़ दूँ और कोलकाता जाने का टिकट ले लूं।' मेरे मन में उस समय अपनी पत्नी को छोड़कर जाने का विचार भी आया था। तब तो मैंने यह भी सोच लिया था कि अपनी पत्नी को छोड़ दूंगा और अकेले कोलकाता चला जाऊंगा जहाँ रविशंकर रहा करते थे।

जॉर्ज का लालन–पालन ईसाई परिवार में हुआ था। बचपन से उसे यही सिखाया गया था कि क्या करना है, क्या नहीं, क्या सही है क्या गलत। किस ईश्वर में

विश्वास करना है। लेकिन जब वह भारत आया तो उसने पढ़ा कि किसी भी चीज पर तब तक विश्वास मत करो जब तक तुम उसे अनुभव नहीं कर लेते। यदि कहीं ईश्वर है तो तुम्हें अवश्य दिखाई देगा। यदि कोई आत्मा है तो अवश्य महसूस होगी। पाखंडी बनने से ज्यादा अच्छा है स्पष्टवादी नास्तिक बनना।

भारतीय शास्त्रीय संगीत से जुड़े लोग भी रविशंकर से बहुत नाराज थे क्योंकि रविशंकर रॉक संगीत बजाने वालों के साथ जुड़ गए थे। भारतीय योगी भी इसी कारण महेश योगी पर आरोप लगा रहे थे कि महेश योगी ने पवित्र मंत्रों को अर्थभ्रष्ट कर दिया है तथा ध्यान का उपयोग धन कमाने के लिए किया है। रविशंकर ने इसका उत्तर दिया कि उन्होंने शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाया। वह घंटों तक अपने शिष्यों को मेहनत से सितार सिखाते हैं ताकि हिप्पी सितार बजाने की गहराई को समझ सकें। वे हिप्पियों को सितार को गिटार की तरह बजाने की अनुमति नहीं देते।

बीटल्स का भारतीय सिनेमा और खासकर सिने संगीत पर प्रभाव 6 जुलाई 1966 से फरवरी 1968 के बीच निर्णयकारी रूप से पड़ चुका था। बीटल्स ग्रुप फरवरी 1968 में महर्षि महेश योगी के ऋषिकेश आश्रम में जब आया तो प्रभाव दो–तरफा पड़ा। भारतीय परिवेश में बीटल्स भी ढल गए और बीटल्स के प्रभाव में भारतीय सिने–संगीत भी बदलने लगा। इससे पूर्व बीटल्स ग्रुप महेश योगी से 1967 में मिल चुका था।

एल्विस प्रेसली, क्लिफ रिचर्ड एवं रिकी नेल्सन की अमेरिकी और यूरोपीय समाज में लोकप्रियता के कारण, रॉक एंड रॉल नृत्य शैली और संगीत, 1950 के दशक में ही भारतीय सिनेमा में भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुके थे। पश्चिमी समाज में बीटल्स का पहला गाना 1962 में लोकप्रिय हो गया था। 1963 में बीटल्स का पहला एल.पी. रिकॉर्ड भी नई पीढ़ी के बीच उत्तेजना जगा चुका था।

बीटल्स संगीत को उत्तर–आधुनिक यूरोप और अमेरिका (1968–69 से 1989) में हिप्पी संस्कृति, नव–अध्यात्मवाद (नए धार्मिक आंदोलन), मल्टीकल्चरल (बहुसांस्कृतिक) सभ्यता, उपभोक्तावादी संस्कृति, हिडोनिस्टिक (सुखवादी) संस्कृति, फ्युजन म्यूजिक (विभिन्न प्रकार के संगीत का विलयन) आदि से जोड़ा जाता है। इसे पूरी तरह लौकिक, मांसल सुखवाद, शारीरिक आनंद का नया आंदोलन माना जाता है जिसमें पारलौकिक अध्यात्म, मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग की कामना वाले पारंपरिक दृष्टिकोण की जगह इसी जीवन और इसी शरीर में आनंदातिरेक का अनुभव लेना परम लक्ष्य बन गया था।

राजनैतिक रूप से बीटल्स युग को सोवियत ब्लैक (मार्क्सवादी) और अमेरिकी खेमे (पूंजीवादी) के बीच शीत–युद्ध का चरमोत्कर्ष काल भी माना जाता है। फलस्वरूप मार्क्सवादियों ने बीटल्स ग्रुप को अमेरिकी जासूसी संस्था सी.आई.ए.से जोड़कर भारत में और अन्यत्र भी बदनाम करना चाहा तो दूसरी ओर महर्षि महेश योगी और पंडित रविशंकर के ग्रुप ने भी साफ–साफ आरोप लगाया कि उनके ऊपर आरोप लगाने वाले पत्रकारों, विद्वानों एवं कलाकारों को सोवियत संघ और चीन ने प्रायोजित कर रखा है। इन लोगों को भारत के पश्चिम में बढ़ते प्रभाव (महेश योगी और रविशंकर को बीटल्स के वैश्विक समुदाय में गुरु की हैसियत प्राप्त थी और है) से जलन एवं ईर्ष्या है और ये लोग भारत–चीन युद्ध (1962) को ही छद्म रूप से जारी रख रहे हैं।

असल में 1956 में बाबा साहब अंबेडकर ने बौद्ध धर्म अपना लिया। उनके साथ उनके हजारों समर्थकों ने भी बौद्ध धर्म की नागपुर में दीक्षा ले ली। 1959 में दलाई लामा ने तिब्बत पर चीनी आधिपत्य के बाद भारत में (धर्मशाला, दार्जिलिंग, सिक्किम, दिल्ली) अपने लाखों अनुयायियों के साथ शरण ले ली। आचार्य रजनीश ने भी 1957 के बाद अपना सार्वजनिक प्रवचन देना शुरू किया। 1960 के दशक में उनकी पुस्तक 'संभोग से समाधि तक' युवाओं में बहुत लोकप्रिय हो चुकी थी। उन्हें 'सेक्स गुरु' कहा जाने लगा था। 1970 में मुंबई प्रवास के दौरान उन्होंने हिंदी फिल्मों की दुनिया को गहरे से प्रभावित किया। 1974 में वे पुणे में अपना कम्युन बना चुके थे। 1981 में अमेरिका में भी आश्रम बना चुके थे। 1985 में वे अपनी जान बचाकर पुनः भारत लौटे। 19 जनवरी 1990 को इनकी मृत्यु हुई। करीब–करीब इसी समय पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य ने गायत्री परिवार की मथुरा और शांतिकुंज, हरिद्वार में नींव डाली। 1960 तक उन्होंने वैदिक साहित्य की युगानुकूल व्याख्या कर दी। 2 जून 1990 को उनकी मृत्यु तक गायत्री परिवार एक वैश्विक आंदोलन बन चुका था।

महेश योगी ने 1958 में अपनी वैश्विक यात्रा शुरू की। 1960 एवं 1970 के दशक में वे बीटल्स आंदोलन के गुरु के रूप में महिमामंडित थे। महर्षि महेश योगी की मृत्यु 5 फरवरी 2008 को हुई। महेश योगी की प्रगति बहुत तेजी से हुई। वे ब्रह्मानंद सरस्वती के शिष्य थे। ब्रह्मानंद सरस्वती ने हिमालय में रहकर तपस्या की थी। वे शंकराचार्य की चार पीठों में से एक ज्योतिर्मठ के उत्तराधिकारी थे।

महेश योगी ने फिजिक्स विषय लेकर ग्रेजुएशन किया था। उनका कहना था कि आधुनिक विज्ञान और हिंदू धर्म में कोई विरोध नहीं है। हिंदू धर्म और दर्शन की

स्थापनाओं को आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से बल मिला है। महेश योगी ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति बिना कोई कष्ट उठाए अलौकिक आनंद प्राप्त कर सकता है। उन्होंने अपने यहां आने वाले प्रत्येक जिज्ञासु को एक निजी मंत्र दिया। वे अपने समय के मौलिक और अपारंपरिक आध्यात्मिक गुरु थे। महेश योगी की ख्याति से ऋषिकेश के तथा भारत के पुराने योगी बेचैन और क्रोधित हो गए। उनके आश्रम बहुत पुराने थे लेकिन वहां कोई नहीं जा रहा था, जो भी आता वह महेश योगी के आश्रम में जाने के लिए आता था।

सन् 1968 में बीटल्स भारत भ्रमण पर आए। वे यहाँ उस वस्तु को खोज रहे थे जो वहाँ उन्हें अपनी ख्याति और अपार धन–संपत्ति के बावजूद नहीं मिली थी। वे आंतरिक शांति पाने यहाँ आए थे। यहां उनकी रचनात्मकता जाग्रत हुई और उन्होंने भीतरी बदलाव को महसूस किया। केवल सात सप्ताह के समय में आश्रम में रहकर उन्होंने उनतालीस नए गीतों की रचना की।

1957 से महेश योगी ने ट्रान्सेंडेंटल मेडिटेशन की विधि सिखानी शुरू की। यह विधि इतनी सरल थी कि सब लोग इसे सीखने लगे। पूरे विश्व में महेश योगी के ट्रान्सेंडेंटल मेडिटेशन के शिविर लगने लगे। महर्षि के अनुसार मेडिटेशन को आसानी से सीखा जा सकता है। वह हर व्यक्ति के लिए अलग–अलग मंत्र का इस्तेमाल करते थे जो उन्हें एकांत में दिया जाता था। हर शिष्य से यह उम्मीद की जाती थी कि वह दिए गए मंत्र का विधिवत तरीके से जाप करे। कई लोग महर्षि की इस बात से सहमत नहीं थे कि ध्यान बिना किसी कष्ट के मिल सकता है। शुरूआती दिनों में जब वे अमेरिका में रह कर ट्रान्सेंडेंटल मेडिटेशन सिखा रहे थे उस समय उन्हें यह अनुभव हुआ कि अमेरिका में उसी चीज का मूल्य है जो भारी कीमत देकर खरीदी जाती है। 1960 में हिप्पी आंदोलन के अनेक सदस्य महेश योगी के शिष्य बन गए। इससे महेश योगी की ख्याति बहुत बढ़ गई। कुछ लोगों ने महेश योगी के विरुद्ध भी प्रचार किया।

अगस्त 1967 में महर्षि की बीटल्स से पहली बार मुलाकात हुई। तब तक महर्षि विश्व प्रसिद्ध हो चुके थे। महर्षि के ट्रान्सेंडेंटल मेडिटेशन करने आने वाले लोगों के लिए, लंदन के हिल्टन होटल के लॉन को ध्यानकक्ष में बदल दिया गया था। 1966 के अंत में बॉम्बे में छह सप्ताह की छुट्टी के दौरान जॉर्ज हैरिसन पूर्वी दर्शन में रुचि लेने लगे थे। पैटी भी लंदन में ट्रान्सेंडेंटल मेडिटेशन के महर्षि के एक लेक्चर में शामिल हुई थी और बाद में मंत्र भी लिया था। पैटी ने ही बीटल्स के अन्य सदस्यों को लंदन के हिल्टन होटल में हो रहे लेक्चर में आने के लिए प्रोत्साहित किया। महर्षि के लेक्चर ने बीटल्स को बहुत प्रभावित किया। बीटल्स के लिए महर्षि के साथ नब्बे मिनट की

अलग से मीटिंग करायी गयी। योगी के शब्दों ने उन्हें और अधिक सीखने के लिए उत्सुक किया और बीटल्स अगले दिन महर्षि के साथ, दस दिवसीय ट्रान्सेंडेंटल मेडिटेशन शृंखला में भाग लेने के लिए, उत्तर वेल्स के बांगोर की यात्रा पर निकल गए।

महर्षि ने बीटल्स को कहा कि उनके ट्रान्सेंडेंटल मेडिटेशन से बीटल्स बिना ड्रग्स लिए अनंत शांति का अनुभव प्राप्त कर सकेंगे। जॉन लेनन महर्षि से बहुत प्रभावित हो गया। जॉन को लगा उसे सब प्रश्नों का उत्तर मिल गया है। महर्षि ने उन्हें समझाया कि वे अपने महत्व को समझें तथा अपनी ख्याति का सदुपयोग विश्व के सांस्कृतिक परिवर्तन हेतु करें। बांगोर में बीटल्स ने ट्रान्सेंडेंटल मेडिटेशन का मंत्र लिया और प्रेस को इसकी जानकारी दी। यहीं उन्होंने ड्रग्स छोड़ने की घोषणा की। यह एक बहुत बड़ी घटना थी, क्योंकि यही बीटल्स 1960 में मारिजुआना ड्रग्स से प्रतिबन्ध हटाने की मांग कर रहे थे। गुरुमंत्र लेने के बाद उन्होंने ड्रग्स छोड़ देने का आवाहन किया।

जब वे बांगोर में ही थे तो उन्हें सूचना मिली कि उनके मैनेजर ब्रायन एपस्टाईन का निधन हो गया है। वह 1961 से ही उनके साथ था। बीटल्स के लिए यह बहुत दुखद था। ब्रायन एपस्टाईन ने ही उन्हें क्लब गायक से स्टार बना दिया था। वह बीटल्स का मित्र, मैनेजर, मार्गदर्शक सब कुछ था। ऐसे समय में एपस्टाईन की जगह बीटल्स में महर्षि ने ले ली। बीटल्स का मनोबल उन्होंने कम होने नहीं दिया। वे महर्षि के अनुरोध पर कुछ दिन ऋषिकेश आ कर रहे। यहां उन्हें शांति मिली और यह सोचने का समय भी कि एपस्टाईन के जाने के बाद काम कैसे जारी रखना है ? 1960 के बाद से ही ड्रग्स का व्यापार बहुत फल–फूल रहा था। तब यह लोग ड्रग्स का समर्थन करते थे। महर्षि के साथ अब बीटल्स, रोलिंग स्टोन, कई रॉक बैंड तथा हॉलीवुड की हस्तियाँ आ गई थीं। सब महेश योगी के शिष्य बन गए थे और ड्रग्स के विरोध में बोलने लगे थे। इससे ड्रग्स उद्योग को बहुत धक्का लगा। कुछ दिन बाद महेश योगी के विरुद्ध अखबारों में प्रचार शुरू हो गया। उन पर व्यापारी होने और निजी लाभ कमाने, संपत्ति जमा करने के आरोप लगने लगे। महेश योगी के बचाव में जॉन लेनन ने कहा, ''क्या होगा अगर वह व्यावसायिक है? हम दुनिया में सबसे अधिक व्यावसायिक समूह हैं।''

इनके अतिरिक्त स्वामीनारायण संप्रदाय (गुजराती पटेलों के बीच खासकर बहुत लोकप्रिय), इस्कॉन (बंगाली वैष्णव आचार्य प्रभुपाद के अनुयायी), परमहंस योगानंद (क्रियायोग के आचार्य), श्री अरविंदो (पांडिचेरी के योग गुरु एवं दार्शनिक), जे. कृष्णमूर्ति जैसे भारतीय धर्मगुरुओं का प्रभाव भी बढ़ रहा था। 1964 में विश्व हिंदू परिषद की भी स्थापना हुई। भारतीय मूल के यूरोपीय एवं अमेरिकी डायसपोरा (देश

के बाहर रहने वाले अप्रवासी भारतवासियों का समूह) का आकार भी 1960 एवं 1970 के दशक में काफी बड़ा हो गया था।

बीटल्स आंदोलन को उपरोक्त कारणों से एक प्रकार के युग निर्माता की हैसियत प्राप्त हो गई। संयोग से 1967 के विधानसभा चुनावों में पूरे उत्तर भारत और तमिलनाडु में भी गांधी–नेहरू के विचारों से संचालित कांग्रेस पार्टी की शर्मनाक हार हुई और फ्रांस की तरह भारत के विश्वविद्यालयों में भी छात्र–आंदोलनों की बाढ़ आ गई।

ऐसी परिस्थिति में भारत में भी गुणात्मक रूप से सांस्कृतिक परिवर्तन होना स्वाभाविक था। भारतीय खासकर हिंदुस्तानी सिनेमा में यह परिवर्तन बहुत साफ–साफ देखा जा सकता है।

बीटल्स आंदोलन केवल एक युगांतरकारी संगीत–गीत आंदोलन भर नहीं था। यह यूरोपीय ज्ञानोदय और आधुनिकता से उकताए, उचटे और अतृप्त युवाओं का क्रांतिकारी आंदोलन था। ये लोग ट्रांस म्यूजिक (अध्यात्म और सेक्स, दिमागी चेतना को परिवर्तित कर सकने वाले साइकेडेलिक ड्रग 'एल.एस.डी.,अफीम, हशीश आदि' का प्रयोग करके थक चुके थे, तभी वे 1967 के आसपास महर्षि महेश योगी के ट्रांसेंडेंटल मेडिटेशन–टी.एम.और मैहर घराने के बाबा अलाउद्दीन खान के दामाद और शिष्य पंडित रविशंकर के भारतीय संगीत के प्रभाव में आये। रविशंकर तब तक कई फ़िल्मों में संगीत दे चुके थे और पश्चिमी देशों में भारत के शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय करने के लिए अपने साले उस्ताद अली अकबर खान की भांति ही प्रयोग कर रहे थे। दोनों की गतिविधि पूरक लेकिन समानांतर थी। अली अकबर ज्यादा शास्त्रीय थे, जबकि रविशंकर ज्यादा प्रयोगधर्मी। महेश योगी और रविशंकर के प्रभाव में बीटल्स ग्रुप वैकल्पिक जीवन पद्धति का सबसे रचनात्मक और सबसे उर्वर स्रोत बन गया। इस जीवन पद्धति को हिप्पी या उत्तर आधुनिक जीवन पद्धति कहा गया।

फिल्म 'जानवर'(1965) का गीत 'देखो अब तो' (संगीत शंकर जयकिशन / शम्मी कपूर) को बीटल्स से प्रभावित पहला फिल्मी गीत माना जाता है। एल्विस प्रिसले का प्रभाव शम्मी कपूर पर 1957 से देखा जा रहा था। लेकिन बीटल्स का प्रभाव इसी फिल्मी गीत में पहली बार स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया। एल्विस रॉक एंड रॉल नामक फ्युजन संगीत के सितारे थे।

दूसरा उदाहरण फिल्म 'अंदाज'(1971) के गीत 'दिल उसे दो जो जान दे दे (संगीत–शंकर जयकिशन/शम्मी कपूर) का दिया जाता है।

तीसरा उदाहरण 'कल आज और कल' (1971) के गीत 'हम जब होंगे साठ साल के' (संगीत–शंकर जयकिशन) का दिया जा सकता है। इसके संगीत ही नहीं गीत पर भी बीटल्स बैंड का प्रभाव है।

चौथा उदाहरण फिल्म 'ईमान'(1974) का गीत 'तुमने ये ठीक सोचा है' (संगीत– आर. डी. बर्मन) का दिया जाता है। आर. डी. बर्मन ने कभी नहीं छिपाया कि वह शुरू से बीटल्स फैन रहे हैं। परंतु जिस तरह शंकर जयकिशन के बीटल्स से प्रभावित फिल्म संगीत की 'नकल' की चर्चा की जाती है, वह आर. डी. बर्मन के संगीत में पहले प्रेरणा के स्तर पर आया। ('तीसरी मंजिल' (1966) के गाने 'सोना रे सोना' और 'कारवां' (1971) के गीत 'पिया तू अब तो आजा') में।

पांचवें नंबर पर राजकपूर अभिनीत 1967 की फिल्म 'अराउंड दि वर्ल्ड' के गाने 'जाने भी दे सनम मुझे' (संगीत–शंकर जयकिशन) है। इसे भी बीटल्स के 1963 के एक एल्बम से लिया गया था।

छठा उदाहरण 'जानम' (1992) फिल्म के गीत 'पागलपन छा गया' (संगीत– अनु मलिक) का दिया जाता है। इसे आसानी से बीटल्स संगीत की नकल कहा जा सकता है।

बीटल्स का प्रभाव भारत की तुलना में अमेरिका पर ज्यादा पड़ा। भारत में बीटल्स को प्रभावित करने वाले पंडित रविशंकर और महर्षि महेश योगी का प्रभाव तो पहले से ही था। परंतु मोटे तौर पर बीटल्स के प्रभाव की तार्किक परिणति 'हरे रामा हरे कृष्णा'(1971), 'जय संतोषी मां' (1975) के माध्यम से स्थापित हुई। इसके प्रभाव की अंतिम परिणति 'क्रांति' (1981) तक जाती है।

बीटल्स का प्रभाव रोकने के लिए भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने इंदिरा गांधी पर दबाव डाल कर भारत में अमेरिकी/विदेशी फिल्मों के आयात और प्रदर्शन पर भारी टैक्स लगवा दिया। फलस्वरूप भारत में इप्टा और एन.एफ.डी.सी. के संयुक्त प्रयास से वामपंथी रुझान के छोटे बजट की फिल्मों का निर्माण, वितरण और प्रदर्शन सरल हो गया। भारत की आम जनता ने तो इस तरह की फॉर्मूला फिल्मों, जिसे समानांतर या नया सिनेमा कहा गया, में रुचि नहीं दिखलायी। परंतु जो लोग सिनेमा हॉल में अंग्रेजी विदेशी फिल्म देखने के आदी थे उनको इस 'नए' या 'समानांतर' सिनेमा की उपलब्धता के कारण एक ठीक–ठाक विकल्प मिल गया।

1990 से भारत में विदेशी फिल्मों का प्रदर्शन एक बार फिर शुरू हुआ। फलस्वरूप 'समानांतर' या नये सिनेमा को दर्शक मिलना फिर बंद हो गये।

फलस्वरूप इस तरह की फिल्म बनाने वालों में जो वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध फिल्मकार थे, उन्होंने फिल्म बनाने की जगह अन्य काम करके अपनी जीविका अर्जित की। परंतु अन्य लोगों ने बाजार के दबाव में खुद को बदला और मुख्यधारा के फिल्मकार बन गए और छोटे बजट की जगह मध्यम बजट की फिल्में बनाने लगे।

1960 के हॉलीवुड में निम्नलिखित बड़ी घटनाओं को अनदेखा नहीं किया जा सकताः

1. बीटल्स ग्रुप का प्रभाव और 2. स्पेस साइंस फिक्शन का आगमन। जहां तक बीटल्स के प्रभाव की बात है 1962 से 1966 तक खासकर बीटल्स का उदय एक युगांतरकारी घटना थी। ठीक उसी तरह 1968 में बनी '2001–ए स्पेस ओडिसी' को भी एक महान फिल्म, एक प्रेरणादायी क्लासिक माना गया है। स्टानली कुब्रिक निर्देशित और आर्थर सी. क्लार्क द्वारा लिखित इस प्रभावी फिल्म ने जॉर्ज लुकाज, स्टीवन स्पीलबर्ग, रिडले स्कौट तथा जेम्स कैमरून जैसे विज्ञान फंतासी बनाने वाले फिल्मकारों के बीच एक प्रेरणादायी कल्ट फिल्म का दर्जा हासिल किया।

बीटल्स ग्रुप का जन्म अगर 1962 में माना जाता है, तो '2001–ए स्पेस ओडिसी' बनाने के लिए कुब्रिक और क्लार्क की पहली मीटिंग न्यूयॉर्क शहर में 1964 में हुई। 1965–1986 के बीच इसका निर्माण ग्रेट ब्रिटेन में हुआ। जबकि बीटल्स का जन्म ग्रेट ब्रिटेन के लीवरपूल शहर में 1962 में हुआ और यह 1966 में अमेरिका और 1968 में भारत आया।

1960 की तीसरी बड़ी घटना 27 मार्च 1964 के शाम 5:36 बजे 9.2 की तीव्रता से आया भूकंप थी, इसका भी दूरगामी प्रभाव पड़ा। इसे उत्तरी अमेरिका के इतिहास का अब तक का सबसे भयानक भूकंप माना जाता है। तब इसका प्रभाव 9/11, 2001 से बहुत ज्यादा डरावना था। 9/11, 2001 मानवनिर्मित त्रासदी थी। 1964 का भूकंप प्रकृति का प्रतिशोध था। भारत में 1936 के बिहार में आए भूकंप से भी, अलास्का के 1964 वाले भूकंप का ज्यादा दूरगामी प्रभाव पड़ा। इस भूकंप ने अमेरिकी और यूरोपीय समाज के विकास और विज्ञान–निर्मित प्रगति की विचारधारा की चूलें हिला दी थीं।

❑❑❑

यहूदी और पारसी लोगों का सिनेमा में योगदान

भारतीय सिनेमा के विस्तार में पारसियों की वही भूमिका मानी जाती है जो अमेरिकी सिनेमा में यहूदियों की। भारत में पारसी एवं अमेरिका में यहूदी दोनों समुदाय बाहर से आकर बसे हुए लोग हैं। भारत में पारसी ईरान से 6वीं शताब्दी में आए क्योंकि उन्हें वहां मुस्लिम उत्पीड़न झेलना पड़ रहा था। उन्हें जबरदस्ती धर्म परिवर्तन करने पर मजबूर किया जा रहा था। जब पारसी गुजरात आए तो वहां के महाराज ने उन्हें स्वतंत्रता में रहकर अपनी संस्कृति एवं धर्म का पालन करते हुए जीवनयापन करने का मौका दिया। गुजरात के कोस्टल क्षेत्र, जो कि बॉम्बे से नजदीक था वहां उन्हें बसाया गया। पारसी समुदाय को विलुप्त होने से बचा लिया गया इसी वजह से उनका इस देश के प्रति जो प्रेम–निष्ठा है उसे हम उनकी फिल्मों में देख सकते हैं।

बिल्कुल वही घटना यहूदियों के साथ यूरोप में हुई। यहूदियों को भी मुसलमान और ईसाई धर्म का विरोध झेलना पड़ रहा था। कुछ ईसाइयों का मानना है कि ईसा मसीह के निधन के जिम्मेदार यहूदी हैं और वे यहूदियों को अपना दुश्मन मानते हैं। जेरूसलम और फ़लीस्तीन की लड़ाई भी पुरानी है। अमेरिका में यहूदी बहुत सारे देशों से आए हुए हैं। अमेरिका मूलतः इंडियन आदि वासियों का देश रहा है। उपनिवेशवाद के बाद यहां यूरोपीय ईसाई आए और बसना शुरू कर दिया। यहूदी भी उपनिवेश के दौरान ही आए। दूसरे विश्व युद्ध से पहले हिटलर की तानाशाह सरकार सभी यहूदियों को या तो मार रही थी या बंदी बनाकर फैक्ट्री में काम करवा रही थी। विश्व युद्ध खत्म होने के बाद वे लोग भी अमेरिका पलायन कर गए। कहा जाता है कि अगर अमेरिकन यहूदियों ने शुरू से यूरोपीय यहूदियों की मदद की होती तो बहुत सारे यहूदियों को बचाया जा सकता था।

पारसी और यहूदी सभी प्रकार के व्यापार में बहुत माहिर माने जाते हैं। उनके पास व्यापार करने की कला भी है और संस्कृति भी। पारसी और यहूदी व्यापारी

रंगमंच (थिएटर) के व्यापार में थे और इससे बहुत फायदा भी कमा रहे थे। सिनेमा के आने के बाद वे सभी व्यापारी जो रंगमंच में थे उन्होंने सिनेमा को भी अपनाया। पारसी और यहूदी दोनों समुदाय बैंक के व्यापार में भी बहुत आगे रहे हैं। पारसियों ने मुंबई चेंबर ऑफ कॉमर्स की स्थापना की। दुनिया के बड़े–बड़े बैंक (गोल्डमैन, लेहमैन, लेज़ड्र्स (फ्रेंच–अमेरिकन), रोथस्चिल्ड्स (जर्मन), द वारबर्ग (ब्रिटिश), स्टर्न (फ्रेंच), द वेंडल्स (फ्रेंच), द वेनबर्ग्स (अमेरिकी) के मालिक यहूदी हुआ करते थे। बहुत कम (1.73%) जनसंख्या होने के बाद भी यहूदियों ने अपना प्रभुत्व अमेरिका में बनाए रखा। अमेरिका एक प्रवासी राष्ट्र है, जहां 2012 के सर्वे के मुताबिक 47% जनसंख्या बाहर से आए लोगों की है। लेकिन यहां भी 73.7% जनसंख्या ईसाई धर्म की है। भारत में यही कुछ हाल पारसी समुदाय का है। 1951 की जनगणना में 0.13% तथा 2018 में इनकी जनसंख्या 69,000 रह गयी है। लेकिन व्यवसाय के प्रत्येक क्षेत्र में इनका प्रभाव जबरदस्त है।

दोनों देशों में सिनेमा को बढ़ाने में इन दोनों समुदायों का बहुत योगदान है। सिनेमा एक नयी कला है जिसकी शुरुआत 1895 में फिल्म कैमरे बनने के साथ हुई। शुरुआती दिनों में यथार्थ को फिल्माया और फिर रंगमंच को आधार बनाकर कहानी कहनी शुरू कर दी।

अमेरिका में जब 1900 में फिल्में बननी शुरू हुईं तो प्रवासी यहूदी और अफ्रीकन–अमेरिकन को एक मजाक के पात्र की तरह उस समय के ईसाई फिल्मकारों ने इस्तेमाल किया। आम अमेरिकी नागरिकों के लिए यह अच्छा मनोरंजन का साधन बन गया। फिल्म व्यवसाय में यहूदी प्रारंभिक चरण में सिर्फ फिल्म प्रदर्शक के रूप में काम करते थे। पर जो फिल्में वो अपने दर्शक को दिखा रहे थे वह उनका मज़ाक उड़ाती प्रतीत होती थीं। तब यहूदी थिएटर के मालिकों ने फिल्मों को फ्रांस से आयात करना शुरू कर दिया। लेकिन जितनी फिल्मों की माँग थी उसे फ्रांस से आयात करके पूरा नहीं किया जा सकता था। तब यहूदी लोगों ने फिल्म बनाने के व्यवसाय में प्रवेश किया जिसका किसी भी वाइट–ईसाई अमेरिकन ने स्वागत नहीं किया। नील गेबलर (लेखक) अपनी किताब 'उनकी खुद की एक साम्राज्य: कैसे यहूदियों ने हॉलीवुड का आविष्कार किया' में लिखते हैं कि जैसे ही यहूदियों ने अपनी फिल्म बनानी शुरू की, थॉमस एडिसन ने उनके खिलाफ कोर्ट में केस कर दिया। मोशन पिक्चर कैमरा और प्रोजेक्टर का आविष्कार करने के तुरंत बाद, थॉमस एडिसन ने अपनी फिल्म निर्माण और वितरण कंपनी बनाई। 1908 में यहूदियों के खिलाफ, एडिसन ने 'मोशन पिक्चर पेटेंट कंपनी' बनाने के लिए नौ

अन्य फिल्म कंपनियों के साथ मिलकर न्यास बनाया, जिसका काम अमेरिका में बनने वाली सभी फिल्मों के निर्माण, वितरण पर नियंत्रण रखना था। एडिसन और ट्रस्ट ने केवल ऐसी फिल्में बनाने का वादा किया, जो संपूर्ण ईसाई और ''अमेरिकी'' मूल्यों को बढ़ावा देती हों। कोर्ट का फैसला यहूदियों के पक्ष में आया। फिर एडिसन और ट्रस्ट अपने फॉर्स से यहूदियों के फिल्म निर्माण कार्य में बाधा डालने लगे।

पर यहूदी फिल्मकार गोरिल्ला शूटिंग के जरिए फिल्में बनाते रहे। इनके द्वारा बनायी गयी फिल्में आम लोगों में ज्यादा लोकप्रिय होने लगीं। इनकी फिल्में ज्यादा कामुक थीं, अधिक हिंसक और एडिसन और ट्रस्ट के द्वारा बनायी गयी फिल्मों की तुलना में कहीं अधिक मनोरंजक थीं। यहीं से यहूदियों का वर्चस्व अमेरिकन सिनेमा में बनना शुरू हो गया।

1912 में एडिसन और उनके गुंडों से बचने के लिए कार्ल लेमेल यूनिवर्सल स्टूडियोज के संस्थापक अन्य यहूदी फिल्म कारोबारियों के साथ अमेरिका के बिल्कुल पश्चिम के शहर कैलिफ़ोर्निया चले गए जो कि अन्य विकसित शहर जैसे कि न्यूयॉर्क, शिकागो, बोस्टन से बहुत पीछे था। यहाँ परिष्कृत ईसाई भी नहीं थे जो इन्हें नीचा दिखा पाएँ। यहाँ आकर उन्होंने महसूस किया कि वे यहाँ अपना साम्राज्य बना सकते हैं। लॉस एंजिल्स के कई फायदे थे, बड़े स्टूडियो के लिए सस्ती भूमि, एक छोटी ड्राइव के भीतर शूटिंग के लिए बाहरी सेटिंग्स – पहाड़, रेगिस्तान, जंगल, समुद्र एवं ऐसी जलवायु जो पूरे साल शूटिंग के लिए साबित हो सकती थी।

कार्ल लेमेल, जो कि जर्मन मूल के थे, ने 1912 में पहला स्टूडियो खोला। 1915 तक उन्होंने यूनिवर्सल सिटी नाम का कैलिफ़ोर्निया में एक फिल्म शहर बनाया, जहाँ 30,000 कर्मचारी 300 विभागों में कार्यरत थे। यह पूरे विश्व की सबसे पहली फिल्म सिटी बनी। कार्ल लेमेल के नक्शेकदम पर चलते हुए, लुई बी. मेयर (1924 में मेट्रो–गोल्डविन–मेयर स्टूडियो (एम.जी.एम.) की स्थापना), हैरी वार्नर (1923 में वार्नर ब्रदर्स की स्थापना), डैरिल एफ. जाणुक (20वीं सेंचुरी फॉक्स), जेसी एल.लास्की (1912 में पैरामाउंट पिक्चर्स की स्थापना), सैमुअल बिस्चॉफ (स्वतंत्र फिल्म के सबसे बड़े निर्माता) ने कैलिफ़ोर्निया में अपने–अपने स्टूडियो बनाये।

वार्नर ब्रदर्स पिक्चर्स के संस्थापक हैरी वार्नर सिनेमा के इतिहास में सबसे प्रभावशाली हस्तियों में से एक थे जिनका जन्म गरीब यहूदी अप्रवासी के घर हुआ। उन्होंने अपनी कंपनी वार्नर ब्रदर्स को महामंदी (द ग्रेट डिप्रेशन–1929–1940)

और द्वितीय विश्व युद्ध जैसी त्रासदी से सफलतापूर्वक निकाल लिया और फिल्म उद्योग की सबसे बड़ी कंपनी बना दिया। फिल्म निर्माण को प्रभावित कर सकने वाली नई तकनीक पर उनकी गहरी नजर होती थी। न केवल व्यापार में अपनी सफलता के लिए, बल्कि उसकी देशभक्ति, नैतिकता और धार्मिक भेदभाव के प्रति संवेदनशीलता के लिए उन्हें याद किया जाता है। आरंभ में, उन्होंने बैंकरों और प्रतिद्वंद्वी स्टूडियो से यहूदी–विरोधी लड़ाई लड़ी। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अपना समर्थन दिखाने के लिए, वार्नर ब्रदर्स पिक्चर्स ने युद्ध फिल्में बनायीं।

हॉलीवुड में सिर्फ निर्माता ही नहीं, फिल्म निर्माण से जुड़े हर विभाग पर यहूदियों की पकड़ है। यहूदी निर्देशकों में सिडनी लुमेट, डैरेन एरोनोफस्की, वुडी एलेन (एनी हॉल), स्टीवन स्पीलबर्ग (शिंडलर्स लिस्ट, सेविंग प्राइवेट रेयान), बिली वाइल्डर (द अपार्टमेंट), स्टैनले क्यूब्रिक जैसे व्यक्तित्व हॉलीवुड में रह कर काम करते रहे हैं।

एडम सैंडलर, हैरिसन फोर्ड, डस्टिन हॉफमैन, डैनियल डे–लुईस, जीन वाइल्डर, पॉल न्यूमैन, रॉबर्ट डाउनी जूनियर, जच ब्रफ, स्कारलेट जोहानसन जैसे अनगिनत अभिनेताओं और अभिनेत्रियों ने हॉलीवुड में अपनी पकड़ बनायी हैं। हैरिसन फोर्ड की पांच फिल्में अमेरिका के बॉक्स ऑफिस पर अब तक की सबसे ज्यादा कमाई करने वाली 30 फिल्मों में से हैं। उन्होंने स्टार वार्स फिल्म शृंखला में हान सोलो और इंडियाना जोन्स फिल्म शृंखला के मुख्य चरित्र के रूप में अपनी अभिनय भूमिकाओं के लिए दुनिया भर में प्रसिद्धि प्राप्त की।

यहूदियों का प्रभाव हॉलीवुड पर इतना ज्यादा था कि 1964 के एक सर्वेक्षण के अनुसार 50 प्रतिशत अमेरिकन यह सोचते थे कि पूरा हॉलीवुड यहूदी चलाते हैं। पर हाल के एक सर्वेक्षण में ऐसा सोचने वालों की संख्या घट कर 22 प्रतिशत हो गयी है। क्या ऐसा सही है क्योंकि आज भी बड़े स्टूडियो के मुख्य कार्यकारी यहूदी ही हैं। न्यूज़ कॉर्प. के अध्यक्ष पीटर चेर्निन (यहूदी), पारामाउंट पिक्चर्स के अध्यक्ष ब्रैड ग्रे (यहूदी), वॉल्ट डिज़नी कंपनी के मुख्य कार्यकारी रॉबर्ट इगर (यहूदी), सोनी पिक्चर्स के अध्यक्ष माइकल लिनटन (डच यहूदी), वार्नर ब्रदर्स के अध्यक्ष बैरी मेयर (यहूदी), सीबीएस कॉर्प के मुख्य कार्यकारी लेस्ली मूनवेस (यहूदी), एमजीएम के अध्यक्ष हैरी स्लोन (यहूदी) और एनबीसी यूनिवर्सल के मुख्य कार्यकारी जेफ जुकर (यहूदी)। पर इसे कोई नहीं नकार सकता कि जो प्रभुत्व यहूदियों का हॉलीवुड के शुरुआत में था आज वह नहीं रह गया है।

2 मार्च, 1958 को हैरी कोहन, जो कोलंबिया पिक्चर्स कॉर्पोरेशन के सह–संस्थापक, अध्यक्ष और उत्पादन निदेशक थे, की मृत्यु ने हॉलीवुड में एक–आदमी

द्वारा स्टूडियो शासन की परम्परा के अंत का संकेत दिया था। हालाँकि एडोल्फ ज़ुकोर 1967 तक और सैमुअल गोल्डविन 1974 तक जीवित रहे, लेकिन उनका प्रभाव उतना नहीं रहा जितना शुरुआती दिनों में था। स्टूडियो में पुराने मोगल्स की जगह लेने वाले कई लोग यहूदी भी थे, लेकिन वे अमेरिका में जन्मे यहूदी थे और उनके विचार अप्रवासी पूर्वाधिकारियों की तुलना में अलग थे। जहाँ शुरुआती मोगल्स यूरोप से आये अनपढ़ थे वहीं अमेरिका में जन्मे नए यहूदी बड़े कॉलेज में पढ़े–लिखे ग्रेजुएट थे। नयी पीढ़ी के यहूदी शारीरिक और मनौवैज्ञानिक रूप से पूर्वी यूरोप के छोटे गाँव से आये यहूदियों के मुकाबले कमजोर थे।

सिनेमा समाज को सांस्कृतिक रूप से कैसे प्रभावित कर सकता है, इसका सबसे बड़ा उदाहरण यहूदियों के द्वारा निर्मित किया गया आज का अमेरिका है। आज हम जिस अमेरिका को जानते हैं– अमेरिकन ड्रीम्स, लैंड ऑफ़ ऑपोर्चुनिटी एंड फ्रीडम, ये सब 1915 तक की अमेरिका का हिस्सा नहीं था। 1915 में बनी फिल्म एक राष्ट्र का जन्म जो कि बहुत रेसिस्ट फिल्म मानी जाती है पर उसकी सफलता इतिहास में दर्ज हो गयी।

किसी फ़िल्म की सफलता से हम उस काल खंड की आम जनता के रुझान को समझ सकते हैं। 1915 की फिल्म एक राष्ट्र का जन्म उस अमेरिका की सच्चाई थी जिसे यहूदियों ने पिछले 100 वर्षों में धीरे–धीरे बदल दिया। यहूदियों ने सिनेमा में एक आदर्श अमेरिका दिखाना शुरू किया जो कि असली अमेरिका से बहुत अलग था। दूसरे और तीसरे दशक तक सिनेमा हॉल लोगों का नया मंदिर बन चुका था। 75% से ज्यादा अमेरिकन कम से कम सप्ताह में एक बार सिनेमा हॉल जा कर फिल्म देखते थे। लोगों ने अमेरिका के इतिहास में किसी भी चीज के लिए ऐसा पागलपन नहीं दिखाया था जो सिनेमा के लिए दिखाया। अभिनेता और अभिनेत्री लोगों के नए देवता और देवी बन गए। इस तरह की फिल्म देखने जाना किसी चर्च में जाने से कम नहीं था। जो काम यहूदी और ईसाई पादरी 2000 साल में नहीं कर पाये वह काम कुछ चुने हुए यहूदी फिल्मकारों ने महज 100 साल में सिनेमा के माध्यम से कर दिखाया। यहूदियों ने अफ्रीकन और अमेरिकन को अपनी फिल्मों का हीरो बनाया।

यहूदियों का अफ्रीकन–अमेरिकन समुदाय को बढ़ावा देने में बहुत बड़ा हाथ है। लोगों को सिनेमा के माध्यम से ये बताने की कोशिश की कि, वे भी इंसान हैं। उनके दिल में अमेरिका के लिए वही राष्ट्र–प्रेम है जो किसी और गोरे के अंदर है। फिल्मों में उन्हें अमेरिकन सैनिक के कपड़ों में अमेरिका के लिए मरते दिखाया गया।

महामंदी (द ग्रेट डिप्रेशन 1929–1940) एक विश्वव्यापी आर्थिक मंदी थी जो 29 अक्टूबर 1929 को अमेरिका में शेयर बाजार में गिरावट से आरम्भ हुई और 1933 तक यह दुनिया के सभी प्रमुख देशों में फैल गई। महामंदी ने अमेरिका में प्रोटेस्टेंट चर्च की संस्थागत शक्ति को कमजोर किया। अमेरिका एक प्रोटेस्टेंट देश रहा है और देश चलाने वाले बड़े बिजनेसमैन, राजनीतिक नेता प्रोटेस्टेंट रहे थे तथा बाहरी यहूदी और अफ्रीकन–अमेरिकन को कभी सत्ता के नज़दीक नहीं आने दिया। लेकिन 1929 की महामंदी ने अमेरिका की कमर तोड़ दी थी। 1933 में फ्रैंकलिन डी.रूजवेल्ट संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने, जिनके सामने अमेरिका को महामंदी से निकालने का भार था। उन्हें एक नई डील को तैयार करना था, जो संयुक्त राज्य अमेरिका की आर्थिक नीति में बदलाव लाए और नई डील तैयार करने के लिए उन्होंने अमेरिकन यहूदियों को आमंत्रित किया। इस तरह से अमेरिका के इतिहास में पहली बार यहूदियों ने सरकारी प्रशासन में अपना कदम रखा था। यहूदी तब से अमेरिका के विश्व एवं आंतरिक नीतियों को अपने ढंग से चलाने लगे और आज तक वे अपना वर्चस्व कायम किये हुए हैं।

कॉमिक बुक उद्योग 1929 की महामंदी और द्वितीय विश्व युद्ध के बीच के कालखण्ड में स्थापित हुआ। यह उद्योग काफी हद तक अमेरिकी–यहूदियों द्वारा स्थापित किया गया था, जिन्हें उस समय काफी भेदभाव का सामना करना पड़ा था।

कॉमिक पुस्तकें प्रकाशन व्यवसाय की सबसे निचली श्रेणी में आती थीं, समाज के उत्कृष्ट लोगों ने इस व्यवसाय को नहीं अपनाया था और इस तरह यहूदी कॉमिक व्यवसाय में बिना किसी प्रतिरोध के आ गए। यहूदी प्रकाशकों ने कई अमेरिकी–यहूदी लेखकों और कलाकारों की भर्ती की, और इस तरह कॉमिक बुक उद्योग को बहुत लोकप्रिय बनाया। आजतक कॉमिक बुक पर आधारित फिल्मों का फायदा किसी भी अन्य फिल्म से कहीं ज्यादा होता है।

1933 तक हिटलर जर्मनी का प्रधानमंत्री बन चुका था और नाज़ियों का कहर पूरे यूरोप पर धीरे–धीरे बढ़ने लगा जिसका सबसे बड़ा शिकार यहूदी हुए। यहूदियों ने दूसरे विश्व युद्ध में प्रवेश करने एवं नई डील पर फ्रैंकलिन डी. रूजवेल्ट के फैसले का समर्थन किया। यह समर्थन तब के प्रकाशित कॉमिक प्रकरण में स्पष्ट दिखता है। महामंदी (द ग्रेट डिप्रेशन 1929–1940) के बाद के वर्षों में कॉमिक पुस्तकों ने आम लोगों को बहुत जरूरी मनोरंजन प्रदान कराया, जो सस्ता था और हताश–निराश जनता को कॉमिक बुक ने सुपर हीरो दिया। सुपर हीरो अकेले बड़ी–बड़ी समस्या का समाधान चुटकी में ढूंढ़ देता था। कॉमिक पुस्तकों के सुपरहीरो ने दूसरे विश्व युद्ध के

दौरान अमेरिकी मूल्यों एवं देशभक्ति से नाज़ियों को हराते हुए जनता के दिलों पर कब्जा कर लिया था और इस तरह से कॉमिक पुस्तकों ने उस समय की अमेरिकी राजनीतिक नीतियों का महिमा मंडन करते हुए आम लोगों का विश्वास रूजवेल्ट के युद्ध–काल के प्रयासों में जगाये रहा। बैटमैन, सुपरमैन, स्पाइडरमैन, कैप्टन अमेरिका, आयरन मैन, फंटास्टिक फोर, एक्स मैन, एवेंजर्स जैसे कई सुपरहीरो को अमेरिकी यहूदियों ने गढ़ा, जिन्हें सिनेमा के परदे पर वाइट अमेरिकन हीरो जीवन देते थे। सुपरहीरो अमेरिकी मूल्यों को सिनेमा के पर्दे पर लाने के साथ–साथ यहूदियों की अमेरिकन समाज में व्यग्रता को भी दर्शकों के सामने रखते थे, जहाँ कट्टरता, असहिष्णुता और नस्लीय भेदभाव बहुत ज्यादा था।

ज्यादातर सुपरहीरो को सरकार या राजनेताओं के आज्ञाकारी के रूप में चित्रित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि राजनेताओं ने अपनी विदेशी युद्ध नीतियों को सही साबित करने के लिए हमेशा से सुपरहीरो का इस्तेमाल किया है। ऐसे सुपरहीरो जो बहुसंख्यक दर्शकों के बीच बहुत लोकप्रिय होते थे, दर्शकों को एहसास दिलाते थे कि सरकार जो कर रही है वह देश और विश्व के लिए बहुत जरूरी है। इस तरीके से सरकार को बहुसंख्यक देशवासियों का सहयोग मिलता रहता है।

9–11 के बाद भी कॉमिक बुक ने अपनी पुरानी भूमिका को निभाना जारी रखा जब अमेरिका ने इराक और अफ़गानिस्तान पर आक्रमण किया। कॉमिक बुक की भूमिका तब और बढ़ गई जब इन पर आधारित हॉलीवुड में बनने वाले सुपरहीरो की फिल्में लाखों डॉलर बॉक्स ऑफिस पर कमाने लगीं। वर्तमान समय में अमेरिकी फिल्म उद्योग में बनने वाली सभी फिल्मों में सुपरहीरो की फिल्में पूरे विश्व में चलने वाली फिल्में हैं।

पारसी रंगमंच 1850 और 1930 के दशक के बीच मुंबई से लेकर उत्तर भारत तक फला–फूला जिसे बड़े पैमाने पर पारसी समुदाय के लोगों ने विकसित किया और यही कारण रहा कि इसे पारसी रंगमंच कहा जाता है। पर पारसी रंगमंच के नाटक किसी एक वर्ग से ताल्लुक नहीं रखते थे। 1853 से ही इसने अंग्रेजी और भारतीय नाटकीय शैलियों को अपने नाटकों से जोड़ने का काम किया। इसमें पश्चिमी, भारतीय और अरबी संगीत का मिश्रित स्वरूप था। पारसी रंगमंच की अपनी पूरी तकनीक ब्रिटेन से मंगायी। इसमें प्रोसेनियम स्टेज से लेकर बैक स्टेज की जटिल मशीनरी भी थी। ये भारतीय शास्त्रीय संगीत के विभिन्न रागों और विभिन्न प्रकार के गीतों और नृत्य का उपयोग करते थे। घूम–घूम कर नाटक प्रदर्शन करते और वहां के लोक गीत–संगीत तथा कहानियों को अपने नाटकों में मिलाते रहते थे। सभी जगह की अच्छी

कला को ग्रहण करना इनकी सबसे बड़ी ताकत बनी।

पारसी थिएटर का देसीपन उन्हें देश के अलग–अलग हिस्सों में घूम–घूम कर मिला था। फिल्म का उद्योग बढ़ने के बाद कुछ थिएटर निर्माता फिल्म उद्योग में भी आ गए। पारसी थिएटर यथार्थवाद और कल्पना का मिश्रित रूप है। संगीत और नृत्य इसकी आत्मा है। इसके डायलॉग, आम बोलचाल की भाषा और प्रस्तुति में सरलता इसे आम लोगों के बीच बहुत लोकप्रिय बनाते हैं। मेलोड्रामा, हास्य, सुंदर गीत और संगीत इनकी विशेषता थी जो ये पूरे देश में घूम–घूम कर अपने नाटकों में शामिल करते गए। आप आज की हिंदी फिल्मों में पारसी थियेटर के मसाले का अंदाज देख सकते हैं। हमारे हिंदी फिल्मी गीत पारसी थियेटर से ही आये हैं। पहले की फिल्में पारसी थियेटर से प्रभावित थी हीं, साथ–साथ फिल्म में ज्यादातर कलाकार भी पारसी थियेटर के थे। बॉम्बे में पारसी थियेटर सबसे ज्यादा थे, साथ ही साथ बड़े–बड़े पारसी व्यापारी (सोना, हीरा, कपड़ा कारखाना, शेयर बाजार, होटल, रियल एस्टेट) थे और यही कारण है कि बॉम्बे हिन्दुस्तानी फिल्म इंडस्ट्री का अखाड़ा बन गया। सिनेमा एक ऐसी कला है जहां तकनीक और व्यवसाय उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि कला। पैसा–कला बाहर से आया। तकनीक बॉम्बे में प्रचुर मात्रा में थी। धीरे–धीरे बॉम्बे ने पूरे देश के कलाकारों का तहेदिल से स्वागत किया।

जिस तरह अमेरिका के यहूदियों ने अपना साम्राज्य कैलिफ़ोर्निया में बनाया, उसी तरह पारसियों ने भी अपना साम्राज्य बॉम्बे को बनाया। हिन्दू फिल्मकारों ने फिल्म बनाना या तो कोल्हापुर में शुरू किया या पुणे या कलकत्ता या लाहौर। फर्क सिर्फ इतना है कि यहूदियों की तरह पारसियों को दबाने का काम यहाँ किसी ने नहीं किया।

शुरुआती दिनों में सबसे प्रसिद्ध पारसी फिल्मकारों में सर्वप्रथम जमशेदजी प्रेमजी मदन का नाम आयेगा। उन्होंने अपना फिल्मी सफर एक फिल्म प्रदर्शक के रूप में शुरू किया, फिर फिल्म निर्माण कंपनी बनायी। यहूदियों की तरह पारसी भी सबसे पहले सिनेमाघर का मालिक हुआ करते थे। बाद में जाकर फिल्म निर्माण करना शुरू किया। इसके बाद अर्देशिर ईरानी, सोहराब मोदी, जे.वी वाडिया, होमी वाडिया, जे.जे. मदन का नाम आएगा। भारत में बनने वाली महान फिल्मों में से एक 'मुग़ल–ए–आज़म' जिसे बनने में तकरीबन 13 साल लगे, उसके निर्माता भी एक पारसी 'शापूरजी पल्लोनजी ग्रुप' थे। सरस्वती देवी भारत की पहली महिला फिल्म संगीतकार भी एक पारसी थीं। वर्तमान समय में रॉनी स्क्रूवाला ने अपनी एक अलग पहचान बनायी है। 21वीं सदी के सबसे महान भारतीय फिल्म निर्माता और 'टाइम 100' में दुनिया के 100 सबसे प्रभावशाली लोगों में 78 वें स्थान पर रह चुके हैं।

❑❑❑

हॉलीवुड और ईसाइयत

अमेरिकी गिरजाघर के नीति निर्माताओं का हॉलीवुड फिल्म उद्योग से हमेशा बड़ा मुश्किल और उलझा हुआ रिश्ता रहा है। अधिकांश अमेरिकी लोग भी यही सोचते हैं कि दोनों में कोई नजदीकी संभव नहीं है। अमेरिकी विद्वान भी अमेरिकन सिनेमा का इतिहास लिखते समय इसी सोच से ग्रसित जान पड़ते हैं कि अमेरिका के फिल्म उद्योग और ईसाई धार्मिक समुदाय में छत्तीस का संबंध है। यह भी समझ बनी है कि ईसाई धार्मिक समुदाय फिल्मों के कथानकों पर नियंत्रण करना चाहते हैं तथा जनता के नुमायंदे बनकर तथाकथित नैतिकता को फिल्मों पर थोपना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति केवल 'द डा विंची कोड' (2006) या 'लास्ट टेम्पटेशन ऑफ क्राइस्ट'(1988) जैसी फिल्मों के प्रदर्शन पर रोक लगाने की तथाकथित मांग तक सीमित नहीं है। बल्कि पूरी बीसवीं शताब्दी में समय–समय पर ईसाई धार्मिक समुदाय फिल्म उद्योग पर अपने अधिकारों का प्रयोग करते रहे हैं तथा बार–बार नियमन तथा सेंसरशिप द्वारा फिल्मों को प्रभावित करते रहे हैं।

यह दृष्टिकोण कि सांस्कृतिक युद्ध में चर्च और हॉलीवुड हमेशा एक दूसरे से विरुद्ध रहे हैं, हॉलीवुड सिनेमा को सही ढंग से समझने में सहायक नहीं है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की राष्ट्रीय अस्मिता, लोकप्रिय संस्कृति और सार्वजनिक जीवन को निश्चित आकार देने में सामान्य रूप से धर्म का तथा विशेष रूप से ईसाइयत का हमेशा योगदान रहा है, यही बात सिनेमा पर भी लागू होती है। सिनेमा के मूक युग की फिल्मों का एक मुख्य विषय जीसस क्राइस्ट के जीवन को दर्शाना भी था (ड्यूपोंट–2013) तथा क्लासिकल बॉलीवुड सिनेमा के आरम्भिक दौर में बहुत अधिक फिल्में बाइबिल की कहानियों पर आधारित थीं (देखिये– बैबिंगटन और ईवान्स–2009)। व्यावसायिक फिल्म निर्माता यह तो जानते ही थे कि इन कहानियों पर बनी फिल्में देखने के लिए एक बड़ा ईसाई समुदाय मौजूद है बल्कि प्रोटेस्टेंट पादरियों के एक समुदाय से सिनेमा को समर्थन और सहयोग भी प्राप्त हुआ। ऐसे ही एक दूरदर्शी पादरी

थे हर्बर्ट जम्प। वे दक्षिण कोन्ग्रेजेशनलिस्ट चर्च में एक मिनिस्टर थे। जम्प ने यह जान लिया था कि उस समय चर्च में अभिनीत नाटकों की तुलना में सिनेमा कहीं अधिक शक्तिशाली माध्यम था।

जम्प ने अपने महत्वपूर्ण आलेख 'मोशन पिक्चर की धार्मिक सम्भावनाएं' (1916) में कहा, ''मोशन पिक्चर के समर्थन में सर्वाधिक सशक्त तर्क यही है कि यह पंद्रहवीं शताब्दी में हुए छापेखाने के आविष्कार के बाद, वैसा ही आश्चर्यजनक आविष्कार है। मुद्रण के आविष्कार के पूर्व, पुस्तकें केवल कुछ अमीर लोग ही पढ़ पाते थे, छापेखाने के आविष्कार के बाद पुस्तकें सभी वर्गों के लोगों के लिए उपलब्ध हो गयीं। संयोग से सबसे पहले धार्मिक सामग्री मुद्रित हुई। सर्वप्रथम प्रकाशित पुस्तक थी बाइबिल। इसी प्रकार 1889 में श्री एडीसन द्वारा अविष्कृत मूविंग पिक्चर्स को छापने वाली मशीन ने भी इस सुविधा को सामान्यजन तक पहुंचा दिया। जिस प्रकार छापेखाने से साहित्य सामान्यजन को उपलब्ध हो गया उसी प्रकार सिनेमेटोग्राफ ने नाटक को सभी लोगों तक पहुंचा दिया। कौन जानता है कि यह नया आविष्कार धर्म की सेवा में भी उपयोगी हो सकेगा, यदि धर्म इसकी सहायता ले सके तो?'' (11,12) जम्प ने कहा कि चर्च को धार्मिक प्रवचन हेतु फिल्म का उपयोग करना चाहिए तथा धार्मिक संदेश को आधुनिक समाज के लिए रोचक, मनोरंजक और सार्थक बनाकर प्रस्तुत करना चाहिए। अमेरिकी सिनेमा के इस आरम्भिक दौर में ही पादरियों ने चर्चों में तो लघु स्तर पर बाइबिल से जुड़े विषयों पर फिल्म निर्माण भी होने लगा था (लिंडवाल–2007)। वास्तव में, इन फिल्मों के प्रदर्शन से चर्च में अधिक लोग आने लगे बल्कि कुछ फिल्म प्रदर्शकों को प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा (बाउसर,1990, लिंडवाल, 2007)।

यह समझना जरूरी है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में, प्रोटेस्टेंट चर्च ने व्यापक सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ में, किस प्रकार धार्मिक मूल्यों के प्रचार–प्रसार हेतु फिल्म माध्यम का उपयोग किया। क्रिस जोजास्टीस के अनुसार, ''बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में ये दोनों घटनाएं साथ–साथ घट रही थीं, एक और सिनेमा सामाजिक–सांस्कृतिक क्षेत्र में अत्यंत प्रभावी माध्यम के रूप में उभर रहा था तो दूसरी ओर उसी दौरान अमेरिकन प्रोटेस्टेंटवाद में बड़े बदलाव हो रहे थे।

सिनेमा उस युग में एक अमेरिकी सांस्कृतिक मूल्य के रूप में उभरा, जब अमेरिकी समाज तीव्र औद्योगिकीकरण, शहरीकरण तथा अन्य देशों से आकर बस जाने वाले लोगों जैसी समस्याओं से जूझ रहा था। परिवर्तन के इस दौर में प्रोटेस्टेंट

चर्च भी समाज में यथास्थिति बनाकर, नैतिक मूल्यों के हनन को रोकने में असमर्थ महसूस कर रहा था। अर्थात् सिनेमाघर मानो उभरता हुआ चर्च था जो इस टूटे हुए समाज को नए मूल्य, नई आशा और विश्वास और नई दिशा दे रहा था। इस लोकप्रियता की तुलना केवल प्रोटेस्टेंट चर्च से की जा सकती थी। इस आधुनिकीकरण और औद्योगिकीरण से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं के उत्तर में एक सुधार आंदोलन, प्रोग्रेसीविज्म नाम से शुरू हुआ, इसकी जड़ें अमेरिकी प्रोटेस्टेंट परंपरा में थीं। इस आंदोलन ने परिवर्तन के तेज बहाव के कारण बिगड़ रही सामाजिक व्यवस्था के क्षरण को तथा नैतिक मूल्यों के हनन को रोकने का प्रयास किया। हरबर्ट जम्प द्वारा किए गए धार्मिक उपदेश इसी प्रोग्रेसीविज्म मूल्यों का अनुसरण करते थे। जम्प के अनुसार बीसवीं शताब्दी में सिनेमा धार्मिक शिक्षा तथा धर्म चर्चा का सबसे अधिक उपयुक्त माध्यम है। ऐसा नहीं था कि केवल कुछ धर्मोपदेशक ही नैतिक मूल्यों की शिक्षा देने के लिए फिल्म माध्यम के उपयोग के प्रति उत्साहित थे बल्कि यह नवजात फिल्म उद्योग प्रोटेस्टेंट मतावलंवियों द्वारा ही संचालित हो रहा था, इनमें सबसे प्रभावशाली था डेविड वार्क ग्रीफिथ। उसी ने यह बताया कि किस प्रकार सिनेमा पूरी तरह रंगमंच और नाटक से भिन्न विधा है।

इसका अर्थ यह हुआ कि हॉलीवुड का प्रारम्भिक युग का सिनेमा समाज में वृहत्तर प्रोटेस्टेंट धार्मिक पुनरुथान के साथ लगाव बनाकर तथा विरोध करते हुए विकसित हुआ। पहली बात यह है कि अमेरिकन सिनेमा ने समय की कसौटी पर बार–बार अपनी सशक्तता को दर्शाया। यह सिनेमा समसामयिक, सामाजिक और राजनीतिक घटनाओं को धार्मिक प्रतीकों और कथाओं को पुनर्परिभाषित करते हुए दिखलाने में सक्षम था। दूसरी बात यह है कि हॉलीवुड ने इस प्रकार के प्रतिभावान और प्रभावशाली फिल्मकारों को तैयार किया जो भरपूर मनोरंजन का ख्याल रखते हुए व्यावसायिक हितों का ध्यान रखते हुए धार्मिक कथानकों पर सफल फिल्में बनाने की क्षमता रखते थे। दूसरी तरह के फिल्मकारों में सेशिल बी. डेमिले का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए। डेमिले ने बाइबिल की कथाओं के जोनर को हॉलीवुड में स्थापित कर दिया। डेमिले की फिल्मत्रयी – 'द टेन कमांडमेंट्स'(1923)' द किंग ऑफ किंग्स'(1927) और 'डी साइन ऑफ द क्रॉस' (1932) में हॉलीवुड की फिल्मी तकनीकों स्पेशल इफेक्ट्स, हॉलीवुडीय प्यार करने की परम्परा एक्शन और रोमांच के मिश्रण द्वारा बाइबिल की कथाओं पर ब्लॉकबस्टर फिल्में बनायीं। ये फिल्में उन लोगों को बहुत अधिक पसंद आयीं जो इन कथाओं से पूर्व परिचित थे। ईसाइयों और यहूदी दर्शकों ने इन्हें समान स्तर पर पसंद किया। डेमिले एक समर्पित एपिसकोपेलियन का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, उनमें प्रस्तुतीकरण की कला

को व्यासायिक बनाकर पेश करने की उत्साहपूर्ण प्रतिभा थी। (रोमानोवस्की, 2013)

डेमिले अपनी फिल्मों में बाइबिल की रूपक कथाओं को सनसनीखेज तरीके से तथा भव्य प्रभावशाली दृश्यों के माध्यम से प्रस्तुत करते थे। धार्मिक रूप से संवेदनशील वर्गों का इन फिल्मों को देखकर क्षुब्ध हो जाना स्वाभाविक ही था। चर्च में जाने वाले भक्तों तथा सामान्य जनता में इस नए चलचित्र माध्यम की लोकप्रियता बहुत अधिक थी। वे भी यह महसूस करते थे कि नाटक और फिल्म के प्रभाव में बहुत अधिक अंतर है भले ही दोनों में ड्रामा ही दिखाया जाता था। रंगमंच पर प्रस्तुत नाटकीय अभिनय तथा रंगमंचीय साज–सज्जा की तुलना में परदे पर प्रक्षेपित दृश्य कहीं अधिक लुभावने, अंतरंग और सम्मोहन में डालने वाले होते हैं। सिनेमा की तकनीक से बाइबिल की कहानियों तथा धार्मिक चमत्कारों का चित्रण जहाँ एक ओर दर्शकों में गहरा श्रद्धा भाव उत्पन्न करता है वहां दूसरी ओर कैमरे द्वारा प्रस्तुत तथा हॉलीवुड की सामान्य शैली का उपयोग दर्शकों में विषयासक्ति और हिंसक कल्पनाओं को भी जगा देता है। इसी प्रकार डेमिले द्वारा चित्रित बाइबिल की कहानियों में धर्म, सेक्स और हिंसा का अजीब घालमेल हो जाता था।

डेमिले ने इन सब आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए तथा इन आलोचनाओं को दबा देने के लिए प्रोटेस्टेंट, कैथोलिक और यहूदी सलाहकारों को फिल्म निर्माण के समय सलाहकार के रूप में नियुक्त किया। लेकिन इस तरकीब से कोई फायदा नहीं हुआ क्योंकि डेमिले की फिल्मों में दर्शाए गए दृश्यों की लोकनिंदा और विरोध की अनदेखी कर पाना संभव नहीं था। हॉलीवुड के परदे पर और परदे के बाहर की गप्पबाजी का अपयश इतना अधिक था कि पादरियों ने धीरे–धीरे अपना ध्यान सिनेमा से पूरी तरह हटा लिया और रेडियो को धार्मिक प्रचार के लिए उपयुक्त माध्यम के रूप में अपना लिया। (लेविस, 2002, लिंडवाल, 2007)

इसका यह मतलब नहीं है कि धार्मिक नेताओं ने सिनेमा की ओर से पूरी तरह अपनी दृष्टि फेर ली बल्कि भविष्य में वे समाज के चेतना संरक्षक के रूप में मुखर होकर काम करने लगे और फिल्म उद्योग द्वारा नैतिक मूल्यों का ह्रास न हो इसका ध्यान रखने लगे। कैथोलिक पादरियों और चर्च में आने वाले लोगों ने नैतिक मूल्यों की रक्षा करने वाले इस आंदोलन का नेतृत्त्व किया क्योंकि प्रोटेस्टों और हॉलीवुड के सम्बन्ध इससे पूर्व ही कड़वाहट की सीमा पार कर चुकी थी (रोमानवस्की, 2012)। इस आंदोलन के ठोस परिणाम तब दिखाई दिए जब अमेरिका की चलचित्र निर्माता और वितरक एसोसिएशन ने स्व सेंसरशिप का नियम लागू किया ताकि सरकार के

1930 के मोशन पिक्चर प्रोडक्शन कोर्ड से बचा जा सके। इसे जेसूट पादरी फादर डेनियल ए लार्ड और मार्टिन क्रीगले नामक एक कैथोलिक धार्मिक व्यक्ति ने बनाया था। इस कोड में मनोरंजन की नैतिक सीमा निर्धारित की गई थी और यह दिशा निर्देश लागू किया गया था कि फिल्म के परदे पर क्या दिखाया जा सकता है और क्या दिखाना निषेध है। इसके साथ-साथ कैथोलिक संगठनों ने 1935 में नेशनल लीजन ऑफ डीसेंसी नामक संस्था बनाई, इस संस्था ने फिल्मों में प्रदर्शित आपत्तिजनक विषयों की निंदा करने और विरोध करने का काम किया। इससे कैथोलिक चर्च के हॉलीवुड पर प्रभाव में वृद्धि हुई। लीजन द्वारा प्रचार के ही परिणामस्वरूप 1934 से मोशन पिक्चर प्रोडक्शन कोड अपने सही ढंग से पूर्ण रूप से लागू हो गया। इसके उत्तर में प्रोटेस्टेंट ने भी फिल्म उद्योग में सुधार लाने के सामूहिक प्रयत्न किए। लेकिन उनके मत कैथोलिक से भिन्न थे। प्रोटेस्टेंट नहीं चाहते थे कि सीधे-सीधे सेंसरशिप लागू कर दी जाए। वे स्वैच्छिक नियमन और अभिव्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्ष में थे।

हॉलीवुड की फिल्मों पर चर्च प्रशासन का सीधा हस्तक्षेप 1968 के बाद ही समाप्त हो पाया। जब फिल्म उद्योग ने प्रोडक्शन कोड को निरस्त कर दिया और मोशन पिक्चर ऑफ अमेरिका ने रेटिंग सिस्टम अपना लिया, तब तक अमेरिकी समाज के सामान्य जीवन पर प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक चर्चों का नैतिक और सांस्कृतिक प्रभाव भी कम हो चुका था (रेंडलमेन, 2008)। दूसरी (द्वितीय) वेटिकन परिषद ने आधुनिकता के साथ कैथोलिक चर्च के संबंधों पर पुनःविचार किया था (स्मिथ, 2001)। किसी भी संस्थागत मार्गदर्शन और प्रभाव के अभाव में ईसाई गिरिजाघरों का फिल्मों के विषयों पर नियंत्रण समाप्त हो गया। अब ईसाई प्रतिनिधि चर्च अपने समर्थकों के सहयोग से जनतांत्रिक विरोध तथा प्रदर्शनों द्वारा अपनी आवाज़ उठाने लगे। धीरे-धीरे यह विचार भी परिवर्तित हो गया कि चर्च प्रशासन अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का विरोधी है।

इन नियंत्रणों के हटने का सुखद परिणाम यह हुआ कि अब फिल्मकार ऐसी फिल्में बनाने लगे जिनमें आस्था के प्रश्नों को अधिक विविधतापूर्ण तथा सार्थक अभिव्यक्ति द्वारा दर्शाया गया था। लेकिन कुल मिलाकर हॉलीवुड के फिल्मकार क्रिश्चन विषयों से दूरी बनाने लगे और ऐसी फिल्में कम बनने लगीं जो खासतौर पर ईसाई दर्शकों को आकर्षित करने के लिए बनायी जाती थीं। फलतः परम्परागत ईसाई कथानक बाजार से बाहर हो गए और उनका स्थान अस्तित्वपरक और न्यू ऐज की आध्यात्मिकता ने ले लिया। लोक और परलोक के परम्परागत विचारों, ईश्वर, देवता और मानव के पारम्परिक रिश्तों पर आधारित कथानकों का महत्व कम हो गया।

लौकिक आनंद और आध्यात्मिक खोज के सुविधावादी तर्क खोज लिए गए थे। व्यक्तियों द्वारा निर्धारित अपने–अपने विश्वासों के अनुसार धार्मिक निष्ठा बढ़ने लगी और हॉलीवुड पर इस प्रकार की उपभोक्ता संस्कृति प्रधान फिल्मों का वर्चस्व बढ़ गया। ईसाई मुख्यधारा के अत्यंत प्रिय आदर्शों के इस प्रकार निरंतर श्रद्धाहीन प्रस्तुतीकरण ने इसके विरोध में एक नई प्रवृत्ति को जन्म दिया। अमेरिका में स्वतंत्र ईसाई फिल्मकारों ने सीमित संख्या के दर्शकों के लिए पारम्परिक ईसाई मूल्यों पर आधारित फिल्में बनाईं। इन फिल्मों ने हॉलीवुड से एक विशिष्ट दूरी बनाए रखी।

यहाँ इस तथ्य पर जोर देना आवश्यक है कि हॉलीवुड सिनेमा में पारम्परिक धार्मिक कथानक भले ही पार्श्व में चले गए हों, अमेरिकन सिनेमा में ईश्वर की आराधना द्वारा कृपा प्राप्त करने का संस्थायी भाव हमेशा उपस्थित रहा। अमेरिकन वैधानिक धर्म का मुख्य आधार और विचार यह है कि अमेरिकन राष्ट्र को ईश्वर द्वारा प्रदत्त मार्गदर्शन का उत्तरदायित्त्व सौंपा गया है। हॉलीवुड ने भी इस विचार को फैलाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया हालाँकि अकेडमिक स्कॉलरशिप ने कभी विचार की सराहना नहीं की है। वैधानिक धर्म की उपरोक्त मान्यता भले ही यहूदी ईसाई मतवाद पर आधारित है। लेकिन यह ईसाइयत की किसी भी कट्टरवादी साम्प्रदायिक भावना से बिल्कुल भिन्न है। यह अवधारणा उदारवादी चिंतकों को परेशान करती है। क्योंकि इस प्रकार हॉलीवुड ईसाइयत के विरोधी मूल्यों को प्रसारित करता है (लिंडवाल, 2007)

हॉलीवुड और उदारवादी ईसाइयों के बीच बन गयी वैचारिक मतभेद की गहरी खाई पर अधिक विमर्श की आवश्यकता है। यह देखते हुए कि हॉलीवुड सिनेमा ने अमेरिका के दक्षिणी प्रांतों के उदारवादी एवेंजेलिकलों प्रोटेस्टेंटो का बेहद नकारात्मक और रूढ़िबद्ध चित्रण किया है। टॉड रेंडलमेन ने अपने 2008 में किए गए निरीक्षण में सन् 1970 से 2008 तक की (हंट,2017 इसे भी देखें लैटर, 2011) अमेरिकी फिल्मों का एक सर्वेक्षण किया और यह पाया कि एवेंजेलिकल लोगों का फिल्मों में इन चार रूपों में चित्रण किया गया : पाखंडी, मनोरोगी, भोला–भाला तथा संवेदनहीन। याद रहे कि 1970 के दशक के बाद से ही हॉलीवुड की फिल्मों के विषयों पर धार्मिक प्रतिनिधियों ने कुछ कहने का अपना अधिकार खो दिया था। इस दशक के उपरांत उदारवादियों और विभिन्न एवेंजेलिकल समूहों ने अमेरिकन संस्कृति पर बढ़ते लौकिकवादी तथा भौतिकवादी प्रभावों का विरोध करना आरम्भ कर दिया था। इस सामूहिक और निरंतर तथा प्रभावशाली विरोध के फलस्वरूप ये समूह राष्ट्रीय महत्व की राजनैतिक शक्ति बनकर उभरे, इन्हें आज धार्मिक अधिकारों के

लिए लड़ने वाले ईसाई समूहों के रूप में जाना जाता है (मैकविकार, 2016)। धीरे–धीरे मुख्यधारा के उदार गिरिजाघरों ने हॉलीवुड में हस्तक्षेप कम कर दिया लेकिन उदारवादी एवेंजेलिकलों ने राष्ट्र के चेतना की रक्षा करने का उत्तरदायित्व संभाल लिया। उन्होंने कहा कि लौकिकवादी हॉलीवुड फिल्म निर्माता उन पारिवारिक और नैतिक मूल्यों को नष्ट कर रहे हैं, जो अमेरिकी समाज का आधार है (रोमानवस्की, 2017)। फलस्वरूप हॉलीवुड की फिल्मों में उदारवादी असंतोष का चित्रण आरम्भ हुआ। यह असंतोष अमेरिकी राजनैतिक परिदृश्य पर क्रिश्चयन दक्षिण पंथ के उभार को दर्शाता था (हंट, 2017)।

क्रिश्चियन उदारवादी और हॉलीवुड के मतभेद को एक बहुत बड़ी चोट पहुंची जब मेलगिबसन ने (द पैशन ऑफ द क्राइम, 2004) नामक विवादास्पद फिल्म बनाकर अभूतपूर्व सांस्कृतिक क्रांति कर दी। इस फिल्म का विषय था जीजस के जीवन के अंतिम बारह घंटे। इस विषय पर फिल्म बनाने के लिए हॉलीवुड के सभी बड़े स्टूडियों ने धन देने से मना कर दिया जबकि गिबसन फिल्म बिरादरी का दशकों से सम्मानित सदस्य था। यह फिल्म एक स्वतंत्र निर्माता द्वारा बनायी गई। और गिबसन जो स्वयं एक परम्परावादी कैथोलिक था (अर्थात् एक ऐसा कैथोलिक जिसने दूसरी वेटिकन परिषद प्रस्तावित सुधारों को स्वीकार नहीं किया) ने इस फिल्म का एवेंजेलिकल प्रोटेस्टों में जमकर प्रचार किया। अमेरिकन सिनेमा के इतिहास में 'द पैशन ऑफ क्राइस' सबसे अधिक धन कमाने वाली फिल्मों में एक साबित हुई। इस फिल्म की सफलता का श्रेय कई बातों को दिया जा सकता है:– कलात्मक दृष्टि से यह फिल्म परिवार को पसंद आने वाली फिल्मों तथा आस्था आधारित फिल्मों के नियमों का पालन नहीं करती थी। इस फिल्म को इसके हिंसात्मक चित्रों के कारण 'आर' रेटिंग दी गई थी। फिर भी इस फिल्म को दर्शकों ने बहुत पसंद किया। इसका एक कारण यह माना जा सकता है कि यह हॉलीवुड सिनेमा के चाक्षुस आनंद देने वाले और यथार्थवादी लगने वाली शर्तों को पूरा करती थी। लेकिन कहीं से भी यह हॉलीवुड द्वारा दर्शाए जाने वाले उदारवादी मूल्यों का पालन नहीं करती थी। इस प्रकार गिबसन ने हॉलीवुड के मापदंड से अमेरिकन समाज के सांस्कृतिक विभाजन को बेहद साहसी और विवादास्पद ताकत से ललकारा।

गिबसन के फिल्म की व्यावसायिक सफलता के बाद सोनी और फॉक्स जैसे मुख्यधारा के हॉलीवुड स्टूडियो कम बजट की आस्था आधारित फिल्में बनाने लगे। इनमें से कुछ बॉक्स ऑफिस पर भी बहुत अधिक सफल रहीं (शॉन, 2014), एक बार फिर हॉलीवुड की विपणन एजेंसियों ने ईसाई सलाहकारों तथा एवेंजेलिकल

गिरिजाघर से जुड़े व्यक्तियों को सलाहकार बनाया ताकि धर्म के मूलभूत प्रश्नों पर फिल्में बनायी जा सकें। लेकिन 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ईसाई कथानकों पर बनीं फिल्मों और बाइबिल पर आधारित आस्थावान फिल्मों का अंतर यह था कि अब इन फिल्मों को गिने चुने समूह ही देखते थे। लेकिन यह टिकाऊ दर्शक नहीं थे। अमेरिकन राजनीति में ईसाई दक्षिणपंथ द्वारा केंद्रीय स्थिति प्राप्त कर लेने के कारण हॉलीवुड का यह उभरता हुआ नया बाजार और इसके राजनीतिक महत्व का शास्त्रीय अध्ययन आवश्यक हो गया।

बाइबिल की रूपक कथाएं तथा मिथक आधारित फिल्में

अब तक हमने अपने इस अध्ययन को क्रिश्चियन अथवा बाइबिल की कहानियों और कथानकों पर बनी फिल्मों तक सीमित रखा है। लेकिन अमेरिकन संस्कृति पर क्रिश्चियन प्रभाव निथर कर कई धार्मिक कथाओं, पात्रों तथा साज–सज्जा द्वारा लोकप्रिय सिनेमा में सीधे तौर पर और सूक्ष्म स्तर पर इस प्रकार आता गया यह जानना आसान नहीं है। यह धार्मिक प्रभाव अनेक प्रकार के संकेतों द्वारा पवित्र पुस्तकों के वचनों द्वारा पात्रों के सिनेमाई स्वरूप द्वारा बाइबिल की उपकथाओं द्वारा अनेक प्रतीकों और रूपकों द्वारा धार्मिक विचारों में ढलकर अंतर्निहित अर्थों द्वारा व्यंजित होता रहा (कोज़लोविक, 2004, 2007, 2013, रोमनवस्की, 2017 बी)।

इस प्रकार के धुंधले प्रस्तुतीकरण में लौकिक विषय को धार्मिक विषय के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया जाता है। इस फिल्मी प्रस्तुति में निर्देशक की चेतना को जानना कठिन होता है। इसलिए हम अपने अध्ययन को उन फिल्मों तक सीमित रखेंगे जहाँ धार्मिक विषय एक निर्धारित संरचना के अंतर्गत मुखर होकर अभिव्यक्त हुआ है। यह माइथोलॉजी से जुड़ी काल्पनिक फिल्मों की शैली है। यह शैली सशक्त धार्मिक कथानकों द्वारा आध्यात्मिक सन्देश देकर मानव को दैव्यशक्ति से जोड़ने में समर्थ है। इस शैली में बाइबिल की कथाएं सीधे न कहकर प्रतीकों तथा कूट चित्रण द्वारा कही जाती हैं।

इस प्रकार के काल्पनिक कथानकों की शैली द्वारा निर्मित 'स्टारवार्स' हॉलीवुड की पहली महान सफलता थी। सातवें दशक के अंतिम वर्षों में बनी जॉर्ज लुकास की 'स्टारवार्स' फिल्म ने पूर्व के सभी बॉक्स ऑफिस रिकॉर्ड को ध्वस्त कर दिया। यह सफलता केवल बॉक्स ऑफिस तक सीमित नहीं थी। लुकास ने नई तरह के बाजार और ब्रांडिंग को जन्म दिया। इस फिल्म के सभी पात्रों को सम्पूर्ण विश्व में सांस्कृतिक

लोकप्रिय प्रतिमाओं की भांति स्थापित एवं प्रचारित किया गया। लुकास का लालन–पालन मैथोडिस्ट क्रिश्चन की भांति हुआ था। उसने अपनी इस फिल्म के कथानक सूत्र और पात्र यहूदी ईसाई, पूर्वी और अमेरिकी मूल नागरिकों के धार्मिक परम्पराओं को वैश्विक धार्मिक आस्थाओं से जोड़कर तैयार किया था (स्रोत–एडहेरेनेंट .कॉम: http://www.adherents.com/people/pl/george-lucas.html)। जॉर्ज लुकास ने अपने नायक की विजय यात्रा की रूपरेखा किस आधार पर बनाई इसे जोसेफ कैम्पबेल ने दुनियाभर की मिथक कथाओं के अध्ययन में रेखांकित किया है (डेयेनका, 2012; इसे भी देखें कैम्पबेल, 2004 1949) उन्होंने अच्छाई की बुराई पर जीत का सन्देश देने वाली कहानियों के शिल्प का गुण भी बताया।

जॉर्ज लुकास ने न्यूयॉर्क मैगज़ीन (1997) को दिए गए अपने साक्षात्कार में बताया कि उन्होंने पारम्परिक धार्मिक प्रतिनिधियों द्वारा अतीत में अपनाए गए तरीकों को जानबूझकर फिल्म माध्यम में अपनाया,'' मैं एक पारम्परिक नैतिक कहानी कहना चाहता था जिसमें बच्चों को आसानी से समझ आ जाने वाले हृदयस्पर्शी नीतिवचन हो। इसमें हमेशा किसी नीति की शिक्षा दी जाती है। आखिर शिक्षाओं का मूल स्रोत कहाँ है। परम्परा से, हम इन्हें गिरिजाघर में, परिवार में, कला रूपों में, आधुनिक युग में मीडिया से, फिल्मों से, मुझे लगता है कि हमारे आज के समाज में मिथक परम्परा का अभाव हो गया है, लेकिन इस प्रकार विभिन्न माध्यमों से जो कहानियां हम अपने बच्चों को सुनाते हैं वह हमें विरासत में मिली हैं। (अमेरिकी) वेस्टर्न में नीति कथाएँ थी परन्तु वह जोनर अब नहीं रहा। मैं एक नए शिल्प की खोज में था।''

काल्पनिक कथाएं भले ही फिल्म के माध्यम से कही जाएँ या साहित्य के माध्यम से, उन्हें सम्मान नहीं दिया जाता। वे दुनियावी यथार्थ से दूर पलायनवादी कथाएं मानी जाती हैं। यदि फेंटसी माध्यम से कही गयी कहानी और दुनियावी वास्तविकता का अनुकरणात्मक सम्बन्ध नहीं है तो यह समझना भारी भूल होगी कि ये दोनों पूर्णतया विपरीत हैं या एक दूसरे से अपवर्जक हैं। फेंटसी कथा अपने मूल तत्त्व इसी संसार से लेती है और कल्पना के सहयोग से एक ऐसा अन्य संसार अथवा समानांतर संसार रच देती है। ताकि यह कथा हमारे वर्तमान अनुभवजन्य संसार की व्याख्या और टीका कर सके। अर्थात् अवास्तविक और फेंटसी तत्त्व इस संसार की व्याख्या कहानी में रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से करते हैं। इस प्रकार यह कहानी मानवीय सोच के भीतरी संसार के सत्य को प्रतीकों के माध्यम से उजागर कर देती है और इस प्रकार हमारी नैया को इस संसार–सागर को पार करने में सहायता करती है।

वर्तमान पोस्टमॉडर्न दृश्यावली में फेंटसी कथा अधिक प्रभावशाली हो गयी है। क्योंकि परिकथाओं, लोककथाओं तथा पुरातन और मध्यकालीन माइथोलॉजी की कथन शैली का प्रयोग कर सकती है। इस प्रकार यह आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी बुद्धिवाद को चुनौती देती है और उसकी ताकत को कमजोर करती है। यूरोपीय पुनर्उत्थान से ही प्राकृतिक संसार के जादू को समझने के लिए इस प्रकार की कथाएं कही जाती रही हैं। मध्ययुगीन ईसाई चिंतन में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अलंकारिक रूपक कथाओं द्वारा अस्तित्व की एक महँ शृंखला द्वारा जुड़ा हुआ बताया गया था। आधुनिक ज्ञानियों ने इस विचार को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया क्योंकि यह भौतिक कारण और कार्य के सिद्धांत की शर्तें पूरी नहीं करता था (फूको, 2002)। फिर भी रूपक कथा आधारित युग में एक साहित्यिक शैली और कथा जोनर में क्षीण रूप से ही सही अपना अस्तित्व बनाए हुए है। परिकथाओं और फेंटसी गल्प और गीत भले ही आधुनिक साहित्य के हाशिये पर हों उनमें मध्यकालीन यूरोपीय संसार के चित्र जीवित हैं। ये चित्र शास्त्रीय और बाइबिल की परम्पराओं ब्रह्मांडीय अस्तित्व पुराण और प्रकृति को एकरूप व्यवस्था में जोड़ देते हैं। साहित्य की सभी विधाओं में फेंटसी ही परम्परा की सर्वाधिक योग्य उत्तराधिकारी है। पहले तो यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष स्तर पर पवित्र मिथक कथाओं तथा परम्परागत अनुष्ठानों से अपने विषय लेती है (लाजकिविक्स, 2013); और दूसरे, फेंटसी कथाएं अपने स्वभाव से ही संस्कृति के दमित पहलुओं और अवचेतन की परतों की ओर एक काल्पनिक संसार निर्मिति द्वारा संकेतित करती हैं।

'द स्टारवार्स' फिल्म शृंखला यह दर्शाती है कि वर्तमान काल में भी फेंटसी और माइथोलॉजी का प्रभाव निरंतर बना हुआ है, लेकिन 21वीं शताब्दी में ही इस जोनर ने सिनेमा में अपनी दीप्ति हासिल की। वर्ष 2001 में सर्वाधिक धनार्जन करने वाली चारों फिल्में फेंटसी जोनर की थीं, यथा: हेरी पॉटर एण्ड द सोरसर्स स्टोन, द लॉर्ड ऑफ द रिंगस : द फेलोशिप ऑफ द रिंग, मॉन्स्टर्स इंक तथा श्रेक (स्रोत :https://www.imdb.com/search/title?sort=boxofficešgrosssšus,desc and titleštype=feature and year=2001); मिथकीय पात्रों और कथानकों वाली फेंटसी फिल्में शताब्दी के प्रथम दशक 2001–2010 में अपनी प्रभावी उपस्थिति बनाए रख सकें। पोस्टमॉर्डन समीक्षा की धार्मिक कट्टरवादियों की पंडिताऊ किताबी तर्कों द्वारा और सांस्कृतिक कड़वाहट के बावजूद (डेटवीलर,2003) अन्योक्ति प्रतीक, रूपक और मिथक कथाएं विश्व के मनोरंजन उद्योग का केंद्रीय विषय बन गईं। इस कथा संसार में ओझाओं, पिशाचों, चुड़ैलों, दुष्ट आत्माओं और बौनों का प्रभुत्व था। यदि बॉक्स ऑफिस के आंकड़ों को समकालीन युगबोध और लोकप्रिय मिजाज

का भरोसेमंद संकेत माना जाए तो वर्तमान सेक्युलर युग में भी मिथकीय प्राणियों तथा दैत्यों की रूपक कथाएँ, आधुनिक जीवन के दुस्तर अंतर्विरोधों को प्रतीकों के स्तर पर समझने और अभिव्यक्त करने की अति पुरातन भूमिका को सही ठहरा रही है (देखें–लेविस्ट्रोर्स, 1963)।

इन फिल्मों में बेहद सफल हेरीपॉटर 'द लार्ड ऑफ द रिंग' तथा 'द कोनिकलस ऑफ नारनिया' फिल्म श्रृंखलाएं क्रिश्चियन उपकथाओं के कारण हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती हैं। सभी फिल्में ब्रिटिश लेखकों के अति प्रसिद्ध उपन्यासों पर आधारित हैं। इस फेंटसी जोनर को उच्च भ्रू साहित्यिक वर्ग ने नकारा। इन उपन्यासों ने विश्वभर के बच्चों और वयस्कों के जीवन को स्पर्श किया। इन पुस्तकों की स्वयंसिद्ध लोकप्रियता को ही हॉलीवुड ने भुनाया। इन कथाओं पर अत्यंत भव्य और प्रभावशाली दृश्यों वाली फिल्में बनाईं (गाबीलोंडो,2004)।

जे. आर.आर. टोकिन द्वारा लिखित 'द लॉर्ड्स ऑफ द रिंग्स' और सी. एस. लुईस द्वारा लिखित 'द क्रॉनिकल ऑफ नारनिया' आधुनिक फेंटसी साहित्य की क्लासिकल मानी जाती हैं। ये दोनों पुस्तकें बीसवीं शताब्दी के मध्य में लिखी गई थीं। टोकिन और लुईस दोनों ने ही ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से भाषा और साहित्य की पढ़ाई की थी और वे मध्ययुग भाव के बुद्धिजीवी थे। टोकिन एक समर्पित कैथोलिक थे। लुईस के विचारों से प्रभावित होकर एंग्लिकन ईसाइयत की ओर लौटे जबकि टोकिन अपनी जवानी में नास्तिक थे। टोकिन और लुईस ने सेलटिक, एंग्लोसेक्सन और नोर्स मिथक शास्त्र का गहन अध्ययन किया और इसे ईसाई आस्था से जोड़कर अपनी पुस्तकें लिखीं। उनकी विद्वतापूर्ण साहित्यिक कृतियों में वर्णित मिथ और फेंटसी के सशक्त विचार आधुनिक धार्मिकता के बुद्धिवादी तर्कों का उत्तर देने में समर्थ रहे। लुईस के अनुसार (2014), ''ईसाइयत का उदय मिथक में बसता है जो सत्य पर आधारित है। मरणशील ईश्वर का पुराना मिथक, मिथक बने रहकर भी, कथा और कल्पना के रूप में स्वर्ग से धरती पर उतरकर धरती का इतिहास बन जाता है।'' इसी प्रकार टोकिन (2008) कहते हैं, ''ईसाई धर्म के सुसमाचार में परीकथा होती है अथवा यूं कहें कि एक वृहद कथा होती है जो सभी परीकथाओं के सत्त्व को समाहित कर लेती है। उनमें अनेक चमत्कार होते हैं, गति, लय की विशिष्ट कलात्मक सुंदरता के साथ, मिथक के पूर्णत्व को समाए हुए लेकिन वह कहानी इतिहास में प्रवेश करती है और दुनिया का हिस्सा बन जाती है। इस 'महान रचना' के उपउत्पादय है इच्छाएं, कामनाएं और भावनाएं।''

जे. के. रोलिंग की पुस्तक शृंखला की पुस्तकें जो 1997 से 2007 के बीच प्रकाशित हुईं, को अपने बीसवीं शताब्दी के मध्य के पूर्वजों की पुस्तकों से कहीं ज्यादा व्यावसायिक सफलता और लोकप्रियता प्राप्त हुई। रोलिंग की पुस्तकों में सेल्टिक और नोर्स मिथकों के ब्रिटिश लोककलाओं से सांस्कृतिक संदर्भ लिए गए हैं, साथ ही साथ मिस्र, ग्रीक, रोमन और हिन्दू मिथकों से भी संदर्भ लिए गए हैं। इसके साथ ईसाइयत और कीमियागिरी का ज्ञान भी शामिल है (कोहेन–2016)। रोलिंग ने बहुत कुछ ऑक्सोनियन लेखकों द्वारा लिखित बच्चों के फेंटसी साहित्य से लिया (ससिर,2009) उनका लेखन एंग्लिकनिज्म और रोमन कैथोलिक पर आधारित ईसाई साहित्यिक परंपरा का अनुपालन करता है (मेकवे, 2002)।

उपरोक्त फेंटसी उपन्यासों के ट्रांसअटलांटिक फिल्मी रूपांतरणों को हॉलीवुड के सौंदर्यशास्त्र से अलग करके देखना चाहिए। हॉलीवुड की फिल्में चकाचौंध, तीव्र गति तथा एक्शन के साथ–साथ अपने स्पेशल इफेक्ट्स के कारण जानी जाती हैं। इसलिए हॉलीवुड की फिल्मों की तुलना उपरोक्त फेंटसी साहित्य के नैतिक और प्रवचनात्मक उद्देश्यों के साथ करना ठीक न होगा। हॉलीवुड का शिल्प एक्शन और उत्तेजना को आत्मिक उन्नति और सुशिक्षा से अधिक महत्त्व देता है। इस विचलन को बहुत स्पष्टता से लुईस के कृतित्व पर आधारित क्रॉनिकल्स ऑफ नारनिया में देखा जा सकता है। यहाँ हॉलीवुडीय दर्शकों की सुविधा के लिए लोककथा की सरलता को महाकाव्यात्मकत विशालता से दर्शाया गया है। मेगन स्ट्रोनर..... (2007:78) के अनुसार, नारनिया फिल्म यहूदी ईसाई विश्व के महान रूपकों की परम्परा से बिल्कुल मेल नहीं खाती। नैतिक दुविधाओं और आत्मिक संदेहों को दर्शानें की बजाए यह फिल्म बहुत बड़े स्तर पर एक्शन दिखाती है। इस प्रकार यह आधुनिक लगती है और निश्चित रूप से आधुनिक दर्शकों को भव्य उत्तेजना प्रदान करती है लेकिन यह लुईस के नारनिया के विश्वासों, मुक्ति और नियति की मूलभूत अवधारणाओं का बलिदान दे देती है।

हॉलीवुड की परम्परा में फेंटसी साहित्य का एक्शन केंद्रित रूपांतरण होता रहा है लेकिन 21वीं शताब्दी के आरम्भ में कुछ ऐसी घटना घटी कि अमेरिकन दर्शकों को इस साहित्य पर आधारित फिल्मों को नए सन्दर्भ में देखना पड़ा। वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की दो इमारतों पर हुआ 9/11 का आतंकवादी हमला अमेरिकी जनता तथा फिल्म उद्योग के लिए बहुत बड़ा भावनात्मक आघात था। इस घटना के बाद हॉलीवुड के फिल्म परिवार को संभलने में कुछ समय लगा। 1990 के दशक से ही हॉलीवुड की साइंस फिक्शन फिल्मों में आधुनिक शहरों के विध्वंस दृश्य दिखाए जाते थे। इन

दृश्यों में न्यूयॉर्क शहर के विध्वंस के दृश्य अधिक लोकप्रिय थे, लेकिन 9/11 के बाद हॉलीवुड के फिल्म निर्देशकों ने विचार किया कि इस प्रकार के हिंसक और असंवेदनशील, मृत्यु और विध्वंस के दृश्य फिल्मों में दिखाना उचित नहीं है। यह सोचकर कई फिल्मों की प्रदर्शन तिथियों में परिवर्तन किया गया और अनेक उस समय बन रही फिल्मों में कुछ परिवर्तन किये गए (कुए एंड डेमिको, 2010)।

इन संदर्भों को ध्यान में रखते हुए फेंटसी फिल्मों के कथात्मक जगत को शहरी स्थानों से हटाकर अन्य स्थानों को दिखाया गया ताकि 9/11 का भावनात्मक आघात सह रहे सामूहिक अमेरिकन मानसिकता को दिलासा मिल सके। पर्दे पर प्रदर्शित इन फेंटसी संसारों में घटित आतंक और ख़तरे की कहानियां देखकर दर्शक मानसिक संतोष भी प्राप्त करते थे और स्वयं को समझा लेते थे कि इन भयंकर घटनाओं का 9/11 से कोई संबंध नहीं है (कियरे,2003)। परदे पर प्रदर्शित युद्ध के इन प्रभावशाली दृश्यों में बुराई पर अच्छाई की जीत देखते हुए दर्शक अपना दुःख, गुस्सा और दर्द भूल जाते थे। फेंटसी शैली में नाटकीय और भव्य एक्शन को दिखाने में हॉलीवुड का सौंदर्यशास्त्र सिद्धस्त रहा है। भले ही फेंटसी कथाओं के एक्शन केंद्रित चित्रण द्वारा कथा की आत्मा नष्ट हो जाने का खतरा बना रहता है लेकिन ये फिल्में अमेरिकन जनता को सामूहिक विरेचन की सुविधा प्रदान करके अतिआवश्यक दायित्त्व को निभाती हैं। हैरी पॉटर और लॉर्ड ऑफ द रिंग्स का मूल कथानक यही है कि किस प्रकार पुनःनिर्माण द्वारा व्यवस्था स्थापित करके नष्ट हो रहे संसार को बचाया जाए (गेबिलोंडो, 2004), ये कथाएं अमेरिकन दर्शकों को (जो उस समय आतंकवादी हमला झेल रहे थे) आश्वस्त करती हैं कि अंततः अमेरिकन जीवन पद्धति ही सही है।

लेकिन बॉक्स–ऑफिस पर फेंटसी फिल्मों का प्रभुत्व बना नहीं रह सका और जल्दी ही सुपरहीरो एक्शन फिल्मों के नए जोनर ने बाज़ार पर कब्जा कर लिया। 2002 में आयी 'स्पाइडर मेन' ने लॉर्ड ऑफ द रिंग्स के दूसरे भाग तथा 'हैरी पॉटर' शृंखला की फिल्म को बॉक्स–ऑफिस पर मात दे दी, लेकिन यह नया जोनर 2008 में ब्रिटिश निर्देशक क्रिस्टोफर नालन की फिल्म 'द डार्क नाइट,–बेटमेनत्रयी की दूसरी फिल्म–के बाद ही पूर्णतया व्यावसायिक तथा समीक्षात्मक रूप से स्थापित हो पाया। तब से एक मुख्य जोनर के रूप में तथा बहुत अधिक धनार्जन करने वाली फिल्मों के रूप में सुपरहीरो जोनर की फिल्मों ने विश्व के सभी देशों में हॉलीवुड की सांस्कृतिक पहचान को स्थापित कर दिया।

फेंटसी जोनर से सुपरहीरो फिल्मों की सफलता के सामयिक परिवर्तन का अकादमिक क्षेत्रों में पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ। इस जोनर के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति और विश्व अर्थव्यवस्था पर पड़ रहे प्रभावों पर भी कम ध्यान गया। हम इस विकास पर रोशनी डालने का प्रयत्न करेंगे। इसे अमेरिकन सरकार द्वारा 9/11 के हमलों के प्रति अपनाए गए नए रुख से समझा जा सकता है। जबकि हॉलीवुड सिनेमा के माध्यम से इस आतंकवादी हमले का उत्तर देने के बारे में अनिश्चित रहा। उसी समय बुश प्रशासन ने अनुदार ईसाई धार्मिक बिंबात्मक द्वारा एक कठोर कथानक तैयार कर लिया। राष्ट्रपति बुश ने इस हमले को राष्ट्र, राज्य और परिवार को नष्ट करने वाला तथा विश्वस्तर पर बुराई और अच्छाई के बीच में जंग की तैयारी तथा अंतर्राष्ट्रीय सैनिक अभियान आरम्भ करने की घोषणा की और उसे 'आतंक पर वार' की संज्ञा दी।

फेंटसी और सुपरहीरो फिल्मों में बुराई पर अच्छाई की जीत की कहानी ही कही जाती है। लेकिन राजनीतिक वक्तव्य और सिनेमाई चित्रण में सुपरहीरो फिल्मों का अधिक योगदान रहा। इससे आतंकवाद को हराने में सुपर पावर के मिथक और अत्यधिक हिंसा के अमेरिकन मंतव्य को सहायता मिली। इस तर्क संगतता के पीछे कई ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारण हैं। पहले पर्दे पर प्रभुत्व स्थापित करने वाले सुपर हीरो मूलरूप से एक कॉमिक्स नामक विनम्र माध्यम की देन है। कॉमिक्स एक अनूठा अमेरिकन कथाविष्कार रहा है। एक पूर्णतया घरेलू उत्पाद होने के कारण सुपरहीरो अमेरिकन राजनीति, देशभक्ति, यहूदी ईसाई सेकुलर परम्परा तथा अमेरिकन जीवन पद्धति से दृढ़ता से जुड़े रहे हैं (जेवेट एंड लॉरेन्स, 2008; हेस्सलर–फारेस्ट, 2012)। ये सुपरहीरो प्रतिदिन की लड़ाई शहरी क्षेत्रों के खतरनाक खलनायकों के विरुद्ध लड़ते थे। फेंटसी दुनिया में इन आरम्भिक सुपरहीरो कॉमिक्स के लेखक मूलतः उदार यहूदी थे। जिन्होंने 'अमेरिकन स्वप्न' की पूर्ति हेतु साधारण जीवन के आदर्श मूल्यों का महत्व समझाया तथा उस व्यक्ति वीरनायक का गौरवगान किया जो इस जीवन पद्धति की रक्षा के लिए लड़ रहा था। इसके विपरीत टोकिन, लुईस और रोलिंग का कथा विश्व मध्ययुग और उत्तरी मिथकों और जादुई प्रसंगों पर आधारित था। जो ब्रिटिश राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़ा था (ससीर,2009)। इन कथाओं में वर्णित चुड़ैलों, भूतनियों का मिथक विश्व, अमेरिकन समाज की मानसिकता को अवचेतन स्तर पर छूता था जबकि सुपरहीरो का शक्तिशाली मिथक अमेरिकन चेतना का भाग था।

अब हम अनूठी आधुनिक शैली की माइथोलॉजी से रूबरू हैं जो नए सुपरहीरो, कॉमिक्स और फिल्मों द्वारा प्रचारित की जा रही है। जेविट और लॉरेन्स (2002) ने तर्क दिया कि अमेरिकन क्लासिकल मोनोमिथ का ही एक विशिष्ट प्रकार है जिसके नायक को जोसेफ कैम्पबेल ने पुरातन मिथक में पहचाना। शास्त्रीय मोनोमिथ का नायक एक पहचानी हुई यात्रा करता है अर्थात् साधारणतः से विशेष में प्रवेश और फिर वापसी। कैम्पबेल के अनुसार, ''एक नायक सामान्य दुनियावी जीवन से अधिक दैवीय क्षेत्र में प्रवेश करके अंजान शक्तियों का मुकाबला करता है और विजयी होता है। इस रहस्यपूर्ण कर्त्तव्यों को पूर्ण करने के बाद वह वापस सामान्य जीवन में लौट आता है। (2004;28) शास्त्रीय नायक की जीवनयात्रा संरचनात्मक रूप से एक व्यक्ति के समाज में परंपरागत विधिपूर्वक समाहित होने की यात्रा के समान है। इस मोनोमिथ के अमेरिकन प्रकार में नायक ऐसे ही यात्रा पूर्ण करता है लेकिन अब वह अकेला है और समाज के अन्याय के विरुद्ध लड़ता है : ''एक शांतिमय स्वर्ग में रह रहें समुदाय को दुष्ट शक्तियों द्वारा धमकाया जाता रहा है, उस समाज की रक्षा करने वाली संस्थाएं इस खतरे का मुकाबला नहीं कर पातीं तब एक निःस्वार्थ सुपरहीरो उभरता है और सब खतरों से मुकाबला करता हुआ भाग्य का सहारा पाकर दुष्ट शक्तियों पर विजय प्राप्त करता है तथा समुदाय पुनः अपनी स्वर्गिक स्थिति प्राप्त करता है और सुपरहीरो सामान्यजन में घुल–मिलकर अपरिचित हो जाता है।'' (जेवेट एंड लॉरेन्स, 2002; 6)। अमेरिकन सुपरहीरो की परम्परा में केवल एक व्यक्ति न्यायेतर तरीके से समाज को मुक्ति दिलाता है, इसके विपरीत टोकीन, लुईस और रोलिंग की पुस्तकों में नायक दैवीय और प्राकृतिक व्यवस्था को समर्पित समुदाय की सहायता से स्थापित करता है। अमेरिकन मोनोमिथ अपने नायक को यह आदर्शवादी तर्क दे देता है कि विश्व के मामलों में दुष्टों को नष्ट करने के परिकल्पित उद्देश्य में अमेरिकन हस्तक्षेप उचित है। हमें बुश प्रशासन के इस दावे को स्मरण रखना होगा कि अमेरिका आतंकवाद के विरुद्ध केवल अपनी भूमि की रक्षा के लिए नहीं बल्कि पूरे विश्व की रक्षा के लिए लड़ रहा था।

अमेरिकन सुपरहीरो मिथकों में एक और परिवर्तन किया गया, पुरातन माइथोलॉजी की संरचना को बरकरार रखते हुए आधुनिक कथा कथन में वैज्ञानिक और तकनीकी चमत्कारों का सहारा लिया गया जबकि पुरातन मिथक में जादुई और दैवीय शक्तियों से सम्बन्ध जोड़ा जाता था। अमेरिकन कॉमिक्स के सुपरहीरो परंपरागत रूप से दो तरह के होते थे। एक वे जो वैज्ञानिक शक्तियों से संचालित थे और दूसरे प्रकार के नायक जादुई अद्भुत चमत्कारों और अति प्राकृतिक शक्तियों से सम्पन्न होते थे। सुपरहीरो कॉमिक्स पर बनी अधिकांश फिल्में भविष्यवादी साइंस

फिक्शन प्रेरणा प्राप्त करती हैं– जैसे– स्पाइडर मेन, बेटमेन अथवा वोलवेरेन अमेरिकन समाज की वैश्विक समस्याओं को सुलझाने में निरंतर विज्ञान और तकनीकी प्रगति का सहारा लेती है। यहाँ यह समझना जरूरी है कि सुपरहीरो कहानियों का मूलतत्त्व भले ही वह यथार्थवादी या तर्कवादी हो इस मशीन युग में मानवीय मूल्यों को बचाने के लिए विज्ञान और तकनीक के रहस्यमय पक्ष पर निर्भर होता है। मुख्य बात यह कि इस नए जोनर में नायक आदेश से परिचालित नहीं है जैसा कि टोकीन और लुईस कि रचनाओं में होता था। इस नए नायक को यह अर्धदैवीय शक्तियां विज्ञान से मिली हैं और यह सेकुलर एजेंसियों का प्रतिनिधि है। यह सुपरहीरो ईश्वर और समुदाय को जोड़ने वाला व्यक्ति नहीं बल्कि यह कुछ ईश्वरीय गुणों वाला और मानवीय कमजोरियों वाला होता है (लुण्ड,2016)।

इस पहेली की अंतिम उलझन तब हल हो जाती है जब हम देखते हैं कि हॉलीवुड की सुपरहीरो फिल्में तब ही अपना प्रभुत्व स्थापित कर पायीं जब 2008 के बाद एक वैश्विक आर्थिक संकट आरम्भ हो गया। जब अमेरिकन उपमुख्यतः बंधकपत्र व्यवस्था धराशायी हो गई और साथ ही उसने अंतर्राष्ट्रीय बैंकिंग व्यवस्था को भी अस्थिर कर दिया। इस संयोग को सरल ढंग से उसी समय से नहीं जोड़कर देखा जा सकता। सुपरहीरो कॉमिक तो लोकप्रिय सांस्कृतिक मनोरंजन का अंग 1930 के दशक में बने थे, तब अमेरिकन राज्य व्यवस्था, महामंदी की कठिनाइयों से गुजर रही थी। उस आर्थिक अनिश्चितता और कठिन समय में कॉमिक पुस्तकें मनोरंजन का कम खर्चीला जरिया थीं। इनके सुपरहीरो, सुदृढ़ व्यक्तित्व, साहस और खलनायक से लड़ने की अमेरिकन अव्यवसायी प्रवृत्ति के प्रतीक थे। उस समय के खलनायक थे– भ्रष्ट राजनेता, शेयर बाजार के दलाल, बैंक लूटने वाले आदि। दरअसल, सुपरहीरो राष्ट्रपति फ्रैंकलीन डी.रूसबेल्ट द्वारा प्रस्तावित न्यूडील के जीवंत प्रतिनिधि थे। (लुण्ड,2016)

इस बार यानि 2008 के आर्थिक संकट के बाद के सुपरहीरो का सरोकार व्यवस्था को स्वच्छ करने की बजाय नियो लिबरल व्यवस्था की रक्षा का तर्क तैयार करता था। 9/11 के हमले के बाद, सुपरहीरो पर बहुत अधिक फिल्में अमेरिकन सामूहिक अवचेतन के भय का प्रक्षेपण हैं। जहाँ समाज और अर्थव्यवस्था की दुर्बलता के प्रति आशंका बढ़ी है। पर्दे पर चित्रित सुपरपॉवर द्वारा मुखौटे का इस्तेमाल अमेरिकन राज्य की सुपरपॉवर की कमजोरी को छुपाने का प्रयास है। डैन हैसलर फॉरेस्ट (2012) बताते हैं कि आगामी भविष्य में, सुपरहीरो इस स्वप्नमयी दुनिया को बचाने की कोशिश नहीं कर रहे हैं। यह सोच दर्शाती है कि शीतयुद्ध के बाद के

समय में नियोलिबरल पूंजीवादी व्यवस्था का कोई विकल्प मौजूद नहीं है। ये फिल्में बहुत बड़े बजट से बनती हैं। अपनी लागत से कई गुना अधिक धन पूरे विश्व बाजार से कमाती हैं। इससे इस यथार्थ पर कि अर्थव्यवस्था एक लम्बी मंदी से गुजर रही है, पर्दा पड़ जाता है। इस प्रकार आर्थिक संकट को छुपाने के लिए एक काल्पनिक बुलबुला बनाया जाता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि अमेरिकन सुपरहीरो जोनर, ग्लोबल आर्थिक संकट के विरोध में एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक मोर्चा बन गया है।

❑❑❑

उभरती हुई विश्व व्यवस्था और भारतीय सिनेमा

दुनिया की वे अर्थव्यवस्थाएं जिन्होंने अमेरिकी सिद्धांत नहीं माने (चीन, लैटिन अमेरिकी देश, भारत) वे कभी भी इस तरह की मंदी में नहीं फंसीं और न ही वर्तमान में किसी प्रकार के संकट का सामना कर रही हैं। एशियन टाइगर्स (इंडोनेशिया, मलेशिया, थाइलैंड, दक्षिण कोरिया, जापान), मैक्सिको व अर्जेंटीना रियल स्टेट की गिरावट व विज्ञापनों के प्रचार प्रलोभनों के शिकार होने के कारण, अल्पावधि की पूँजी दीर्घकालीन योजनाओं के लिए कर्ज के तौर पर लेने की गलती के कारण तथा अपने विकास का जरूरत से ज्यादा आकलन करने और अमेरिका को निर्यात बढ़ाने के कारण फंसते चले गए।

भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान सभी देश आर्थिक, राजनीतिक और सैन्य रूप से अमेरिका के 'सुरक्षित जबड़े' में पहुंच गए हैं। आश्चर्य यह है कि सी. पी. एम. वाले भी यू. पी. ए. सरकार द्वारा संचालित अमेरिकी वर्चस्व को फैलाने में बराबर के भागीदार हैं। क्या प्रकाश करात और सीताराम येचुरी भारत के 'गोर्बाचोव और येल्तसिन' हैं जिन्हें सर्वहारा हित की जगह अमेरिकी हित के साथ खड़ा होने का फायदा समझ में आ गया है। सी. पी. एम. के विरोध में नक्सलवादी उठ रहे हैं।

जनवरी–फरवरी 2007 में झारखंड–उड़ीसा के सीमावर्ती जंगलों में दक्षिण एशिया के माओवादी नेतृत्व का सम्मेलन हुआ। इसमें भारत के 16 राज्यों के करीब एक सौ माओवादी नेताओं ने हिस्सा लिया। इनके अलावा नेपाल के तीन और बांग्लादेश व फिलीपींस के एक–एक माओवादी नेता इसमें शामिल हुए। इसमें भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के खिलाफ आंदोलन तेज करने के लिए पीपुल्स लिबरेशन आर्मी और सी. पी. आई. (एम) के सैनिक दस्ते को मजबूत करने से लेकर नए कैडरों को इस आंदोलन से जोड़ने का संकल्प लिया गया है। गुरिल्ला लड़ाई के साथ–साथ मोबाइल युद्ध की रणनीति भी इस सम्मेलन में बनाई गई, जिसके सहारे शहरी इलाकों को निशाना बनाया जाएगा।

इसमें नई लोकतांत्रिक क्रांति के लिए किसान आंदोलन में आस्था जताई गई। नक्सलबाड़ी आंदोलन (छठे दशक के अंत और सातवें दशक की शुरूआत) के बाद पहली बार किसान आंदोलन के महत्व को स्वीकारा गया। चार दशक बाद नए संदर्भ में उसे फिर से उठाने के पीछे विशेष आर्थिक क्षेत्र (स्पेशल इकोनोमिक जोन) के गठन और इसके लिए कृषि योग्य भूमि के अधिग्रहण की नीति के प्रति पनप रही विरोध की भावना है। पश्चिम बंगाल के सिंगुर और नंदीग्राम में सेज का विरोध करके अपना आधार बढ़ाने में नक्सलवादियों को काफी सफलता मिली है। अब वे सेज के विरोध की परिघटना को नए इलाकों में अपना आधार बढ़ाने के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं। माओवादी सम्मेलन में नेपाली नक्सलियों की रणनीति को अपनाने का फैसला भी किया गया। मुप्पला लक्ष्मण राव उर्फ गणपति तथा नेपाली नेता प्रचंड इनके सिद्धांतकार हैं।

ये लोग आंध्र में तेलंगाना, महाराष्ट्र में विदर्भ और उड़ीसा में कोसल राज्य के गठन के पक्ष में हैं। ये मानते हैं कि छोटे राज्य उनके आंदोलन का मुकाबला नहीं कर पाएंगे और इससे उन्हें उपमहाद्वीप में कम्युनिस्ट राज स्थापित करने में आसानी होगी। माओवादी विचारधारा एवं कॉर्डिनेशन कमिटी ऑफ माओइस्ट पार्टिज एण्ड आर्गनाइजेशन ऑफ साउथ एशिया तथा अलकायदा एवं जेहादी इस्लाम, अमेरिकी वर्चस्व के खिलाफ कम से कम साउथ एशिया में काफी व्यवस्थित प्रतिरोध की तैयारी कर रहे हैं। इनके बीच आज–न–कल समझौता हो जायेगा। चीन और पाकिस्तान इन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन देते रहेंगे।

1991 से ईसाई भारत को तृतीय विश्वयुद्ध का रणक्षेत्र बनाना चाहते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप युद्ध स्थल में बदल रहा है। इराक के बाद ईरान फिर भारत। अफगानिस्तान बनाम नेपाल। पाकिस्तान बनाम श्रीलंका। बांग्लादेश बनाम उत्तरपूर्व अमेरिकी वर्चस्व बनाम जेहादी इस्लाम एवं माओवादी। अंत में भारत में फाइनल खेला जायेगा। चीन इस फाइनल युद्ध का उसी तरह दर्शक होगा जैसा अमेरिका द्वितीय विश्वयुद्ध का दर्शक था। दोनों विश्वयुद्धों के बाद अमेरिकी सिनेमा और अमेरिकी सेना ने यूरोपीय सपनों को बेदखल किया था।

भारत को इस स्थिति का पहले भी अनुभव था। गाँधीयुग (दूसरे विश्वयुद्ध के समय) और विनोबा–जयप्रकाश युग (नक्सलबाड़ी से इमरजेंसी तक) में। अब तीसरा मौका आया है। दोनों बार भारतीय हिन्दी सिनेमा ने तीसरे रास्ते को मजबूत किया था। इस बार भी भारतीय सिनेमा की भूमिका जमीनी लड़ाई से ज्यादा महत्वपूर्ण होगी।

प्रिंट मीडिया एवं टेलीविज़न को अमेरिकी बाजारवाद जीत चुका है। लड़ाई सिनेमा और कम्युनिटी रेडियो के स्तर पर ही हो सकती है। जिस तरह सेना के सामान का प्रजातांत्रिक इस्तेमाल हो रहा है ठीक उसी तरह सिनेमा एवं कम्युनिटी रेडियो के तकनीक का भी होगा। आज अमेरिकी सेना के सामान जेहादी इस्लाम और माओवादी गुरिल्लों के पास भी प्रजातांत्रिक विरासत की तरह उपलब्ध हैं। अखबार, पत्रिकाओं तथा टेलीविज़न पर अमेरिकी बाजारवाद, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विज्ञापन एवं पूँजी का खेल, जेहादी इस्लाम एवं माओवादियों या अन्य प्रतिरोधियों के लिए पहुँच के बाहर हो गया है। अलजजीरा का भी सीमित रणनीतिक महत्व है। चीनी टी. वी. पर भी अमेरिकी वर्चस्व के खिलाफ सफल प्रतिरोधी कार्यक्रम नहीं चलाया जा सकता।

लेकिन हैंडी कैमरा से डी. वी. डी. मार्केट एवं एकल सिनेमा हॉल के लिए स्थानीय लेखकों–कलाकारों, तकनीक शिल्पियों की मदद से 12 से 25 लाख में फिल्में बनाई जा सकती हैं। 10 से 15 लाख में प्रभावी कम्युनिटी रेडियो चलाया जा सकता है। इसके लिए तकनीक एवं शिल्प, पद्धति एवं उपकरण सब उपलब्ध हैं। उससे भी ज्यादा सरलता से उपलब्ध हैं जितनी सरलता से जेहादी इस्लाम एवं माओवादियों को मारक हथियार उपलब्ध है। जरूरत केवल थोड़ी ट्रेनिंग और थोड़ी ओरिएंटेशन प्रोग्राम चलाने की है। पूँजी एवं तकनीक के डर से युवकों–युवतियों को मुक्त करने की है। गांधी के हिन्द स्वराज में इसके लिए सूत्र एवं सिद्धांत उपलब्ध हैं। केवल गांधी का उदाहरण अप्रासंगिक मान लिया गया है। चरखा का उदाहरण या सूत कातने का उदाहरण लोकप्रिय नहीं हो पाया। नई पीढ़ी को यह आकर्षित नहीं कर पाया। यहां गांधीजी से चूक हुई। वे समय से पहले यह बात कह गए।

चरखा वामनावतार का तीसरा पग हो सकता है। पहला पग तो कैमरा हो सकता है। बुनियादी शिक्षा में चरखा नहीं चल पाया परंतु कैमरा और फिल्म निर्माण या कम्युनिटी रेडियो चल सकता है। एक वाचिक परम्परा वाला देश जब सदियों की गुलामी से मुक्त होता है तो आप चरखा नहीं पकड़ा सकते, हल नहीं पकड़ा सकते। आप कैमरा पकड़ा सकते हैं, कंप्यूटर पकड़ा सकते हैं, माइक पकड़ा सकते हैं। कलम नहीं पकड़ा सकते।

गांधीजी लोक के जानकार थे परंतु शास्त्र रचने लगे। गांधीजी व्यवस्थित रूप से शास्त्र के जानकार नहीं थे। सैद्धांतिक रूप से वे न अपने यहां का शास्त्र पढ़ पाये थे, न पश्चिम का। फलतः उनसे एक छोटी सी गलती हो गई। वे फालबाह्य उदाहरण से सनातन धर्म एवं सनातन सत्य को स्थापित करने की गलती कर बैठे। उनके शिष्यों

ने गांधीजी को अपनी समस्या नहीं बतलाकर और भी ज्यादा अनर्थ किया। वे गांधीजी से कटते चले गए। गांधीजी से कट कर यह देश तरक्की नहीं कर सकता। गांधीजी से संवाद बनाए बिना वह सदियों की गुलामी से मुक्त नहीं हो सकता।

गांधीजी हमारे अवचेतन को मुक्त करने के लिए भगीरथ जैसे प्रयास करते रहे। केवल सिनेमा वालों ने गाँधी के महत्व को ठीक तरीके से प्रस्तुत करना जारी रखा। 1921 के बाद के भारतीय सिनेमा पर गांधीजी का प्रभाव थोड़े–बहुत कालाविरोध के बावजूद आज तक जारी है। 'लगे रहो मुन्नाभाई' हो या 'विवाह' 'स्वदेश', 'वीरजारा' हो या 'नया दौर' हो या 'मदर इंडिया','दुश्मन' हो या 'दो आंखें बारह हाथ' जैसी फिल्मों पर गांधीजी के हिन्दस्वराज में वर्णित स्वराजी विमर्श की छाया किसी न किसी रूप में दिख ही जायेगी।

❑❑❑

अमेरिका का नया 'अवतार'

कैथरीन बिगेलो ने पहली बार बतौर महिला निर्देशक ऑस्कर अवार्ड जीतकर इतिहास रच दिया है। इराक युद्ध पर बनी उनकी फिल्म 'द हर्ट लॉकर' ने इस साल जेम्स कैमेरॉन की हाई–फाई फिल्म 'अवतार' को पछाड़कर छह ऑस्कर जीते हैं। 'अवतार' को तीन ऑस्कर मिले। ऑस्कर अवार्ड के 80 साल के इतिहास में सिर्फ तीन महिलाओं को ही सर्वश्रेष्ठ निर्देशक के लिए नामांकित किया गया है। 'द हर्ट लॉकर' को बेस्ट फिल्म, बेस्ट डायरेक्टर, बेस्ट ओरिजनल स्क्रीनप्ले, एडिटिंग, साउंड मिक्सिंग और साउंड एडिटिंग का अवार्ड मिला। ऑस्कर का यह पुरस्कार पेचीदा है। अमेरिकी सत्ता कमजोर हो रही है। उसके पास कोई नया विचार और विकल्प नहीं है। वह लगातार अपना प्रभाव और उसे अमल में लाने की इच्छाशक्ति दोनों को खो रही है। अमेरिका अब एक कमजोर हो रही महाशक्ति है जो अपने हित के लिए अपनी सीमाओं से बाहर जाकर लड़ाई लड़ने के लिए कतई दृढ़प्रतिज्ञ नहीं है और जो हथियारों को दफनाने और शांति स्थापित करने के लिए लालायित है। ओबामा के अमेरिका में अब न तो वह आत्मविश्वास है और न ही महाशक्ति बने रहने की रीढ़ है। कमजोर होते अमेरिका को नई बैसाखियों की जरूरत है। इसी संदर्भ में ऑस्कर का नया पुरस्कार 2009 की फिल्मों के लिए दिया गया है।

इस वर्ष के ऑस्कर पुरस्कार अमेरिकन समाज की विचारशैली और आंतरिक द्वंद्व को रेखांकित करते हैं। नौ श्रेणियों में नामांकित इराक युद्ध पर बनी फिल्म 'द हर्ट लॉकर' को 6 पुरस्कार मिले हैं, जिनमें सर्वश्रेष्ठ फिल्म और सर्वश्रेष्ठ निर्देशन की अति महत्वपूर्ण श्रेणियां शामिल हैं। बॉक्स ऑफिस पर सफलतम फिल्म 'अवतार' को तकनीकी श्रेणी के केवल तीन ऑस्कर मिले हैं। फिल्म 'टाइटैनिक' के लिए अनेक ऑस्कर जीतने वाले जेम्स कैमरॉन निश्चय ही हताश होंगे। 'द हर्ट लॉकर' में बम निष्क्रिय करने वाले विशेषज्ञ की व्यथा कथा है और 'अवतार' फिल्म में अमेरिका को हृदयहीन आक्रामक देश के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कोई देश स्वयं को खलनायक के रूप में देखना पसंद नहीं करता। देशप्रेम के मामले में तर्क का कोई

स्थान नहीं रहता।

'अवतार' में अमेरिका की सेना प्रकृति का विनाश करते हुए दिखाई गई है और एक पात्र इस आशय की बात भी करता है कि किसी जगह, भले ही वह दूसरा ग्रह ही क्यों नहीं हो, एक वृक्ष के गिराए जाने पर संसार के सभी वृक्षों की हानि होती है, क्योंकि प्रकृति भी एक अदृश्य डोर से बंधी है। यह तथ्य सभी जानते हैं कि पर्यावरण को सबसे अधिक हानि अमेरिका की जीवन प्रणाली से हो रही है और पर्यावरण बचाने के सारे तौर–तरीके विकासशील देशों पर लादने की चेष्टा हो रही है। पर्यावरण पर कोपेनहेगन में उन्हीं दिनों विचार–विमर्श हुआ जब 'अवतार' का प्रदर्शन था। अत: जेम्स कैमरॉन की 'अवतार' एक तरह से अमेरिका को कठघरे में खड़ा करती है। शायद एकेडमी के वोटर इन बातों से प्रभावित हुए हैं। दूसरी ओर 'द हर्ट लॉकर' में घायल अमेरिकी सिपाही की कथा, उन्हें कहीं तसल्ली दे रही है।

अमेरिका को वियतनाम और कोरिया की तरह इराक और अफगानिस्तान के लिए शर्मसार होना चाहिए। यह संभव है कि अमेरिकी नीति–नियंताओं के दिल के किसी कोने में अपराध–बोध भी हो। ऑस्कर हमेशा से राजनीति से प्रभावित होते हैं। 'लगान' की गुणवत्ता के बावजूद एक छोटे देश की कमतर फिल्म को ऑस्कर से नवाजा गया था, क्योंकि उस देश के खिलाफ भी अमेरिका ने अन्याय किया था। बहुत ही संकरे, परन्तु ठोस देशप्रेम से प्रभावित होते हुए भी कई बार वे सार्वजनिक क्षमा–याचना की मुद्रा में खड़े हो जाते हैं, गोयाकि जेब कतरी के लिए मलाल है, परन्तु कत्ल के गुनाह से कोई खास परेशानी नहीं है।

ज्ञातव्य है कि शेखर कपूर की 'द फोर फैदर्स' भी नकार दी गई, क्योंकि वह आधुनिक आतंकवाद का जन्म इजरायल की स्थापना से प्रारंभ होना प्रदर्शित करती है और साम्राज्यवाद को भी संगठित राष्ट्रीय अपराध ही प्रतिपादित करती है। अमेरिकी बाक्स ऑफिस के भाग्य–विधाता बच्चे हैं और उन्हें राजनीति से कोई सरोकार नहीं। उनके लिए 'अवतार' के कौतुक भरे दृश्य ही काफी थे और 'अवतार' एक अजीब सिनेमाई अनुभव रहा। इस ऑस्कर से यह संकेत भी उभरता है कि मानवीय संवेदनाओं वाली फिल्में, टेक्नोलॉजी की कोख से जन्मी फिल्मों पर, भारी पड़ती हैं। यह स्पष्ट हुआ है कि 'टाइटैनिक' जैसी प्रेमकथा, भले ही उसका निर्माण भी उच्चतम टेक्नोलॉजी के बिना संभव नहीं था, हमेशा विशुद्ध टेक्नोलॉजी वाले सिनेमा पर भारी पड़ेगी। दरअसल सिनेमा में मानवीय संवेदना और करुणा से ऊपर स्थान किसी को नहीं मिल सकता। स्टीवन स्पीलबर्ग और उनके जैसे तमाम फिल्मकारों के कौशल को नमन किया जा सकता है, परन्तु प्यार तो आप चार्ली चैप्लिन से ही करेंगे।

❑❑❑

अध्याय – पांच

सिनेमा का समाजशास्त्र

1. भारतीय सिनेमा का लोकशास्त्र 286
2. साहित्य एवं कला की समकालीन भारतीय दृष्टि –1 और 2 311
3. भारतीय सिनेमा एवं संस्कृति में खलनायक की अवधारणा 356
4. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्रीय विश्लेषण वाया 'दीवार' (1975) 367
5. भारत में सिनेमा एवं राजनीति 387

भारतीय सिनेमा का लोकशास्त्र

लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा को समझने से पहले भारत को एक देश और काल के रूप में समझना आवश्यक है। लोक, शास्त्र, नृत्य, गीत, संगीत की परम्परा को समझना आवश्यक है। भारत एक अनूठा देश है जहां पारम्परिक सभ्यता के उपकरण म्यूजियम में प्रदर्शन के लिए न होकर, सामान्य लोगों की आस्थाओं, मर्यादाओं और दैनिक आचार–व्यवहार में देखे जा सकते हैं। आज भी धार्मिक त्योहारों, पर्वों और अनुष्ठानों का 'मिथकीय काल' ऐतिहासिक समय द्वारा ग्रस नहीं लिया गया है। मनुष्य अपनी लौकिक व्यस्तताओं से उठकर कभी भी उसमें प्रवेश कर सकता है या जीवनपर्यन्त रह सकता है। इतिहास की समस्त उथल–पुथल के बावजूद भारत में एक निरंतरता है। भारत की तथाकथित विवेकहीन लेकिन लोकप्रिय फिल्में इसकी गवाह हैं। भारतीय फिल्मों की विशिष्टता को समझने के लिए हॉलीवुड के सिनेमा से इसकी तुलना करना आवश्यक है।

हॉलीवुड की फिल्मों ने अमेरिका को महाशक्ति बनाया। अमेरिकी सेना इस उपलब्धि को कायम रखे हुए है। अमेरिकी संस्थाएँ हॉलीवुड और पेंटागन नियंत्रित 'विश्व ग्राम' में स्वाभाविक मानवीय व्यवहार को अमेरिकी साँचे और ढाँचे में खपाने में लगी हुई हैं। केवल चीन, जापान और भारत ही इससे स्वतंत्र होने में सफल हुए हैं। सरकारों के स्तर पर तो अमेरिकी वर्चस्व के सामने प्रभावी प्रतिरोध की स्थिति नहीं है लेकिन लोकचेतना के स्तर पर प्रतिरोध कायम है। इस प्रतिरोध को इन देशों के सिनेमा में देखा जा सकता है। खासकर भारत और चीन के सिनेमा में। ईरान के सिनेमा का 1980 के बाद से जो तेवर है वह भी इसी सांस्कृतिक पहचान को कायम रखने का प्रयास है। हिन्दी सिनेमा में भारतीयता की पहचान या पड़ताल करते वक्त उपरोक्त बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

भारत के हजारों वर्षों से आज तक कायम वाचिक परम्परा को भारत के लोकप्रिय सिनेमा से और भारत के लोकप्रिय सिनेमा को इस देश की लोकपरम्परा

एवं लोकसंस्कृति से 1913 से ही ताकत मिलती रही है। समकालीन तकनीक के रचनात्मक सदुपयोग से भारत में सिनेमा कुटीर उद्योग बन सकता है। इसके लिए आम युवा–युवती के मन से तकनीक एवं पूँजी का डर हटाना आवश्यक है। 'चक दे इंडिया', 'भूल भूलैया', 'गुरु', 'लगे रहो मुन्नाभाई' या 'लगान' जैसी फिल्में कम बजट में कॉरपोरेट फंडिंग से प्रशिक्षित टीम द्वारा कस्बों में बनानी होंगी। फिल्म क्राफ्ट सिखाना होगा। भारतीय फिल्मकार और भारतीय दर्शक की क्षमता में अंतर हो सकता है। दर्शक और फिल्मकार दोनों दी हुई वस्तुओं में जो छिपा है। जो अन्तर्निहित है, उसे देखने की क्षमता रखते हैं परन्तु एक फिल्मकार उस 'छिपे' हुए को उजागर करने की दक्षता भी रखता है। दर्शक और फिल्मकार में मूलतः यही अंतर है। दर्शक में ईश्वर–तत्त्व अविकसित अवस्था में होता है। जबकि एक कलाकार के रूप में फिल्मकार में ईश्वर–तत्त्व विकसित अवस्था में होता है। सृजन करने की क्षमता को सनातन जीवन दर्शन में 'ईश्वर–तत्त्व' कहते हैं। एक कलाकार कवि, मूर्तिकार, पेंटर, संगीतकार, फिल्मकार के रूप में सृजन या पुनर्सृजन करता है। वह कवि के रूप में शब्दों को इस तरह पुनर्नियोजित करता है कि भाषा के भीतर से रस का सोता निकाल सके। जिस प्रकार एक मूर्तिकार पत्थर के भीतर छिपी मूर्ति को उत्कीर्णित कर लेता है या जैसे एक संगीतज्ञ आवाजों के बवंडर के बीच 'सुरों की संगति' निकाल लेता है। वह यथार्थ के भीतर 'पूर्ण' होने के लिए तड़पन की 'पुकार' सुन लेता है। यथार्थ जिस तरह मनुष्य द्वारा रूपान्तरित होकर अपना 'सत्य' उपलब्ध कर लेता है, उसी तरह वह मनुष्य को 'कलाकार' में रूपान्तरित करके उसे अपने जीव का 'सम्पूर्णत्व' पाने में योगदान करता है।

कला के इन वृतांतों को समझने के लिए भारत और पश्चिम में, काल एवं इतिवृत के बारे में जो गुणात्मक अंतर है, उसको समझना आवश्यक है। भारत में तकरीबन सभी ऐतिहासिक उपन्यास एवं फिल्में पश्चिमी इतिहास लेखन के मानदंडों पर खरा नहीं उतरतीं। सबमें मिथकीय तत्व एवं पुरा–आख्यान की परम्परा शुष्क इतिहास पर हावी रहती है। वास्तव में पश्चिमी इतिहास लेखन में भी इतिहासकारों के पूर्वाग्रह, व्यक्तिगत निष्ठा एवं वैचारिक रुझान सच को जस का तस प्रस्तुत नहीं करते। इमैनुएल कांट के बाद तो यह बात स्वीकारी भी जाने लगी कि उनका इतिहास, दर्शन एवं समाज विज्ञान सत्य या 'यथार्थ जैसा वास्तव में है' को न अभिव्यक्त कर सकता है, न इसका अध्ययन कर सकता है। (फिर भी, पश्चिमी और गैर–पश्चिमी इतिहास आधारित विमर्श के कलारूप में मूल अंतर है)। पश्चिमी इतिहास केन्द्रित विमर्श या कला रूप के केंद्र में, कालबोध की एक–रेखीय, सीमित और यांत्रिक अवधारणा है जिसे पश्चिमी ईसाइयत द्वारा कृत्रिम मानदंडों पर स्थापित लेकिन आधुनिक

व्यवस्थाओं के लिए सुविधाजनक माने जाने वाले ग्रिगेरियन कैलेन्डर और स्वचालित यांत्रिक घड़ियों द्वारा नियंत्रित एवं संचालित किया जाता है। इसके विपरीत, गैर पश्चिमी विमर्श या कला रूप में कालबोध का चक्रीय स्वरूप है। यह सनातन, स्वयंभू महाकाल का अंश है जिसमें संसार चक्र चलता है, कर्म का सिद्धांत सर्वोपरि बन जाता है और चौरासी लाख योनियों के बीच जन्म–मृत्यु–पुनर्जन्म का चक्र अनवरत चलता रहता है। जब तक जीव मोक्ष, कैवल्य या निर्वाण प्राप्त कर महाकाल में लीन नहीं हो जाता यह चक्र चलता रहता है। कला का संबंध एक ओर उपरोक्त काल से है, और दूसरी ओर इसका संबंध पंचांगों में वर्णित चंद्रमा की कलाओं तथा ऋतु चक्र परिवर्तन की चक्रिय गति से भी है।

भारतीय दृष्टि में फिल्म भी एक कला है। हर कला पारम्परिक ही होती है। आधुनिक कला की भी परम्परा है। आधुनिकता की भी परम्परा है। ठीक उसी तरह भारत में फिल्म निर्माण की भी एक परम्परा है। भारतीय सिनेमा में मनुष्य के दायित्वों के निर्वाह में ही उसकी स्वतंत्र चेतना का आविर्भाव होता है। सृष्टि के प्रति दायित्व, प्रकृति के प्रति दायित्व, चर–अचर के प्रति दायित्व, दायित्वों की देशभूमि में कला की सृजनशक्ति वास करती है। इसके विपरीत 'आधुनिक पश्चिमी सिनेमा' में मनुष्य के अधिकारों पर जोर दिया जाता है। परन्तु इन अधिकारों का उपयोग वह कैसे करे इसकी नैतिक चेतना का स्वाभाविक विकास आधुनिक मनुष्य के लिए एक प्रश्न बना रहता है। भाषाओं का विकास आधुनिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में अक्षम हो जाता है। इसी त्रासदी में कांट का दर्शन 'फेनोमेनोलॉजी' जन्म लेता है। आधुनिक मनुष्य के पास कहने के लिए अद्भुत बातें हैं; कष्ट, वंचना, खुशी के अनुभवों का कोष है, परंतु आधुनिक दर्शन एवं संस्कृतियों के पास समर्थ भाषा, तकनीक एवं व्याकरण नहीं है कि वे इन गहरी भावनाओं, अनुभूतियों एवं सत्यांशों को अभिव्यक्त कर सकें।

भारतीय फिल्मों की पारिभाषिक विशेषता एवं आधारभूत श्रेणियाँ

भारतीय फिल्मों में चार तरह के फिल्मकार हैं। जिनमें पहली तीन श्रेणी के फिल्मकारों की विभिन्न फिल्मों में किसी न किसी रूप में 'भारतीयता' है जो इन्हें दर्शकों के बीच लोकप्रिय फिल्मकार बनाती है या कम से कम इनकी फिल्मों को लोकप्रियता दिलाती है। भारत के अधिकांश फिल्मकारों की विभिन्न फिल्मों में शिल्प, प्रस्तुति, जोनर एवं कथांकन के स्तर पर बहुत विभिन्नता रही है। उनकी फिल्मों का दर्शन, दृष्टिकोण एवं मानदंड (कैनन), उनके व्यक्तिगत अनुभवों एवं अनुभूतियों के कारण, बनते–बिगड़ते रहे हैं। फलस्वरूप एक ही फिल्मकार को एक

श्रेणी में रूढ़ करना अन्याय होगा। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए हम एक वर्गीकरण कर सकते हैंः–

(क) इस श्रेणी में वे फिल्मकार आयेंगे जिनके लिए फिल्म निर्माण एक प्रकार का व्यवसाय है और फिल्में मनोरंजन के साधन के रूप में टिकट खिड़की पर उपलब्ध उत्पाद हैं। इस श्रेणी को स्थापित करने में बॉम्बे टॉकिज के हिमांशु राय और शशधर मुखर्जी का नाम अग्रणी है। इसके उस्तादों में ज्ञान मुखर्जी, सुबोध मुखर्जी, नसिर हुसैन तो आयेंगे ही, वे लोग भी आयेंगे जिनके लिए सिनेमा मूलतः मनोरंजन का साधन या 'शो बिजनेस' है और कहीं न कहीं वे खुद को 'शो मैन' या 'शो वुमन' मानते हैं।

अकादमिक समीक्षा में इस तरह की फिल्मों को 'माइंडलेस (विवेकहीन) सिनेमा' कहा जाता है। इस तरह के फिल्मकार अपने–अपने स्तर पर सिनेमा को एक तरह के 'स्पेक्टकल' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। फिल्म के अनाड़ी समीक्षकों ने मनमानी करके इस श्रेणी के एकाध लोगों को महान 'शो मैन' कह दिया (जैसे राजकपूर, सुभाष घई एवं संजय लीला भंसाली को 'शो मैन' कहने का मूर्खतापूर्ण चलन करीब–करीब एक खास वर्ग में रूढ़ हो चला है) या कुछ फिल्मों को महान स्पेक्टकल कह दिया (जैसे 'मुगले आजम', 'संगम', 'शोले', 'मिस्टर इंडिया', 'रामलखन' या 'क्रिश' को) लेकिन इस श्रेणी के अधिकांश फिल्मकारों को हिकारत के भाव से 'माइंडलेस सिनेमा' कह कर उपेक्षित किया गया। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि इनकी फिल्में फिल्म–समीक्षा के पश्चिमी मानदंडों पर खरा नहीं उतरतीं और समीक्षकों की नजर में इनकी फिल्में देखने और इनसे आनंद उठाने वाले दर्शक अंग्रेजी राज और भारतीय मध्यमवर्ग के अंग्रेजीदाँ वर्ग के अथक प्रयास के बाद भी 'सभ्य', 'विवेक–संपन्न' एवं 'परिष्कृत' पश्चिमी कला मानदंडों के कायल नहीं हो पाये। परंतु सच तो यही है कि भारत का यह तथाकथित माइंडलेस (विवेकहीन) परंतु अपार लोकप्रिय सिनेमा निर्माता की दृष्टि से व्यवसाय होने के बावजूद–व्यावसायिक समझौतों के बावजूद–व्यवसायियों द्वारा नहीं बनाया जाता, बल्कि कलाकारों और साधकों द्वारा ही लिखा, निर्देशित, संगीतबद्ध एवं अभिनीत होता है। सामान्यतः यह पश्चिमी नाट्य परम्परा के मानदंडों पर आधारित नहीं होता बल्कि सचेत या अचेत रूप से पश्चिमी नाट्य परम्परा के मानदंड और पश्चिमी सिनेमा आंदोलनों की उपेक्षा करता है या हंसी उड़ाता है। इसका बहुत ठोस समाजशास्त्रीय कारण है कि भारत का लोकप्रिय सिनेमा अंग्रेजी राज के विरुद्ध जारी स्वाधीनता आंदोलन के वैकल्पिक संस्कृति विमर्श का अंग रहा है। भारतीय सिनेमा के इस पक्ष को अज्ञानी समीक्षक

अपनी 'सांस्कृतिक निरक्षरता' के कारण समझ नहीं पाते। फलस्वरूप वे जे. बी. वाडिया, के. आसिफ, बाबू भाई मिस्त्री, नंदलाल जसवंतलाल, विजय भट्ट, एम. सादिक, एस. यू. सन्नी, मनमोहन देसाई, शक्ति सामंत, राज खोसला, मनोज कुमार, प्रकाश मेहरा, रमेश सिप्पी, यश चोपड़ा, राकेश रोशन, डेविड धवन, महेश भट्ट, प्रियदर्शन, रामगोपाल वर्मा, आदित्य चोपड़ा, करण जोहर, राजकुमार संतोषी, अब्बास मस्तान, विपुल शाह, मिलन लुथरिया, प्रकाश झा और राजकुमार हीरानी को राजकपूर और सुभाष घई की तरह शो मैन नहीं कह पाते। सत्य यही है कि राजकपूर की केवल बाद की फिल्में ('बॉबी' के समय से निर्देशित फिल्में,'संगम' के अपवाद को छोड़कर) ही उन्हें शो मैन की श्रेणी में लाती हैं। वरना वे तीसरी श्रेणी के मध्यमार्गी फिल्मकार हैं। यही बात के. आसिफ, रमेश सिप्पी और सुभाष घई पर भी लागू होती है। के. आसिफ ने केवल 'मुगले आजम' नहीं बनायी है। सुभाष घई ने केवल 'रामलखन' नहीं बनायी है। इनकी सभी फिल्मों को ध्यान में रखकर बात करने पर पश्चिमी फिल्म समीक्षा का फ्रेमवर्क गड़बड़ाने लगता है।

(ख) दूसरी श्रेणी में वे भारतीय फिल्मकार आते हैं जिन्होंने सचेत रूप से भारतीय सिनेमा के कैनन (मानदंड) बनाये हैं या तोड़े हैं। इन्होंने भारतीय सिनेमा को सामाजिक परिवर्तन, समाज सुधार आंदोलन का प्रभावी एवं सचेत माध्यम बनाया है। साथ ही इन लोगों ने अपने दर्शकों से तथा इस देश की परम्परा एवं स्थिति से भी संवाद बनाये रखा है। स्वामी विवेकानंद, बालगंगाधर तिलक, महर्षि दयानंद, सर सैयद अहमद खाँ, महात्मा गाँधी, रबीन्द्र नाथ टैगोर से लेकर मध्यकालीन, समकालीन कवि, शायर, साधक, साहित्यकार आदि से किसी न किसी रूप में प्रेरित रहे हैं। स्वाधीनता संग्राम से प्रभावित रहे हैं एवं इन लोगों ने 'इस देश की परम्परा' और 'सिनेमा के विदेशी तकनीक' के बीच एक प्रकार का समन्वय बनाने की कोशिश की है। इस कोशिश में उन्हें सफलता भी मिली है। लोक में वे प्रिय एवं स्थापित भी हुए हैं। इनमें बाबू राव पेंटर, पी. सी. बरुआ, आगा हश्र कश्मीरी, ए. आर. कारदार, सोहराब मोदी, जयंत देसाई, केदार शर्मा, अमिय चक्रवर्ती, देवकी बोस, फणी मजूमदार, चेतन आनंद, एस. एस. वासन, के. ए. अब्बास, चंदूलाल शाह, नितिन बोस, भगवान, एस.एस. रवैल, रमेश सैगल, जिया सरहदी, मुखराम शर्मा, महेश कौल, कमाल अमरोही, नवेन्दु घोष , ऋत्विक घटक, राजेन्द्र सिंह बेदी, भालजी पेंढारकर, किशोर साहू, राही मासूम रजा, इन्दर राज आनंद, कुमार शाहनी, मणि कौल, सलीम जावेद, एस. रामानाथन, मणिरत्नम, केतन मेहता, संजय लीला भंसाली, आशुतोष गोवरिकर, अनुराग कश्यप जैसे फिल्मकार–लेखक आयेंगे। इस श्रेणी में वह हर महत्त्वपूर्ण फिल्मकार आयेगा जो सिनेमा को अवधारणात्मक स्तर पर

प्रतीकात्मक शक्ति का महत्त्वपूर्ण माध्यम मानता है और सिनेमा के माध्यम से सामाजिक हस्तक्षेप करना चाहता है।

(ग) तीसरी श्रेणी में वे भारतीय फिल्मकार आते हैं जिन्हें मध्यमार्गी या ' मिडल ऑफ द रोड' सिनेमा का प्रवक्ता कह सकते हैं। इसमें शांताराम, मेहबूब खान, राजकपूर, बिमल रॉय, बी. आर. चोपड़ा, गुरूदत्त, विजय आनंद, ऋषिकेश मुखर्जी, लेख टंडन, एल. वी. प्रसाद, सत्येन बोस, गुलजार, तपन सिन्हा, सत्यजित रे, श्याम बेनेगल, बासु चटर्जी, अरुण कौल, सई परांजपे, राजश्री प्रोडक्शन, प्रसाद प्रोडक्शन, जेमिनी, ए. वी. एम. की ज्यादातर फिल्में आयेंगी। इसमें मनोज कुमार, दुलाल गुहा, एम. एस. सथ्यु, के. विश्वनाथ, मुजफ्फरअली, सागर सरहदी, शेखर कपूर, सूरज बड़जात्या, प्रकाश झा, राजकुमार हीरानी आदि की भी चर्चा की जा सकती है। इनकी फिल्मों में लोक और शास्त्र का फैशनेबुल कॉकटेल होता है। उपरोक्त तीनों तरह के फिल्मकार भारतीय हैं लेकिन इनकी फिल्मों में भारत की अलग–अलग तस्वीर है। इनमें अलग–अलग तरह की 'भारतीयता' है।

एक चौथा वर्ग उन फिल्मकारों का है जिनको समानांतर सिनेमा या नया सिनेमा या नया सिनेमा आंदोलन से जोड़ा जाता है। जन्म से तो ये लोग भी भारतीय फिल्मकार हैं लेकिन इनमें से अधिकांश लोग पश्चिम के सिनेमावादी आंदोलन से प्रेरित रहे हैं और भारतीय कहलाने में सामान्यतः शर्म महसूस करते हैं। ये अपने को पारम्परिक फिल्मकार नहीं मानते। इनकी नजर में ये मौलिक फिल्मकार हैं। सामान्यतः इनकी फिल्में जनता की समझ में नहीं आतीं। टीमवर्क के कारण अपवाद स्वरूप इनकी एकाध फिल्म लोकप्रिय भी हो जाती है लेकिन अपने साक्षात्कारों में अपनी इन लोकप्रिय फिल्मों पर गर्व नहीं करते बल्कि अपनी असफल फिल्मों पर गर्व करके दर्शकों को कोसते रहते हैं। जनता इनकी फिल्मों में अपनापन नहीं पाती। लेकिन मीडिया के एक खास वर्ग में इनको बहुत तरजीह दी जाती है। इनको महान फिल्मकार माना जाता है। पश्चिम में भी इनको अपना आदमी माना जाता है । दूसरी ओर भारतीयता में रसी–पगी फिल्मों को मीडिया का उतना सहयोग नहीं मिलता।

भारतीय सिनेमा एवं मीडिया समीक्षा

कुल मिलाकर भारतीय सिनेमा और प्रिंट मीडिया के प्रारम्भ से ही असहज सम्बन्ध रहा है। प्रिंट टेक्नोलॉजी को भारत के मूलतः वाचिक समाज में वह महत्त्व कभी नहीं मिला जो सिनेमा, टेलीफोन या रेडियो, टी.वी. आदि को मिला। फलस्वरूप अंग्रेजी भाषी मीडिया समीक्षकों ने भारतीय सिनेमा के साथ हमेशा

असंतुलित व्यवहार किया है। उदाहरण के लिए राजश्री वालों की 'विवाह'(2006) को मीडिया का सहयोग नहीं मिला। इस फिल्म को धूमधाम से प्रचारित करके रिलीज भी नहीं किया गया। फिल्म की शुरुआत बहुत अच्छी नहीं रही। परन्तु धीरे–धीरे यह फिल्म लोक में प्रिय एवं स्थापित होती गई। इस फिल्म की सफलता ने साबित किया कि मीडिया की चुप्पी और असहयोग के बावजूद घटनायें घटती हैं और लोकजीवन में उन घटनाओं का महत्त्व स्वीकारा जाता है। मध्यवर्ग की यह मान्यता पूरी तरह सही नहीं है कि आजकल अधिकतर महत्त्वपूर्ण घटनायें मीडिया के लिए घटती हैं और मीडिया में घटती हैं। सच तो यही है कि मीडिया के बाहर बहुत बड़ी दुनिया है जहाँ अपनी अक्षमता के कारण मीडिया अब तक नहीं पहुंच पायी है। यदि 'ओम शांति ओम' (2007) जैसी मीडिया हाइप भारतीय सिनेमा की एक प्रवृत्ति है तो 'विवाह' (2006) एवं 'चक दे इंडिया' (2007) दूसरी ज्यादा स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

भारतीय मान्यता है कि असली घटनायें ब्रह्मांड में घटती हैं। ब्रह्मांड में घटने वाली घटना गुमनाम मनुष्य के संकल्प से भी घट सकती है। वह एक साधारण बिना मां–बाप की लड़की और उसके सामान्य चाचा के बीच पाये जाने वाले सामान्य पारिवारिक संबंध की पवित्रता की असाधारण शक्ति के कारण, सगाई जैसे साधारण रस्म एवं विवाह जैसे सामान्य संस्कार या गृहपूजा जैसे साधारण अनुष्ठान के माध्यम से भी, घट सकती है और दादा साहब फालके जैसे साधारण आदमी की सामान्य इच्छा–शक्ति के कारण भी घट सकती है। औसत दर्जे की फिल्मों को मीडिया अपनी खबर में मार या जिला सकती है लेकिन मीडिया की उपेक्षा के बावजूद उत्कृष्ट फिल्मों, रचनाओं को अंततः अपना उचित स्थान मिल ही जाता है। हर रचनाकार को, हर साधक को साधना, रियाज या रिहर्सल या जप–तप की एक सीमा पार करनी पड़ती है। एक अनुकूलतम सीमा (ऑपटिमम लेवेल) या एक दहलीज़ (थ्रेसहोल्ड लेवेल) तक जनसंचार के साधन (मीडिया), पूंजी एवं तकनीक (टेक्नोलॉजी) के सहयोग और असहयोग से फर्क पड़ता है। लेकिन सीमा पार कर लेने के बाद चेतना (आइडिया) का लोक एवं प्रकृति से अपरोक्ष संबंध (तादात्म्य) स्थापित होने लगता है। फैन क्लब, सम्प्रदाय, आंदोलन बनने की प्रक्रिया शुरू होती है।

मीडिया 'आइडिया' (चेतना) के पीछे नहीं इवेन्ट (घटना) के पीछे भागती है। भारत के लोग सामाजिक यथार्थ के इस तत्त्व को समझते हैं। त्योहार भी एक इवेंट (घटना) ही है। यह मत भूलें कि त्योहार में बड़ी मेहनत, उत्साह और खर्च करके मूर्ति बनायी जाती है। फिर उस मूर्ति की पूजा कर त्योहार मनाया जाता है। लेकिन त्योहार

मनाने के अंतिम क्रम में भारतीय संस्कृति की परिभाषित विशेषता प्रस्तुत होती है। जितने उत्साह से मूर्ति बनाकर पूजी जाती है उतने ही उत्साह से विसर्जित (नदी में डुबाना) कर दी जाती है। इसका निहितार्थ यही है कि त्योहार केवल घटना भर नहीं है, मूलतः चेतना ही है। भारतीय दर्शक इसे समझता है। अंग्रेजीदाँ समीक्षक नहीं समझते।

फिल्म 'विवाह' के समकालीन टेक्स्ट (पाठ) से आप पीछे जाएं तो 'नया दौर', 'मदर इंडिया', 'सीमा', 'झनक झनक पायल बाजे', 'तीसरी कसम', 'जागते रहो', 'गाइड', 'उपकार', 'परख', 'दीक्षा', 'अनोखी रात', 'आराधना', 'आनंद', 'अभिमान', 'गोदान', 'शोले', 'आंधी', 'मिर्च मसाला', 'मैंने प्यार किया', 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे', 'हम दिल दे चुके सनम' जैसी फिल्मों पर ध्यान जाता है। इन फिल्मों के खलपात्र के चरित्र या चरित्र–चित्रण में सेमेटिक या मार्क्सवादी कैनन (मूल स्थापनाओं) की स्थापना हो सकती है लेकिन इनके सामान्य पात्र या इनमें वर्णित सामान्य घटनाओं में सनातनी सत्य की स्थापना देखी जा सकती है। मार्क्सवादियों ने 'गोदान' और 'दीक्षा' या 'निशांत' या 'मदर इंडिया' जैसी फिल्मों से यश चोपड़ा की 'दीवार' की तुलना की है। इनमें कुछ समानतायें तलाशी जा सकती हैं। इसके बावजूद इन फिल्मों के लेखन या निर्माण का उद्देश्य अलग–अलग है।

'दीवार' एक व्यावसायिक–फार्मूला फिल्म है जिसके कुछ तत्व 'मदर इंडिया' और कुछ तत्व 'गंगा जमुना' से लिए गए हैं लेकिन असली कहानी मुंबई के स्मगलर हाजी मस्तान के जीवन से प्रेरित है। कहानी में स्मगलरों की दृष्टि का सहानुभूतिपूर्वक चित्रण है। पटकथा की चुस्ती और निर्देशकीय कौशल से इस फीचर फिल्म में विज्ञापन फिल्मों की गुणवत्ता शामिल कर ली गई है। स्मगलरों की गौरवगाथा का विज्ञापन करती यह फिल्म शिल्प के आधार पर और दक्षता के पैमाने पर कुछ सिरफिरे समीक्षकों को कालजयी फिल्म भी दिखती है। लेकिन यह मत भूलिए कि इसको स्थापित करने में बहुत पैसा लगा है। बहुत मेहनत की गई है। बहुत मस्तिष्क लगा है। इसके बावजूद यह उसी वर्ष प्रदर्शित 'शोले' का दर्जा हासिल नहीं कर पाई और न ही 'जय संतोषी मां' का । 'दीवार' के हाइप की तुलना फिल्म 'ओम शांति ओम'(2007) के हाइप से की जा सकती है जबकि 'जय संतोषी माँ' की सफलता की तुलना 'चक दे इंडिया'(2007) या 'विवाह'(2006) से की जा सकती है।

110 करोड़ के देश में इतनी विविधता है कि देव आनंद की कलात्मक सनक को भी देखने कुछ लोग पहुंच जाते हैं और रामसे ब्रदर्स की डरावनी हास्य फिल्मों को भी

कुछ दर्शक मिल जाते हैं। महेश भट्ट और आदित्य चोपड़ा की फिल्में जिस तरह थोक के भाव से एक खास वर्ग के दर्शकों में लगातार सराही जाती हैं उसी तरह 1970 के दशक में अमिताभ बच्चन की फिल्में सराही जाती थीं। इनकी लोकप्रियता नापने का कोई वस्तु–निष्ठ पैमाना तो अब तक विकसित नहीं हुआ है। जिस तरह 'निशांत' में जमींदार है और मदर इंडिया में साहूकार उसी तरह भारतीय सिनेमा में समीक्षक–आलोचक हैं। सभी मनमानी करते हैं।

भारत में आलोचकीय धर्म, अकादमिक न्याय और संस्थाबद्ध समीक्षा का अभाव है। अपनी सुविधा से समीक्षक मिथक गढ़ देते हैं। समीक्षकों या मीडिया की संरचना में पारदर्शिता, जनतंत्र और बहुसांस्कृतिक रुझान का अभाव है। अंग्रेजी राज ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में जितना अहित किया उससे कहीं ज्यादा साहित्य, सिनेमा, कला, संस्कृति और धर्म के क्षेत्र में अहित किया है। अंग्रेजी राज ने भारतीयों के बीच साहूकारों, जमींदारों, मठाधीशों, समीक्षकों, विद्वानों की एक नई जमात पैदा कर दी जो भारतीय होते हुए भी भारतीय लोगों से नफरत करते थे, भारतीय संस्कृति, कला, नीति, नैतिकता के विरुद्ध काम करते थे लेकिन अंग्रेजी राज के हिमायती होने के कारण समाज पर गुंडागर्दी करके आम जनता को रौंदते रहते थे।

1947 के बाद भी राज्य और विश्वविद्यालय द्वारा पोषित संस्थाएं आम जनता को ही दोषी मानती रही हैं, लेकिन भारतीय सिनेमा ने जनता को नायकत्व दिया और शासन तथा समाज पर काबिज अंग्रेजी राज के हित–चिंतन से उपजे काले अंग्रेजों की जमात को खलनायक बनाया। इसकी शुरुआत कम से कम हिन्दी में प्रेमचंद, प्रसाद और निराला की रचनाओं में हुई। 1936 के बाद हिन्दी साहित्य का यह मूल स्वर हिन्दी सिनेमा में अभिव्यक्त हुआ। 1936 तक हिन्दी मूलतः स्थानीय लोकभाषा थी। हिन्दी को राष्ट्रभाषा हिन्दी सिनेमा ने बनाया जब गुजराती–भाषी मेहबूब, मराठी–भाषी शांताराम, बंगाली–भाषी बिमल रॉय, पंजाबी–भाषी चेतन आनंद , राजकपूर और बलदेवराज चोपड़ा जैसे लोगों ने एक सचेत निर्णय किया कि वे अपनी मातृभाषाओं में नहीं बल्कि हिन्दी में अपनी फिल्म बनायेंगे, वह भी मुंबई जैसे मराठी क्षेत्र से, तो हिन्दी को व्यापक राष्ट्रीय फलक मिला।

भारत में सिनेमा हॉल की स्थिति धीरे–धीरे (1913 से लेकर आजतक) हिन्दू मंदिरों के समतुल्य हो गई है। मंदिर और सिनेमाघर ठेठ भारतीय 'पब्लिक स्फेयर' या सार्वजनिक स्थान हैं जहां लोगों की भीड़ लगी रहती है। मंदिर या सिनेमा हॉल के प्रवेश और निकासद्वार सामान्यतः एक ही होते हैं, खासकर एकल ठठिया सिनेमा गृहों के। मंदिर और सिनेमागृह के प्रवेश एवं निकासद्वार पर भीड़ देखी जा सकती है। अंदर

पहुंचने की आपाधापी, टिकट खिड़की की लंबी कतार के साथ–साथ मार–पीट या ब्लैक टिकट की खरीद–फरोख्त देखी जा सकती है। कुछ मंदिरों में सिनेमा हॉल की तरह भगवान के दर्शन के लिए श्रेणीबद्ध टिकट रेट (दर) है। अतः सिनेमा का समाजशास्त्र धर्म के समाजशास्त्र से काफी कुछ सीख सकता है। भारतीय तत्त्वविज्ञान के अनुसार मंदिर (सिनेमागृह) विशेष परिस्थिति एवं प्रभाव उत्पन्न करता है जिसमें भगवान की लीला (संसार) का प्रतीकात्मक या लाक्षणिक वर्णन या चित्रण सुनने या देखने का अवसर मिलता है। परिस्थितियां नियति एवं नियंता (निर्देशक तथा लेखक) के हाथ में होती हैं लेकिन उन परिस्थितियों में हर व्यक्ति एकसमान व्यवहार नहीं करता। उन परिस्थितियों का हर व्यक्ति एकसमान अर्थ नहीं लगाता। हर व्यक्ति अपने स्वभाव, स्वधर्म, पृष्ठभूमि, प्रशिक्षण और इच्छा–आकांक्षा के आधार पर अर्थ लगाता है। भीड़ में भी वस्तुतः हर व्यक्ति अकेला होता है, खासकर मंदिर के अंदर या सिनेमागृह के अंदर की भीड़ में।

सिनेमागृह में फिल्म शुरू होने से पहले अंधेरा कर दिया जाता है। पश्चिम के धर्म स्थानों में पूजा–पाठ, प्रार्थना या अन्य कर्मकांड प्रकाश में किए जाते हैं। अतः सिनेमागृह का अँधेरा और पूजा स्थल के उजाले में एक प्रकार का प्रतिकूल सम्बन्ध माना जाता रहा है। फिल्मों के विमर्श और संस्कृति एवं धार्मिक विमर्श एवं कर्मकांड के बीच भारत के बाहर एक प्रकार का असहज सम्बन्ध रहा है। दूसरी ओर पश्चिम में विकसित सिनेमा की तकनीक एवं अंधेरे में फिल्म देखने की संस्कृति का भारतीय धर्मोपासना से 1913 से ही सहज सम्बन्ध विकसित हो गया। यह अप्रासंगिक नहीं है कि भारत की प्रथम फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' है और हॉलीवुड की प्रथम फिल्म 'दि ग्रेट ट्रेन रॉबरी'।

हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार गर्भगृह में इसीलिए अंधेरा होता है ताकि श्रद्धालु के भीतर आत्मप्रकाश जल सके। मां के गर्भ की तरह या कब्र या चिता के समान गर्भगृह में जाने (बीज रूप या पिता रूप में जाने) और आने (संतान के रूप में आने) का रास्ता एक ही होता है। संसार की पहली फीचर फिल्म को फ्रांस के लोगों ने 'इंडिया सैलून' नामक पेरिस के एक होटल के हॉल में देखा था। जिस तरह कृष्ण का जन्म कृष्ण जन्माष्टमी की कालीरात में कारागृह के अंधेरे में देवकी की कोख से हुआ था, लेकिन वे पले–बढ़े–खेले यशोदा की गोद में, ठीक उसी तरह सिनेमा जन्मा तो फ्रांस जैसे पश्चिमी यूरोपीय देशों में लेकिन पला–बढ़ा अमेरिका (हॉलीवुड), चीन, जापान और भारत में।

धीरे–धीरे हॉलीवुड की फिल्मों ने, यूरोपीय फिल्म निर्माण को, बेहतर तकनीक, बेहतर शिल्प एवं मिशनरी भावना से, यूरोपीय दर्शकों एवं यूरोपीय सिनेमाघरों के लिए अप्रासंगिक एवं अनाकर्षक बना दिया। कुछ यूरोपीय समीक्षकों के अनुसार हॉलीवुड की फिल्में अमेरिका में बसे यहूदियों का यूरोपीय ईसाइयत के खिलाफ शुरू किया गया सांस्कृतिक जेहाद है। दूसरी ओर भारत के आम दर्शकों को सिनेमा हॉल का अंधेरा मंदिरों के गर्भगृह की स्मृति देता है। फिल्म के कथानक (नैरेटिव) में रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत या जातक कथाओं के तत्त्व होते हैं।

भारतीय पूजा पद्धति की तरह हमारी फिल्मों में भी अक्सर गीत–संगीत का तत्व होता है। हर नायक में कृष्ण और हर नायिका राधा या गोपी होती है। हर विरहिणी मीरा या गोपियों के गीत गाती है। भारतीय सिनेमा पारम्परिक लोकजीवन का ही विस्तार है। यह व्यवस्थित तरीके से या योजनाबद्ध तरीके से नहीं किया गया। यह अपने आप हुआ है, अवचेतन के स्तर पर हुआ है। इसके विपरीत देश के विश्वविद्यालयों या अंग्रेजी मीडिया को सत्ता–प्रतिष्ठान से, अंग्रेजी–राज के दौरान से ही, व्यवस्थित साधन, साधक, निर्देश, मार्गदर्शन एवं संपोषण मिलता रहा है। अंग्रेजी राज के समय से लोकजीवन और लोकशास्त्रों को हिकारत के भाव से देखा जाता रहा है। लेकिन भारतीय सिनेमा ने लोकजीवन और लोकशास्त्रों से तादात्म्य स्थापित किया। भारतीय संस्कृति के लोकपक्ष के संरक्षण–संवर्धन में तथा लोकरीति के असंतुलित पक्षों की समीक्षा में भारतीय सिनेमा की भूमिका भारतीय राज्य और भारतीय विश्वविद्यालयों से ज्यादा रही है।

भारतीय राज्य और भारतीय विश्वविद्यालय पश्चिमी शास्त्रों की ओर उन्मुख होकर अपना विमर्श और व्यापार चलाते रहे हैं जबकि भारतीय सिनेमा कुछ अपवादों एवं अतिरेकों के बावजूद इस देश के लोक और शास्त्र से संवाद बनाकर अपना विमर्श एवं व्यापार चलाता रहा है। यही कारण है कि भारत में सिनेमा इतना लोकप्रिय और इतना सशक्त माध्यम है। भारतीय विश्वविद्यालयों में सिनेमा को एक विषय एवं प्रभावी जनसंचार माध्यम के रूप में महत्व नहीं मिला। हमेशा इसे 'हेय मनोरंजन' का साधन मानकर, विश्वविद्यालय के बाहर की चीज मानकर अपने भरोसे जीने–मरने के लिए छोड़ दिया गया। 2007 से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सिनेमा अध्ययन का विषय नहीं माना जाता। यह तो भारतीय सिनेमा की जीवंतता और आंतरिक ऊर्जा है जिसने खुद अपने अस्तित्व की रक्षा की है, अपना पालन–पोषण किया है। अपनी वैश्विक पहचान बनायी और उभरते हुए भारत की सबसे प्रमुख सांस्कृतिक पहचान बन गई है।

अतः भारतीय सिनेमा के स्वरूप और भारतीय दर्शकों से इसके रागात्मक संबंधों को समझना आवश्यक है। इस रागात्मक संबंध का एक इतिहास और समाजशास्त्र है। इसका एक सौन्दर्यशास्त्र और तत्व मीमांसा है। 'अंधेरे से प्रकाश' (तमसो मा ज्योर्तिगमय) वह सूत्र है जो इसको समझने में सहायक है। अधिकांश भारतीय दर्शकों को सिनेमा हॉल का अंधेरा और अंधेरे में प्रकाशित लीलात्मक कथानक का पारम्परिक मंदिर के गर्भगृह में देवमूर्ति और श्रद्धालु भक्त के रागात्मक–आध्यात्मिक संबंध से अवचेतन स्तर पर संबंध दिखता है। फिल्मी कथानक आध्यात्मिक लीला प्रसंग की अनुकृति है। उसकी स्मृति एवं अनुगूंज है।

सिनेमागृह के अंधेरे में दर्शकों की भीड़ में भी हर दर्शक 'फिल्म के पाठ' से, फिल्म के कथानक से, कथानक के यथार्थ और संभावना यानि सत्य से एक अपरोक्ष संवाद बनाता है। हर अच्छी या कुमारस्वामी के शब्दों में कहें तो हर 'नार्मल'(सामान्य) फिल्म अंधेरे में एक परिस्थिति पैदा करती है कि व्यक्ति अपने 'प्रिय ब्रह्म' (आत्म ब्रह्म) का साक्षात्कार कर सके। सामान्यतः वह फिल्म लोकप्रिय (हिट) हो जाती है जिसमें आत्मसाक्षात्कार या आत्मानुभूति से उपजा एक सहज संवाद (वन लाइनर) भी होता है। इसे सूत्र वाक्य भी कह सकते हैं। यह 'सूत्र वाक्य' चिंगारी का काम करता है। मंत्र की तरह काम करता है। टी.वी. ऐंटिना की तरह काम करता है। वह हर दर्शक के भीतर सैकड़ों 'चेन रियेक्शन' पैदा करता है। वह दर्शक (दर्शकों) को अपने युग से, युग–सत्य से, अपनी सुप्त संभावनाओं से, असीम संभावनाओं से साक्षात्कार कराता है। इसी अर्थ में भरतमुनि, अभिनवगुप्त, कुमारस्वामी जैसे लोग कला को ब्रह्म से आत्मा का संवाद मानते हैं। इसी अर्थ में कला ब्रह्म–सहोदर है। भारत में फिल्म भी सामान्यतः एक कला ही है। हिमांशु राय, शशधर मुखर्जी से लेकर आदित्य चोपड़ा, रामगोपाल वर्मा, महेश भट्ट आदि की कोशिशों के बाद भी भारत में फिल्म हॉलीवुड की तरह एक सांस्कृतिक उत्पाद भर नहीं बन पाया है। कम से कम दर्शकों ने इसे सांस्कृतिक उत्पाद के रूप में अभी तक नहीं स्वीकारा है। भारतीय दर्शक और अधिकांश स्वतंत्र फिल्मकार फिल्म को भारत में आज भी कला रूप ही मानते हैं और हर सफल फिल्म में आधुनिक तकनीक और पारंपरिक कला मूल्यों का समन्वय एवं तादात्म्य किसी न किसी रूप में स्थापित 'किया जाता है' या 'हो जाता है'।

भारतीय दृष्टि में अंततः अधिकांश पारम्परिक फिल्मकार (जैसे डी.के. बोस, केदार शर्मा, बिमल रॉय, राज कपूर आदि) एक समकालीन ऋषि की तरह व्यवहार करते हैं। हर फिल्म एक प्रकार से उसकी साधना और सिद्धावस्था का प्रकटीकरण (मैनिफेस्टेशन) है। कोई भी ऋषि अपना सत्य दूसरों पर आरोपित नहीं करना

चाहता। दूसरों के सत्य को स्वीकारने में उसे कोई दिक्कत नहीं होती। चूंकि सत्य तो अद्वैत होता है चाहे उस सत्य को कोई अपना बोल रहा हो या पराया। सत्यानुभूति में अद्वैत है। केवल असत्य में द्वैत है। द्वैत में विरह और वियोग है। इसलिए सत्यानुभूति के आग्रही दर्शक फिल्म के अंत में मिलन, अद्वैत, सत्यम शिवम सुन्दरम देखना चाहते हैं। सत्य, न्याय, दैवीय शक्तियों की जीत देखना चाहते हैं। ट्रेजडी नहीं देखना चाहते। दुखांत फिल्में, त्रासदीदायक फिल्में, असत्य, अन्याय, असंतुलित फिल्में सामान्यतः इस देश में सफल नहीं होतीं। विदेश में बसे भारतीयों या पश्चिमपरस्त दर्शकों में लोकप्रिय हो सकती हैं लेकिन आम भारतीय ऐसी फिल्मों को नकार देते हैं।

पश्चिम में ट्रेजडी काफी लोकप्रिय रहा है। प्राचीन यूनान की परम्परा में, रोम की परम्परा में, शेक्सपियर के नाटकों में ट्रेजडी कला का श्रेष्ठ रूप है। चाहे आप अरस्तू के सौन्दर्यशास्त्र को देखें या हीगेल का या फिर नित्शे के सौन्दर्यशास्त्र को ही देख लें पश्चिमी मानस ट्रेजडी की उत्कृष्टता से अभिभूत है। इसी तरह फ्रांसीसी और इतालवी सिनेमा में यथार्थवाद या नवयथार्थवाद सिनेमा का सबसे प्रतिष्ठित रूप रहा है। लेकिन भारत में ऐसी फिल्मों को सामान्यतः बहुत उत्कृष्ट और सफल फिल्मों की श्रेणी में नहीं रखा जाता। पश्चिमी फैशन से प्रेरित ऐसी फिल्में समानांतर सिनेमा (1969 के आसपास शुरू हुआ तथाकथित नया अथवा 'बौद्धिक एवं कलात्मक' सिनेमा) की श्रेणी में आती हैं। इन्हें भारत में सीमित दर्शक ही मिल पाए। ऐसे फिल्मकार दर्शकों की समझ को दोष देते हैं। दरअसल भारतीय परिवेश में ऐसी फिल्मों को दर्शक नहीं मिलने के पीछे ठोस समाजशास्त्रीय कारण रहे हैं। दरअसल फ्रांस और इटली में सिनेमा का संबंध आधुनिकता से है। यह परम्परा के साथ उस रूप में नहीं जुड़ा है जिस रूप में भारत में जुड़ा है। यूरोप में पारम्परिक संस्थायें एवं पारम्परिक लोग अब बचे ही नहीं हैं। वहां परम्परा एक 'नोस्टालजिया' के रूप में या म्यूजियम में प्रदर्शन के लिए रखी गई वस्तु के रूप में ही जिंदा है। यूनानी परम्परा में ट्रेजडी पैगन विश्वदृष्टि में एक अलग अर्थ रखता था। फ्रांसीसी या इतालवी यथार्थवादी–नवयथार्थवादी सिनेमा में इसका एक अलग अर्थ है।

यूनानी परम्परा में ट्रेजडी का एक अतिमानवीय अर्थ था। मध्यकालीन ईसाइयत ने ट्रेजडी (त्रासदी) को एक अन्य अर्थ दिया था। आधुनिकता की विचारधारा और औद्योगिक पूंजीवादी प्रजातंत्र में त्रासदी का अर्थ गुणात्मक रूप से बदल जाता है। ओपेरा की फ्रांसीसी परम्परा और पेंटिंग की इतालवी परम्परा से पश्चिमी यथार्थवादी परम्परा का जो संबंध है वह फ्रांसीसी या इतालवी सिनेमा में देखा जा सकता है। लेकिन भारतीय सिनेमा का पारसी थियेटर से या भारतीय चित्रकला से वैसा संबंध नहीं है। भारतीय सिनेमा का संबंध लोकसंस्कृति, लोकसंगीत और कथा कीर्तन–

भजन और मंदिरों में प्रवेश कर आत्मानुभूति प्राप्त करने की परम्परा से ज्यादा है। इसलिए आत्मविभोर दर्शक कभी सीटी बजाने लगता है और कभी ताली कभी पैसा फेंकने लगता है और कभी हो–हो करने लगता है। कभी नायक–नायिका की पूजा करने के लिए मंदिर बनाने लगता है और कभी फैन क्लब बनाकर समाज सेवा और राजनीति करने लग जाता है।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र केन्द्रित सिनेमा–अध्ययन का अभी व्यवस्थित विकास नहीं हुआ है लेकिन 1913 से लेकर अब तक की सफल–असफल (दर्शक संख्या के आधार पर) फिल्मों के तुलनात्मक समाजशास्त्रीय उपकल्पना के आधार पर एक कामचलाऊ सामान्यीकरण किया जा सकता है कि पश्चिमी ढंग के यथार्थवादी एवं नवयथार्थवादी फिल्मों को भारतीय दर्शकों का वैसा समर्थन नहीं मिल पाता जैसा आधुनिक पश्चिम के सिने दर्शकों के द्वारा उन्हें मिलता है।

इसका कारण यह नहीं है कि भारत के दर्शक अनाड़ी हैं और एक अच्छी फिल्म को प्रोत्साहन नहीं देते, बल्कि इसका कारण यह है कि भारतीय दर्शकों के लिए नई तकनीक में प्रस्तुत होने के बावजूद सिनेमा उसकी जानी–पहचानी अपनी चीज है जिसकी इस देश के हजारों वर्षों के वाचिक परम्परा और कथा वाचन एवं कथा श्रवण की लोक परम्परा एवं लोक संस्कृति से गहरा संबंध है। जबकि पश्चिम में परम्परा और पारम्परिक संस्कृति का आधुनिक दर्शकों एवं आधुनिक सिनेमा से कोई जीवंत रिश्ता ही नहीं है। अंग्रेजी राज में विकसित भारतीय साहित्य का भारतीय समाज से वैसा जीवंत संबंध आज तक विकसित नहीं हो पाया, जितना भारतीय सिनेमा का 1913 से स्थापित हो गया था। भारतीय दर्शकों ने सिनेमा को पहली नजर में ही दिल दे दिया। ऐसा प्यार केवल भक्त कवियों एवं सूफी गायकों को ही मिला है। अतः भारतीय दर्शकों को दोष देने के बजाय यथार्थवादी या नवयथार्थवादी सिनेमा की अभारतीयता को ठीक से समझने की आवश्यकता है। भारतीय समाज में 'यथार्थ' सत्य का एक अंश या रूप मात्र है। यथार्थ को या यथार्थ के अध्ययन को आधुनिक यूरोपीय मानववाद एवं मानववादी इतिहास, दर्शन एवं समाज विज्ञानों ने एक खास स्वरूप प्रदान किया है। यूरोप के आधुनिक विमर्श में सत्य या न्यूमेना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। वहां यथार्थ या फेनोमेना का ही महत्व है। यहां ध्यान रखना आवश्यक है कि भारत में यथार्थ न्यूमेना का ही अंश या रूप है। जबकि पश्चिम में यथार्थ फेनोमेना का रूप है। पश्चिम में यथार्थ वह है जिसे इतिहासकार की अध्ययन प्रणाली एवं अवधारणायें यथार्थ मानती हैं। जो इतिहासकार छोड़ देता है या जो उसकी अवधारणाओं से संगति नहीं रखती उसे वह मिथक, कल्पना या असत्य कहकर खारिज कर देता है।

भारत में जब सिनेमा का जन्म एवं विकास हुआ (1913 से 1947) उस वक्त भारत में अंग्रेजी राज था। देश में स्वाधीनता आंदोलन चल रहा था। 1913 से 1920 तक के स्वाधीनता आंदोलन पर कांग्रेस के गरम दल का सबसे ज्यादा प्रभाव था। बालगंगाधर तिलक उस युग के सबसे बड़े नेता एवं प्रेरणा पुरुष थे। दादा साहब फाल्के और प्रभात फिल्म कंपनी पर तो स्वतंत्रता आंदोलन का प्रभाव था ही, रणजीत मूवीटोन,न्यू थियेटर्स और मिनर्वा मूवीटोन पर भी स्वतंत्रता आंदोलन का कम प्रभाव नहीं था। अतः जिसे अंग्रेजीदाँ लोग भारतीय दर्शकों एवं फिल्मकारों की नासमझी मानते हैं वह एक प्रकार के सांस्कृतिक विमर्श के वैकल्पिक व्याकरण एवं वैकल्पिक सौंदर्यशास्त्र से निकला प्रतिरोधी आख्यान है जिसे स्वदेशी आंदोलन और स्वाभिमानी साधना ने सींचा था।

इस दृष्टि से देखने पर यथार्थवादी सिनेमा और इसको बनाने वाला फिल्मकार निम्न श्रेणी में आता है। यह कला और कलाकार की प्रारंभिक अवस्था का द्योतक है। जब एक कला और सांस्कृतिक साधन के रूप में सिनेमा किसी देश में जन्म लेता है तो यथार्थवादी सिनेमा की बाढ़ आती है। एक नया–नया फिल्मकार जब फिल्म बनाना सीख रहा होता है, जब फिल्म की तकनीक और शिल्प से उसे नया–नया रोमांस होता है तो वह यथार्थवादी या नवयथार्थवादी सिनेमा बनाता है। वह रियलिटी को डाक्युमेंट करता है। रियलिटी पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। भारतीय दृष्टि से यह सागर को गागर में भरने की हिमाकत है जो उस्ताद–शागिर्द परम्परा के कमजोर पड़ने या लुप्त होने की स्थिति का द्योतक है। यह 'नीम हकीम खतरे जान' की कहावत की प्रासंगिकता की स्थिति है। यह कुआँ के मेंढक का आत्मालाप है कि उसने 'पुनर्सृजन' नहीं 'सृजन' किया है, 'अनुकृति' नहीं 'कृति' बनायी है। भारत में ऐसी फिल्मों को लोक स्वीकार नहीं करते हैं। लोक में वही सिनेमा स्वीकृत होता है जो सत्य (मिथक + यथार्थ + संभावित यथार्थ) से संवादित होता है। जो सत्य को निवेदित होता है।

भारत में फिल्में लोक के स्तर पर दो अलग तरह से प्रिय एवं स्थापित होती हैं। इस दृष्टि से लोक प्रिय (ब्लॉक बस्टर्स) फिल्मों का दो वर्गीकरण किया जा सकता है। एक को 'लोकप्रिय' फिल्म और दूसरे को 'कालजयी' फिल्म कह सकते हैं। लोकप्रिय फिल्म में 'क्षण की प्रियता' होती है। सत्य का आभास होता है। दूसरी ओर 'कालजयी' फिल्म में सत्य का अंश संकेतित या निवेदित होता है। कालजयी फिल्में लोक में क्षणिक रूप से प्रिय होने के बाद लोक में स्थापित भी हो जाती हैं। लोकप्रिय फिल्में पश्चिमी अर्थों में 'मेटाफोरिक' होती हैं। जबकि कालजयी फिल्में 'मेटानोमिक'

होती हैं। पश्चिम में 'मेटाफोरिक' को 'फेनोमेना' कहते हैं। वहां मेटाफोरिक को उत्कृष्ट कला माना जाता है। हमारे यहां मेटानोमिक या मेटानोइक (कालजयी, लाक्षणिक) कला न्यूमेना (सत्य) का लक्षण या अंश है। यह सर्वोत्तम कला का रूप है जबकि 'मेटाफोरिक कला' कला का अविकसित या अल्पविकसित रूप है। कालजयी फिल्में गुरू–शिष्य या उस्ताद–शार्गिद परम्परा से निकला हुआ या ऋषि परम्परा की तरह आत्मानुभूति से गुजरा हुआ फिल्मकार ही बना पाता है। कभी–कभी कोई निर्दोष–सुधी फिल्मकार किसी ज्ञात–अज्ञात प्रेरणा से जाने–अनजाने भी कालजयी बना लेता है। या कहें, कभी–कभी ऐसी फिल्में अपने आप भी बन जाती हैं। सामान्यतः कालजयी फिल्मों का अवतरण ब्रह्माण्डीय घटना के रूप में होता है। इन फिल्मों का सेल्फ वैल्यू होता है।

भारत में सिनेमा के प्रारंभ में विभिन्न क्षेत्रों और भाषाओं के लोग उसी तरह जुड़े जैसे हॉलीवुड के सिनेमा में यूरोपीय देशों के विभिन्न भाषा–भाषी लोग जुड़े थे। लेकिन हॉलीवुड की फिल्मों और अमेरिका की भाषा अंग्रेजी है। भारतीय सिनेमा के प्रारंभ में पांच प्रमुख केन्द्र थे – कलकत्ता, बम्बई, लाहौर, मद्रास और कोल्हापुर–पुणे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कलकता, लाहौर और पुणे के कलाकार–तकनीकी विशेषज्ञ भी बम्बई चले आए। कुछ बम्बई से पाकिस्तान भी गए। विभिन्न क्षेत्रों से आए लोगों ने व्यावहारिक कारणों से अपनी मातृभाषा के स्थान पर हिन्दी में फिल्म बनाना शुरू किया। शांताराम मराठी भाषी थे, मेहबूब खान गुजराती बोलने वाले, बिमल रॉय, अमिय चक्रवर्ती, फनी मजूमदार आदि बंगाली भाषी थे तो चेतन–देव–विजय आनंद, बलदेवराज चोपड़ा, यशराज चोपड़ा, पृथ्वीराज कपूर, राजकपूर, केदार शर्मा और दिलीप कुमार पंजाबी भाषी। एस. एस. वासन मद्रासी थे। सोहराब मोदी पारसी मिश्रित मराठी हिन्दी बोलते थे।

अधिकांश तकनीकी विशेषज्ञ अंग्रेजी में सोचते–बोलते–काम करते थे। अतः हिन्दी सिनेमा को धीरे–धीरे राष्ट्रीय सिनेमा का दर्जा तो प्राप्त हो गया लेकिन हिन्दी फिल्म उद्योग के कामकाज की भाषा (भारत सरकार और विश्वविद्यालयों के कामकाज की भाषा की तरह) अंग्रेजी हो गई। सिनेमा के बारे में अधिकांश किताबें भी अंग्रेजी भाषा में ही लिखी गईं। ज्यादातर पटकथा अंग्रेजी भाषा में अंग्रेजीदाँ लोगों ने लिखी। संवाद भी अंग्रेजी भाषा में ही होते थे। एक अनुवादक को संवाद लेखक का दर्जा दिया गया। विश्व सिनेमा में कथा–पटकथा ही एकमात्र श्रेणी है। कभी–कभी 'एडाप्टेड फ्रॉम ओरिजनल' (मूल से रूपांतरित) वाली श्रेणी भी दिखती है। लेकिन कथा–पटकथा से अलग संवाद लेखक की श्रेणी भारतीय सिनेमा की मौलिक

विशेषता बन कर उभरी है। जिस तरह औद्योगिक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के पार्ट–पुर्जों को जोड़कर (एसेंबलिंग करके) 'मेड इन इंडिया' लिखने का चलन भारतीय मध्यवर्ग के व्यावसायिक अवसरवाद की मौलिक विशेषता बन कर उभरी है और आउटसोर्सिंग के जमाने में भारतीय पेशेवर वर्ग के सोशल कैपिटल (उपनिवेशी संस्कार) के रूप में प्रशंसित हो रही है, इसका बीज रूप भारतीय सिनेमा में अनुवादक रचनात्मकता को प्रोत्साहित करने के लिए संवाद–लेखक के रूप में उसकी कथा–पटकथा लेखक से स्वतंत्र पहचान देने के रूप में छिपा हुआ है।

इसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम हुए। इसका सबसे सकारात्मक पक्ष तो यही है कि विदेशी पटकथा पर 'देसी ब्लॉक बस्टर्स' का निर्माण होने लगा। इन ब्लॉक बस्टर्स में गीत–संगीत के भारतीय छौंक के साथ–साथ बहुत हाल तक इन अनुवादकों के 'वन लाइनर्स' का कमाल भी होता था। इसका दूसरा पक्ष यह कि अपने महत्व को स्थापित करने के लिए कई बार ये अनुवादक मूलकथा भावना और संदर्भ को जाने–अनजाने बदल देते थे और ताली पड़ने वाले अजीबो–गरीब लेकिन मौलिक–दिल को छू लेने वाले वाक्य लिख मारते थे। इससे ऊपरी तौर पर फिल्म की सम्पूर्णता–अद्वैतता खंडित होती थी और कथानक के अर्थ में असंबद्ध संवादों के कारण असंगति साफ दिखती थी। लेकिन कई बार फिल्म इन्हीं बेतुके लेकिन संवेदनशील संवादों के कारण हिट हो जाती थी और वर्षों बाद भी यही संवाद याद रह जाते थे और फिल्म की पटकथा विस्मृति की शिकार हो जाती थी। इसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या यह है कि इन संवादों के माध्यम से दर्शक अपने दैनिक जीवन तथा समकालीन समय एवं चल रही फिल्मी कथानक का अतिक्रमण करते हुए सनातन सत्य एवं सनातन लीला का साक्षात्कार करने लगता है। इन अर्थों में ये संवाद भारतीय महाकाव्यों में वर्णित गरुड़ महाराज या मानस के हंस या कबूतर, तोता या मैना की वाणी का स्मरण कराते हैं और संसार से जगत की यात्रा कराते हैं, पिण्ड से ब्रह्माण्ड की यात्रा कराते हैं। अंधकार से प्रकाश की ओर प्रेरित करते हैं।

आज भारतीय सिनेमा को, खासकर लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा को पश्चिम में बहुत लोकप्रियता मिल रही है। इसके दो अंतर्संबंधित कारण हैं– एक, पश्चिमी देशों में औद्योगिक क्रांति का उन्माद थमने लगा है। मैनुफैक्चरिंग (औद्योगिक उत्पादन) और सर्विस सेक्टर (सेवा क्षेत्र) में पश्चिम के लोग गैर–पश्चिम उद्यम के मुकाबले लगातार पिछड़ रहे हैं। उनके लोग मैनेजमेंट (प्रबंधन) और शेयर ब्रोकर (दलाल) बनने और पिछले 200–300 वर्षों के सोशल कैपिटल (उपनिवेशवादी विरासत) को भोगने में लगे हैं। उनके यहाँ थियोलॉजी, विज्ञान, दर्शन और कला जैसे चित्त को परिष्कृत

करने वाले अध्ययन–चिंतन–मनन–साधना में ठहराव और पतन की चर्चा 1968 के आसपास से उत्तर आधुनिक समीक्षकों ने शुरू कर दी थी। इसकी पहचान नित्शे (1844–1900) और हैनिमन के समय से ही होने लगी थी। 1989–90 के बाद तथाकथित एकध्रुवीय विश्वग्राम में ऊपरी तौर पर तो अमेरिकी दादागिरी है लेकिन उनकी दादागिरी उनके समाज की आंतरिक सृजनशीलता एवं अंदरूनी स्वास्थ्य पर आधारित नहीं होकर कृत्रिम टॉनिक (व्याग्रा, अमेरिकी सेना और हॉलीवुड फिल्मों के राजनीतिक अर्थशास्त्र) पर आधारित है। उनकी फिल्मों के दर्शक लगातार घट रहे हैं। इस बात को तुलनात्मक रूप से ही समझा जा सकता है। हॉलीवुड सिनेमा की 1989 से वही स्थिति हो गई है जो भारत में अंग्रेजी राज की 1913 से 1947 तक थी।

हॉलीवुड की देसी भाषाओं में डब फिल्मों के प्रचलन से अंततः हॉलीवुड की फिल्मों को दूरगामी नुकसान होगा और देसी भाषा के दर्शकों को अपनी भाषा में अपने दर्शकों के लिए जुगाड़ करके उत्कृष्ट फिल्म बनाने की प्रेरणा मिलेगी। विवेकानंद ने काफी पहले यही तो कहा था कि पश्चिमी तकनीक और भारतीय संस्कृति का समन्वय भारत को एक बार फिर विश्व–गुरू बनायेगा। इसमें विवेकानंद जी एक जगह समय की गति को पढ़ने में चूक गए थे। उन्होंने कहा था कि भारत के दबे–कुचले वर्गों को यदि सांस्कृतिक रूप से आगे बढ़ना है तो उन्हें संस्कृत सीखनी होगी। गांधी और टैगोर ने बाद में कहा कि भारत को अपना स्वाभाविक विकास चाहिए तो भारतीयों को लोकभाषा या मातृभाषा सीखनी होगी। शिक्षा शास्त्रीय भाषा में नहीं मातृभाषा या लोकभाषा में होनी चाहिए। आज व्यावहारिक स्तर पर शास्त्रीय चर्चा की भाषा अंग्रेजी हो गई है और लोकविमर्श देसी भाषाओं या हाइब्रिड (बोलचाल की मिश्रित भाषा जिसमें अंग्रेजी समेत कई भाषाओं के शब्द होते हैं) भाषा हो गई है। हिन्दी एक लोक भाषा है। यह वाचिक परम्परा, बोलचाल की राष्ट्रीय भाषा बनने की प्रक्रिया में है।

दुनिया में बसने वाले भारतीय मूल के अधिकांश लोग किसी– न– किसी रूप में हिन्दी फिल्में अवश्य देखते हैं। भले ही वे हिन्दी पढ़–लिख नहीं पाते, लेकिन हिन्दी फिल्में फिर भी देखते हैं, चाहे सब–टाइटिल के सहारे ही क्यों नहीं देखते हों। तमिल, मलयालम, कन्नड़, तेलुगू, बंगाली, मराठी, गुजराती, पंजाबी, उड़िया, असमिया, भोजपुरी आदि भारतीय भाषाओं में भी शुरू से उत्कृष्ट फिल्में बनती रही हैं। इनमें से कुछ फिल्मों, खासकर भोजपुरी फिल्मों का प्रसार इधर भारतीय मूल के लोगों में बढ़ा है। इसके बावजूद इन देसी भाषाओं के फिल्मकारों की महत्वाकांक्षा हिन्दी फिल्म बनाने की अक्सर रहती है जिस तरह अधिकांश भारतीय विद्वान प्रस्थानत्रयी (ब्रह्म–सूत्र, उपनिषद, भगवद् गीता) पर अपना भाष्य अवश्य लिखना चाहते हैं, उसी तरह

भारत के अधिकांश फिल्मकार हिन्दी में अपनी फिल्म अवश्य बनाना चाहते हैं। हॉलीवुड की फिल्मों को असली चुनौती भारत से ही मिलने वाली है चूंकि चीन, जापान और अन्य गैर–पश्चिमी देशों में पश्चिमी सिने सिद्धांत, कथा कहने के पश्चिमी स्टीरियोटाइप एवं कैनन हावी हो चुके हैं। ईरान के लोग इस्लामी संस्कृति को अपने सिनेमा में स्थापित करने की भरसक कोशिश कर रहे हैं लेकिन कम से कम अठारहवीं शताब्दी से इस्लामी कला चिन्तन और तत्व मीमांसा में निरंतरता एवं सृजनात्मकता का अभाव रहा है। मूर्ति चित्रण, नाटक एवं संगीत के बारे में ऐसे भी इस्लामी सिनेमा एवं मूर्तिकला तथा इस्लाम में संगीत की भूमिका के बारे में गैर सूफी चिन्तकों में काफी विवाद रहा है। फिलहाल तो ईरान के लोग भी बहुत आशांवित नहीं हैं कि ईरानी सिनेमा ईरान के बाहर हॉलीवुड की फिल्मों का विकल्प बन सकता है। अतः केवल भारतीय (मूलतः हिन्दी) सिनेमा ही गैर–पश्चिमी मुल्कों और पश्चिम में रहने वाले गैर–पश्चिमी मूल के दर्शकों के बीच लोकप्रिय हो सकता है। धीरे–धीरे पश्चिम के उत्तर–आधुनिक दर्शकों का ध्यान भी भारतीय सिनेमा के वैकल्पिक विमर्श पर जा सकता है। इसकी दिशा में धीरे–धीरे भारतीय सिनेमा बढ़ रहा है। परन्तु अभी काफी तैयारी करनी होगी। सिद्धि अभी नहीं मिली है। अभी भारतीय सिनेमा की साधनावस्था चल रही है। हिन्दी सिनेमा का स्वर्णकाल आना अभी बाकी है। थीम एवं प्रस्तुति की दृष्टि से चालीस एवं पचास (1940 एवं 1950) के दशक को स्वर्णकाल मानने का चलन है। इस दौरान कुछ अच्छी फिल्में बनी थीं लेकिन ज्यादातर फिल्मों पर धर्म एवं समाज सुधार के उन्नीसवीं सदी के फार्मूले हावी थे। इन फार्मूलों का जन्म अंग्रेजी राज की भारतीय दृष्टि से घोर निराशाजनक परिस्थिति में पश्चिमी मापदंडों पर हुआ था। पारम्परिक तकनीक पद्धति, दर्शन एवं संस्थाओं को कालबाह्य मान लिया गया था और हर पश्चिमी चीज को अच्छी और बेहतर मानकर इनको भारतीय समाज में प्रचलित बनाने के लिए समाज एवं धर्मसुधार करने के लिए आंदोलन चलाया जा रहा था। भारत का तथाकथित बुद्धिजीवी या यथार्थवादी सिनेमा पश्चिमी वस्तुओं, विचारों एवं संस्थाओं के प्रसार के लिए विज्ञापन करती नजर आती हैं। उस वक्त की कई महान सामाजिक फिल्मों को समकालीन विज्ञापन फिल्मों की श्रेणी में डाला जा सकता है। अतः तकनीक की दृष्टि से, कथानक के सर्वकालिक मानदंडों की दृष्टि से 1940 या 1950 के दशक को स्वर्णयुग मानने में कई समस्यायें हैं। इस दृष्टि से 1960 या 1970 के दशक को पतन का युग कहना गलत है। संक्रमण काल है– भारत के लिए भी और भारतीय सिनेमा के लिए भी। 1960 के दशक में भारतीय समाज में समृद्धि दिखने लगती है। रंगीन सिनेमा में इस समृद्धि को प्रस्तुत करने का चलन बढ़ता है। 1964 में नेहरू युग का अंत हो जाता है। 1962 में चीन से हुई

शर्मनाक हार पर 'हकीकत' (1964) जैसी फिल्म बनती है। 1965 में 'वक्त' जैसी फिल्म बनती है। 1966 में 'तीसरी कसम' जैसी फिल्म बनती है। 'उपकार' (1967) बनती है। 'आराधना' (1969) बनती है। आनंद (1970), 'आंधी' (1975), 'शोले' (1975) बनती है।

1980 और 90 के दशक के फिल्मकारों पर न देश की गुलामी की छाया है और न देश के स्वतंत्रता आंदोलन का प्रभाव है। 1990 के बाद का दशक भारतीय समाज एवं भारतीय सिनेमा के लिए देश और विदेश में एक अद्भुत समय है। अवसर और चुनौतियों की दृष्टि से, प्रतिभा और पलायन की दृष्टि से यह भारतीय समाज की आंतरिक ऊर्जा का प्रस्फुटन है। यह उन युवाओं का समय है जिनके सपने गुलामी, संरक्षण या आश्रय (पैट्रोनेज) से रौंदे नहीं गए हैं। उनको आप अभिमन्यु, घटोत्कच और बर्बरिक की तरह अनाड़ी भले कह दें लेकिन इनकी प्रतिभा, समर्पण, निर्दोष आत्मा और निर्भीक सृजनशीलता की तारीफ किए बिना नहीं रह सकते। इनकी दर्शन, इतिहास, साहित्य या मिथक की समझ में खोट निकाला जा सकता है लेकिन इन्हें कैमरे से खेलना आता है। इनको तकनीक का भय नहीं है। इनको मौलिकता की सनक नहीं है। इनको कृत्रिम विचारधारा की रूढ़ियों ने नहीं बांध रखा है। ये समकालीन महाभारत का युद्ध भले न जीत पायें, लेकिन समकालीन महारथियों का गर्व तोड़ने के लिए ये काफी हैं। ये सीधे–सीधे कह या दिखला सकते हैं कि शहंशाह के कपड़े नहीं हैं। शहंशाह अपने दुष्ट दरबारियों की गलत मंत्रणा से नंगा घूम रहा है। इस पीढ़ी को अपना अपरोक्ष अनुभूति पर विश्वास है। यह भारतीय समाज एवं भारतीय सिनेमा के मठाधीशों और समीक्षकों को यदि पतनकारी नजर आता है तो मतलब साफ है कि ये लोग (मठाधीश, समीक्षक आदि) अपने समय और समाज से कटे हुए हैं। ये लोग भारत की लोकप्रिय फिल्में नहीं देखते।

यदि पुरानी पीढ़ी के लोग इसमें अपनी भूमिका तलाशना चाहते हैं तो वाणप्रस्थ एवं संन्यास धर्म निभायें। नई पीढ़ी को वहाँ संबल एवं प्रशिक्षण दें जहां इनको संबल, सहयोग एवं मार्गदर्शन की जरूरत है। भारत में पश्चिम की तरह अपने इतिहास को प्रस्तुत करने का व्यवस्थित प्रयास अब तक नहीं हुआ है। ऐतिहासिक फिल्मों को 'पीरियड' फिल्में कहने वाले लोगों को इतिहास दर्शन बताया जाना चाहिए। उन्हें हॉलीवुड की 'पैसन ऑफ जिसस क्राइस्ट', 'ट्रॉय', 'एलेक्जैंडर' एवं 'दा विंची कोड' जैसी फिल्मों को बिना मानक या मानदंड बनाये ऐतिहासिक फिल्मों की समकालीनता समझनी चाहिए। तमिल सिनेमा में सी. एन. अन्नादुराई और एम. करुणानिधि ने तमिल परम्परा की समकालीन प्रस्तुति करके द्रविड़ आंदोलन और

तमिल राजनीति को सिनेमा से आंदोलित किया था। कामराज नाडार और सी. राजगोपालचारी जैसे नेता देखते ही रह गए थे। उसी तरह 1950 के दशक से बंगाली और मलयालम सिनेमा ने वहाँ की राजनीति और समाज को बहुत गहराई से प्रभावित किया।

हिन्दी सिनेमा ने भी भारतीय समाज और राजनीति के साथ बहुत आत्मीय संबंध बनाया है लेकिन इसको ठीक से समझने का ईमानदार प्रयास अब तक नहीं हुआ है। ठीक उसी तरह समकालीन विश्व में भारतीय सिनेमा के प्रसार और लोकप्रियता को लोग अब भी केवल मनोरंजन एवं व्यवसाय की दृष्टि से देख रहे हैं। इसके अन्य प्रभावों पर लोगों का ध्यान अभी ठीक से नहीं जा रहा है। इसके सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रभाव हैं। सकारात्मक इसलिए चूंकि भारतीय सिनेमा के विरोधी अभी व्यवस्थित प्रतिवाद नहीं कर रहे हैं। नकारात्मक इसलिए कि भारतीय सिनेमा के दर्शक एवं इससे लाभ प्राप्त करने वाले लोग एक–दूसरे के साथ मिलकर सहकार एवं सहयोग नहीं कर रहे हैं। सिनेमा आंदोलन कमजोर पड़ने लगा है। फिल्म सोसाइटियों के विस्तार एवं सक्रियता में ठहराव और बिखराव आ रहा है। ज्यादातर फिल्मकार एवं लेखक भारतीय दर्शकों की संस्कृति एवं अपेक्षाओं से अनजान हैं लेकिन उनमें तकनीक एवं पूँजी का पुरानी पीढ़ी के फिल्मकारों एवं लेखकों की तरह भय नहीं है। वे हॉलीवुड से आतंकित नहीं हैं। लेकिन हॉलीवुड की फिल्मों के अलावा इन्हें अन्य सिनेमा की परम्पराओं और संभावनाओं का भी ज्ञान नहीं है। इस रचनात्मक विस्फोट की स्थिति को निर्माता आदित्य चोपड़ा, विधु विनोद चोपड़ा, मनमोहन शेट्टी, रोनी स्क्रुवाला, अमित खन्ना, सुभाष घई या महेश भट्ट जैसे लोग कितना लाभ उठा पायेंगे, यह तो भविष्य ही बतलायेगा लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि सूरज बड़जात्या, आदित्य चोपड़ा, संजय लीला भंसाली, आशुतोष गोवरिकर, करण जौहर, राजकुमार हीरानी, विनय शुक्ला, चंद्रप्रकाश द्विवेदी, निखिल आड़वानी, विशाल भारद्वाज, विक्रम भट्ट, मधुर भंडारकर, फरहान अख्तर, राकेश, ओमप्रकाश मेहरा, नागेश कुकुनुर, प्रदीप सरकार, श्रीराम राघवन, अनुराग कश्यप, अनुराग बसु, मिलन लुथरिया, कुणाल कोहली, शिरीश कुंडुर, संजय गढ़वी, शाद अली, जॉन मैथ्यु माथन, नीरज वोरा, संजय झा, सुरेश नायर, आश्विन चौधरी, अमृत सागर जैसे फिल्मकार भारतीय सिनेमा का नया व्याकरण एवं नया छंद गढ़ रहे हैं। ये लोग भविष्य में बहुत अच्छी और बहुत बुरी फिल्में बनायेंगे। फिल्मों की संस्कृति और फिल्मों का व्यवसाय गुणात्मक रूप से बदलेगा। जिस तरह 1913, 1931, 1947, 1957, 1967, 1975, 1989, 2004 को भारतीय समाज एवं भारतीय सिनेमा दोनों के लिए 'माइल स्टोन' (मील का पत्थर) माना जाता है। उसी तरह

2019 भी भारतीय समाज एवं भारतीय सिनेमा के लिए मील का पत्थर साबित हो सकता है।

भारतीय सिनेमा में 1913 से ही कई तरह की प्रवृत्तियां एक साथ अस्तित्व में रही हैं। उनमें अंतर्विरोध भी रहा है। लेकिन हर तरह की प्रवृत्ति को देखने वाले और सराहने वाले दर्शक इस समाज में मौजूद रहे हैं। यह पश्चिमी देशों के सिनेमा में 1968 से पहले नहीं पाया जाता। 1968 से पश्चिमी देशों में उत्तर–आधुनिक प्रवृत्तियाँ हावी होती गईं। पश्चिम ने चौथी और पाँचवीं शताब्दी पूर्व की अपनी गैर–ईसाई, गैर–यहूदी (पैगन) परम्परा से बौद्धिक एवं कलात्मक स्तर पर संवाद बनाना शुरू किया और इससे ईसाइयत और आधुनिकता के बारे में एक प्रकार के तटस्थ मूल्यांकन की शुरूआत हुई। यह एक तथ्य है कि ज्यादातर उत्तर आधुनिक विद्वान एवं कलाकार यहूदी मूल के रहे हैं। शेष वे लोग हैं जो नास्तिक, पैगन या रहस्यवादी पद्धतियों से जुड़े रहे हैं।

भारत की सनातन पद्धतियों ने पैगनवादी परम्पराओं की तरह ही विविधता में एकता को स्वीकार किया है। विविधता में एकता की अभिव्यक्ति गद्य की अपेक्षा काव्य, गीत, संगीत एवं नृत्य में अभिव्यक्त हो पाती है। गद्य की अपनी सीमा है। वाक् के चार रूप होते हैं – परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी बोली हुई भाषा है। पश्यंती मूलतः गद्य है। मध्यमा में कलात्मक भाषा, सांकेतिक भाषा आती है। तंत्र और मंत्र की भाषा है। परा मौन की भाषा है। बिना ध्वनि के संवादित होने वाली भाषा है।

भारतीय सिनेमा की पहचान गीत–संगीत से होती है। यही भारतीय सिनेमा की पारिभाषिक भारतीयता है। यह मध्यमा वाक् की स्वाभाविक भाषा है। सिनेमा के उस्ताद–शागिर्द परम्परा में यह जानी–पहचानी सांस्कृतिक पूंजी की तरह हस्तांतरित होती रही है।

उसी तरह यह समझना आवश्यक है कि भारतीय समाज के अधिकांश लोगों को पीढ़ी– दर–पीढ़ी जो संस्कार मिलता रहा है उसमें 'पूँजी की स्वायत्तता' या 'पश्चिमी आधुनिकता में विकसित व्यक्ति–केन्द्रित उपभोक्तावाद' आज भी एक अटपटी और अस्वाभाविक चीज है। आज भी 'पैसा कमाना' जिन्दगी का लक्ष्य नहीं बना है। उनके लिए भी जो 'पैसा–पैसा' कहते और करते रहते हैं।

किसी व्यक्ति का धर्म और उसकी आस्था का पता अक्सर उसकी कथनी और रोजमर्रा की करनी से नहीं लग पाता। उसका धर्म और उसकी आस्था का पता तब

लगता है जब उसके सामने कोई चुनौती आती है। जब उसके सामने कोई यक्ष प्रश्न आता है। जब उसके सामने शहादत का कोई मौका आता है। जब भोग और त्याग की दुविधा आती है। चाहे 'मदर इंडिया' की नर्गिस हो या 'आराधना' की शर्मिला टैगोर, चाहे 'दीवार' की निरूपाराय हो या 'गॉडमदर' की शबाना आजमी या चाहे 'संगम' का राजेद्र कुमार हो या 'अनोखी रात' का संजीव कुमार या 'शोले' का संजीव कुमार या 'दिलवाले दुल्हनियां ले जायेंगे' का शाहरूख खान–इनके फिल्मी चरित्र में एक ठेठ भारतीयता है जो 'क्राइसिस' (चुनौती) के समय सामने आती है। और ये फिल्में ' सुपर हिट' हो जाती हैं। चूँकि भारत के आमदर्शक आज भी हॉलीवुड की फिल्मों के दर्शकों से गुणात्मक रूप से भिन्न हैं। इसीलिए भारत की सफल फिल्मों की विचारधारा न खूनी क्रांति से उपजे समाजवाद के पक्ष में होती है और न पूंजीवादी उपभोक्तावाद को ही स्थापित करती है। भारत की हर सफल फिल्म में एक बीच का रास्ता, एक मध्यमार्गी समाधान, एक प्रकार का गांधीवादी समाजवाद, एक प्रकार का भक्तिमार्गी समन्वय, एक प्रकार की बौद्ध नीति, एक प्रकार का तीसरा मार्ग तलाशा जाता है।

भारतीय महाकाव्यों की तरह भारत के लोकप्रिय सिनेमा में भी वाक् के चारों रूपों की अभिव्यक्ति शब्द और दृश्य दोनों माध्यमों में होती रहती है। वैखरी वाक् का गद्य रूप है। स्थूलतम रूप है। जैसे प्रेमी–प्रेमिका अपने प्यार का इजहार करने के लिए 'आई लव यू' बोलते हैं या 'हाथ' पकड़ते हैं या 'गले' लगते हैं या 'चुम्बन' लेते हैं, यह वैखरी है। प्रेमी–प्रेमिका जो गाने गाते हैं या एक दूसरे की आँखों में दूर से देखते हैं या देखते रहते हैं यह 'मध्यमा' रूप है। एक–दूसरे के बारे में सोच कर खुश हो जाते हैं। एक–दूसरे के पास पार्क में बैठे हैं, न हाथ पकड़े हैं, न आँखों में देख रहे हैं, न गाने गा रहे हैं, बस एक दूसरे के पास बैठे हैं। लड़का पढ़ रहा है, लड़की पास में बैठी गुनगुना रही है या पक्षियों से खेल रही है या फूलों से बातें कर रही है। यह प्रेम की अभिव्यक्ति का पश्यंती रूप है। प्रेम का परा रूप वह है जो चंद्रधर शर्मा गुलेरी की अमर कहानी 'उसने कहा था' में वर्णित है और जिस पर विमल रॉय ने इसी नाम से एक अद्भुत फिल्म बनायी है। ये सब सामान्य उदाहरण हैं। अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। विशेष उदाहरणों की बात करें तो परा आशीर्वाद और प्रार्थना की मौन भाषा है। पश्यंती मंत्र और तंत्र की कीलित, सांकेतिक भाषा है। मध्यमा गीत–संगीत और पेंटिंग की लयबद्ध भाषा है। वैखरी साधारण बोलचाल की कामचलाऊ गद्य भाषा है। इंस्ट्रूमेंट भाषा है। भारतीय सिनेमा में वाक् के इन्हीं चार रूपों का रचनात्मक उपयोग होता है। इसलिए फिल्म के विभिन्न दृश्यों एवं संवादों में परत–दर–परत, प्याज के छिलके की तरह (या गुलाब के फूलों की तरह) अर्थ छिपा रहता है। खासकर फिल्म

के गीतों एवं स्वप्न दृश्यों में। फिल्म का हर पात्र एक अबूझ वाक्, एक अबूझ गीत और एक अबूझ छंद की तरह होता है। वह एक कीलित मंत्र की तरह होता है। हर पात्र के भीतर ईश्वरतत्त्व सुप्त होता है। उसकी कुंडलिनी जब जागती है तो उसके व्यक्तित्व की साधारणता पिघल जाती है। हर विष्णु के भीतर से एक मोहिनी और हर पार्वती के भीतर से एक काली अवतरित होती है। भगवान विष्णु के मोहिनी रूप से ज्यादा सुन्दर स्त्री की कल्पना उतना ही मुश्किल है जितना पार्वती के काली रूप से ज्यादा वीर मर्द की कल्पना करना।

यही कारण है कि भारतीय सिनेमा के ज्यादातर नायक सुकुमार एवं कोमल होते हैं जो परिस्थितियों से आसानी से विचलित हो जाते हैं जबकि अधिकांश नायिकायें बहुत मजबूत इच्छाशक्ति वाली अविस्मरणीय त्याग और उच्चतम आदर्श स्थापित करने वाली होती हैं। आज बाजार की शक्तियां भारतीय वाक् और सनातन धर्म की पारम्परिक कहानियों को हॉलीवुड प्रेरित क्षणभंगुर उपभोक्तावाद की लिप्सा, वासना, घृणा और हिंसा के द्वारा बेदखल करने की असफल कोशिश कर रही हैं। लेकिन उनकी अंतिम सफलता उतनी ही मुश्किल है जितनी लोकप्रिय फिल्मों के खल पात्रों की अंतिम सफलता मुश्किल होती है।

अतः भारतीय सिनेमा का समाजशास्त्री पश्चिमी सिने सिद्धांत का चाहकर भी उपयोग नहीं कर सकता। सिनेमा की तकनीक तो दोनों जगह एक ही है। शिल्प में भी समानता है लेकिन कथानक अलग हैं। दर्शक अलग हैं। दर्शकों की संस्कृति अलग है। उनकी अपेक्षायें अलग हैं। सिनेमा चूंकि एक खर्चीला माध्यम है अतः लेखक एवं निर्देशक की तुलना में निर्माता एवं वितरक का निर्णय ज्यादा प्रभावी होता है। हॉलीवुड में भी होता है और भारत में भी होता है। और अधिकांश निर्माता–वितरक फिल्म से मुनाफा कमाना चाहता है। अतः वह दर्शकों की अभिरुचियों को चाहकर भी नजरअंदाज नहीं कर सकता। फिल्म समीक्षकों द्वारा दर्शकों की अभिरुचियों को केवल वैचारिक आग्रह–दुराग्रह के आधार पर नजरअंदाज किया जाता है। जबकि निर्माता का निर्णय अंततः दर्शकों की संस्कृति से निर्देशित–प्रेरित होता है। अतः हम कह सकते हैं कि नाटक मूलतः लेखक–निर्देशक का माध्यम होता है जबकि सिनेमा निर्माता–दर्शक का माध्यम बन गया है। जिसमें चाहे–अनचाहे भारत के लोक और शास्त्र को पुनर्नवता मिलती है।

बहुत कम यूरोपीय या अमेरिकी लोग हमारी फिल्में देखते हैं। हमारी ताकत यह है की हॉलीवुड के अश्वमेध के घोड़े को भारत ही रोकने में सफल रहा है, जिसका श्रेय भारतीय दर्शकों को जाता है। वे अमेरिकी फिल्में भी देखते हैं परन्तु जो जुनून

हिन्दुस्तानी सितारों के लिए है उसी ने यहाँ अमेरिका के स्वामित्व के सिनेमाघर नहीं बनने दिए और मनोरंजन के क्षेत्र में हम अभी भी स्वतंत्र हैं। हॉलीवुड ने भारत और चीन को छोड़कर अन्य सभी प्रमुख देशों में अपनी फिल्मों के प्रदर्शन के लिए सिनेमाघरों की शृंखला पर कब्ज़ा किया हुआ है। इसी कारण यूरोप के अनेक देशों में उनकी अपनी फिल्मों का व्यापक प्रदर्शन नहीं हो पाता। इसी कारण यूरोप में अनेक देशों के सहयोग से फिल्में बनाई जाती हैं। यह आश्चर्य की बात है कि जापान में रजनीकांत की मसाला फिल्में बहुत सफल रहती हैं। उच्च गुणवत्ता की फिल्में बनाने वाले जापान में रजनीकांत की मसाला फिल्मों की लोकप्रियता ऊपरी तौर पर चौंकाती है।

परन्तु खगोलीकरण के निर्मम यथार्थ के कारण इससे पलायन एक अंतर्राष्ट्रीय सच्चाई है और तर्क के दायरे के परे जाने की इच्छा अत्यंत बलवती है। युद्धरत व्यक्ति भी पलायन करता है। मनुष्य कहीं भी रहे, वह अपनी कल्पना संसार से पूरी तरह कभी नहीं कटता। वह उसकी सांस्कृतिक नाल है। नाच–गाने से भरपूर हमारी ऊपरी तौर पर अतार्किक मसाला फिल्में एक तरह की मानसिक–भावनात्मक थैरपी हैं और कुछ रोगों से मुक्त भी करती हैं। मनुष्य के मन–मस्तिष्क में कुछ अँधेरे कोने हैं जहाँ फंतासी ही रोशनी डालती है। फंतासी का आधार भी सांस्कृतिक हकीकत होता है।

अगर हम सचमुच चाहते हैं कि हमारा सिनेमा विदेशी दर्शक भी देखें तो हमें अपनी नई सिनेमा की भाषा का विकास करना होगा। इस क्षेत्र में विकास के लिए सिनेमा आस्वाद को महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम में शामिल करना होगा। सिनेमाई समझ और कला में पारंगत दर्शकों की संख्या ही भारतीय फिल्मकारों को नई भाषा के विकास के लिए प्रेरित करेगी।

❑❑❑

साहित्य एवं कला की समकालीन भारतीय दृष्टि–1

भारतीय समाज और यूरोपीय आधुनिकता का समकालीन मूल्यांकन

अगस्त कोम्ट एवं दुर्खीम जैसे समाजशास्त्रियों ने भौतिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों के दृष्टिकोणों को समाजशास्त्र में भी लागू करना चाहा। डिल्थे के प्रभाव में अन्य समाजशास्त्रियों ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया। डिल्थे का कहना था कि प्रकृति की दुनिया (प्राकृतिक दुनिया) का अवलोकन एवं अध्ययन तो बाहर से किया जा सकता है परन्तु मानव क्रिया का अध्ययन एवं अवलोकन तो अन्दर से ही किया जाना चाहिए। फलस्वरूप, समाजशास्त्र के लिए उपयुक्त एक वैकल्पिक संप्रदाय के विकास की आवश्यकता है जो सामाजिक जीवन के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझा सके।

जे. पी. एस. उबेराय की दृष्टि उपरोक्त दृष्टि से थोड़ी अलग रही है। जे. पी. एस. उबेराय आधुनिक पश्चिमी सभ्यता में विज्ञान एवं तकनीक की भूमिका को सर्वोपरि मानते हैं, जबकि मुक्तानंद सरस्वती एवं वेणुगोपाल विज्ञान एवं तकनीक की तुलना में मानवतावाद जैसे सामाजिक मूल्यों एवं मनुष्य केंद्रित आधुनिक कला की भूमिका को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। मुक्तानंद सरस्वती पर महात्मा गांधी, विनोबा भावे एवं भारत की पौराणिक परम्परा का प्रभाव रहा है जबकि वेणुगोपाल पर कुमारस्वामी एवं जी. एस. घुर्ये का प्रभाव रहा है। धर्मपाल भी जे. पी. एस. की तरह गांधीवादी विद्वान हैं लेकिन वे भी पश्चिमी सभ्यता में विज्ञान एवं तकनीक की तुलना में प्रबंधकीय कौशल एवं साम्राज्यवादी नौकरशाही की भूमिका को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी की दृष्टि में आधुनिक सभ्यता एवं भारतीय सभ्यता का परस्पर संबंध अलग–अलग स्वरूपों में अभिव्यक्त हुआ है।

आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के बारे में भारत में मूलतः तीन दृष्टिकोण रहे हैं :– (1) आधुनिक यूरोप मूलतः ग्रीक एवं रोमन पैगनिज्म का पुनर्वतरण है। खासकर इसकी विज्ञान–तकनीक, प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं एवं प्रबंधकीय तकनीक का

भारतीय परम्परा के साथ अद्भुत साम्य है। (2) आधुनिक यूरोप की सभ्यता मूलतः ईश्वर–विरोधी एवं ईश्वर–निरपेक्ष सभ्यता है जिसकी अभिव्यक्ति साम्राज्यवादी संरचना को सार्वभौमिक स्वरूप प्रदान करने में हुई है। इस सभ्यता का आधार स्वार्थ, लालच एवं भोग की राक्षसी प्रवृत्ति है। इस दृष्टि के अनुसार आधुनिक यूरोपीय सभ्यता में व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन का आधार धर्म एवं आस्था के बदले मानवनिर्मित एवं मानवकेन्द्रित (संवैधानिक) कानून है। इस तरह के कानून के केन्द्र (न्यायालयों) में सत्य के बदले तर्क को महिमामंडित किया जाता है और निष्पक्ष कानून को फख्र से अंधा एवं बहरा माना जाता है। फलस्वरूप वकील के तर्क एवं गवाह का पक्ष सत्य एवं न्याय पर भारी पड़ जाता है। पहले प्रकार की दृष्टि का आरंभ असजग रूप में स्वामी विवेकानंद की रचनाओं में देखा जा सकता है जबकि इसकी सजग अभिव्यक्ति रामस्वरूप की रचनाओं में है। हिन्द स्वराज और महात्मा गांधी की दृष्टि मूलतः दूसरे प्रकार की है। (3) इसी क्रम में एक दृष्टिकोण भारतीय मार्क्सवादियों का भी रहा है। वे मानते हैं कि आधुनिक यूरोपीय सभ्यता का आधार पूंजीवादी अर्थव्यवस्था एवं प्रजातांत्रिक राज्यव्यवस्था है। कार्ल मार्क्स खुद मानते थे कि पूंजीवाद का विकास उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के संबंधों के बीच द्वंद्वात्मक संबंधों पर आधारित होता है। उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन का आधार विज्ञान एवं तकनीक होते हैं जबकि उत्पादन के संबंधों का आधार उत्तराधिकार, श्रम एवं वितरण आदि से संबंधित कानून होते हैं। प्रजातांत्रिक व्यवस्था का आधार भी कानून और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था होती है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण ज्यादा लोकप्रिय है जबकि भारतीय समाज में पहले वाले दोनों दृष्टिकोण ज्यादा लोकप्रिय हैं। कुल मिलाकर मार्क्सवादियों की दृष्टि को भारतीय समाज में उतना आदर नहीं मिल पाया जितना यूरोपीय समाज में मिला। इसका एक कारण संभवतः यह है कि कानून और विज्ञान–तकनीक का महत्त्व उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों में आ ही जाता है। भारतीय समाज में मार्क्सवादी दृष्टिकोण के लोकप्रिय नहीं होने का एक अन्य कारण इसका अनीश्वरवादी एवं अधार्मिक होना भी माना जाता है। राहुल सांकृत्यायन, डी. पी. मुखर्जी एवं रामविलास शर्मा जैसे कुछ भारतीय मार्क्सवादियों ने मार्क्स की पद्धति और भारतीय परम्परा के बीच समन्वय करके अपनी दृष्टि प्रस्तुत करने की कोशिश की। इसमें यूरोपीय सभ्यता के बारे में इनकी दृष्टि तो मार्क्सवादी बनी रही, लेकिन भारतीय सभ्यता को समझने के लिए इन लोगों ने मार्क्सवादी दृष्टि को अपर्याप्त माना। परंतु भारतीय परम्परा के स्वरूप के बारे में राहुल सांकृत्यायन की बौद्ध दृष्टि एवं रामविलास शर्मा की वैष्णव दृष्टि में अंतर्विरोध बना रहा। डी. पी. मुखर्जी पर बंगाल

नवजागरण की आधुनिकता का प्रभाव ज्यादा था फलस्वरूप वे भारतीय परम्परा की सांप्रदायिक धाराओं का महत्त्व ठीक से समझ नहीं पाए।

भारतीय परम्परा एवं यूरोपीय आधुनिकता के बारे में कुमारस्वामी संप्रदाय की समकालीन दृष्टि

कुमारस्वामी के ए. के. सरण जैसे अनुयायियों का कहना है कि भारतीय संस्कृति में परम्परा और सनातनता की अवधारणायें परस्पर सबंधित हैं। पारम्परिक (सनातन) जीवन दृष्टि के अनुसार इस सृष्टि में उपलब्ध हर अस्तित्ववान पदार्थ एक ही ब्रह्म का विस्तार है। पूरा का पूरा जगत एवं संसार ब्रह्म के शरीर का विस्तार ही है। ब्रह्म की तरह यह जगत और संसार भी शाश्वत है, सनातन है। पूरब और पश्चिम की सभ्यता उसी शाश्वत संसार की अभिव्यक्ति है। जगत प्रकृति अथवा 'नेचर' है, संसार संस्कृति अथवा 'कल्चर' है। इस दृष्टि से ईसा, मूसा और मोहम्मद उसी ब्रह्म की अभिव्यक्ति थे जैसे राम, कृष्ण और बुद्ध अभिव्यक्ति थे। सांप्रदायिक भेद तो इन सबों में है या था परंतु तात्त्विक भेद तो नहीं है। सनातनी दृष्टि से पश्चिम को असत्य या अशिव तो नहीं कहा जा सकता है केवल अधूरा कहा जा सकता है।

पश्चिम में जिसे रिलिजन कहा जाता है उससे मिलती–जुलती चीज भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में संप्रदाय कहलाती है। भारतीय दृष्टि में ईश्वर तत्व तो एक है, परंतु विभिन्न संप्रदाय उसकी आराधना की अलग–अलग विधियाँ विकसित कर उसे अलग–अलग नाम से पुकारती हैं। भारतीय दृष्टि में ईश्वर तत्व तक पहुँचने के कई रास्ते हैं और सभी रास्ते सत्य पर आधारित हैं। सभी रास्तों से ईश्वर तक पहुँचा जा सकता है। समकालीन पश्चिमी समाज ईसाई, आधुनिक एवं उत्तर–आधुनिक के साथ–साथ पैगन के रूप में कई संप्रदायों में बँटा है और उसके पास सभी को समाहित करने वाली बहुसांस्कृतिक–सभ्यतामूलक दृष्टि नहीं है। साथ ही, पश्चिम खुद को पूरब के घोर विरोधी/दूसरे ध्रुव के रूप में परिभाषित करता रहा है, पूरक इकाई के रूप में नहीं।

भारतीय संदर्भ में देखने पर अधिकांश ईसाई या मुसलमान भी सामान्यतः सनातनी जीवन जीते हैं भले ही सनातनी जीवन दृष्टि नहीं रखते। जबकि भारत के अन्य संप्रदाय अब भी सनातनी जीवन के साथ सनातनी दृष्टि भी रखते हैं।

भारत के बाहर रहने वाले मुसलमान एवं ईसाई लोग बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) के जिस आख्यान में विश्वास करते हैं, उसमें केवल पैगम्बर के रास्ते ही ईश्वर की आराधना की जा सकती है। अन्य लोग काफिर हैं। उनकी दूसरी मान्यता यह है कि

संसार में दो साम्राज्य हैं – एक ईश्वर का दैवीय साम्राज्य और दूसरा शैतान का अदैवीय या शैतानी साम्राज्य। इस तरह की अवधारणा भारत में नहीं पायी जाती। भारत में एक ही संसार में विभिन्न तरह के जीव रहते हैं। सभी जीव एक ही ईश्वर की रचना हैं। कोई भी जीव स्वायत्त नहीं है। सभी कर्म और फल के तहत अस्तित्ववान हैं। परंतु कुछ जीव धर्मरत रहते हैं और कुछ अधर्मरत रहते हैं। एक ही जीव कभी धर्मरत और कभी अधर्मरत रह सकता है। परंतु 'अधर्म' की अवधारणा और 'शैतान की रचना' दोनों अलग–अलग प्रकार की अवधारणायें हैं। अधर्म व्यक्ति करता है। सभ्यता अधार्मिक हो ही नहीं सकती। संसार शैतान का साम्राज्य हो ही नहीं सकता। परंतु रावण की लंका भी सेमेटिक अर्थों में शैतानी साम्राज्य नहीं था। राम की अयोध्या और जनक की मिथिला और रावण की लंका में संप्रदाय भेद तो है परंतु तत्व भेद नहीं है। सनातनी दृष्टि के अंतर्गत युद्ध अपने आप में अधार्मिक नहीं होते। कुछ युद्ध अधार्मिक कारणों से लड़े जा सकते हैं परंतु युद्ध अपने आप में ईश्वरीय लीला का ही अंग है। इस दृष्टि से युद्ध भी संवाद एवं समन्वय का एक ऐतिहासिक रूप रहा है। प्रारब्ध और कर्म के सिद्धांत से युद्धों के आध्यात्मिक या दैवीय रूप को भी समझा जा सकता है।

परम्परा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सम्पूर्णता में समझने का एक पैराडाइम (दृष्टि) है। भारतीय परम्परा सनातन धर्म के पैगन संस्करण का ही एक जीवंत रूप है। यह इस विश्वास पर आधारित है कि ''अन्ततः जो हो रहा है वह ईश्वर की इच्छा से ही हो रहा है।'' शैतान (डेविल) इतना शक्तिशाली हो नहीं हो सकता कि ईश्वर की इच्छा या डिजाइन या लीला को दैवीय उद्देश्यों से भटका दे। एक तो सामी (सेमेटिक) अर्थों वाला शैतान भारतीय दृष्टि में होता नहीं। भारत में अगर शैतान होता भी है तो वह ईश्वर की योजना का ही अंग होता है या सहायक होता है। शिव पुराण में भूत–प्रेत–राक्षस ईश्वर के विरोधी नहीं, भक्त हैं। वे भी दैवीय शक्ति के ही रक्षक हैं। भूत–प्रेत–राक्षस भी दैवीय शक्ति से ही उत्पन्न होते है। वे भी ईश्वर की रचना हैं। उनके ही भक्त हैं। उनकी लीला के ही पात्र हैं। उनकी भूमिका भी इस लीला में सहयोग करने वाली है। इसके विपरीत पश्चिमी मान्यता के अनुसार ईश्वर और शैतान दोनों का दो अलग–अलग स्वायत्त साम्राज्य है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में दो प्रकार के विमर्श पाये जाते हैं। एक है सत्तामूलक विमर्श एवं दूसरा है सभ्यतामूलक विमर्श। उदाहरण के लिए सत्तामूलक सनातन भारत के पौराणिक साहित्य में विष्णु सत्ता के प्रतीक पुरुष हैं। विष्णु पुराण राज्यकेन्द्रित विमर्श है। शिव पुराण सभ्यतामूलक विमर्श है। उसी तरह महात्मा गांधी

द्वारा रचित हिन्द स्वराज तो सभ्यतामूलक विमर्श है लेकिन अपने अंतिम अर्थों में स्वतंत्रता आन्दोलन के नायक के रूप में महात्मा गांधी का विमर्श राज्यकेन्द्रित विमर्श है। यह विमर्श भारत में अंग्रेजी राज और इससे जुड़ी प्रक्रियाओं को सम्बोधित था। यह राज्य के स्वरूप को रूपांतरित करने का प्रयास था। बहुत कुछ वैसा ही प्रयास जैसा विश्वामित्र ने वैदिक युग में किया था। विश्वामित्र के प्रयास से इन्द्र का सिंहासन डोलता था। इन्द्र राज्य के प्रतीक पुरुष हैं। इन्द्र वैदिक देवता हैं। वे कृत युग में देवताओं के राजा हैं। विष्णु और उनके प्रमुख अवतार मूलतः त्रेता एवं द्वापर के देवता हैं। वे राजा हैं। राज्य के प्रतीक पुरुष हैं, वे सत्ता के प्रतीक पुरुष हैं। कलियुग में वैष्णव धर्म का रूपान्तरण होता है। विष्णु एवं इनके अवतारों को प्रजातांत्रिक भक्ति का, लोक या सिविल सोसाइटी का, प्रजा का प्रतीक पुरुष बनाया जाता है। विष्णु अवतार मूलतः राज्यमूलक होते हैं। महाभारत के कृष्ण (गीता के कृष्ण) भी राज्यमूलक विमर्श के प्रतीक पुरूष हैं। परंतु श्रीमद्भागवत के कृष्ण लोकमूलक हैं।

भारतीय परम्परा एवं पश्चिमी आधुनिकता

भारतीय परम्परा की तुलना में पश्चिमी आधुनिकता का विमर्श गुणात्मक रूप से काफी अलग है। आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता इसका खुलापन, इसकी तरलता है। आधुनिकता की खास बात इसका संस्थागत रूप से एक स्वतंत्र बाजार की तरह खुला होना और सार्वजनिक क्षेत्र में भी, आत्मसजग रूप से, सर्वसमावेशी होना है। तुलनात्मक रूप से, परम्परा इतनी खुली नहीं होती। एक पारम्परिक व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में खुला हो सकता है, परंतु संस्थाओं के खुलेपन की अपनी सीमा होती है। खासकर समालोचना को पचाने के मामले में और बाहरी प्रभाव से निपटने के मामले में यह सीमा बहुत स्पष्ट दिखती है। यह सीमांकन केवल जाति के रूप में ही प्रभावी नहीं होता बल्कि संप्रदाय और घराना के रूप में भी प्रभावी होता है। आयुर्वेद जैसे विज्ञान के क्षेत्र में भी यह प्रभावी होता है। सूचनाओं का स्वतंत्र आदान–प्रदान परम्परा में सामान्यतया नहीं होता परंतु हो सकता है, इससे सैद्धान्तिक रूप से इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, आधुनिकता में भी सैद्धान्तिक खुलापन चाहे जितना हो, व्यावहारिक सुलभता नहीं होती है। सब कुछ मुफ्त में उपलब्ध नहीं होता। पेटेंट नियम होते हैं। कॉपीराइट होते हैं। आशा की सीमा होती है। एक खास आशा में एक खास तरह से ही आधुनिकता अपनी सूचनाएँ बाँटा करती है। आधुनिकता में भी अधिकार प्राप्ति के लिए कुछ नियंत्रण अथवा पात्रता की शर्तें होती हैं।

परम्परा में भी पात्रता का सवाल न्यूनतम जरूरी योग्यता से ही होता है। फिर भी परम्परा में समुदायों को जैसी स्वायत्तता मिलती है, उसकी रक्षा के लिए समुदाय के सदस्यों को वैसी स्वतंत्रता नहीं दी जाती जैसी आधुनिकता में व्यक्तियों को दी जाती है। दूसरी ओर, आधुनिकता में केवल राज्य को स्वायत्तता प्राप्त होती है, समुदायों को नहीं। उत्तर आधुनिकता में व्यक्ति एवं बाजार की स्वायत्तता सर्वोपरि होती है जबकि तुलनात्मक रूप से राज्य की स्वायत्तता खोखली हो जाती है।

भारतीय परम्परा, सांसारिक युक्ति एवं सनातन दृष्टि

भारतीय परम्परा में व्यक्ति को सांसारिक दृष्टि से उतनी स्वायत्तता प्राप्त नहीं है जितनी आधुनिक व्यवस्थाओं में होती है। परंतु आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्तिगत मुक्ति की बात बहुत सहजता से की जाती है। उदाहरण के लिए, रमण महर्षि आदि का मॉडल व्यक्तिगत मुक्ति वाला आध्यात्मिक मॉडल है। यह सामाजिक मुक्ति का व्यवस्थित मॉडल नहीं है। हिन्दुओं ने अब तक आत्मसजग रूप से व्यावहारिक स्तर पर क्रियाशील व्यवस्थागत विकल्प का मॉडल एक विस्तृत ब्लू प्रिंट के रूप में विकसित ही नहीं किया।

अधिकांश आधुनिक हिन्दुओं में जो आत्मचेतस द्वुलमुलपन दिखलायी देता है, वह काफी हद तक लंबी गुलामी के दौरान अपनी सांस्कृतिक पहचान कायम रखने एवं विपरीत परिस्थिति में अपने स्व की रक्षा करने की रणनीतिक व्यावहारिकता (प्रैगमेटिज्म) के तहत धीरे–धीरे विकसित होता गया। इस प्रवृत्ति को व्यक्तिगत रूप से बहुत लोग स्वीकारते हैं, परंतु इस पर व्यवस्थित विचार करने का सार्वजनिक प्रयास प्रचलित नहीं है।

राम और कृष्ण के जमाने से हिन्दू लोग सिद्धांत, नीति या मतवाद के नाम पर बेवजह अड़ियल–अव्यावहारिक रुख अपनाने से बचते रहे हैं। उदाहरण के लिए भगवान राम ने खुद बालि को मारने, समुद्र को पार करने एवं मेघनाद की लक्ष्मण द्वारा हत्या करवाने जैसे प्रकरणों में एक प्रकार की सांसारिक युक्ति का सहारा लिया था। उसी तरह भगवान कृष्ण ने जरासंध द्वारा मथुरा पर आक्रमण करने के बाद उससे लोहा लेने की तुलना में रणछोरजी कहलाना ज्यादा उचित समझा। उसी तरह भीष्म पितामह, गुरू द्रोणाचार्य, जयद्रथ, कर्ण, जरासंध एवं दुर्योधन की पाण्डवों द्वारा हत्या करवाने में भगवान कृष्ण ने शुष्क नीति या सिद्धांत पर अड़ने की तुलना में व्यावहारिक लचीलापन एवं युक्ति अपनायी।

पश्चिमी आधुनिकता में जिसे प्रैगमैटिज्म अथवा व्यवहारवाद कहा जाता है, उसमें व्यक्ति अपने प्रतिद्वंद्वी से या विपरीत परिस्थितियों से डर कर, एक प्रकार के दबाव में, समझौता या गठबंधन करते हैं। दूसरी ओर, सनातनी व्यावहारिकतावादी अभय (निर्भय) अवस्था में स्वेच्छा से, अपने स्वविवेक के आधार पर बदलती हुई परिस्थितियों का सतत मूल्यांकन करते रहते हैं। इसी बदलते हुए स्वैच्छिक मूल्यांकन के आधार पर वे स्वविवेक से सांसारिक युक्ति का उपयोग करते हैं। यह सनातन संस्कृति की पारिभाषिक विशेषता है। इसमें नियति के आगे समर्पण और कर्म के सिद्धांत को मानने का भाव भी अंतर्निहित है। परन्तु इसमें एकलक्षता का भाव भी है। जैसे अर्जुन को धनुर्वेद के सन्दर्भ में केवल चिड़िया की एक आंख दिखती है। उसे पूरी चिड़िया, पेड़, बगीचा या सुरम्य वातावरण देखने की न आदत है और न स्वभाव उसे केवल अपने लक्ष्य से मतलब है। एकलक्षता के इस भाव को धारण करने से पूरा विश्व एक कुटुंब लगता है।

परन्तु युद्ध की स्थिति में एक वीर योद्धा का लक्ष्य बदल जाता है। सनातन धर्म की जड़ में सत्य और अहिंसा है। सारे विवाद, सारे झगड़े, सारे फसाद, सारे युद्ध एक लक्ष्यता से भटकने के कारण, स्वधर्म से विचलित होने के कारण ईर्ष्यालु एवं लालची लोगों ने पैदा किए हैं। सनातन धर्म की स्थापना है कि अगर हर व्यक्ति, हर जीव अपने स्वभाव और स्वधर्म को धारण करके, अपने स्वभाव को परिष्कृत करता जाए तो एक तरफ उसे देवत्व की प्राप्ति होगी यानि मानवीय तृष्णा से मुक्ति मिल जायेगी; दूसरी ओर, धरती पर अमन, शांति, सदाचार, समृद्धि यानि परम वैभव अवतरित हो जायेगा। अतः सनातनी युक्तिवाद स्वभाव के अनुसार स्वकर्म और पुरुषार्थ के प्रति एकनिष्ठ एकाग्रता या एकलक्ष्यता पर जोर देती है और अन्य चीजों को, जो उसे उसके लक्ष्य से भटकाती हैं उसके प्रति उपेक्षा भाव की सलाह देती है। एक नजर में लगता है कि सनातनी युक्तिवाद या व्यावहारिकता पश्चिमी आधुनिकता की कोख से जन्मी ''प्रैगमैटिज्म'' अथवा व्यवहारवाद की सहोदर या समानधर्मा है परन्तु यह एक सतही समानता है। यह भ्रमोत्पादक है। गहराई में दोनों व्यवहारों के पीछे की प्रेरणा अलग तरह के सांस्कृतिक मूल्यों से उपजी है। दोनों की प्रेरक विश्वदृष्टि एवं तात्विक ज्योतिपुंज अलग-अलग है।

परंतु 1814 के आस-पास राजा राममोहन राय के नेतृत्व में एक प्रकार की अवसरवादी या समझौतापरस्त व्यावहारिकता की वकालत भी भारत में की जाने लगी। अंग्रेजों के मिथक, मानदंड एवं प्रारूप के आधार पर भारतीय समाज एवं संस्कृति को समझने, सुधारने एवं विकसित करने का ''महान कर्म'' पढ़े-लिखे

भारतीयों का सामाजिक पुरुषार्थ बनने लगा तथा एक नये प्रकार का वैचारिक एवं तात्त्विक द्वुलमुलपन पढ़े–लिखे भारतीयों में लोकप्रिय होने लगा। इस नयी प्रवृत्ति का विकास आधुनिक यूरोप के ज्ञानोदय (एनलाइटेन्मेंट) एवं ब्रिटिश साम्राज्य की भारतीय नीतियों से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने के बावजूद तत्कालीन भारत के वैचारिक संघर्षों से भी कहीं न कहीं जुड़ा हुआ था।

मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास में हिन्दू समाज के सामने तुलसीदास ने पारम्परिक दृष्टिकोण का एक पक्ष प्रस्तुत किया। उनसे पहले कबीरदास एक दूसरा पक्ष प्रस्तुत कर चुके थे। तुलसीदास के बाद समर्थ रामदास ने एक तीसरा पक्ष प्रस्तुत किया। तीनों पक्षों को विस्तार से समझने के लिए कई स्रोतों से तथ्य संग्रह करना पड़ेगा। भारतीय विश्वविद्यालयों में आजकल प्रचलित मानदंडों का अतिक्रमण करना पड़ेगा। संक्षेप में, कबीरदास निर्गुण भक्ति एवं निवृत्ति मार्ग के प्रवक्ता थे। तुलसीदास सगुण भक्ति एवं प्रवृत्तिमार्ग के प्रवक्ता थे। समर्थ रामदास ने दोनों प्रकार की भक्ति एवं दोनों प्रकार के मार्ग का समन्वय करने का प्रयास किया था। तुलसीदास की परम्परा के सबसे प्रमुख व्याख्याकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल माने जाते हैं। कबीर की परम्परा से महात्मा गांधी और बाबा साहब अम्बेडकर दोनों ने प्रेरणा ग्रहण की। समर्थ रामदास की परम्परा शिवाजी महाराज से शुरू होकर राणाडे, सावरकर, मुँजे और मालवीय तक सीमित नहीं थी बल्कि यह कहीं न कहीं बंगाल नवजागरण के अधिकांश हिन्दू चिंतकों को भी प्रेरित करती रही थी। उदाहरण के लिए कांग्रेस के सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे कुछ मशहूर नरमपंथी नेता अंग्रेजी राज के बरकत के गीत गाते–गाते स्वदेशी आंदोलन के दौरान मैनचेस्टर के कपड़े और लिवरपूल के नमक का बहिष्कार करने का आग्रह करने लगे। उन्होंने कुछ अधिक संकोच के साथ ही सही, राष्ट्रीय शिक्षा के आंदोलन में भी भाग लिया। आम हिन्दुओं को आकृष्ट करने के उद्देश्य से विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार आंदोलन को धार्मिक रंग देने के प्रयत्नों को भी नरमपंथी नेताओं का समर्थन मिला। बाद में कोलकाता के एक मंदिर के प्रांगण में भाषण देते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने तो यहाँ तक दावा किया कि स्वदेशी धार्मिक प्रतिज्ञा की पूरी कल्पना उन्हीं की देन थी। कुछ बड़े से बड़े नरमपंथी नेताओं ने युवा आतंकवादियों के प्रथम दल को चोरी–छिपे आर्थिक सहायता और अपना आशीर्वाद भी दिया था।

समकालीन हिन्दुओं में पाया जाने वाला रणनीतिक व्यावहारिकता का पहला सैद्धान्तिक आधार संभवतः समर्थ रामदास ने विकसित किया था। समर्थ रामदास ने एक ओर तो दासबोध नामक अपने ग्रंथ में बार–बार मूर्तिपूजा का निषेध किया है, वह भी काफी कठोर शब्दों में; दूसरी ओर भक्ति मार्ग के तहत मूर्तिपूजा से ईश्वर

साक्षात्कार करके द्वैत से अद्वैतानुभव की युक्ति भी बतलाई। एक ओर वे ब्रह्म को सत्य एवं जगत को मिथ्या कहते हैं तो दूसरी ओर वे यह कहते हैं कि चरम सत्य विश्व में भी व्याप्त है। वे राम से रहित विश्व को असत्य तथा राम से युक्त विश्व को सत्य मानते हैं। वे साधक को यह छूट देते हैं कि वह अपनी रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार साधना मार्ग का चयन करे। वे बहुत दृढ़ता से कहते हैं कि परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग साधक के हाथ में ही है। यदि साधक की साधना में गहराई है, तो भवसागर को लांघने के लिए माया नौका बन जाती है। मनुष्य मात्र का उद्धार माया की सहायता लिये बिना हो ही नहीं सकता। ज्ञान मुक्ति का प्रमुख साधन है किंतु स्वयं ज्ञान विद्यामाया की ही एक उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। पाँच भौतिक तत्वों का जो विकास विश्व में दिखाई देता है, वह वस्तुतः माया का ही विकास है। अध्यात्म का अर्थ ही है माया तथा ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान। बिना साधना के सामान्यतः ब्रह्म ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता और सद्गुरू की कृपा से अगर वह प्राप्त हो भी गया तो भी उसे बनाये रखने की दृष्टि से साधना आवश्यक है। साधना में परिपूर्णता लाने के लिए भक्ति की आवश्यकता है।

समर्थ रामदास खुद मूर्तिपूजक थे और उन्होंने दूसरों को भी मूर्ति–पूजा करना सिखाया। एक विकट एवं विपरीत समय में उन्होंने नवीन देवालयों के निर्माण एवं मूर्ति–स्थापना को उत्सव के रूप में शुरू किया। उन्होंने देवालयों के गर्भगृह में राम, सीता व लक्ष्मण की मूर्तियों को स्थापित किया परंतु हनुमान की मूर्ति गर्भगृह में स्थापित न करके मंदिरों के बाहर कहीं भी स्थापित करने की एक नई परम्परा शुरू की और इस प्रकार उन्होंने गर्भगृह की अवधारणा ही बदल दी। उन्होंने यह भी स्थापित किया कि राम की भक्ति करना या राम के दास की भक्ति करना दोनों का फल ब्रह्म–साक्षात्कार जैसा है। उन्होंने ग्यारह मारूति की स्थापना का उत्सव शुरू किया। उन्होंने ग्यारह सौ मठों में प्रशिक्षित महंतों को स्थापित किया और उन्हें व्यक्तिगत मोक्ष के बदले सामाजिक मुक्ति का पुरुषार्थ करना सिखलाया। इन्हीं मठों और महंतों ने उनके शिष्य शिवाजी महाराज के राजनैतिक अभियानों को संबल दिया। उनकी मान्यता थी कि जब तक स्वराज व तदनंतर सुराज्य स्थापित नहीं हो जाता तब तक नैतिक और परमार्थिक शिक्षा देना सुगम नहीं होगा। मध्यकालीन दुर्दशा के लिए वे विदेशी आक्रांताओं की तुलना में इस देश के निवासियों खासकर क्षत्रियों के तेज नष्ट होने एवं ब्राह्मणों के अशास्त्रीय ढोंग के बढ़ने की स्थिति को जिम्मेदार मानते थे। शत्रु से लड़ने के लिए गुप्त रीति से तैयारी करने एवं शत्रु की कमजोरी से फायदा उठाते हुए गुरिल्ला युद्ध जारी रखने के वे कुशल रणनीतिकार थे। वे शस्त्र और शास्त्र के अधिकारी आचार्य थे। उन्होंने सनातनी परम्परा में रूढ़ हो चुके 'गर्भगृह' की अवधारणा में गुणात्मक रूपांतरण किया।

अपनी महान कृति दासबोध में उन्होंने भक्ति, पुरुषार्थ, नियति और कर्म जैसी सनातनी अवधारणाओं को युगानुकूल स्वरूप प्रदान किया। वे निम्नलिखित क्षेत्रों में समन्वय का प्रयास कर रहे थे – 1. गार्हस्थ्य और परमार्थ, 2. सगुण और निर्गुण, 3. कर्म, भक्ति और ज्ञान, 4. धर्म और राजनीति, 5. विविध धार्मिक संप्रदायों की सनातनी धाराएं , 6. जगत की सत्यता और असत्यता, 7. भाग्य और पुरुषार्थ, 8. वैयक्तिक उन्नति और सामाजिक उन्नति, 9. विवेक और वैराग्य, 10. उक्ति और कृति, 11. ग्रांथिक ज्ञान और प्रत्यक्ष अनुभव, 12. प्रादेशिक भाषाएँ, देवनागरी भाषा और संस्कृत, 13. द्वैत और अद्वैत, 14. विभिन्न काव्यशैलियों में अभिव्यक्त सनातनी परम्परायें। इसका पहला राजनैतिक उपयोग शिवाजी महाराज ने किया था। परंतु उसके बाद यह आधुनिक हिन्दू चिन्तकों के सामान्य लक्षण के रूप में फैलता चला गया।

धीरे–धीरे यह भाव हिन्दू मान्यता में विकसित हुआ कि मनुष्य के बनाये सिद्धांत पर अड़ना अथवा लकीर का फकीर होना एक प्रकार का अहंकार है जबकि नियति की इच्छा के आगे झुकना या लचीला रुख अपनाना सांसारिक युक्ति है। सोच–समझ कर या राय–मशविरा कर के बनाये गये सामाजिक सिद्धांतों एवं सांस्कृतिक आदर्शों का सामान्य स्थिति में महत्त्व एक हद तक तो स्वीकारा जाता है लेकिन विशेष, विषम एवं विकट परिस्थितियों में हर व्यक्ति अपनी अंतरात्मा की आवाज या ईश्वरीय प्रेरणा के आधार पर निर्णय लेता है अथवा बलिदान देता है। बिना अंतरात्मा की स्वीकृति पाये या ईश्वर द्वारा बिना व्यक्तिगत निर्देश पाये केवल सामाजिक आदर्शों एवं सिद्धांतों पर टिके रहने का उदाहरण हिन्दुओं में कम ही पाया जाता है। किसी राजा या महापुरुष के बदल जाने के बावजूद उनकी प्रजा या उनके अनुयायी हिन्दू समाज में सामान्यतया नहीं बदलते। वे अपने पारम्परिक रीति–रिवाजों पर, अपनी व्यक्तिगत आस्था पर एवं व्यक्तिगत सूझ–बूझ पर बने रहते हैं। पश्चिमी समाज एवं सेमेटिक धर्मों में राजा, धर्मगुरु, महापुरुष एवं शास्त्रीय धर्मग्रंथों पर जैसी आस्था, विश्वास, बलिदान करने की तत्परता, उत्साह एवं सामूहिकता ऐतिहासिक रूप से देखने को मिलती है वह हिन्दू समाज में सामान्यतया नहीं मिलती।

भारत के किसी धर्मगुरु, महापुरुष या राजा को कभी यह उम्मीद नहीं रहती कि उनकी समझ, साधना या दावे को बिना व्यक्तिगत रूप से परीक्षा किये या बिना व्यक्तिगत रूप से अंतरात्मा की साक्षी पाये आमजन, प्रजा या अनुयायी सामूहिक अभियान का आधार बनायेंगे। फलस्वरूप समाजसुधार, धर्मसुधार, धर्म परिवर्तन या सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया भारत में सिद्धांतों, विचारधाराओं या दर्शन

प्रणालियों के आधार पर नहीं चलती। किसी व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी विचारधारा या सिद्धांत के आधार पर सामान्यतया नहीं किया जाता। एक सीमा से ज्यादा सिद्धांतों का महत्त्व नहीं माना जाता। व्यावहारिक आदर्श के पालन में एक प्रकार का लचीलापन पाया जाता है जिसका आधार हर व्यक्ति की अपनी समझ, आत्मानुभूति एवं ब्रह्मानुभूति तथा समय–समय पर मिलने वाली अंतरात्मा की आवाज होती है।

यह लचीलापन विश्वामित्र, राम, कृष्ण एवं बुद्ध जैसे महापुरुषों में भी देखा जा सकता है। दूसरी ओर हरिश्चंद्र एवं भीष्म पितामह की सिद्धांतवादिता एवं कठोर प्रतिज्ञा पर विपरीत परिस्थिति में भी कायम रहना एक प्रकार का अपवाद माना जा सकता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि भाग्य का संबंध तो कर्मफल से है एवं अकर्म का फल नहीं होता। जबकि नियति का संबंध ईश्वर की इच्छा से है। फलस्वरूप विपरीत परिस्थिति एवं असहज विश्व व्यवस्था में भी सांस्कृतिक पहचान एवं सनातनी रीति–रिवाजों को कायम रखते हुए पुरुषार्थ करने की रणनीतिक चतुराई हिन्दू समाज में पीढ़ी–दर–पीढ़ी विकसित की जाती रही है।

आधुनिक भारत में इस सनातनी प्रवृत्ति को श्री रामकृष्ण परमहंस ने एक नया तर्क दिया। श्री रामकृष्ण ने कबीर, तुलसी एवं समर्थ रामदास के मार्गों के बीच की तादात्म्यता की पहचान कर अंग्रेजी राज द्वारा प्रस्तुत एवं भारतीय मध्यवर्ग द्वारा विकसित सांस्कृतिक विमर्श को सनातनी आयाम दिया। अपनी अटूट आस्था एवं सहज साधना के बल पर उन्होंने सनातनी परम्परा का सामायिक भाष्य प्रस्तुत किया। उनके उपदेश में पहली स्थापना यह है कि सबसे पहले ईश्वर का दर्शन करना आवश्यक है। निराकार या साकार दोनों प्रकार के ईश्वर का दर्शन फलप्रद है। जो ईश्वर मन–वाणी से परे हैं, वे ही भक्त की सुविधा एवं कल्याण के लिए देह धारण करके दर्शन देते हैं और बात करते हैं। ईश्वर दर्शन के बाद, उनका निर्देश लेकर ही लोकहित के कार्य करने चाहिए। ईश्वर का निर्देश पाने के लिए पहले चित्त को शुद्ध करना चाहिए। मन एवं चित्त शुद्ध होने पर भगवान पवित्र आसन पर आकर बैठते हैं। रामकृष्ण कहते हैं कि पहले ईश्वर तत्त्व में डुबकी लगाओ। ईश्वर का आशीर्वाद पाए बिना और बिना डुबकी लगाये, लोगों को समझाना कठिन काम है। भगवान के दर्शन के बाद यदि किसी को उनका आदेश प्राप्त हो, तो वह लोक–शिक्षा दे सकता है। भगवान के निर्देश के बिना लोकशिक्षा नहीं होती। वे सरलता से पूछते हैं कि शास्त्र कितना पढ़ोगे? केवल विचार करने से क्या होगा? पहले ईश्वर की कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करो। पुस्तकें पढ़कर क्या जानोगे? पढ़ने तथा अनुभव करने में बहुत अंतर है। ईश्वर–दर्शन के बाद शास्त्र, विज्ञान आदि सब कूड़ा–कर्कट जैसे लगते हैं। बिना साधना एवं

पुरुषार्थ के ईश्वर के साथ परिचय नहीं होता। ईश्वर प्राप्ति के लिए निर्जन में उन्हें पुकारो। कुछ दिन सब कुछ छोड़कर उन्हें अकेले में पुकारो। धर्म का उद्देश्य है ईश्वर को प्राप्त करना, उनका दर्शन करना।

श्री रामकृष्ण यह भी कहते हैं कि आस्थावान हिन्दू शब्दों और सिद्धांतों के जाल में समय बिताना नहीं चाहता। वह यथाशीघ्र ईश्वर का साक्षात्कार कर लेना चाहता है। कारण, ईश्वर के केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही समस्त शंकाएँ दूर हो सकती हैं। अतः हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में अक्सर यही प्रमाण देते हैं कि ''मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।'' हिन्दुओं की सारी साधना–प्रणाली का लक्ष्य केवल एक ही है और वह है सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट पहुँचकर उनका दर्शन करना। और इस प्रकार ईश्वर–सान्निध्य को प्राप्त कर उनका दर्शन कर लेना, ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना– यही असल में हिन्दू धर्म है।

रामकृष्ण कहते हैं कि धर्म केवल सिद्धांतों या मतवादों में नहीं है। सभी धर्मों का चरम लक्ष्य है आत्मा में परमात्मा की अनुभूति। यही एक सार्वभौमिक धर्म है। समस्त धर्मों में यदि कोई सार्वभौमिक सत्य है, तो वह है ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन करना। परमात्मा और उनकी प्राप्ति के साधनों के संबंध में विभिन्न धर्मों की धारणाएँ भिन्न–भिन्न भले ही हों , पर उन सब में वही एक केंद्रीय भाव है। सहस्र त्रिज्याएँ भले ही हों, पर वे सब एक ही केंद्र में मिलती हैं, और यह केंद्र है ईश्वर का साक्षात्कार। इस इन्द्रिय–ग्राह्य जगत के पीछे, इस निरन्तर खाने–पीने और थोथी बकवास के पीछे, इन उड़ते छाया–स्वप्नों और स्वार्थ से भरे इस संसार के पीछे वर्तमान, किसी सत्ता की अनुभूति, समस्त ग्रन्थों और धर्म मतों के अतीत, इस जगत की असारता से परे वह विद्यमान है, जिसकी अपने भीतर ईश्वर के रूप में प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

कोई व्यक्ति संसार के समस्त गिरिजाघरों में आस्था भले ही रखता हो, अपने सिर में समस्त धर्मग्रन्थों का बोझ लिये भले ही घूमता हो, इस पृथ्वी की समस्त नदियों में उसने भले ही बप्तिस्मा लिया हो, फिर भी यदि उसे ईश्वर–दर्शन न हुआ हो तो उसे रामकृष्ण घोर नास्तिक ही मानते हैं। स्वामी रामकृष्ण से प्रेरणा लेकर स्वामी विवेकानंद ने भी अपने राजयोग नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सभी धर्माचार्यों ने ईश्वर को देखा था। उन सभी ने आत्मदर्शन किया था। अपने अनन्त स्वरूप का सभी को ज्ञान हुआ था, अपनी भविष्य अवस्था देखी थी और जो कुछ उन्होंने देखा था, उसी का वे प्रचार कर गये हैं। भेद इतना ही है कि आजकल के प्रायः सभी धर्मों में, एक अद्भुत दावा प्रस्तुत किया जाता है कि इस समय ये अनुभूतियाँ असंभव हैं। इन धर्मों

की मान्यता है कि उनके धर्म के संस्थापक और उनके पूर्वजों को ही ऐसा प्रत्यक्षानुभव संभव हुआ था। अब ऐसे अनुभव के लिए रास्ता नहीं रहा, फलतः अब धर्मों पर केवल विश्वास भर कर लेना होगा। विवेकानंद कहते हैं कि वे इस मान्यता को पूरी शक्ति से अस्वीकृत करते हैं। यदि संसार में किसी प्रकार के विज्ञान के द्वारा, किसी भी विषय की किसी व्यक्ति ने कभी प्रत्यक्ष अनुभूति या उपलब्धि प्राप्त की है, तो इससे इस सार्वभौमिक सिद्धांत पर पहुँचा जा सकता है कि पहले भी कोटि–कोटि बार उसकी उपलब्धि की संभावना थी, बाद में भी अनन्त काल तक उसकी उपलब्धि की सम्भावना रहेगी। समवर्तन ही प्रकृति का सार्वभौमिक नियम है। एक बार जो घटित हुआ है, वह फिर घटित हो सकता है।

स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि संसार के अन्य धर्मों की तुलना में हिन्दू धर्म में एक भाव विशेष रूप से पाया जाता है। वह भाव यह है कि मनुष्य को इसी जीवन में ईश्वर की प्राप्ति करनी होगी। इस प्रकार, द्वैतवादियों के मतानुसार ब्रह्म की उपलब्धि करना, ईश्वर का साक्षात्कार करना, या अद्वैतवादियों के कहने के अनुसार ब्रह्म को जानना – यही वेदों के समस्त उपदेशों का एकमात्र लक्ष्य है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस ने भी पुराणों के आधार पर इसी को दूसरे तरीके से कहा है। एक पुराण के मत में श्रीकृष्ण चिदात्मा हैं और श्रीराधा चित्शक्ति। एक अन्य पुराण में श्रीकृष्ण को ही काली और आद्याशक्ति कहा गया है। देवी पुराण के मत से काली ने ही कृष्ण का स्वरूप धारण किया है। वास्तव में ईश्वर अनंत हैं और उन तक पहुँचने के मार्ग भी अनंत हैं। जिसने यह रहस्य समझ लिया है उस पर ईश्वर की दया है। ईश्वर की कृपा हुए बिना कभी संशय दूर नहीं होता। असल बात यह है कि किसी तरह उन पर भक्ति होनी चाहिए, प्यार होना चाहिए। अनेक रास्तों से क्या काम है? एक रास्ते से चलते–चलते अगर उन पर प्यार हो जाये तो काम बन गया। इसके बाद अगर जरूरत होगी तो वे समझा देंगे – सब रास्तों की खबर बतला देंगे। ईश्वर पर प्यार होने से ही काम बनेगा। भक्तों में हनुमानजी की तरह समर्पण और भक्ति चाहिए। हनुमानजी कहा करते थे कि ''मैं वार, तिथि, नक्षत्र, यह सब कुछ नहीं जानता, मैं तो बस श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण किया करता हूँ।''

सांसारिक युक्ति एवं अमेरिकी व्यावहारिकता

भारतीय लोगों की सांसारिक युक्ति तथा अमेरिकी व्यावहारिकता में समानता की बात अक्सर की जाती है। यूरोपीय सिद्धांतवाद की तुलना में अमेरिकी व्यावहारिकता या व्यवहारवाद भारतीय लोगों की सांसारिक युक्ति के ज्यादा करीब है। भारत एवं

अमेरिका दोनों कभी ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश थे। फलस्वरूप भारतीय लोगों की युक्ति और अमेरिकी व्यवहारवाद (प्रैगमैटिज्म) की समानता अतिरंजित की जाती है और इनके बीच का महत्त्वपूर्ण अंतर नजरअंदाज किया जाता है। यह समझना आवश्यक है कि अमेरिकी प्रैगमैटिज्म का आधार यूरोप का मानववाद है। यूरोपीय मानववादी दृष्टि की तरह ही अमेरिकी दृष्टि में भी मनुष्य के रूप में व्यक्ति ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और इसमें भी व्यक्ति को परम स्वतंत्र और परम स्वायत्त कर्त्ता ही माना जाता है। दूसरी ओर एक भारतीय व्यक्ति जब सांसारिक युक्ति की बात करता है या किसी किताबी सिद्धांत के प्रति समर्पित होने की तुलना में अपनी अंतरात्मा की आवाज को ज्यादा महत्त्व देता है तो वह ब्रह्माण्ड के केन्द्र में एक प्रकार की अतिमानवीय शक्ति या सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार रहा होता है। भारतीय दृष्टि में व्यक्ति इसी अतिमानवीय शक्ति की अभिव्यक्ति का एक माध्यम भर होता है। यहाँ सांसारिक युक्ति का लक्ष्य नियति का एक प्रभावी माध्यम (सुपात्र) बने रहने के उद्देश्य से प्रेरित होता है; न कि परम स्वतंत्र, स्वायत्त व्यक्ति बने रहने के मानववादी अहंकार से प्रेरित होता है।

उसी तरह उत्तर–आधुनिकतावादियों के विमर्श के केन्द्र में भी यूरोपीय मानववाद की ही ज्यादा उत्कट अभिव्यक्ति हुई है। उत्तर–आधुनिकतावादियों को लगता है कि आधुनिक संस्थाओं के तहत मनुष्य के रूप में एक व्यक्ति उतना स्वतंत्र एवं स्वायत्त नहीं रह पाता जितना कि उसे होना चाहिए या जितना कि वह होने में समर्थ है। अतः बहुसांस्कृतिक विकल्प की वकालत के पीछे उत्तर–आधुनिकतावादियों का उद्देश्य व्यक्ति की मानववादी दृष्टि को तार्किक परिणति देना है। उनका उद्देश्य मात्र इतना होता है कि व्यक्ति को अधिक से अधिक चुनाव का अवसर मिले। उनके लिए बहुसांस्कृतिक विमर्श बाजार में उपलब्ध मनोरंजक उत्पाद भर है जिसका उपयोग उत्तर–आधुनिक मानव एक परम–स्वतंत्र, परम–स्वायत्त व्यक्ति के रूप में करता है। उत्तर–आधुनिक विमर्श की प्रकृति एवं ईश्वरीय तत्व से, तात्त्विक रूप से, वही संबंध है जो आधुनिक विमर्शों का रहा है। उत्तर–आधुनिक विमर्श के केन्द्र में भी मनुष्य ही है और उनकी भूमिका पारिभाषिक रूप से अब तक स्वीकार नहीं की गई है। यहाँ भी संस्कृति की अवधारणा में प्रकृति या ईश्वरतत्व की कोई निर्णयकारी भूमिका नहीं है।

इसके विपरीत भारत की हर संस्कृति के केन्द्र में ईश्वरीय तत्व शक्ति या सत्ता ही मानी गई है। हर संस्कृति, मत या संप्रदाय इसी तत्व तक पहुंचने का एक माध्यम है। संस्कृति और प्रकृति परिभाषा से ही एक दूसरे की पूरक एवं संबंधित अवधारणायें हैं। भारत के हर सांस्कृतिक या सांसारिक विमर्श में नियति या ईश्वरीय तत्व की लीला या सृजनात्मक शक्ति ही अभिव्यक्त होती है।

इस तरह यूरोपीय सभ्यता की दोनों समकालीन प्रवृत्तियाँ–अमेरिकी व्यवहारवाद (प्रैगमैटिज्म) और उत्तर–आधुनिकता, यूरोपीय सभ्यता के पारिभाषिक दायरे से बाहर नहीं जा पातीं और भारतीय सभ्यता के साथ इनका अंतर काफी हद तक कायम रह जाता है। यूरोपीय साहित्य, संस्कृति, सिनेमा, दर्शन, समाजविज्ञान एवं धार्मिक विमर्श में मनुष्य की अवधारणा प्रकृति से स्वतंत्र एवं स्वायत्त है जबकि भारतीय संदर्भ में ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में नायक का पेड़ या नायिका का लता बन जाना एवं पशु–पक्षियों द्वारा श्रेष्ठ ऋषियों को तत्व–ज्ञान देना सामान्य घटना है। भारतीय दृष्टि से जब संसार ही एक खेल है तो सांसारिक हार–जीत, सफलता–असफलता, ख़ुशी–गम से लेकर पूजा पद्धति या विचारधारा परिवर्तन भी हंसी–खेल का माध्यम है। उत्सव में या खेल में बड़ी लगन और उत्साह से मूर्ति या इमेज बनायी जाती है और पूजा की जाती है। लेकिन खेल के बाद या उत्सव के बाद उतने ही उत्साह और उतनी ही लगन से विसर्जन कर दिया जाता है। भारतीय दृष्टि से 'खेल', 'लीला', 'उत्सव' और 'विमर्श' एक ही सभ्यतामूलक सृजन प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने वाली समानधर्मी अवधारणायें हैं।

❑❑❑

साहित्य एवं कला का समकालीन भारतीय दृष्टि–2

साहित्य और समाज में जटिल रिश्ता होता है। इस जटिलता को मानवीय चेतना की दृष्टि से देखें तो यह द्वंद्वात्मक रिश्ता होता है। इस रिश्ते को समझने की अब तक कई व्यवस्थित कोशिशें हो चुकी हैं। इन कोशिशों में सबसे नई, सबसे व्यवस्थित और सबसे संतुलित कोशिश का नाम 'साहित्य का समाजशास्त्र' है। हालांकि 1920 के दशक में कलकत्ता और लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का भारत में जो वैकल्पिक स्वरूप उभरा, इसे बाद के दिनों में 'लखनऊ स्कूल' के नाम से ज़्यादा प्रसिद्धि मिली, उसमें साहित्य को संगीत, नृत्य, मूर्तिकला, स्थापत्य, मिथक और अन्य कलात्मक अभिव्यक्तियों के साथ सामूहिक चेतना के घटक के रूप में शुरू से ही स्थान प्राप्त था परन्तु भारतीय समाजशास्त्र की मुख्यधारा (जिसका प्रतिनिधित्व पहले बंबई विश्वविद्यालय तथा बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय का समाजशास्त्र विभाग करता रहा) में साहित्य या कला को समाजशास्त्रीय चिंतन का विषय बनने नहीं दिया गया। फलस्वरूप एक विषय के रूप में साहित्य के समाजशास्त्र का अध्ययन समाजशास्त्र विभाग में शुरू नहीं हो पाया। भारत में साहित्य और समाज के रिश्ते को नए तरीके से देखने वाली एक नयी परम्परा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य का इतिहास से शुरू होती है। शुक्लजी की पुस्तक भले ही हिन्दी शब्द–सागर की भूमिका के रूप में लिखी गई हो पर उसकी उत्पत्ति बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के नवगठित हिन्दी विभाग के लिए एक पाठ्यपुस्तक के रूप में ही हुई थी।

रामचन्द्र शुक्ल का समाजशास्त्रीय विमर्श

आचार्य शुक्ल की साहित्यालोचना का प्रस्थान बिंदु यूरोपीय विद्वान तेन का बौद्धिक विमर्श था, इसे अधिकांश लोग जानते और मानते हैं। पर हिन्दी में समाजशास्त्र पढ़ने वाले अधिकांश लोग इस बात को नहीं जानते कि आधुनिक समाजशास्त्र जिसके पिता फ्रांसीसी विद्वान ईमाइल दुर्खीम को माना जाता है तेन के

विचारों के कितने ऋणी हैं। तेन पर लिखे अपने शास्त्रीय निबंध में दुर्खीम स्वीकार करते हैं कि अपनी मूल स्थापनाओं में वे समाजशास्त्र के जनक अगस्त कोम्ट की तुलना में तेन के बौद्धिक विमर्श के ज़्यादा ऋणी हैं। इस दृष्टि से हिन्दी की आलोचना और आधुनिक समाजशास्त्र की मुख्यधारा तेन से स्पष्ट रिश्ते के कारण सगी बहनें हैं। ठीक उसी तरह हिन्दी में मार्क्सवादी विमर्श के विद्यार्थी मार्क्स के ऊपर ही गेल के प्रभाव को स्वीकार करते हैं परंतु सेंट सिमों के प्रभाव की चर्चा नहीं करते। सेंट सिमों वह दूसरी कड़ी हैं, जो हिन्दी आलोचना के मार्क्सवादी संप्रदाय और समाजशास्त्र की मुख्यधारा को जोड़ती है। सेंट सिमों ने एक साथ कोम्ट, मार्क्स और दुर्खीम के समाजशास्त्रीय विमर्श को प्रेरित किया था।

आचार्य शुक्ल पर दूसरा प्रभाव भारतीय काव्य, नाट्य या सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा का माना जाता है। भारत की इस शास्त्रीय परम्परा में पाणिनि तथा पतंजलि के व्याकरण, भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, दण्डी का काव्यादर्श, अभिनवगुप्त के तंत्रलोक, ध्वन्यालोक और नाट्यालोचना आदि का महत्त्व सर्वविदित है। विश्व समाजशास्त्र में तथा भाषा–विज्ञान में संरचनावाद एक महत्त्वपूर्ण संप्रदाय के रूप में उभरा है। सामान्यतया संरचनावाद का जनक सौस्यूर या सोसियो को माना जाता है। परंतु लोग यह जानने की कोशिश नहीं करते कि सौस्यूर या सोसियो के संरचनावाद का आधार क्या है? दरअसल सौस्यूर या सोसियो ईमाइल दुर्खीम के विचारों से प्रभावित था। विट्टनी मैक्समूलर के समकालीन था और उसने पाणिनि के व्याकरण पर काम किया है। सौस्यूर या सोसियो से प्रभावित लोगों में जैकोब्सन एवं हाले प्रमुख हैं। इन लोगों ने एक बौद्धिक आंदोलन खड़ा किया, जिसकी उपज क्लाउड लेवी स्ट्रॉस, अलथुजर, नोम चॉम्सकी, लूसिये गोल्डमान जैसे लोग हैं। समाजशास्त्र में लेवी स्ट्रॉस इनमें सबसे ज़्यादा प्रमुख माना जाता है। लेवी स्ट्रॉस ने खुद स्वीकार किया है कि उन पर कार्ल मार्क्स, ईमाइल दुर्खीम एवं सौस्यूर या सोसियो का प्रभाव है। कई बार उन्होंने खुद को मार्क्सवादी भी कहा है। परंतु लेवी स्ट्रॉस काफी हद तक डी.पी. मुखर्जी की तरह मार्क्स से प्रेरित एक स्वतंत्र और मौलिक समाजशास्त्री हैं जिसने मार्क्स की पद्धति का कल्पनाशील उपयोग नए और अछूते विषयों को समझने के लिए किया है। लेवी स्ट्रॉस पर प्रभावों की कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण नाम दुर्खीम के भतीजे और महत्त्वपूर्ण सहयोगी मार्शल मौस का है 'जिसने उपहार लेने–देने' एवं 'यज्ञ' विषय पर काम किया है। मार्शल मौस एक महत्त्वपूर्ण भारतविद रहा है। भारतीय शास्त्रों का वह गहरा जानकार रहा है। इस दृष्टि से केवल तेन की ही नहीं बल्कि आचार्य शुक्ल की आलोचना परम्परा और समाजशास्त्र की मुख्यधारा में भारतीय परम्परा और शास्त्रों का प्रभाव भी एक साझी परम्परा रही है जिसे ठीक से समझा

जाना अभी बाकी है। इससे हिन्दी आलोचना, भारतीय समाजशास्त्र और सबसे बढ़कर साहित्य के समाजशास्त्र की भारतीय धारा को बहुत लाभ हो सकता है।

ईमाइल दुर्खीम तेन को 'रेसनलिस्ट इमपिरीसिज़्म' का पिता मानता है और आधुनिक समाजविज्ञानों के उद्भव और विकास में तेन के महत्त्व को व्यवस्थित तरीके से स्थापित करता है। ठीक उसी तरह से फ्रैंकफर्ट संप्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में लियो लावेंथल की चर्चा की जाती है। परंतु अगर अडोर्नो, हवर्ट मारकुस, लियो लावेंथल और वाल्टर बेंजामिन के साथ–साथ जार्ज लुकाच एवं हेबरमास की भी चर्चा की जाए तो तेन की दृष्टि की सीमाएँ काफी हद तक दूर हो जाती हैं। जार्ज लुकाच साहित्य के समाजशास्त्र की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। मार्क्स, फ्रायड, जार्ज लुकाच के प्रभाव में फ्रैंकफर्ट संप्रदाय बना था। लुकाच के पहले साहित्य और कला को मार्क्सवादी संप्रदाय में गौण विषय माना जाता था चूँकि लोग इन्हें सुपरस्ट्रक्चर का प्रतिबिंब मानते थे जबकि राजनीतिक अर्थशास्त्र को बेस या इन्फ्रास्ट्रक्चर का विषय मानते थे। जार्ज लुकाच मार्क्स की तथाकथित प्रारंभिक रचनाओं के आधार पर (जिनमें एडम स्मिथ के बजाय ही गेल का प्रभाव ज़्यादा था) मनुष्य की चेतना को समझने में साहित्य और कला के महत्त्व को गंभीरता से रेखांकित करते हैं। जो लोग लुकाच की रचनाओं से अपरिचित हैं, वे यही समझते हैं कि फ्रैंकफर्ट संप्रदाय के विद्वान भले ही अपने को नवमार्क्सवादी कहते हों पर साहित्य और कला के गंभीर चिंतन के प्रति लगाव उनमें हाइडेगर और फ्रायड के प्रभाव में आया।

समाजशास्त्र के अन्तर्गत भारत में जब भी कोई मार्क्सवादी विद्वान विश्लेषण शुरू करता है तो वह कार्ल मार्क्स की प्रारंभिक रचनाओं की अनदेखी करता है। उदाहरण के लिए ए.आर. देसाई की भारतीय समाजशास्त्र में पहचान मार्क्सवादी समाजशास्त्री के रूप में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि और ग्रामीण समाज के अध्येता के रूप में है। दोनों किताबें अंग्रेज़ी में प्रकाशित हैं। इनके कई संस्करण निकल चुके हैं। इनमें साहित्य और कला का भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की सामाजिक पृष्ठभूमि तलाशने के क्रम में विश्लेषण क्यों नहीं है? जबकि ए.आर. देसाई गुजराती में साहित्य–कला के विषय में लिखते रहे हैं। क्या इसलिए कि भारतीय समाज–विज्ञानों में मार्क्सवादी चिन्तन की मुख्यधारा प्रत्यक्षवाद (पोजिटिविज़्म) रही है जिसमें मार्क्स की प्रारंभिक रचनाओं के लिए कोई जगह नहीं है या सचमुच भारतीय आंदोलन में साहित्यकारों या कलाकारों की कोई भूमिका नहीं थी? या यह कारण है कि ए.आर. देसाई अपनी अंग्रेजी में लिखी प्रमुख रचनाओं में मार्क्स की बाद की रचनाओं का

जानबूझकर प्रयोग करते हैं जबकि गुजराती में लिखी रचनाओं में या तो मार्क्स की प्रारंभिक रचनाओं या गुजराती की लोक परम्पराओं से प्रभावित हैं? पर ग्रामीण समाजशास्त्र पर लिखी अपनी अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त पुस्तक में भी वे लोक साहित्य, लोक कला या लोक संस्कृति की चर्चा क्यों नहीं करते? क्या बंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम की सीमा के कारण?

यदि हिन्दी साहित्य के मार्क्सवादी विद्वानों से तुलना करें तो मार्क्सवादी समाज–विज्ञानी तुलनात्मक रूप से अमौलिक और बौने नज़र आते हैं। उदाहरण के लिए रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय का भारतीय समाज पर साहित्य के मार्फत किया गया विमर्श ए.आर. देसाई जैसे धाकड़ समाजशास्त्रियों की तुलना में मार्क्स के बहुआयामी शास्त्रीय परम्परा के ज़्यादा नजदीक है। हेबरमास का समाजशास्त्र उत्तर–संरचनावाद को बिना अनदेखा किए समकालीन विश्व मानवता के संकट और संभावना की दृष्टि से मनुष्य की चेतना को कुन्द करने वाले समकालीन पूँजीवादी मायाजालों को रौंदता हुआ एक नया विमर्श गढ़ने में सफल हुआ है जो उतना ही मौलिक है जितना खुद कार्ल मार्क्स का विमर्श या हमारे अपने कबीर के वांड्मय। समकालीन साहित्य के समाजशास्त्र की दृष्टि से हेबरमास के बौद्धिक विमर्श से अनजान रहने में नव साम्राज्यवादी दबावों से घिरे व्यक्ति के लिए आशा के एक जीवंत स्रोत से महरूम होने जैसा है।

भारतीय समाज के साहित्यशास्त्र की दृष्टि से लखनऊ संप्रदाय का समाजशास्त्र उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना यूरोपीय साहित्य की दृष्टि से फ्रैंकफर्ट संप्रदाय या संरचनावादी संप्रदाय का समाजशास्त्र माना जाता है। भारत में समाजशास्त्र का जन्म 1914 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में इसके तत्कालीन कुलपति सर आशुतोष मुखर्जी की प्रेरणा से स्वदेशी आंदोलन और बंगाल रेनेसां के प्रतिफल के रूप में हुआ। जबकि भारतीय समाजशास्त्र की दूसरी मुख्यधारा का जन्म ब्रिटिश सरकार के सुनियोजित प्रयास और ग्रांट के कारण 1916 में बंबई विश्वविद्यालय में हुआ। कलकत्ता के समाज शास्त्र विभाग के अध्यक्ष विनय कुमार सरकार बने। उनके शिष्य और सहयोगी के रूप में राधाकमल मुखर्जी और एन.के. बोस का नाम कलकत्ता संप्रदाय के साथ जुड़ा। 1921 में बी.एन. शील जब लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति बने तो उन्होंने राधाकमल मुखर्जी को कलकत्ता से लखनऊ बुलाया। बी.एन.शील का नाम कलकत्ता संप्रदाय में सर आशुतोष मुखर्जी के साथ आदर से लिया जाता है। दोनों ही (सर आशुतोष मुखर्जी और बी.एन. शील) स्वदेशी आंदोलन के दौरान कलकत्ता में रह रहे श्रीलंकाई तमिल पिता और ब्रिटिश माता से जन्मे और लंदन विश्वविद्यालय में पढ़े

आनंद कुमारस्वामी के भारतीय कला, साहित्य और परम्परा के बारे में 1906 से 1917 तक किए गये अध्ययनों से प्रभावित थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से कुमारस्वामी बोस्टन में रहकर इन विषयों को केन्द्र बनाकर संस्कृति तथा परम्परा पर पुनर्विचार कर रहे थे और अमेरिका, फ्रांस एवं यूरोप के अन्य केन्द्रों में नये प्रेरणा स्रोत का स्थान पा रहे थे। जिसे आजकल संस्कृति अध्ययन (कल्चरल स्टडीज) कहा जाता है, उस पर तीन लोगों का प्रभाव माना जाता है – सौस्यूर (लेवीस्ट्रॉस के ऊपर प्रभाव के कारण), चार्ल्स पियर्स (श्नाइडर, मिल्टन सिंगर और क्लिफर्ड ग्रीट्ज पर प्रभाव के कारण) और आनंद कुमारस्वामी (मार्सिया इलियड, जोसेफ कैंपबेल, स्टेला क्रैमरिश्च, कार्ल जुंग, मार्को पैलिस, सैयदहुसैन नस्त्र, मैकिम मैरियट, राधाकमल मुखर्जी, डी .पी. मुखर्जी, ए.के. सरण, लुई डुमों आदि पर प्रभाव के कारण)। परम्परा की जहाँ भी चर्चा (1916 के बाद) समाजशास्त्र में हुई है, वहाँ कुमारस्वामी की रचनाओं का वही महत्त्व है, जो आधुनिकता की चर्चा के दौरान कार्ल मार्क्स, मैक्स वेबर और ईमाइल दुर्खीम की रचनाओं का माना जाता है।

लखनऊ संप्रदाय के लिए आनंद कुमारस्वामी का वही महत्त्व है, जो हिन्दी आलोचना के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का। राधाकमल मुखर्जी ने भारतीय कला के ऊपर दो पुस्तकें 'दि फ्लावरिंग ऑफ इंडियन आर्ट' एवं 'सिंबोलिक लाइफ़ ऑफ मैन' लिखी हैं। इन पुस्तकों में वे भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य के अन्तर्गत बिंब–विधान या प्रतीक संरचना को समझने के लिए आनंद कुमारस्वामी के दृष्टिकोण को अपनाते हैं। डी.पी. मुखर्जी अपने को एक विशेष कारण से मार्क्सवादी न कहकर मार्क्सियोलोजिस्ट कहते थे। ए. आर. देसाई एवं डी. पी. मुखर्जी की समाजशास्त्रीय पुस्तकें करीब–करीब आस–पास ही प्रकाशित हुईं। निश्चित रूप से देसाई और डी. पी. मुखर्जी एक तरह के मार्क्सवादी नहीं हैं। डी. पी. मुखर्जी मार्क्स से ऐतिहासिक विश्लेषण का औपचारिक (फॉरमल) सिद्धांत लेते हैं, जबकि देसाई सबस्टैंटिव थ्योरी (तात्त्विक) लेते हैं। डी .पी. मुखर्जी मानववादी मार्क्सवाद से प्रभावित हैं जबकि ए. आर. देसाई प्रत्यक्षवादी मार्क्सवाद से। एक अर्थ में डी.पी. मुखर्जी लुकाच से मिलते–जुलते हैं, जबकि देसाई बुखारिन से। इसके अलावा डी. पी. मुखर्जी भारतीय परम्परा को समझने में मार्क्स के अलावा आनंद कुमारस्वामी तथा राधाकमल मुखर्जी की परम्परा की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। मार्क्स के एशियाटिक मोड ऑफ प्रोडक्शन को डी.पी. मुखर्जी निश्चित रूप से खारिज करते हैं। जबकि आधुनिक भारतीय सांस्कृतिक तथा समकालीन सामाजिक परिवर्तन को समझने में मार्क्स के सिद्धांतों का वे अक्सर उपयोग करते हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा से पहले डी.पी. मुखर्जी संभवतः अकेले मौलिक मार्क्सवादी विचारक हैं, जो मार्क्सवादी दृष्टि और भारतीय परम्परा की इंडोलॉजिकल समझ का संश्लेषण करके साहित्य एवं कला रूपों को समझने की गंभीर कोशिश करते हैं। डी .डी . कोसांबी भी अपने ऐतिहासिक अध्ययनों में परम्परा एवं संस्कृत साहित्य के कुछ पक्षों पर मार्क्सवादी दृष्टि से विचार करते हैं परंतु उनका विश्लेषण मार्क्सवादी दायरे से बाहर नहीं जा पाता। डी.पी. मुखर्जी ने इंडोलॉजिकल अध्ययनों का भारतीय परम्परा को समझने में काफी रचनात्मक उपयोग किया, खासकर भारतीय मध्यवर्ग और इस मध्यवर्ग के प्रतिनिधि लेखकों एवं कलाकारों की कृतियों को समझने में अपनी मार्क्सवादी दृष्टि की अपूर्णता को काफी हद तक अपने समय के हिसाब से दूर किया। टैगोर के साहित्य एवं भारतीय कला के बंगाली संप्रदाय को समझने में उनकी दृष्टि आज भी लाभदायक है। आधुनिक भारतीय समाज और संस्कृति को समझने की दृष्टि से उनका काम समकालीन समाजशस्त्रियों की तुलना में ज़्यादा उपयोगी है। उदाहरण के लिए उनकी भारतीय संस्कृति का समाजशास्त्र नामक पुस्तक तथा कुछ अन्य लेख जो डाइवर्सिटीज में शामिल हैं, को देखा जा सकता है।

मनुष्य की चेतना के नए आयाम खोलने में मार्क्स द्वारा दी गई वर्ग चेतना; फ्रायड द्वारा दिए गए चेतन, अवचेतन तथा अचेतन के बाद कार्ल जुंग द्वारा दिए गए सामूहिक अवचेतन का सबसे ज़्यादा महत्त्व है। सामूहिक अवचेतन की इस धारणा का प्रयोग जुंग से भी पहले कुमारस्वामी ने अपने कला चिंतन में किया था। उनकी पहली स्थापना यह थी कि कला और साहित्य धर्म से भी गहरी चीजें हैं। अपने कालजयी रूप में (क्लासिक रूप में) कला और साहित्य कलाकार या लेखक की व्यक्तिगत प्रतिभा के उत्पादन न होकर सामूहिक चेतन, अवचेतन या अचेतन के प्रतिबिंब होते हैं। कुमारस्वामी की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा यह है कि लोककला, साहित्य या पारम्परिक शास्त्रीय कला और साहित्य में प्रतीकों और यथार्थों के बीच कृत्रिम या 'आरबिट्रेरी' संबंध नहीं होता है, बल्कि स्वाभाविक संबंध होता है; जबकि आधुनिक (प्रैजीवादी) कला और साहित्य में यथार्थ और प्रतीकों के बीच स्वाभाविक संबंध न होकर कृत्रिम या अलगाववादी संबंध या सातत्य होता है (मार्क्सवाद के अलगाववाद की यहाँ स्वाभाविक रूप में याद आ जाती है)।

साहित्य के समाजशास्त्र में कुमारस्वामी की तीसरी अवधारणा यह है कि लोककला, लोकसाहित्य या पारम्परिक साहित्य और कला (भारतीय रीतिकालीन कला और साहित्य के अपवाद को छोड़कर) एक ही साथ लक्ष्य और साधन, दोनों

होते हैं जबकि आधुनिक कला और साहित्य केवल साधन होता है, जिसका केवल दुरुपयोग हो सकता है। जबकि लोककला, लोक साहित्य या पारम्परिक शास्त्रीय कला–साहित्य एक ही साथ सामूहिक अवचेतन की अभिव्यक्ति का साधन और साध्य दोनों हैं। दूसरे शब्दों में लोककला साहित्य या पारम्परिक शास्त्रीय कला–साहित्य लोक के लिए अमंगलकारी नहीं हो सकती, जबकि आधुनिक कला–साहित्य का शोषण और दुरुपयोग दोनों ही हो सकते हैं।

अपनी इन स्थापनाओं को केन्द्र बनाकर कुमारस्वामी परम्परा का एक विमर्श बनाते हैं, जिसका उपयोग भारतीय कला, साहित्य को समझने–समझाने में बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है, ख़ासकर साहित्य के समाजशास्त्र में। एक ऐसे समय में जब परम्परा में केवल शोषण और अत्याचार देखने के लिए प्रोत्साहन मिलता था, कुमारस्वामी ने यह साबित किया कि आर्थिक और राजनीतिक रूप से परम्परा में सीमाएँ थीं, पर रीतिकालीन अपवाद को छोड़कर पारम्परिक साहित्य और कला के द्वारा जो चेतना और मूल्य विकसित हुए वे यथार्थ से संबद्ध होते हुए भी सापेक्षिक रूप से काफी हद तक स्वायत्त थे और यथार्थ के नियमन के लिए वैकल्पिक क्रियाओं, आंदोलन एवं संस्थाओं को बल प्रदान करते थे। आज के समय में जब भूमंडलीकरण को चलाने वाली नवसाम्राज्यवादी दृष्टि परम्परा को लोकमंगल से काटकर उपभोक्तावादी धर्मांधता में रूपांतरित करने का कुचक्र चला रही हो, तब कुमारस्वामी और डी.पी. मुखर्जी की साहित्य, संस्कृति, कला आदि संबंधी दृष्टि परम्परा के उदात्त रूप के बारे में लोक चेतना को आलोकित कर सकती है।

भारत के केवल तीन समाजशास्त्रियों ने साहित्य को अपने अध्ययनों का विषय बनाया है – डी.पी. मुखर्जी, पी.सी. जोशी और ए.आर. देसाई। जिसमें डी.पी. मुखर्जी के अलावा किसी ने अपनी मूल समाजशास्त्रीय दृष्टि को साहित्य विश्लेषण के आधार पर विकसित नहीं किया। विश्व समाजशास्त्र में साहित्य का विश्लेषण या तो ज्ञान के समाजशास्त्र के अंतर्गत किया जाता है या प्रतीकों (संकेतों या लक्षण) के समाजशास्त्र के अंतर्गत। संस्कृति के समाजशास्त्र के अंतर्गत भी इसका विश्लेषण होता है। एक समय था जब माना जाता था कि साहित्य समाज का आईना होता है और साहित्य के अध्ययन से सामाजिक संरचना, सामाजिक यथार्थ और सामाजिक संबंधों को प्रत्यक्ष रूप से समझा जा सकता है। इस प्रकार के दृष्टिकोण का उपयोग प्राचीन या मध्यकालीन परम्पराओं के अध्ययन में इतिहासकारों ने किया था। प्रारंभ में कुछ समाजशास्त्रियों ने भी यह बचकानापन दिखलाया था। परंतु संरचनावाद एवं प्रतीकात्मक समाजशास्त्र के विकास के बाद कम से कम 1970 के दशक के बाद से

साहित्य को समाज का दीपक माना जाने लगा। साहित्य समाज का प्रतिबिंब नहीं होता आईने की तरह बल्कि एक दीपक होता है जिसकी लौ में, जिसके प्रकाश में कोई समाजशास्त्री समाज के व्याकरण के सूत्र पकड़ सकता है। इस तरह समाज को समझने में साहित्य का उपयोग प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होता है, ठीक उसी तरह जिस तरह किसी वैज्ञानिक के परीक्षण में 'पैराडाईम' का उपयोग अप्रत्यक्ष होता है। या जिस तरह व्याकरण की शिक्षा से कविता करना या कहानी लिखना नहीं सिखाया जा सकता, परंतु बिना व्याकरण के भाषा नहीं सीखी जा सकती। हिन्दी साहित्य के संदर्भ में प्रेमचन्द ने संरचनात्मक/प्रतीकात्मक समाजशास्त्रियों से काफी पहले 1930 के दशक में ही समाज और साहित्य के इस जटिल संबंध को समझा था परंतु पारम्परिक साहित्य की व्यावहारिक आलोचना में सरलीकरण की प्रवृत्ति काफी हद तक अब भी बनी हुई है।

रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक भारतीय साहित्य की भूमिका, 1966 में मार्क्सवादी दृष्टि एवं हिन्दी साहित्य के रामचन्द्र शुक्ल द्वारा स्थापित मानदण्डों के आधार पर भारतीय परम्परा को समझने के लिए साहित्य का जैसा सजग एवं व्यवस्थित उपयोग करते हैं, वह उनके काम को गहराई एवं उँचाई दोनों देता है। अपनी दूसरी पुस्तक भारतीय संस्कृति एवं हिन्दी प्रदेश 1966 के दोनों खण्डों में, वे हिन्दी साहित्य का एक मौलिक समाजशास्त्र स्थापित करने की कोशिश करते हैं। अपनी तीसरी पुस्तक भारतीय सौन्दर्य–बोध और तुलसीदास में वे हिन्दी के साहित्य का सैद्धांतिक समाजशास्त्र एवं सौन्दर्य तथा कला का ऐतिहासिक समाजशास्त्र विकसित करने की कोशिश करते हैं। अपने इन अध्ययनों के दौरान वे मार्क्सवाद की सीमा का कुछ इस हद तक अतिक्रमण करते हैं कि उनके विरोधी उनको वैष्णव मार्क्सवादी कहने लगे और उनकी रचनाओं का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करने के स्थान पर उनकी उपेक्षा की जाने लगी। भारतीय विश्वविद्यालयों में पुनर्जागरण, धर्मसुधार आंदोलन और यूरोपीय आधुनिकता के बारे में मैकाले पुत्रों के लोकप्रिय मिथकों को भेदते हुए रामविलास शर्मा भारतीय संस्कृति के एक नए बौद्धिक विमर्श के लिए एक नई संवेदना और एक नई संभावना को जन्म देते हैं। उनका कहना है कि भक्ति आंदोलन हमारे यहाँ रिफार्मेशन है, रेनेसां भी है।

रामविलास शर्मा ने भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश, भारतीय साहित्य की भूमिका, भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ एवं आज के सवाल और मार्क्सवाद जैसी पुस्तकों के द्वारा भारतीय संस्कृति को समझने के लिए एक मौलिक दृष्टि विकसित की है। इन पुस्तकों के अध्ययन से यह स्पष्ट नहीं है कि रामविलास

शर्मा धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी उर्फ डी.पी. मुखर्जी की रचनाओं से परिचित थे या नहीं, पर दोनों के दृष्टिकोण आश्चर्यजनक रूप से समान हैं। डी.पी. मुखर्जी अपने को मार्क्सवादी न कहकर मार्क्सवादी विमर्श से प्रभावित मौलिक चिंतक मानते थे और खुद को मार्क्सियोलॉजिस्ट कहते थे। उद्देश्य दोहरा था – एक ओर वह अपने को ए.आर. देसाई जैसे पदार्थवादी मार्क्सवादियों से अलग करना चाहते थे – जो यांत्रिक भौतिकवादी दृष्टि को मार्क्सवाद कहते थे। दूसरी ओर, वह कम्युनिस्ट पार्टी के कार्डधारक उन बौद्धिक कारिंदों से खुद को अलग करना चाहते थे, जो पार्टी नेतृत्व तथा पार्टीलाइन की वकालत करना, हर कीमत पर अपना कर्त्तव्य समझते थे।

उनके लिए मार्क्सवाद एक विश्लेषण पद्धति थी, राजनैतिक विचारधारा नहीं। इसके साथ–साथ वह भारतीय परम्परा की मौलिकता के कायल थे और मार्क्स के भारत–संबंधी अध्ययनों की विसंगतियों एवं सीमाओं को समझते थे। फलस्वरूप वह मार्क्स के यूरोपीय समाज के अध्ययन की पद्धति के आधार पर भारतीय इतिहास को समझने के पक्षधर थे और मानते थे कि मार्क्स के भारत–संबंधी अध्ययन अपर्याप्त सूचना, गलत आंकड़ों और दोषपूर्ण तरीकों से इकट्ठे किए गए तथ्यों पर आधारित थे। खासकर भारतीय परम्परा के बारे में मार्क्स के विचारों से डी.पी. मुखर्जी प्रभावित नहीं थे। जबकि भारत में अंग्रेज़ी राज तथा आधुनिक भारत में हुए सांस्कृतिक परिवर्तनों को समझने के लिए वह मार्क्स की रचनाओं तथा दृष्टिकोणों को महत्त्वपूर्ण मानते थे।

डी.पी. मुखर्जी ने अपना अध्ययन मूलतः 1940 से 1960 के बीच प्रकाशित किया जबकि भारतीय संस्कृति, दर्शन एवं इतिहास के अध्ययन की ओर रामविलास शर्मा मूलतः 1980 के आसपास आए। उनके काम का व्यवस्थित मूल्यांकन होना अभी शेष है। हिन्दी में गंभीर चिंतन करने वाले किसी भी चिंतक का फलक इतना विशाल नहीं है, जितना रामविलास शर्मा का रहा है।

भारतीय संस्कृति को समझने के लिए रामविलास शर्मा यूरोपीय परम्परा और आधुनिकता, खासकर रेनेसां और रिफार्मेशन–पुनर्जागरण और धर्मसुधार आंदोलन के मिथक एवं यथार्थ को समझना आवश्यक मानते हैं। रामविलासजी का मानना है कि पुनर्जागरण के बिंब और इतिहास के तथ्यों में फासला है। यूरोपीय मानस की यह संरचना तथ्यों पर आधारित नहीं है। वह अंशतः सत्य है। अमेरिका में पहले स्पेन और पुर्तगाल के लोग गए। उन्होंने वहाँ नरसंहार किया। उसके बाद अंग्रेज पहुँचे। उन्होने हिंसा कर्म में पहले वालों के भी कान काट लिए। लेकिन यूरोप में पुनर्जागरण के केन्द्र इन देशों में नहीं थे। वह केन्द्र इटली में था, जिसका इस प्रकार के अभियानों में कोई योगदान नहीं था। प्राचीन संस्कृति की तरह पुनर्जागरणकालीन संस्कृति को

भी समूचे यूरोप की साझा विरासत बनाकर उसमें अपना राष्ट्रीय हिस्सा लेने की जागृति इस प्रकार संपन्न हुई। जिसे रेनेसां या पुनर्जागरण काल कहा जाता है, वह वास्तव में यूरोप की आधुनिक जातियों का निर्माण काल है। यूरोप में दो तरह की जातियाँ थीं : (क) यूनानी और इतालवी – जिन्होंने प्राचीनकाल में उच्च कोटि की सभ्यता का विकास देखा था। फिर सामंतवाद के अंधकार युग में उसका हास भी देखा था, (ख) स्पेनी, पुर्तगाली, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन – जिनके यहाँ ऐसा कोई विकास नहीं हुआ था और जो अब सामंतवादी व्यवस्था से सीधे व्यापारिक पूँजीवादी के युग में प्रवेश कर रही थीं। पुनर्जागरण केवल यूनान और इटली में हुआ था।

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद जो अंधकार युग आया, उसकी एक विशेषता थी– ईसाई धर्म का प्रचार। ईसाई धर्म–प्रचारकों ने यूनान और रोम में प्राचीन दर्शन, गणित, विज्ञान और संस्कृति की अनेक उपलब्धियाँ नष्ट कर दीं। पुस्तकें और पुस्तकालय जला डाले, स्वतंत्रचेता बुद्धिजीवियों का व्यापक संहार किया और भयानक दमन चक्र चलाया। सांस्कृतिक विकास और धर्म प्रचार की यह टक्कर पुनर्जागरण युग में भी देखी गई। पुनर्जागरण के साथ धर्म सुधार भी चला। धर्म सुधार कर ईसाई धर्म कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट में बँट गया और दोनों संप्रदाय एक–दूसरे के जानी दुश्मन बन गए। उस दौर का यूरोपीय इतिहास जैसा रक्तरंजित है, वैसा औरंगजेब का भारत भी नहीं था। यूरोप का पुनर्जागरण अभिजात वर्ग से आगे बढ़ा तो बुद्धिजीवियों और मध्यवर्गीय स्तरों पर आकर रुक गया।

रोमन सभ्यता के पतन के बाद यूरोप में ईसाई धर्म का प्रसार हुआ। संघबद्ध धर्म सांसारिक प्रेम और सौन्दर्य को त्याज्य मानता था जबकि यूनानी और इतालवी लोग प्राचीनकाल से परिष्कृत सौन्दर्यबोध और इहलोकवादी दृष्टि वाले लोग थे। शिल्पी, साहित्यकार और सौन्दर्यप्रेमी जीव थे। उनका सौन्दर्य अशरीर और अगोचर नहीं था। वे गोचर संसार से प्रेम करते थे। मानव संबंधों का, दैहिक सौन्दर्य का चित्रण करते थे। पुनर्जागरण काल (चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी) में प्राचीन यूनान तथा रोम की सभ्यता और चर्च की सभ्यता में टकराव हुआ। प्राचीन इहलोकवादी मध्यकालीन परलोकवाद से टकराया। चर्च को सुधारने के लिए एक धार्मिक आंदोलन चलाया गया, जिसे 'रिफार्मेशन' कहा जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय विश्वविद्यालयों में पुनर्जागरण, धर्मसुधार आंदोलन और यूरोपीय आधुनिकता के बारे में मैकाले पुत्रों के लोकप्रिय मिथकों को भेदते हुए रामविलास शर्मा भारतीय संस्कृति के एक नए बौद्धिक विमर्श के लिए एक नई संवेदना और एक नई संभावना को जन्म देते हैं। उनका कहना है कि भक्ति आंदोलन हमारे यहाँ का रिफार्मेशन भी है, और

रेनेसां भी है। यूरोप में पुनर्जागरण गैर–ईसाई यूनान से प्रभावित था, धर्मसुधार आंदोलन ईसाई मत का पुनरुत्थान कर रहा था। दोनों एक–दूसरे से टकराए। हमारे यहाँ ऐसी टक्कर अनावश्यक थी। जिन स्रोतों से भक्त कवियों को धर्मसुधार की प्रेरणा मिलती थी, उनसे उन्हें यथार्थपरक काव्य रचना की प्रेरणा भी मिलती थी। वास्तव में पुरोहितवादी रूढ़ियाँ यहाँ की जनसंस्कृति का स्रोत कभी नहीं रहीं। अपनी साहित्यिक विरासत के न होने पर भी पश्चिमी यूरोप की जातियों ने यूनानी और इटालियन जातियों के प्राचीन साहित्य को अपनाया। पहले यूनान की संस्कृति से पूर्ण विच्छिन्नता, फिर उसे अपनाने का प्रयास – ऐसा प्रपंच हमारे यहाँ घटित नहीं हुआ। इहलोकवाद और परलोकवाद का द्वंद्व यूरोप के पैमाने पर यहाँ कभी नहीं फैला। भक्त कवियों ने लोकजीवन से अभिन्न रहकर साहित्य में यथार्थवाद का विकास किया। जबकि यूरोपीय पुनर्जागरण के अधिकांश यथार्थवादी दर्शनों पर हर जगह अभिजात वर्ग की छाप है। भक्ति काव्य का यह लोकवादी स्वरूप संसार में अद्वितीय है।

यूरोप चाहे पुनर्जागरण काल का हो चाहे बीसवीं सदी का, यह कल्पना करना कठिन है कि प्रोटेस्टेंटों की जमात को कैथोलिक धर्मप्रचारक उपदेश दें या ईसाइयों को यहूदी गुरु उपदेश दें। किन्तु भारत में धर्मों और मतों के बीच ऐसी खाई न थी जैसी इतिहासकारों ने कल्पना में खोद रखी है। कबीर हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को उपदेश देते थे। एकनाथ, तुकाराम, रामदास, मुनींद्र स्वामी, शाहमुनि सभी दोनों को उपदेश देते थे।

चौदहवीं सदी के यूरोपीय पुनर्जागरण के काफी पहले दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन शिखर पर पहुंच चुका था और उस भक्ति परम्परा के दो आचार्यों रामानुजाचार्य एवं वल्लभाचार्य के प्रभाव से उत्तर भारत में भक्ति का प्रसार हुआ था। पीको डेला मिरांडोला या यासर को देखते हुए कबीर अधिक प्रगतिशील और आधुनिक थे। शेक्सपीयर की तुलना में तुलसीदास कम आधुनिक नहीं थे। अमीर खुसरो–विद्यापति से लेकर घनानंद–आलम तक भारत में लोकजागरण का प्रवाह था। यह लोकजागरण यूरोप के पुनर्जागरण के समानांतर था। परंतु भारत और यूरोप की परिस्थितियों में अंतर था। भारत में उस काल में धर्म का वह दबदबा नहीं था, जो यूरोप में था। यहाँ फारसी धर्म भाषा नहीं थी, राजभाषा थी। संस्कृत और अरबी धर्मभाषाएँ थीं पर भारत के किसी भी प्रांत में राजभाषाएँ नहीं थीं। यूरोप में जातीय राज्यों की आम बोलचाल वाली भाषाएँ दूसरी थीं। लैटिन धर्मभाषा थी, राजभाषा भी थी। धर्मसत्ता और राजसत्ता के इस गठबंधन से जातीय राज्यों के उभरने पर भी अभिजात वर्ग में ईसाई महामंडल वाली यूरोपीय एकता बनी हुई थी। जबकि भारत में

भक्ति आंदोलन का नेतृत्व निचले स्तरों, श्रमिक, शूद्र जातियों यहाँ तक कि अछूत समझी जाने वाली जातियों से निकला।

तुर्क भारत में भी आए और यूनान में भी तुर्क आए। यूनान में तो उनका तुर्कीपन कायम रहा पर भारत में उनका तुर्कीपन मिट गया। तुर्कों की जातीय विशेषताएँ इस्लाम के पहले विकसित हुई थीं, इस्लाम के उदय से वे जातीय विशेषताएँ मिट नहीं गईं।

ऐसा क्यों हुआ कि भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय धर्मसुधार आंदोलन में टकराव नहीं हुआ? ऐसा क्यों हुआ कि तुर्क भारत में तुर्कीपन कायम नहीं रख सके? ऐसा क्यों हुआ कि भक्ति आंदोलन का नेतृत्व अभिजात वर्गों तक सीमित नहीं रह सका? आखिर भारत में उस समय धर्म का वैसा दबदबा क्यों नहीं था, जो यूरोप में था? खासकर तब जब मैकाले पुत्र मानते रहे हैं कि भारत में आर्य और द्रविड़ नामक दो नस्लें हैं और आर्य भारत में बाहर से आए, भारत में वर्णव्यवस्था का मनुवादी रूप परम्परा का नियंता रहा है, भारतीय सभ्यता मूलतः ग्रामीण एवं पारलौकिक रही है।

रामविलास शर्मा का मानना है कि यूरोपीय पुनर्जागरण एवं आधुनिकता का जो मिथक लोकप्रिय है, उसी मिथक को बनाए रखने के लिए साम्राज्यवादी ताकतों ने भारतीय इतिहास तथा परम्परा की मनमानी रूढ़ियों को शोध के नाम पर आरोपित किया। भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद से लेकर आज के सवाल और मार्क्सवाद तक की पुस्तकों में रामविलास शर्मा ने अथक शोध करके साम्राज्यवादी मिथकों की ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं भाषा वैज्ञानिक तथ्यों के आलोक में पड़ताल करते हुए एक नई दृष्टि विकसित की है। यह दृष्टि धर्मपाल की ऐतिहासिक शोधों, आनंद कुमारस्वामी के भारत के कलात्मक इतिहास, जे.पी.एस. उबेराय के यूरोप तथा भारत के बारे में तुलनात्मक अध्ययनों एवं समाजशास्त्र के लखनऊ संप्रदाय द्वारा किए गए अध्ययनों से अविरोध में है।

रोमिला थापर ने आर्य–द्रविड़ प्रश्न पर रामविलास जी से मिलता–जुलता निष्कर्ष अपने अध्ययनों में पाया है। तपन राय चौधरी, इरफान हबीब तथा बी.डी. चट्टोपाध्याय आदि के मध्यकालीन भारतीय समाज के आर्थिक–सामाजिक पक्ष के बारे में किए गए शोधों से भी रामविलास जी के निष्कर्षों का अविरोध है।

रामविलास शर्मा का फलक काफी बड़ा है। अलग–अलग क्षेत्रों में किए गए मौलिक शोधों को उन्होंने बिना किसी संस्थागत मदद के, बिना किसी संस्था के अनुदान के, बिना शोधार्थियों की टीम की मदद लिए, अकेले स्वांतःसुखाय अपने

शोध एवं चित्रण में इस तरह समायोजित किया कि सहसा विश्वास नहीं होता कि यह सब एक आदमी ने अकेले किया है। भारतीय संस्कृति के बारे में उनकी प्रमुख स्थापनाएँ निम्नलिखित हैं :

1. आर्य और द्रविड़ दो नस्ल नहीं, भाषा परिवार हैं। आर्य भारत में बाहर से नहीं आए। वैदिक साहित्य में भरतजन और आर्य एक ही हैं।

2. मनुस्मृति में जो वर्ण व्यवस्था है, वह व्यवहार में कहीं नहीं थी। शूद्रों की स्थिति अंग्रेजी राज में जैसी थी, वैसी पहले नहीं थी। प्राचीनकाल में भारत औद्योगिक रूप से काफी संपन्न देश था और मुख्य रूप से शूद्रों के श्रम पर टिका था और उन्हें पगार मिलती थी। बढ़ई, बुनकर, कुम्हार, शिल्पी, नाटक करने और लिखने वाले, रंगकर्मी, चित्रकार सभी शूद्र कहलाते थे।

भरत मुनि ने लिखा है कि उन्होंने शूद्रों के लिए पाँचवां वेद नाट्य शास्त्र लिखा है। मनुस्मृति में नाचना, गाना, बजाना शूद्र कर्म माना गया है। मनुस्मृति में जो वर्ण व्यवस्था है, वह ब्राह्मणों का एक स्वप्न है। वह उस रूप में कहीं भी प्रचलित नहीं थी। वैसे भी उनमें आपस में कई अंतर्विरोध हैं।

3. धर्म शब्द का मूल अर्थ है – प्रकृति और समाज के नियम। ऋग्वेद में दासों से भिन्न स्वाधीन गृहस्थों के लिए 'आर्य' शब्द का व्यवहार किया गया है। महाकाव्यों के दो नायक राम और कृष्ण अपने श्याम रंग के लिए प्रसिद्ध थे। इससे गोरी आर्य नस्ल की धारणा खंडित हो जाती है। वैदिक काल में धनी–निर्धन का भेद तो है परंतु वर्णों और वर्गों का निर्माण नहीं हुआ था। ऋग्वेद के कवि श्रम करते थे और काव्य रचते थे। शासक निर्वाचित होता था। पढ़ने का अधिकार सबको था। समाज में जड़ता नहीं, गतिशीलता थी।

ऋग्वेद के कवि और व्यापारी एक ही समाज के थे लेकिन उनमें वैचारिक विविधता थी। इसलिए सांस्कृतिक विविधता भी थी। हिन्दू–मुसलमान भिन्न धर्मों के अनुयायी हैं, लेकिन उनकी एकता सांस्कृतिक है। संस्कृति का भेद समाज, वर्ग और विचारों पर आधारित है। एक धर्म के भीतर सांस्कृतिक विविधता भारत में हिन्दुओं के बीच है, ईरान–इराक के मुसलमानों के बीच है, अमेरिका और कनाडा के ईसाइयों के बीच है। विभिन्न धर्मों के मानने वालों की एक संस्कृति हो सकती है। एक धर्म के भीतर ही नहीं, एक संस्कृति के भीतर भी वर्गों और विचारों के आधार पर सांस्कृतिक विविधता हो सकती है।

4. ईश्वर प्रकृति की ही अपनी शक्ति है। दयानंद प्रकृति में ईश्वर की सत्ता मानते थे। राजयोग में विवेकानंद कहते हैं – मैं ब्रह्म की पूजा भला कैसे करूं जबकि मैं स्वयं ही ब्रह्म हूँ। गाँधीजी वेदांत की इसी व्याख्या से प्रभावित थे। भारतीय दर्शन की मुख्य धारा भौतिकवाद है। इसका लोकप्रिय नाम लोकायत दर्शन है। वैदिक कवि इहलोकवादी हैं। यह संसार रूपमय है। रूप के अंदर ही अरूप है। वैदिक कवियों का यह दृष्टिकोण नए सिरे से भक्तिकाल में तुलसीदास, सूरदास आदि कवियों में प्रतिबिंबित होता है।

उपनिषदों की विचारधारा भक्ति आंदोलन को बराबर प्रभावित करती है। चाहे निर्गुण मार्गी हों या सगुण मार्गी हों, कहीं–न–कहीं वेदांत से सब जुड़े हैं। वेदांत से जो गुणात्मक परिवर्तन भक्ति में हुआ है, वह प्रेम और रूप को लेकर हुआ है। उपनिषदों में प्रेम नहीं है। ब्रह्म से प्रेम करना, अपनी आत्मा से प्रेम करना या शरीर सौन्दर्य देखना, यह उपनिषदों में लगभग नहीं है। यह चीज़ भक्ति आंदोलन में आई।

5. भक्ति के मूलतः दो पक्ष हैं – आत्म–परिष्कार और समाज–परिष्कार। आत्म–परिष्कार नहीं होगा तो भीतर का सौन्दर्य नहीं दिखाई देगा। समाज रहने लायक तभी बनेगा, जब यह परिष्कृत होगा। केवल शरणागत से काम नहीं चलेगा। प्रयत्न करना पड़ेगा। राम सबके मन में नहीं रहते। उसके लिए पात्रता होनी चाहिए। इसकी शर्तें बहुत बड़ी और कठोर हैं। बिना आत्म–परिष्कार के भीतर का सौन्दर्य, राम का सौन्दर्य, ब्रह्म का सौन्दर्य, संसार का सौन्दर्य नहीं दिखाई देगा। हमारे अंदर जो कमियाँ हैं, उनको दूर करना है। अपने मन को सुदृढ़ करना, आत्मा को शक्तिशाली बनाना है। समाज में जितना प्रदूषण है, पाप है, अपराध है, वह अगर दूर नहीं होगा तो यह संसार रहने लायक नहीं रहेगा। इस संसार, इस समाज को नया रूप देना है। भक्ति के साथ यह प्रयत्न भी कवियों में जुड़ा हुआ है।

6. परम्परा अतीत का पुनर्जागरण नहीं है, वह अतीत से प्रगति है। परम्परा का जातीय आधार होता है और एकवर्गीय आधार होता है। तुलसीदास हों या निराला, हम उन्हें जातीय संस्कृति, सौन्दर्यबोध और वर्गीय यथार्थ के नज़रिए से देखते हैं। निराला मूलतः पूँजीवाद के, सामंतवाद के विरोधी हैं। निराला और जयशंकर प्रसाद एक भावभूमि के थे। सौन्दर्य की देवी के उपासक। निराला का जो वेदांत था, उसके कारण उनमें अकेलापन या एकांत साधना वाला भाव बहुत आया। विवेकानंद उनके प्रिय नायकों में से थे। उनके बिखराव का शायद यह भी एक कारण था। जयशंकर प्रसाद ने माना है कि भारतीय दर्शन की मुख्य धारा आनंदवाद है।

7. धर्म का मूल अर्थ है – चलना, रीत। जिस रीत पर लोग चलते हैं, वही उनका धर्म है। सूर्य सवेरे निकलता है, वही उसका धर्म है, शाम को डूबता है, वही उसका धर्म है। धर्म का मूल अर्थ व्यापक है। सामाजिक परिस्थितियों में, व्यवहार में जो धर्म आता है, उसका रूप बदलता रहता है। हर धर्म बदलता है। हर धर्म का एक नैतिक पक्ष होता है और दूसरा चमत्कार वाला पक्ष होता है। तीसरा कर्मकांड वाला पक्ष होता है। इन तीनों की भूमिका अलग–अलग समय में बदलती रहती है। कर्मकांड को पुरोहित अपनी मुट्ठी में रख लेता है। आज यह देखिए कि व्यवहार में क्या हो रहा है – मुर्दे कैसे फूँके जाते हैं? वहाँ ठेकेदारी कैसे होती है? वहाँ गरीब आदमियों को कैसे चूसते हैं? धर्म की आड़ में जो शोषण हो रहा है, पाखंड हो रहा है उसका मूर्त रूप से अध्ययन करना चाहिए।

कोई भी धर्म बिना पुरानी आधारशिला के ऊपर नहीं उठता

ईसाईयत के ऊपर मूसा का प्रभाव है। ग्रीक फिलासफी का बहुत असर है। सेंट पाल ग्रीक लिटरेचर के बहुत अच्छे जानकार थे। असल में हम लोग जो एक विशुद्ध चीज़ की धारणा बनाकर चलते हैं, वास्तव में ऐसा नपा–तुला यथार्थ होता नहीं है। उसके पीछे एक बहुत बड़ी परम्परा होती है।

जो गौतम बुद्ध ने कहा, वही बौद्ध धर्म नहीं है। जो ईसा मसीह ने कहा, वही ईसाई धर्म नहीं है। जो मोहम्मद साहब ने कहा, वही इस्लाम धर्म नहीं है। बुद्ध, ईसा या मोहम्मद ने दर्शन दिया। बौद्ध, ईसाई या इस्लाम धर्म उस पर आधारित अवश्य है पर धर्म केवल दर्शन नहीं होता। असल में जितने सांप्रदायिक धर्म हैं, उनको पहचानना आसान है। लेकिन जो सबसे बड़ा धर्म है, जिसे सनातन, सर्वकालिक, सार्वभौमिक, नैतिक धर्म कह सकते हैं, उसको पहचानना सबसे कठिन है।

8. ऐतिहासिक रूप से जितने सामाजिक आंदोलन हुए हैं, अपने बचकाने दौर में ईश्वर के विरोध से शुरू हुए हैं। उनमें ईश्वरवाद का बड़ा विरोध है। नास्तिक मत का बड़ा प्रचार किया गया है। किसानों पर इसका कोई असर नहीं हुआ। रूस में भी यही हुआ था पर अब बदलाव आ रहा है। पुराने गिरजाघर सुरक्षित रहने चाहिए, छोटे और बड़े पादरी के वर्ग भेद का महत्त्व अब रूस में स्पष्ट हो गया है। फ्रांस में भी यही हुआ था। फ्रांसीसी क्रांति के दौरान छोटे–छोटे पादरी सामान्य वर्ग के साथ थे। बड़े पादरी अभिजात वर्ग के साथ थे। सन् 1871 में जब पेरिस कम्यून स्थापित हुआ – पेरिस में विद्रोह हुआ, मजदूरों के साथ मास्टर लोग और छोटे गिरजाघरों के पादरी लोगों ने भी विद्रोह किया। नास्तिकता बनाम आस्तिकता की बहस सामाजिक आंदोलन के

बचकानेपन की द्योतक है। इससे बचकर सामाजिक समस्याओं के ऊपर ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

9. व्यवहारिक रूप से हिन्दू धर्म माने – जात–बिरादरी। आप आस्तिक हैं या नास्तिक, शिव की पूजा करते हैं या विष्णु की, रामानुज को मानते हैं या शंकर को – इन मामलों में हिन्दू लोग जितने उदार हैं, उतना कोई धर्म उदार नहीं है। लेकिन जात–बिरादरी के मामले में हिन्दू धर्म उदार नहीं है।

प्रेमचंद ने लिखा है कि भारत में आप क्रांति नहीं, महाक्रांति की बात कीजिए वहाँ कोई नहीं बोलेगा, जहाँ आपने आचरण करने के लिए एक कदम उठाया, वहीं सारा समाज आपके खिलाफ हो जाएगा। हिन्दू धर्म का व्यवहारिक पक्ष जात–बिरादरी से बँधा हुआ है। आप हिन्दू धर्म को एक तरफ रखकर इंटरकास्ट मैरिज का आंदोलन चलाइये – हिन्दू धर्म का सारा ढाँचा बदल जाएगा।

10. हिन्दुस्तान में आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर जितना जबरदस्त देहातीकरण अंग्रेजों के जमाने में हुआ उतना भारत के इतिहास में कभी नहीं हुआ। यहाँ के व्यापार केन्द्र, उद्योग केन्द्र नष्ट किए गए। मार्केट अंग्रेजों ने अपने हाथ में कर लिया था। नेपोलियन के जमाने में नेल्सन का फ्लैक्स नामक मुख्य जहाज भारत का बना हुआ था। जब मुगल साम्राज्य का पतन होने लगता है, राजा सवाई जयसिंह खगोलशास्त्र के अध्ययन के लिए जयपुर और बनारस में वेधशाला बनवाते हैं।

अंग्रेजी राज के पहले भारत में विज्ञान की जो विकसित अवस्था थी उसको भारतीय लोग भूल जाएँ, इसका उपक्रम हुआ। भारतीय परम्परा में केवल धर्म का विकास नहीं हुआ। संस्कृति, अध्यात्म, दर्शन, गणित, खगोलशास्त्र आदि विज्ञानों का भी यहाँ बहुत विकास हुआ था। परंतु देहातीकरण के फलस्वरूप आदमी में जो गिरावट आई – उसके मन में और सारी चेतना में, व्यवहार में वह कल्पनातीत है।

भारत कितना बदल गया है – केवल सौ सालों में इतना बदल गया है, इतना पिट गया है, भीतर से इतना पस्त हो गया है, इतना धोखा खा चुका है कि एक पढ़ा–लिखा आदमी सिनिक' हो गया है। आम आदमी को भी अपनी परम्परा का ठीक से ज्ञान नहीं है। इसलिए बहुत प्रयत्न करने की ज़रूरत है।

11. भारतीय परम्परा में मध्यकाल में भी बहुत समन्वय था। एक स्तर पर सूरदास, तुलसीदास जैसे कवि सौन्दर्यबोध का परिचय देते हैं और दूसरे स्तर पर अभिजात वर्ग यहाँ इमारतें बनवाकर, चित्रकला का विकास करके, संगीत का

विकास करके इसका परिचय देता है। संगीत दोनों को जोड़ देता है। ध्रुपद की गायकी ऐसी है कि वह दरबार की गायकी है या संतों की गायकी है, यह कहना बहुत मुश्किल है। अधिकांश ध्रुपद गायक मुसलमान थे पर ध्रुपद मूलतः हिन्दू देवी–देवताओं की स्तुति है। जो उदात्त है साहित्य में, वही ध्रुपद है। इस उदात्त की सृष्टि भक्त कवियों ने संगीत में की और इसी उदात्त की सृष्टि अभिजात वर्गों ने इमारतों में की।

ध्रुपद गायकी का विकास राजदरबारों में हुआ परंतु उसका जन्म दरबारों में नहीं हुआ था। जिसे शास्त्रीय संगीत कहा जाता है, वह मूलतः लोक संगीत है। इसकी रचना संतों ने की थी। तानसेन एक उच्चकोटि के कवि थे। ब्रजभाषा काव्य की भाषा बनी और संगीत की भाषा भी बनी। लोक–जीवन से संगीत मंदिरों में पहुँचा। दक्षिण भारत के मंदिरों में यह परम्परा अब तक चली आई है। दरबारी गायकों ने अपनी कला भक्त गायकों (स्वामी हरिदास, पुरंदर दास, त्यागराज आदि) से सीखी थी। बिस्मिल्ला खाँ काशी के शिव मंदिर में हाल तक शहनाई बजाते थे।

मध्यकालीन भारत में अभिजात वर्ग, चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान हो, सब फारसी लिखते हैं। फारसी में बहुत अच्छा साहित्य सूफियों का है, दरबार की भाषा फारसी है। पुरोहितों की भाषा अरबी थी या संस्कृत। इससे हटकर भक्त कवियों ने लोकभाषा को उठाया और उसके अंदर लोक साहित्य रचा। अकबर घर में हिन्दी बोलता था। अकबर के पहले से लेकर औरंगजेब और उसके बाद तक दरबारों में और लोक–संस्कृति में हिन्दू–मुसलमानों का लिखा हुआ साझा साहित्य हिन्दी में बहुत अधिक है।

1800 ईसवी के पहले हिन्दुस्तान में जात–बिरादरी इतनी कट्टरता के साथ नहीं मानी जाती थी जितनी सन् 1800 के बाद। सन् 1800 के बाद उतनी नहीं, जितनी सन् 1900 के बाद और उतनी नहीं जितनी सन् 1947 के बाद।

दिल्ली में जितनी स्त्रियाँ जलाई जाती हैं, उतनी शेष भारत में नहीं जलाई जातीं। हराम का माल किसी तरह आ जाए, उसका यह रूप है। यह भारत की मध्यकालीन परम्परा में नहीं था, चाहे बात मुसलमानों की हो या हिन्दुओं की। वर्तमान भारतीय व्यवस्था साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद द्वारा विरुपित की गई व्यवस्था का प्रतिफल है। यह मध्यकालीन परम्परा का विस्तार नहीं है।

भारतीय परम्परा के आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, भाषाई, तकनीकी, वैज्ञानिक अनेक पक्ष हैं। यूरोप की अपेक्षा यहाँ भाषाई विविधता अधिक है। फिर भी यहाँ के विभिन्न भाषा समुदायों में वाक्य रचना की जैसी समानता है, वैसी यूरोप की

भाषाओं में नहीं है। अठारहवीं सदी तक भारत का कपड़ा यूरोप और अमेरिका तक बिकता था। जातीय प्रदेश भी आंतरिक रूप से कहीं कम, कहीं ज़्यादा एकताबद्ध हुए। यूनान के विपरीत, तुर्क आक्रमणकारी यहाँ की जातियों में खप गए। पर अंग्रेज यहाँ नहीं खपे। भारत की परम्परा समन्वयवादी रही है। यूरोप की परम्परा समन्वयवादी नहीं रही है।

हमारे एक उपास्य देव शिव नटराज हैं। समस्त ब्रह्माण्ड उनका नाट्यमंच है। कृष्ण की बाँसुरी, मीरा के नृत्य, वैष्णव कीर्तन–नर्तन, भारतीय मूर्तिकला में शिल्प और नृत्य का संबंध यह सब भारतीय परम्परा को जीवन के उल्लास, ऐश्वर्य, कामना और संसार में रमने वाली प्रवृत्ति मार्गी परम्परा प्रमाणित करती है।

पाश्चात्य दर्शन की मुख्य धारा द्वैतवादी है। इसलिए वह पदार्थविज्ञान के विकास में बाधक रही है और वह सहज ही चर्च की समर्थक बन गई थी। सांख्य, योग, वैशेषिक, अनेकांतवाद आदि भारतीय दर्शन प्रकृति को परिवर्तनशील और विकासशील मानते हैं। चार्वाक ने पदार्थों से चेतना की उत्पत्ति का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। पदार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिफलन गणित, खगोल, रसायन आदि विषयों तथा नृत्य, संगीत, चित्र, वास्तु, शिल्प आदि कलाओं के विकास में हुआ। हम कार्य करते हुए सौ वर्ष तक जियें यह प्राचीन भारतीय आदर्श भारतीय साहित्यकारों की दृष्टि से कभी ओझल नहीं हुआ। जीवन की संस्कृति, जीवन की स्वीकृति भारतीय दर्शन का आधार है। स्थापत्य एक कला है। इस्लाम का स्थापत्य से कोई संबंध नहीं है। हिन्दू धर्म का स्थापत्य से कोई संबंध नहीं है। स्थापत्य के नमूनों पर अगर कोई कुरान की आयतें लिख दे तो उससे वह इस्लामिक शिल्पकला नहीं बन जाती। वेदांत का असर है कि एक ही भूमि पर कबीरदास, तुलसीदास और सूरदास खड़े हुए दिखाई देते हैं। हमारे भक्ति कवि लोक संस्कृति से इतनी गहराई से जुड़े हैं कि कहाँ लोक कविता है, कहाँ भक्ति की कविता है, इसका फर्क करना मुश्किल हो जाता है। ये लोक संस्कृति से लेते हैं और लोक संस्कृति में जोड़ देते हैं।

भक्ति साहित्य लोक संस्कृति का अंग बन गया है। अंग बनने के लिए एक आर्थिक ढाँचा चाहिए। नगर सभ्यता का विकास चाहिए। तुलसीदास नगर सभ्यता के कवि हैं। कबीर भी नगर सभ्यता के कवि हैं। काशी, अयोध्या नगर हैं। एक आदर्श नगर का कल्पना–ढाँचा व्यापारी पूँजीवाद ने पैदा किया। सिंधु घाटी की सभ्यता से भक्ति आंदोलन के काल तक (अट्ठारहवीं सदी तक) भारत मूलतः नगर सभ्यता है। नगर केन्द्रित सभ्यता है। देहातीकरण तो अंग्रेजी राज के दौरान हुआ।

संघबद्ध धर्म का प्रभाव भारत में अंग्रेजी राज से पहले कभी नहीं रहा। यूरोप संघबद्ध धर्म के प्रभाव में रहा है। प्रोटेस्टेंट चर्च एक नया धर्म होने के बावजूद एक संघबद्ध धर्म है – संरचनात्मक रूप से कैथोलिक चर्च की तरह। भारत में ऐसा नहीं रहा। यूरोपीय साहित्य और भारतीय साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है।

12. गाँधीजी ने अपने समय में साम्राज्यवाद का जो विश्लेषण किया था, उससे अच्छा साम्राज्यवाद का विश्लेषण शायद ही किसी ने किया हो। इसी तरह गाँधीजी का जो स्वदेशी आन्दोलन था, वह इस साम्राज्यवाद के विरोध का सबसे कारगर तरीका था। उन्होंने गाँव–गाँव में यह भावना पैदा की थी कि अपनी जरूरतों के लिए उत्पादन स्वयं करो, तभी साम्राज्यवाद से लड़ा जा सकता है और तभी सच्ची आज़ादी प्राप्त हो सकती है। उन्होंने विभिन्न धर्मों को एक साथ लाकर रख दिया। उन्होंने कहा कि गुजराती बोलने वाले, हिन्दू हों या मुसलमान, वे एक जाति के हैं। इसी तरह बंगाली एक जाति है। अंग्रेजी की जगह भारतीय भाषाओं के उपयोग की उन्होंने वकालत की। सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी का महत्त्व स्वीकारा। उन्होंने कहा कि मेरा राम दशरथ का पुत्र नहीं, बल्कि वह एक व्यापक शक्ति है। जैन धर्म के 'अनेकांतवाद' का उन्होंने सभी धर्मों को एक जगह लाने में इस्तेमाल किया।

उपर्युक्त बारह मुद्दों पर रामविलास जी के विचार मैक्स वेबर आदि यूरोपीय विद्वानों के विचारों से गुणात्मक रूप से अलग हैं। पर धर्मपाल, कुमारस्वामी, डी.पी. मुखर्जी एवं जे.पी.एस. उबेराय जैसे भारतीय मेधा के प्रतिनिधियों से उनका अविरोध है।

भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के अन्य समकालीन समाजशास्त्रीय विमर्श

समाजशास्त्र में 'भारतीय साहित्य का समाजशास्त्र' के विकास की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल की हिन्दी साहित्य का इतिहास, हजारी प्रसाद द्विवेदी की हिन्दी साहित्य की भूमिका और कबीर; रामविलास शर्मा की भारतीय साहित्य की भूमिका, गजानन माधव मुक्तिबोध की कामायनी : एक पुनर्मूल्यांकन और आनंद कुमारस्वामी की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। हाल के दिनों में मैनेजर पाण्डेय की पुस्तक साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका एक समकालीन दृष्टिकोण है।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से साहित्य को क्रमशः मिथकों के युग, महाकाव्यों के युग, उपन्यासों के युग, कहानियों के युग तथा उत्तर आधुनिक विखण्डनवाद के युग में बाँट सकते हैं। मिथकों को समझने में आनंद कुमारस्वामी तथा गजानन माधव मुक्तिबोध, महाकाव्यों को समझने में रामचन्द्र शुक्ल तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी, उपन्यासों को

समझने में रामविलास शर्मा तथा मैनेजर पाण्डेय, कहानी को समझने में नामवर सिंह (कहानी : नई कहानी) तथा उत्तर आधुनिक विखण्डनवाद को समझने में डेरिडा, फूको, बाउमैन, हेबरमास तथा ए.के. सरण की रचनाएँ उपयोगी हैं। परंतु साहित्य का समाज को समझने के लिए एक विमर्श के रूप में उपयोग केवल मिथकों, महाकाव्यों एवं उपन्यासों के विश्लेषण में संभव है। कहानी तथा कविता से व्यक्ति या सामाजिक घटना को मनोविज्ञान की दृष्टि से ज़रूर समझा जा सकता है, पर समाज को नहीं। कहानी तथा कविता को आधार बनाकर समाज को समझने के दुःसाहस का ही परिणाम उत्तर आधुनिक विखण्डनवाद के रूप में अभिव्यक्त होता है। ऐसा नहीं है कि उपन्यासों के युग में कहानी या कविता नहीं लिखी जाती या कहानी के युग में उपन्यास नहीं लिखा जाता या उत्तर आधुनिक विखण्डनवाद के युग में कहानी नहीं लिखी जाती या लिखी जा सकती है। परंतु वे अपने युग की प्रतिनिधि रचना नहीं बन पाती हैं। उन्हें कालजयी रचना का दर्जा हासिल नहीं हो पाता। उनके बारे में पाठकों की आम राय नहीं बन पाती। वे हाशिये पर लिखी जाती हैं। उनका पाठक वर्ग नहीं होता। उनका लिखा जाना कोई घटना नहीं बनती। उनके टेक्स्ट का् कोई निश्चित अर्थ नहीं रह जाता। हर युग अपनी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य के एक नए रूप को चुनता है या हर युग की मूल संरचना की अभिव्यक्ति एक नए रूप में अभिव्यक्त होती है। कुछ लोगों का मानना है कि उपन्यासों के बाद का युग सिनेमा का युग है, कहानी का युग नहीं और उत्तर आधुनिक विखण्डनवाद का युग टी.वी. सीरियल और क्रिकेट आदि खेलों के प्रायोजित विमर्श का युग है। मार्शल मैकलुहान की भाषा में उत्तर आधुनिक युग माध्यम का संदेश बन जाने का युग है डेरिडा और बॉद्रीला कहते हैं कि यह लेखक तथा टेक्स्ट (पाठ) के मरने और पाठकों के भाष्य के टेक्स्ट बन जाने का युग है। इस युग में महाकाव्यात्मक पाठ की गुंजाइश नहीं रहती। हर व्यक्ति किसी भी पाठ का मनचाहा या मनमाना अर्थ करने के लिए स्वतंत्र होता है। परंतु मार्क्सवादी अर्थ में देखने पर यह अलगाव की अंतिम अवस्था का परिणाम होता है। इससे व्यक्ति के जीवन में अर्थहीनता बढ़ती है। यह स्वाभाविक स्वतंत्रता नहीं होती छद्म चेतना में स्वतंत्रता दिखती है। कुमारस्वामी ने मार्शल मैकलुहान से बहुत पहले अपने 'फिगर्स ऑफ़ स्पीच एवं फिगर्स ऑफ़ थॉट' नामक निबंध में इसे रेखांकित किया था। हेबरमास इन मुद्दों पर दूसरे तरीके से विचार करते हैं। 1962 में प्रकाशित अपनी प्रारंभिक रचना सार्वजनिक क्षेत्र में संरचनात्मक परिवर्तन नामक पुस्तक में हेबरमास लिखते हैं कि 18वीं शताब्दी में साक्षर मध्य वर्ग, राज्यों की नीतियाँ, वाणिज्य एवं उद्योग के क्षेत्र में विकास के द्वंद्वात्मक संबंध से समाचारपत्रों के बाज़ार का अभूतपूर्व विस्तार हुआ, जिसने पत्रकारिता, विज्ञापन एवं राजनीति के क्षेत्र में संरचनात्मक

परिवर्तन प्रारंभ किया। साक्षर लोगों के बीच जल्द ही दो वर्गों का जन्म हुआ– विशेषज्ञों, लेखकों और बौद्धिकों का एक वर्ग और इनके लेखन एवं विचारों का उपयोग करने वाला बहुसंख्यक पाठक वर्ग। लोकमत अब राज्य तथा समाज की नीतियों पर आलोचनात्मक मूल्यांकन या नियंत्रण करने के गतिशील स्रोत की बजाय एक ऐसा कारक या चर बन गया जिसे चालाकी से प्रभावित किया जा सकता है।

इस तरह 18वीं शताब्दी से संरचनात्मक रूप से एक ऐसा सार्वजनिक क्षेत्र विकसित होता है, जिसको राज्य तथा व्यावसायिक निगम चालाकी से प्रभावित करने के लिए प्रचार के उपयोग द्वारा प्रभावित करते रहते हैं। हालांकि प्रशासन की नौकरशाही विशेषज्ञों के विवेकसम्मत नियंत्रण को विचलित करती रहती है परंतु इसके बावजूद जनसंचार के साधनों के द्वारा उपरोक्त संगठनों के अंतर्गत तथा समूचे सार्वजनिक क्षेत्र में विकल्पों के जन्म की संभावना बनी रहती है।

1981 में प्रकाशित अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक, अभिव्यक्तिशील क्रिया के सिद्धांत तक आते–आते हेबरमास एक ऐसा शास्त्र विकसित करने में सफल हो जाता है, जो अभिव्यक्तिशीलता के हर आयाम तथा इसके सदुपयोग एवं दुरुपयोग को समझकर राज्य सरकारों एवं अंतर्राष्ट्रीय सांठ–गांठ की वास्तविकता, संभावना एवं अंतर्विरोध को व्यवस्थित तरीके से समझने में मदद करता है। यथास्थिति को बदलना तभी संभव है जब यथास्थिति को पूरी तरह से समझा जाए। हेबरमास द्वारा विकसित मिथक, कि पूंजीवाद अपने नए रूप में विकल्पहीन है तथा इसके द्वारा प्रायोजित खगोलीकरण की चल रही प्रक्रिया के विरोध में उत्तर आधुनिकता के रूप में केवल नपुंसक गुस्सा विकसित हो सकता है। साथ ही, मनुष्य की चेतना को मुक्त करने वाली वैकल्पिक संस्कृति को पोषित करने वाले साहित्य तथा कला को शक्ति प्रदान की जा सकती है। विश्व समाजशास्त्र के लिए उत्तर आधुनिकता भले एक प्रमुख समस्या हो परंतु भारतीय समाजशास्त्र को अभी लंबे समय तक परम्परा और आधुनिकता से जूझना है। भारतीय समाज सदियों से समय की चक्रीय गति में जीता रहा है। जबकि यूरोप ने आधुनिक काल में समय को क्रमिक रूप से सरलरेखीय गति से घूमता हुआ मान कर अपने समाज को रचना चाहा है। इसीलिए विचारधारा का अंत, इतिहास का अंत, मार्क्सवाद का अंत, परम्परा का अंत, पाठ का अंत, ईश्वर का अंत, लेखक का अंत, धर्म का अंत, परिवार का अंत जैसे न जाने कितने अंत पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के समाजशास्त्री घोषित करते हैं।

उपन्यासों के बाद यूरोप और अमेरिका में पुनः मिथकों का युग शुरू हुआ है। हर प्रकार के अंत, उत्तर आधुनिकता और विखण्डनवाद सभी अलग–अलग प्रकार के

मिथक हैं। मिथकों का यह दौर जब थमेगा तो फिर से महाकाव्य लिखे जाएंगे। महाकाव्यों का यह दौर जब थमेगा तो फिर उपन्यास लिखे जाएंगे। और यह चक्र–काल चक्र–समय तक चलता रहेगा। इस तरह साहित्य के समाजशास्त्र के तीन ही सनातन विषय हो सकते हैं – मिथक, महाकाव्य और उपन्यास। सामान्यतया भारत के समाजशास्त्रियों ने अवकाश प्राप्त करने के बाद ही स्वांतःसुखाय साहित्य चर्चा करने की (वह भी समाजशास्त्र के स्थापित दायरे से बाहर जाकर) परम्परा डाली है। साहित्य में रूप ही मूलतः सामाजिक होता है पर जॉर्ज सिम्मेल का कहना है कि प्रत्येक रूप अनुभव का नया व्याकरण निर्मित करता है। रूप हमेशा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक होता है, इसलिए यह सामाजिक होता है।

मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि महाकाव्य मूलतः: गण–समाजों की देन है। सामंती समाज में विकसित लेखन की संस्कृति के काल में रचे गए महाकाव्य कलात्मक या अलंकृत हैं। सच्चे महाकाव्यों का युग गण–समाज के साथ ही समाप्त हो जाता है। सामंती काल में उस परम्परा का अनुकरण और परिष्कार हुआ। आधुनिक काल के महाकाव्य उस परम्परा की स्मृति ही जगाते हैं। उपरोक्त धारणा का आधार मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवादी दर्शन है। गण समाज के बारे में मार्क्स ने लिखा है कि उसमें धीरे–धीरे एक ओर व्यक्तिगत गरिमा, उदारता, धार्मिक चेतना, पौरुष और साहस आदि मानवीय गुणों का विकास हो रहा था तो दूसरी ओर क्रूरता, धोखा, कट्टरता आदि प्रवृत्तियाँ भी पनप रही थीं। प्राकृतिक शक्तियों में आस्था के साथ–साथ अवतारवाद की भावना जग रही थी। मिथक कथाओं की मौखिक रचना में कल्पना की क्रियाशीलता प्रकट हो रही थी। गण–समाज की यही विशेषताएँ उदात्त रूप में व्यक्त हुई हैं।

मार्क्स के उपरोक्त मत के आलोक में रामायण और महाभारत को भारतीय गण–समाज और सामंती–समाज की संरचनाओं से जोड़कर देखते हैं। लेवी स्ट्रॉस जैसे संरचनावादी, मिल्टन सिंगर जैसे प्रतीक शास्त्री, क्लिफोर्ड ग्रीट्ज जैसे संस्कृति विश्लेषणवादी एवं हेबरमास जैसे नवमार्क्सवादी आलोचनात्मक समाजशास्त्री उपरोक्त विश्लेषण में सरलीकरण के बावजूद साहित्य और समाज के द्वंद्वात्मक संबंध की पड़ताल करने वाली इस कोशिश से परम्परा के अध्ययन में लाभ हो सकता है।

इसी कड़ी में मार्क्सवादी लेखकों का तर्क है कि जैसे महाकाव्य गण–समाज और सामंती–समाज का प्रतिनिधि काव्य–रूप है वैसे ही उपन्यास पूँजीवादी युग का प्रतिनिधि साहित्य–रूप है। वे लोग ही गेल की इस मान्यता में आस्था जताते हैं कि

उपन्यास आधुनिक युग में महाकाव्य का विकल्प है, वह मध्यमवर्ग का महाकाव्य है और आधुनिक युग की चेतना का प्रतिनिधि साहित्य रूप है।

कविता के विश्लेषण में मार्क्सवादी समाजशास्त्री ज्यां पाल सार्त्र की तुलना में अदोर्नो के दृष्टिकोण को ज़्यादा प्रासंगिक पाते हैं। अदोर्नो की मान्यता है कि एक अच्छी प्रगति में समग्रता होती है। उसमें अपनी समग्रता का बोध होता है और समकालीन होते हुए भी वह कालातीत होती है। जिस कला से कविता में यह विशिष्टता आती है उसकी व्याख्या के लायक साहित्य का समाजशास्त्र का विकास अभी नहीं हुआ है। कविता के समाजशास्त्र के विकास के लिए जरूरी है कि कविता के विशिष्ट स्वरूप, उसकी बनावट और कला की बारीकियों में उतर कर उसकी ऐतिहासिकता और सामाजिकता की खोज करने में सक्षम पद्धति का विकास हो। कविता की आत्म–परकता और भाषिक–संवेदनशीलता में निहित सामाजिकता की पहचान कराने वाले समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का विकास जरूरी है। कविता के समाजशास्त्र के विकास में एक ज़्यादा सक्षम पद्धति की जरूरत है। ज़्यादातर समकालीन समाजशास्त्री यह भी मानते हैं कि उपन्यास, महाकाव्य और मिथक भी कविता की तरह ही ज़्यादा सक्षम पद्धति, ज़्यादा संवेदनशील नजरिया तथा ज़्यादा सतर्क आलोचनात्मक दृष्टि की मांग करते हैं। केवल इसलिए कि कविता हम लिखते हैं और उपन्यास हमारे पिता की पीढ़ी लिखती थी या महाकाव्य हमारे दूर के पुरखे लिखते थे। कविता को ज़्यादा विकसित और महाकाव्य, उपन्यास या मिथकों को कम विकसित समाजों और संस्कृतियों से जुड़ा मानकर उनकी शाब्दिक व्याख्या या सरलीकरण समाजशास्त्र की शैशवावस्था में उद्‌विकासीय दृष्टि वाले समाजशास्त्रियों का भोलापन था, जिसे प्रतीक–विज्ञान एवं प्रतीक–शास्त्र की व्याख्या के बाद न तो लेवी स्ट्रॉस के समर्थक स्वीकारते हैं और न हेबरमास। आज वही तर्क नव–पूँजीवादियों के तर्क का, सोवियत संघ के पतन के बाद, आधार है। कविता के समाजशास्त्र के बारे में मार्क्सवादी विद्वान, जो संवेदना दिखलाते हैं उसके आलोक में उपन्यास के बारे में ही गेल के दृष्टिकोण एवं महाकाव्य के बारे में मार्क्स के दृष्टिकोण के पुनर्मूल्यांकन की ज़रूरत है। इसी तरह मिथकों के बारे में लेवी स्ट्रॉस एवं रोलैंड बार्थ के मौलिक अध्ययनों के उपयोग से रामायण और महाभारत को महाकाव्य के साथ–साथ मिथक के रूप में भी व्याख्या करने की संभावना बन सकती है। पुराणों, बाइबिल या कुरान का भी, मिथक के रूप में अध्ययन की संभावना बन सकती है।

उपन्यास के समाजशास्त्र के व्यवहारिक विश्लेषण के लिए मार्क्सवादी लेखकों ने तीसरी दुनिया, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका और भारत के कुछ महत्त्वपूर्ण उपन्यासों

के विश्लेषण से उपरोक्त क्षेत्रों के समाज और संस्कृति के कई अनछुए पहलुओं को उभारा है। समाजशास्त्र की तरह साहित्य का समाजशास्त्र भी आधुनिक समाज और आधुनिकता के गर्भ से निकले आधुनिक साहित्य का एक रूप, उपन्यास, की व्याख्या करने में उतना सफल नहीं हुआ है। यह स्वाभाविक भी है चूँकि समाजशास्त्र का जन्म आधुनिक समाज की समस्याओं और संभावनाओं की व्याख्या और विश्लेषण करने के लिए हुआ था। जब तक समाजशास्त्र या साहित्य के समाजशास्त्र के सिद्धांत, अध्ययन पद्धति एवं अवधारणाएँ पूरी तरह विकसित होकर अपने यूरोपीय उद्‌गम की सीमाओं का अतिक्रमण कर पूरी तरह अपनी संरचना में सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक नहीं हो जातीं तब तक गैर–यूरोपीय एवं गैर–आधुनिक समाज, साहित्य एवं संस्कृति के अध्ययन में अड़चन आएगी।

लोकप्रिय साहित्य संसार की समग्रता की एक ऐसी सच्चाई है जिसके अस्तित्व को अस्वीकार करना भ्रम में जीना है। दरअसल जब से साहित्य दरबार से निकलकर बाज़ार की वस्तु बना है तब से सम्पूर्ण सांस्कृतिक क्षेत्र प्रतीकात्मक वस्तुओं का बाज़ार बन गया है। इस सांस्कृतिक उत्पादन के पियरे बोर्दु के अनुसार दो रूप हैं – छोटे पैमाने का उत्पादन और बड़े पैमाने का उत्पादन। छोटे पैमाने के उत्पादन में आर्थिक लाभ गौण होता है और प्रतीकात्मक मूल्य प्रमुख होता है। बड़े पैमाने के उत्पादन में आर्थिक लाभ मुख्य होता है और प्रतीकात्मक मूल्य गौण। कलात्मक साहित्य के क्षेत्र में छोटे पैमाने का उत्पादन चलता है और लोकप्रिय साहित्य में बड़े पैमाने का। छोटे पैमाने का उत्पादन सापेक्षतया स्वायत्त होता है जबकि बड़े पैमाने का उत्पादन पूरी तरह बाज़ार और उपभोक्ताओं पर निर्भर होता है। दोनों प्रकार के उत्पादन एक व्यापक व्यवस्था के भीतर साथ–साथ चलते हैं और दोनों की सार्थकता–निरर्थकता भी एक–दूसरे की सापेक्षता में घटती–बढ़ती है।

पियरे बोर्दु के उपरोक्त विचारों के संदर्भ में ग्राम्शी के ये वाक्य अर्थपूर्ण हैं कि समकालीन सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति लोकप्रिय साहित्य रूपों के माध्यम से होती है। लेकिन इस अभिव्यक्ति के दो रूप मिलते हैं : यांत्रिक और प्रगीतात्मक। यांत्रिक अभिव्यक्ति का उदाहरण यूजेन सुई के 'पेरिस रहस्य' में मिलता है तो प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति बालजाक–दोस्तोवस्की और ह्यूगो के उपन्यासों में।

एक तरफ अमेरिका के एडगर एलेन पो और अर्जेंटीना के बोर्खेज, भारत के सत्यजीत राय एवं ब्रिटेन के जी.के. चेस्टर्टन आदि ने जासूसी, जादुई यथार्थवाद जैसे लोकप्रिय कथा–शिल्प में कलात्मक कथा साहित्य लिखा है तो दूसरी तरफ श्रेष्ठ कला या साहित्य को भी उपयोग की वस्तु बनाकर उसे भीड़ की संस्कृति में शामिल

किया जा सकता है और समाज को श्रमित करने की छल योजना के साधन के रूप में उसका उपयोग हो सकता है। उदाहरण के लिए रामायण और महाभारत जैसी महान कृतियाँ सरल, सतही और बाज़ारू बनाकर बेचने की प्रक्रिया की शिकार हुई हैं। मशीनी पुनरुत्पादन के युग में कला का बड़े पैमाने पर पुनरुत्पादन करके उसे सतही बनाना सरल हो गया है।

साहित्य की अवधारणा इतिहास प्रक्रिया के साथ बदलती रहती है। उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य का स्वरूप एवं प्रवृत्ति भारतीय इतिहास की विकास प्रक्रिया के साथ बदलती रहती है। साथ ही, उस साहित्य का समाजशास्त्रीय एवं साहित्यिक मूल्यांकन भी बदलता रहा है। कभी–कभी आलोचकों में मूल्यांकन के बारे में गंभीर मतभेद भी होता है, जिसके सामाजिक एवं ऐतिहासिक कारण होते हैं। जैसे कभी देवकीनंदन खत्री हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार थे, जिनकी कृतियों पर उस समय की साहित्यिक पत्रिकाओं में आलोचनात्मक बहसें हुई हैं। परंतु बाद के आलोचकों ने उन्हें उपन्यासकार मानने से इंकार किया। रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि खत्रीजी ने अपने उपन्यासों के माध्यम से हिन्दी साहित्य को असंख्य पाठक दिए, लोगों को हिन्दी सीखने की प्रेरणा दी, अनेक नवयुवकों को हिन्दी का लेखक बनाया पर उनके उपन्यास साहित्य की कोटि में नहीं आते। उसी तरह पांडेय बेचन शर्मा उग्र एवं वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों के बारे में आलोचकों के बीच मतभेद हैं कि वे कलात्मक उपन्यासों की श्रेणी में हैं या लोकप्रिय या कि गंभीर और सतही कोटियों में विभाजन कोई सार्वभौम और शाश्वत स्थिति नहीं है।

लोकप्रिय साहित्य पूँजीवादी व्यवस्था की उपज है। 1844 की आर्थिक एवं दार्शनिक पाण्डुलिपि में मार्क्स का कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था में मनुष्य विच्छिन्नता या परायापन की प्रक्रिया का शिकार होता है। यह परायापन अधिक गहराने पर रैकरण (रेइफिकेशन) और व्यक्तित्व लोप का रूप धारण कर लेता है। मार्क्स की यह मान्यता पूँजीवाद के परवर्ती विकास में सच साबित हुई है। टेक्नोलॉजी के अभूतपूर्व विकास ने समाज में अमानवीकरण की प्रक्रियाओं को और तेज कर दिया है। इस प्रक्रिया में अपनी अस्मिता खोते–खोते मनुष्य उस दशा में पहुँच जाता है, जिसे सी.राइट. मिल्स 'भीड़ का मनुष्य' (मासमैन) कहते हैं तो एरिक फ्रॉम आदि 'एक आयामी मनुष्य' कहते हैं। अडोल्फ सांकेज वास्केज के अनुसार सर्वग्रासी पूँजीवादी के अनुकूल आदर्श मनुष्य वह है, जो व्यक्तित्वविहीन, अमानवीकरण का शिकार, खोखला और हर तरह की जीवन शक्ति से शून्य हो, क्योंकि ऐसे मनुष्य को व्यवस्था अपने अनुकूल ढाल सकती है, उसकी चेतना को तोड़–मरोड़कर अपनी

सेवा में लगा सकती है। ऐसा ही व्यक्तित्वविहीन मनुष्य पूँजीवाद समाज में लोकप्रिय साहित्य का लक्ष्य है। लोकप्रिय साहित्य की विषय–वस्तु और पाठक इसी से तय होते हैं। लोकप्रिय साहित्य लेखकों के नाम से कम और प्रकाशकों के लेबुल या सीरीज़ के नामों से अधिक बिकता है। भारी संख्या ऐसी किताबों की होती है, जिसके लेखक अनाम होते हैं या छद्म नामों से लिखते हैं। व्यक्तित्व विहीनता का ही दूसरा नाम है – अनामता।

आधुनिक जासूसी उपन्यासों के पीछे सदाचारी डाकुओं की पुरानी लोकप्रिय कथाओं की परम्परा है। केवल बीमार समाज ही एक ऐसी दुनिया की कल्पना कर सकता है, जिसमें चालबाजी से सबकुछ संभव हो सकता है। जहाँ किसी का अपने कार्य पर कोई नियंत्रण नहीं है; वहाँ हर आदमी किसी 'रहस्यमय शक्ति' के हाथ की कठपुतली है। यही उपन्यासों की दुनिया है।

ग्राम्शी ने 1927–28 में यह समझना चाहा था कि आखिर क्यों ये पुस्तकें सबसे अधिक पढ़ी जाती हैं और प्रकाशित होती हैं? ये पुस्तकें पाठकों की किन मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करती हैं और किन आकांक्षाओं को संतुष्ट करती हैं? इस साहित्य में कौन सी ऐसी भावनाएँ और प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं जो पाठकों को इतना अधिक पसंद आती हैं? ग्राम्शी का निष्कर्ष था कि लोकप्रिय साहित्य पढ़े जाने का एक कारण यह है कि इसमें मानवीय भावों की तात्कालिकता अधिक होती है, जो पाठकों के मन को अधिक छूती है। दूसरा कारण, आधुनिक समाज में जीवन की स्थितियाँ हैं। प्रायः लोग जीवन की व्यवस्थाबद्धता, जकड़बंदी और आरोपित अनुशासन से मुक्त होने के लिए फेंटसी और सपनों का सहारा लेते हैं, जो इन उपन्यासों में बहुतायत से मिलते हैं। कुछ लोग, जीवन में अनिश्चय और आशंका का सामना करते हैं तो साहित्य में आश्वासन और स्थिरता की खोज करते हैं। यही नहीं,जीवन में भद्दी और अश्लील साहसिकता का सामना करनेवाला साहित्य में सुंदर साहसिक अभियानों की कथाओं में रस लेता है।

ग्राम्शी कहते हैं कि संस्कृति के इतिहास में बाज़ारू साहित्य के महत्त्व की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। कारण, ऐसे साहित्य के माध्यम से किसी काल के व्यापक जन–समुदाय के मौन बहुमत के बीच लोकप्रिय जीवन–जगत संबंधी भावों–विचारों की जानकारी होती है। ऐसा साहित्य लोकप्रिय अफीम है। यह साहित्य व्यापक जनता में छद्म चेतना ही नहीं, अंतर्विरोधी चेतना पैदा करके उसे भ्रमित करता है। वह वास्तविक ज़िंदगी की समस्याओं का कल्पना में समाधान खोजने और पाने की प्रवृत्ति जगाता है। इसलिए ऐसा साहित्य शासक वर्ग के प्रभुत्व की प्रक्रिया का

सहयोगी माध्यम है। परंतु इस प्रक्रिया में लोकप्रिय साहित्य, लिथो लावेंथल के शब्दों में, कल्पना को कुंद करके उसके कलात्मक अनुभव की क्षमता को नष्ट करता है। कल्पना की अनंत संभावनाओं के अंत का अर्थ है, मनुष्य की स्वतंत्रता का अंत। लोकप्रिय साहित्य, कल्पना के अंत का एक प्रमुख साधन है। चूंकि वह कलाओं की अनंतता और मौलिकता को एक प्रकार के 'स्टीरियो टाइप स्टैण्डर्डाइजेशन' में रूपांतरित कर देता है।

इस दृष्टि से देखने पर लुकाच और ग्राम्शी जैसे नवमार्क्सवादी लेखकों की प्रेरणा पाते हुए लोकप्रिय साहित्य के विश्लेषण से हमें बहुत लाभ हो सकता है। परंतु फ्रैंकफर्ट संप्रदाय के नवमार्क्सवादियों ने फ्रायड एवं नोम चोम्सकी और हाइडेगर आदि द्वारा प्रस्तुत अंतर्दृष्टि की मदद से लोकप्रिय साहित्य को लोकप्रिय संस्कृति के एक अवयव के रूप में अन्य अवयवों; जैसे – संगीत, फिल्म, कला आदि के साथ चर्चा की है। अडोर्नो आदि के तुलनात्मक अध्ययनों में हमें लोकप्रिय साहित्य के अनछुए पहलुओं को कला, फिल्म, संगीत आदि के लोकप्रिय रूप से तुलना करने पर पहचानने में ज़्यादा सुविधा हो सकती है। साहित्य के समाजशास्त्र का विकास ही अभी शैशवावस्था में है और उसमें भी लोकप्रिय साहित्य की स्थिति तो नवजात शिशु की तरह नाजुक है।

इस संदर्भ में तीन प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं – क्या लोकप्रिय साहित्य का पाठ, पाठकों के पूरे समुदाय में एक जैसा पढ़ा जाता है? उसका एक अर्थ होता है? क्या उसका एक प्रभाव होता है? सत्य की समाजशास्त्रीय परिभाषा लेवी स्ट्रॉस और जे. पी. एस. उबेराय जैसे समाजशास्त्रियों की दृष्टि में यह है कि सत्य यथार्थ तथा संभावनाओं का सम्मिलित रूप होता है। यह सही है कि सोवियत संघ आदि के पतन के बाद अमेरिका के नेतृत्व में नव–आधुनिकतावाद और भूमंडलीकरण का यथार्थ एक नये प्रकार के लोकप्रिय साहित्य, कला, फिल्में, संगीत, मिथक आदि की रचना में लगा है। पर, वह साहित्य का समाजशास्त्र अधूरा होगा,जो केवल इस यथार्थ और मिथक की अपनी दृष्टि से व्याख्या करने की कोशिश करेगा। अगस्त कोम्ट के जमाने से ही समाजशास्त्र हमेशा यथार्थ के भीतर और बाहर संभावनाओं को तलाशता रहा है। अतः समकालीन समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह जानना भी जरूरी है कि लोकप्रिय साहित्य के भीतर या बाहर वैकल्पिक संभावनाओं को पोषित करने वाली परिस्थितियाँ क्या–क्या हैं? क्या बन रही हैं अथवा बन सकती हैं? इस दृष्टि से हेबरमास का काम, कार्ल मार्क्स की दृष्टि का न सिर्फ समकालीन विस्तार है, बल्कि करीब–करीब पूर्णता को छूता हुआ विकास है।

जी.ए. कोहेन के अनुसार पूँजीवाद के परवर्ती विकास में टेक्नोलॉजी का सर्वोपरि महत्त्व है। टेक्नोलॉजी के महत्त्व को न संरचनात्मक मार्क्सवादी अस्वीकार करते हैं, न फ्रैंकफर्ट संप्रदाय के मार्क्सवादी। परंतु, फिर भी तीनों संप्रदाय के बीच टेक्नोलॉजी अलग–अलग महत्त्व रखती है, जो अलग–अलग फलित होती है। भारतीय साहित्य के विश्लेषण में तीनों प्रकार के मार्क्सवादी दृष्टिकोण का उपयोग हुआ है। भारतीय संदर्भ में और कम से कम हिन्दी साहित्य के संदर्भ में टेक्नोलॉजी का संदर्भ आए तथा गाँधी, कबीर एवं रैदास की एक बार भी चर्चा न हो, यह अटपटा लगता है। डी.पी. मुखर्जी ने डायवर्सिटीज (1958) नामक पुस्तक के दसवें अध्याय में महात्मा गाँधी के मशीन तथा टेक्नोलॉजी के बारे में विचारों की विस्तृत समीक्षा की है। जबकि उनके सुयोग्य शिष्य एवं बाद में उनके सहयोगी ए.के. सरण अपनी पुस्तक 'ट्रैडिशनल विजन ऑफ सैन' (1968) के परिशिष्ट में भारतीय परम्परा में तकनीक की अवधारणा पर विमर्श प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स ने खुद तकनीक, चेतना तथा सामाजिक संबंध के बीच द्वंद्वात्मक संबंध स्वीकार किया है। जे.पी.एस. उबेराय जैसे नवसंरचनावादी एवं ए.के. सरण जैसे कुमारस्वामी के व्याख्याकारों ने तकनीक एवं चेतना के द्वंद्वात्मक संबंधों की जैसी व्याख्या की है, उसका उपयोग करने पर कबीर या रैदास, तुलसी और सूर की तरह भक्त या कवि भर नहीं रह जाते, जिनकी तुलना की जा सके। बल्कि बुद्ध ईसा, मोहम्मद, एडम स्मिथ, मार्क्स या हेबरमास की तरह युगद्रष्टा बन जाते हैं, जो तकनीक और चेतना के द्वंद्व को इतिहास की रहस्यमय शक्ति से नहीं जोड़कर सभ्यता के इतिहास में एक प्रकार का 'पैराडाइम शिफ्ट' प्रस्तुत करते हैं, जिसके आधार पर 'रुटीन साइंटीफिक रिसर्च' किया जाना अभी भी बाकी है।

कलात्मक साहित्य और लोकप्रिय साहित्य की चर्चा के दौरान हमें लोकसाहित्य (लोककला, लोक संस्कृति आदि) की सुध भी लेनी चाहिए। वह कलात्मक साहित्य में आएगा या लोकप्रिय साहित्य में? समाजशास्त्र में इस विश्लेषण की दो परम्पराएँ हैं:–

रौबर्ट रेडफील्ड जैसे सांस्कृतिक मानवशास्त्री लिटिल (लघु) एवं ग्रेट (महान) परम्परा की बात करते हैं जिसमें लघु परम्परा अलिखित, स्थानीय, अविकसित तथा अपवित्र होती है; जबकि महान परम्परा लिखित, सार्वभौमिक विकसित तथा पवित्र होती है। यह व्याख्या ईमाइल दुर्खीम की अवधारणाओं– यांत्रिक और सावयव संगठन एवं पवित्र तथा अपवित्र वर्ग के सामाजिक आयाम एवं क्षेत्र के विश्लेषण का ही सांस्कृतिक मानवशास्त्री विस्तार दिखती है। कुछ लोग लघु परम्परा को लोक परम्परा एवं महान परम्परा को शास्त्रीय परम्परा भी कहते हैं। इस दृष्टि से जिन लोगों ने

भारतीय साहित्य का अध्ययन किया है, वे संस्कृत साहित्य को शास्त्रीय एवं अन्य साहित्य को लोकसाहित्य मानते हैं। मूलतः यह पारम्परिक भारत के अध्ययन के दौरान किया गया वर्गीकरण है। आधुनिक भारत के संदर्भ में संविधान में स्वीकृत चौदह भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी में लिखे साहित्य को इस संप्रदाय के लोग शास्त्र का दर्जा देने पर सहमत हो जाएँ, परंतु पारम्परिक भारत के संदर्भ में केवल संस्कृत साहित्य को शास्त्रीय मानने की परम्परा रूढ़ हो चुकी है। समकालीन भारतीय समाजशास्त्री पारम्परिक भारत में कम से कम पालि और तमिल को भी संस्कृत के साथ शास्त्रीय भाषा और इनके साहित्य को शास्त्रीय साहित्य मानते हैं। साथ ही लेवी स्ट्रॉस, क्लिफोर्ड ग्रीट्ज एवं मिल्टन सिंगर के अनुयायी हर बोली को भाषा एवं उनकी भाषा के अंतर्गत अलिखित–अप्रत्यक्ष व्याकरण के अस्तित्व को स्वीकार कर उस बोली के अंतर्गत होने वाले विमर्श को साहित्य का दर्जा देने में नहीं झिझकते। पर इसे लोक साहित्य कहा जाता है एवं रेडफील्ड की लोक संस्कृति की परिभाषा को लोक साहित्य (या लोककला या लोक संगीत) तक विस्तृत कर दिया जाता है। इस विश्लेषण की दूसरी परम्परा आनंद कुमारस्वामी के प्रभाव में बनी है। वे 'देशी' एवं 'मार्गी' नामक वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं, जिसे क्रमशः 'लोक' एवं 'शास्त्र' के समकक्ष माना जा सकता है। कुमारस्वामी यह तो स्वीकार करते हैं कि देशी साहित्य या लोक साहित्य मार्गी साहित्य या शास्त्रीय साहित्य से संरचनात्मक रूप से अलग होता है, परंतु कम से कम भारतीय संदर्भ में उन्होंने अपने अध्ययनों में बार–बार उदाहरण सहित साबित किया है कि दोनों प्रकार के साहित्य एवं कलाओं में संरचनात्मक भेद के बावजूद समानधर्मिता है। यह तो हो सकता है कि आज के संदर्भ में शास्त्र लिखित हो और लोक साहित्य अलिखित, परंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि मूलतः हमारे सभी शास्त्र वाचिक परम्परा के अंग रहे हैं तथा इन्हें बाद में लिखा गया। साथ ही कुमारस्वामी ने यह भी दिखलाया है कि रूप या शिल्प में अंतर होने के बावजूद दावे के साथ यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि लोक साहित्य, शास्त्रीय साहित्य की तुलना में अविकसित होता है। जहाँ तक विषय–वस्तु का सवाल है, उसमें न सिर्फ समानता होती है, बल्कि समानधर्मिता भी होती है। अतः लोक साहित्य को अपवित्र कहना कम से कम भारतीय संदर्भ में ज्यादती है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि यहाँ पवित्र और अपवित्र की अवधारणा गुणात्मक रूप से सामी (सेमेटिक) परम्परा, यूरोप या आधुनिक अमेरिका से अलग रही है।

समाजशास्त्र की समाज और साहित्य को समझने की स्पष्ट सीमा है। किसी भी स्थिति में साहित्य के समाजशास्त्र को साहित्य आलोचना के ऊपर हावी नहीं होने दिया जाना चाहिए। न साहित्यालोचना को साहित्य के ऊपर हावी होने की कोशिश

करनी चाहिए। पर दुर्भाग्य से प्राकृतिक एवं पदार्थविज्ञानों की विधियाँ समाजविज्ञानों एवं समाज विज्ञानों की अध्ययन विधियाँ मानविकी पर लगातार हावी होती दिखती हैं। इससे किसी का भला नहीं होगा। साहित्य और समाजशास्त्र के बीच स्वस्थ एवं स्वायत्त आदान–प्रदान तो है, पर व्यवहार में सिद्धांतों, विज्ञानों एवं पद्धतियों के नाम पर समाजशास्त्र का साहित्य में अत्यधिक महत्त्व बढ़ने का खतरा भी है। 'साहित्य का समाजशास्त्र', समाजशास्त्र का उपनिवेश बन जाए, ऐसी कोई स्थिति नहीं आने दी जानी चाहिए। साहित्य के समाजशास्त्र में एक पुल का गुण हो, जो समाजशास्त्रियों में न केवल तथ्य देखने की प्रवृत्ति जगाए, बल्कि अपनी दृष्टि के विस्तार तथा व्यक्तित्व को संपूर्णता देने की प्रेरणा भी दे। साहित्य के रसास्वादन से समाजशास्त्री की अनुभूति में अपेक्षित गहराई आ सकती है, जबकि समाजशास्त्र के सान्निध्य में साहित्यकार की दृष्टि तुलनात्मक और अनुभूति नियमित हो सकती है। साहित्य और समाजशास्त्र दोनों का भविष्य लोकमंगल और लोक परम्परा से जुड़ने में ही है। इन्हें देशी! और मार्गी! की तरह समानधर्मी ही रहना चाहिए, कभी भी समान या समरूप नहीं बनने देना चाहिए।

❑❑❑

भारतीय सिनेमा एवं संस्कृति में खलनायक की अवधारणा

भारतीय संस्कृति एवं सिनेमा में रावण बुराई और बुरी शक्तियों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। वह खलनायक का सबसे लोकप्रिय मॉडल है। भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता में रावण बुराई और बुरी शक्तियों का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। बुराई और बुरी शक्तियों का प्रतीक होने के बावजूद वह पश्चिमी सभ्यता के अर्थों में शैतान या शैतानी शक्ति नहीं है। पश्चिमी सभ्यता में शैतान न सिर्फ परमेश्वर का विरोधी है बल्कि वह अपने आप में परम स्वायत्त है। पश्चिम में शैतान की अवधारणा के विपरीत भारतीय संस्कृति में रावण न सिर्फ ईश्वर की रचना है बल्कि वह भगवान शिव का महान भक्त और शैवागम का परम विद्वान भी है। रामायण की शब्दावली में उसे राक्षस कहा गया है। भारत की लोक संस्कृति में रावण सनातनी खलनायक माना जाता है। रावण आज एक व्यक्ति न रहकर प्रतीक बन गया है। भारतीय संस्कृति में वह छल, कपट और दुष्टता का प्रतीक पुरुष माना जाता है। इसके बावजूद भारतीय संस्कृति रावण को पश्चिमी अर्थों में शैतान या ईश्वर विरोधी स्वायत्त शक्ति नहीं मानती। वह रावण को ईश्वरीय योजना का महत्वपूर्ण अंग मानती है। भारतीय संस्कृति मानती है कि जहाँ भी जीवन है वह अमृत के कारण है, चाहे वह दशरथ पुत्र राम का जीवन हो या दशानन रावण का जीवन। यदि संसार सनातन दृष्टि से एक 'लीला' है तो रावण की भूमिका भी किसी महत्त्वपूर्ण उद्देश्य से ही लिखी गयी होगी।

सामी दृष्टि में एक साथ दो साम्राज्य स्वीकार किए गए हैं – (1) ईश्वर का साम्राज्य तथा (2) शैतान का साम्राज्य। सनातनी परंपरा में एक ही साम्राज्य है, धर्म का साम्राज्य। धर्म वह है जो धारण करता है, जीवन का आधार है, जो अस्तित्व और अमृत का आधार है। भारतीय संस्कृति मानती है कि रावण की नाभि में भी अमृत है। फलस्वरूप जब तक नाभि में तीर नहीं मारा जाएगा, तब तक रावण नहीं मरेगा। नाभि में तीर लगते ही रावण के अंदर कैद अमृत सारे संसार में फैल जायेगा। तब रावण अपने आप मर जायेगा। यह एक मिथक है। भारतीय संस्कृति का यह सनातन मिथक आज भी प्रासंगिक है।

हमें भी समझना होगा कि 21वीं सदी का रावण कौन है। वह रावण अमेरिका नहीं है, न विश्व मुद्रा कोष या विश्व बैंक ही है। यदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों को हम रावण समझते हैं, तो यह भी हमारा भोलापन है। गांधी रावण के असली स्वरूप को समझते थे। रामकृष्ण परमहंस, श्रीअरविन्दो इत्यादि भी रावणत्व को समझते थे। बुद्ध भी इस सनातनी रावण को समझते थे, परन्तु हज़ार बरस की गुलामी ने हमें मानसिक रूप से वहां ले जा कर छोड़ा है जहाँ हम अपने पुरखों की पूजा तो करते हैं पर उनसे प्रेरणा नहीं ले सकते। हम उनसे अपनापन तो समझते हैं पर उनके प्रयोगों का महत्व नहीं समझते।

भगवान बुद्ध, आचार्य नागार्जुन, गुरु गोरखनाथ, आचार्य रामानुज, महात्मा कबीर, गुरुनानक, संत रैदास, संत मीराबाई, समर्थ रामदास, परमहंस रामकृष्ण एवं महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष कलियुगी सनातनता के प्रेरणा पुंज हैं। इनके आलोक में हमें नहीं लगता कि पश्चिम से हमें ज्ञान, विज्ञान या आधुनिकता सीखने की ज़रूरत है। सनातन परंपरा पुरानी कब पड़ती है ? सनातन परंपरा को पुनर्नवा यों ही नहीं कहा गया है। इसमें सतत अंकुरन होता रहता है। हमेशा पुनर्रचना होती रहती है। यह पुनर्रचना समाज में, प्रतीकों में, शास्त्रों में और कलाओं में भी होती है। रावण की अवधारणा तो नहीं बदलती लेकिन रावण का स्वरूप एवं आवरण बदलता रहता है। रावण को समझने के लिए मिथकों की परंपरा को समझना आवश्यक है। यह याद रखना आवश्यक है कि रामायण और महाभारत प्रतीक शास्त्र हैं, यह ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है। सनातन परंपरा में ही कालजयी शास्त्रों की रचना होती है। शास्त्रों की भाषा प्रतीकों की कूट भाषा होती है। इसको पढ़ने की कला और तकनीक गुरु–शिष्य परंपरा को संस्थानिक आधार देता है। इसी परंपरा और इसी आधार के संदर्भ में रावण को समझा जा सकता है। पश्चिमी शैतान की अवधारणा से तुलना करके नहीं समझा जा सकता।

हम रावण से क्यों हारते हैं? रावण कौन है? वह कैसे मरेगा? यह सनातन प्रश्न है। प्रश्न हमें याद है परंतु इसके सनातन उत्तर हम भूल चुके हैं। इसका ऐतिहासिक उत्तर भी हम नहीं देते। हम मानते हैं कि रावण अब भी शुक्रनीति पढ़ता है जबकि बृहस्पति राजधर्मसूत्र हमारे लिए पुरातात्विक महत्व की चीज़ है। हम मानते हैं कि चाणक्य के अर्थशास्त्र से हमारा काम चल जाएगा, अब भी चल जाएगा, पर हम यह जानने की कोशिश नहीं करते कि रावण आजकल कौन सा शास्त्र पढ़ता है और क्या सचमुच बृहस्पति के राजधर्मसूत्र की तुलना में चाणक्य अर्थशास्त्र हमारे युग के ज्यादा अनुकूल है? एक तरफ हम मानते हैं कि राम ने विभीषण, हनुमान, सुग्रीव आदि के

बल पर उनकी सहायता से रावण को हराया था, दूसरी तरफ हम स्वदेशी की बात करते हैं। क्या विभीषण स्वदेशी था? स्वदेशी में 'स्व' प्रमुख है या 'देश'? राष्ट्र का अर्थ क्या सचमुच 'नेशन' होता है या 'सिविलाइज़ेशन' होता है? इन मूल प्रश्नों का उत्तर कैसे दिया जाता है हमारे यहां, और कैसे दिया जाता है रावण के यहां? इसको सभ्यताओं के समाजशास्त्र के तहत ही समझा जा सकता है। दुर्भाग्यवश महात्मा गांधी के बाद से इस देश में सभ्यता समीक्षा की परंपरा मृतप्राय है।

कभी हमारे यहां गुरुकुल होता था और रावण के यहां केवल गुरु थे, शुक्राचार्य। आज रावण के यहां गुरुकुल है और हमारे यहां गुरु तो होते हैं उनका वंश नहीं चलता। हमारे यहां केवल गृहस्थों के वंश चलते हैं, जैविक वंश चलते हैं, जबकि रावण के यहां गुरुकुलों में बौद्धिक और आध्यात्मिक वंश चलता है। एक युग के केंद्र में सामान्यतः एक ही गुरु या एक ही राष्ट्र–राज्य या एक ही गुरुकुल होता है। जब तक भारत में नालंदा बौद्ध गुरुकुल नहीं हुआ था वह सनातन परंपरा का संयुक्त केंद्र था। फिर नालंदा बौद्ध गुरुकुल हो गया। दुर्भाग्य से भारत के तत्कालीन हिन्दू मानस ने बौद्ध आविष्कारों और बौद्ध पद्धति के साथ अपने को उस तरह नहीं जोड़ा जिस तरह वे तक्षशिला के गुरुकुल के साथ जुड़ा महसूस करते थे। श्री गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि ईसाई द्वितीय शतक से लेकर द्वादश शतक तक भारत बौद्धमत का प्रमुख स्थान रहा है। इसके बावजूद बौद्ध दर्शन एवं धर्म का परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। पूर्वकाल में भी इसका ज्ञान सब लोगों को नहीं था। साधारण जनता की बात तो दूर रही, बड़े–बड़े पंडित भी इससे वंचित थे। इसका प्रधान कारण हिन्दू समाज में बौद्धों के प्रामाणिक ग्रंथों के पठन–पाठन का अभाव था। ग्रंथों के उपलब्ध होने पर भी व्यक्तिगत कुसंस्कारों तथा दूसरे मत या सम्प्रदाय के प्रति उपेक्षा भाव के कारण सहृदय आलोचना का अभाव था। बौद्ध धर्म में जीवन के आदर्श के संबंध में प्राचीन काल से ही दो मत रहे हैं– प्रथम, मलिन वासना के क्षय का सिद्धांत है। इसका स्वाभाविक फल मुक्ति या निवारण है। दूसरा वासना का शोधन है। इससे शुद्ध वासना का आविर्भाव होता है और देह–शुद्धि होती है। देह–शुद्धि के द्वारा विश्व कल्याण या लोक कल्याण का सम्पादन किया जा सकता है। अंत में शुद्ध वासना भी नहीं रहती और पूर्णत्व या बुद्धत्व प्राप्त होता है। पहली दृष्टि स्थविरवादियों एवं दूसरी दृष्टि महायानियों की है। स्थविरवादी परंपरा जैन परंपरा एवं निर्गुण भक्ति साधना की परंपरा के ज्यादा नजदीक है जबकि महायानी परंपरा वृहतर हिन्दू समाज की मुख्यधारा की सहधर्मी रही है। फलस्वरूप यह आश्चर्यजनक बात लगती है कि तत्कालीन हिंदू समाज के प्रभु वर्ग ने नालंदा गुरुकुल को, तक्षशिला के नष्ट होने पर भी, अपनी आस्था और प्रेरणा का स्रोत नहीं बनाया।

मौर्य साम्राज्य से लेकर शुंग वंश के शासन काल तक भारतीय संस्कृति में बौद्ध, जैन एवं हिंदू संप्रदायों के बीच राज्य संस्था को एवं समाज व्यवस्था को चलाने की दृष्टि से काफी प्रतियोगिता रही है। मौर्य साम्राज्य के निर्माण से पहले तक इनके अनुयायियों में वर्गगत, समूहगत या समुदायगत विभाजन रूढ़ नहीं हुआ था। मुनि, भिक्षु, ऋषि या संन्यासी तो संप्रदायों में विभक्त थे किंतु आमजन गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए स्थानीय मुनि, भिक्षु, या संन्यासी, ऋषि के पास अपनी इच्छा, पसंद या आवश्कतानुसार आया–जाया करते थे। संप्रदायों के बीच स्थानीय समुदाय या स्थानीय व्यवस्था को प्रभावित करने की दृष्टि से प्रतियोगिता अवश्य थी। इनमें सैद्धांतिक एकता तो आज तक बनी हुई है लेकिन व्यावहारिक रूप से इनके अनुयायियों के बीच भी सांप्रदायिक विभाजन का आरंभ चंद्रगुप्त मौर्य के समय से ही प्रारंभ हुआ।

आचार्य चाणक्य की इच्छा के विरुद्ध सम्राट चंद्रगुप्त खुद जैन मुनि हो गए। वाचिक परंपरा के अनुसार सम्राट बिंदुसार हिंदू परंपरा के रक्षक बने रहे, लेकिन आचार्य चाणक्य का उन्होंने तिरस्कार किया। सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध के पश्चात् बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर मोग्लिपुत्त तिस्स के मार्गदर्शन में बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। सम्राट अशोक के उत्तराधिकारी बौद्ध बने रहे। अंतिम मौर्य सम्राट बृदरथ की हत्या उनके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने की। शुंग वंश के शासन काल में हिन्दू शास्त्रों के नए संस्करण बने और बौद्धमत की साम्प्रदायिक उपेक्षा शुरू हुई। पुष्यमित्र शुंग के प्रेरणा स्रोत महर्षि पतंजलि माने जाते हैं। आचार्य नागार्जुन से आचार्य शंकर तक का काल परस्पर सम्मान से लेकर परस्पर उपेक्षा के मध्य साम्प्रदायिक संगठन एवं सैद्धांतिक एकता तथा सामाजिक समरसता का काल रहा है। आचार्य वाचस्पति मिश्र के काल से भगवान बुद्ध के प्रति व्यक्तिगत सम्मान तो बना रहा लेकिन उनके मत, उनकी पद्धति, उनकी तकनीक तथा उनके नाम पर चलने वाले सम्प्रदायों के बारे में नासमझी और कुप्रचार बलवती होता गया । अंग्रेजी राज में इस नासमझी एवं कुप्रचार को अकादमिक सम्पोषण एवं सैद्धांतिक आधार दिया गया। 1958 में बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर द्वारा अपने अनुयायियों सहित बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के बाद से निहित स्वार्थी समूहों ने दोनों संप्रदायों के बीच की खाई और चौड़ी करने की कोशिश शुरू की। आनंद कुमारस्वामी, जे. कृष्णमूर्ति, ओशो रजनीश, दलाई लामा, भरत सिंह उपाध्याय एवं सत्यनारायण गोयंका जैसे व्यक्तियों के प्रभाव में बौद्ध परंपरा एवं हिंदू परंपरा के बीच की एकता अब पुनः मजबूत हुई है। भारतीय संस्कृति में नालंदा और तक्षशिला को समान आदर से याद किया जाता है। परंतु वाचिक परंपरा में अब भी यह तथ्य रेखांकित किया जाता है कि सिकंदर के

भारत पर आक्रमण से पूर्व एवं मौर्य साम्राज्य स्थापित होने से पहले आचार्य चाणक्य तक्षशिला गुरुकुल को मगध में स्थानांतरित या पुनर्जीवित करना चाहते थे, नालंदा गुरुकुल को मजबूत करना या अपनाना उनका उद्देश्य नहीं था। चाणक्य ने नंद साम्राज्य के बदले मौर्य साम्राज्य की नींव डाली। पर गुरुकुल स्थानांतरित नहीं हुआ। साम्राज्य बनाना आसान होता है। गुरुकुल बनाना मुश्किल काम है। इतिहास लिखना आसान होता है, पुराण लिखना मुश्किल काम है। तक्षशिला गुरुकुल तो नष्ट हो गया पर वहां की किताबें कहाँ गई ? इस प्रश्न का उत्तर खोजना काफी दिलचस्प हो सकता है।

एक मान्यता यह है कि अपने विश्व विजय के दौरान अपने बचपन के गुरु अरस्तू की प्रेरणा से प्रेरित सिकंदर पर्शिया (फारस) एवं उत्तर–पश्चिमी भारत के अपने सैनिक एवं राजनैतिक अभियान के दौरान अन्य चीजों के अलावा किताबों के संग्रह के प्रति भी काफी सचेत था। कुछ पुस्तकें तो सिकंदर के अभियान के तहत यूनान पहुंच गई, जो बचा ली गईं उन पुस्तकों को तक्षशिला के पंडितों ने भारत के अन्य प्रदेशों में सुरक्षित रूप से संरक्षित कर लिया। परंतु संस्थागत सहयोग न मिलने के कारण उनका अपेक्षित उपयोग नहीं हो पाया। दूसरी ओर नालंदा का गुरुकुल अपने बौद्ध स्वरूप में मुस्लिम आक्रमण शुरू होने से पहले तक न सिर्फ अस्तित्व में रहा बल्कि अपनी सीमा के अंदर काफी सक्रिय भी रहा। मुस्लिम आक्रमण के बाद नालंदा का बौद्ध विहार एवं गुरुकुल तो नष्ट कर दिया गया, परंतु इस परंपरा के सौभाग्य से नालंदा विश्वविद्यालय की ज्यादातर पुस्तकें सही समय पर तिब्बत में स्थानांतरित कर दी गईं और संस्थागत सहयोग मिलने के कारण अपने तिब्बती स्वरूप एवं संस्करण में आज भी जीवंत बनी हुई है। (डी. डी. कौशाम्बी एवं इंग्लस–हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज)।

इतिहास चक्र की विडंबना देखिए कि एथेंस में किताबें तो पहुंची पर विश्व विजय का स्वप्न देखने वाला सिकंदर वापस नहीं पहुंचा। रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गयी। राजा मर गया, पर सेनापति (सेल्यूकस) जिंदा रहा। सेनापति बदलते रहे। सेनाएं बदलती रहीं। साम्राज्य बनते और बिगड़ते रहे। अरस्तू के बाद रावण के यहां गुरु का महत्व गौण हो गया और गुरुकुल चलता रहा। गुरुकुल रूपी संस्था का महत्व बढ़ गया। संस्थाएं सनातनता का बोध कराने लगीं, गुरु क्षणभंगुर चमत्कार के वाचक हो गए और रावण जीतता रहा। हम सभी सनातन परंपरा के भग्नावशेष हारते रहे। एथेंस के बाद रोम, फ्लोरेंस, कैंब्रिज/ऑक्सफोर्ड – अब हार्वर्ड बिजनेस स्कूल रावण की आत्मा – अमृत – कलश – गुरुकुल – शब्द ब्रह्म का रूपांतरण एवं स्थानांतरण

होता रहा – पुनर्नवता बनी रही और वे उसी सनातन धर्म से जीतते रहे जिससे कभी हम जीतते थे। यह मत भूलिए वे हमारे सौतेले भाई हैं। खून का रिश्ता है हमारे बीच। एक ही पिता (कश्यप) की संतानें हैं हम सब। केवल माताएं (दिति, दनु, अदिति) अलग हैं। विरासत में साझा अधिकार था हमारा। हमने दावा छोड़ दिया, उन्होंने नहीं छोड़ा। हमने निहत्थे, युद्ध न करने के शपथ से बंधे कृष्ण को पूजा की वस्तु बना लिया और दुर्योधन से प्रेरणा लेकर यादवी सेना (संगठन) बनाने की जुगत करते रहे। आंदोलन पर आंदोलन करते रहे। अब कृष्ण भी क्या करें ? जो लोग व्याकरण भूलकर शब्दों और वाक्यों को मारने के लिए सेना और संगठन बनाते चलते हैं, उनके द्वारा पूजे जाने पर कृष्ण की क्या हालत होती होगी ?

ऐसा नहीं था कि तक्षशिला के ध्वंस के बाद हमारे यहां गुरुकुल नहीं था। पर हमने नालंदा को बौद्ध संस्था मानकर उसे असनातन मान लिया। बुद्ध को वैष्णवों ने नौवाँ (नवम) अवतार मानकर पूजना शुरू कर दिया, पर बौद्ध संस्थाएं सामाजिक प्रेरणा के बदले सामाजिक उपहास की चीज बनी रहीं। धीरे–धीरे समाज दो भागों में बंट गया। समाज के जिस हिस्से को बौद्ध संस्थाओं से प्रेरणा मिलती रही वे इस्लाम के आक्रमण तक ऊर्ध्ववान बनी रहीं। पर इस्लाम के आने के बाद बौद्ध संस्थाएं दोहरे दबाव में दम तोड़ने लगीं।

मध्यकाल में भक्ति आंदोलन ने सनातन धर्म एवं संस्कृति को पुनर्जीवन दिया। वैदिक एवं श्रमण, हिंदू एवं बौद्ध परंपराओं का द्वन्द्व समाप्त किया गया। कुछ संत तो हिंदू–मुस्लिम एकता के लिए भी प्रयासरत हुए लेकिन सनातन भारतीय सभ्यता को संरक्षित–संवर्धित करने के लिए संप्रदाय निरपेक्ष गुरुकुल चाहिए था। भक्त संत भारतीय संस्कृति की रक्षा करने में तो सफल रहे परंतु उनकी सांप्रदायिक उपासना पद्धति सभ्यतामूलक विमर्श चलाने में सक्षम नहीं रह पायी। सभ्यता की रक्षा केवल व्यक्तिगत प्रतिबद्धता एवं सांप्रदायिक उपासना के बल पर नहीं की जा सकती। इसके लिए केवल लोक संस्कृति को बचाना काफी नहीं है। सभ्यता के संरक्षण–संवर्धन के लिए शास्त्र चाहिए, गुरुकुल चाहिए, प्रशिक्षित विशेषज्ञ चाहिए। सभ्यता के संरक्षण–संवर्धन के लिए सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों का संतुलन चाहिए। ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग तीनों का संतुलन चाहिए। एक 'व्यवस्था' चाहिए 'व्यवस्था' और 'गुरुकुल' के अभाव में सभ्यताएं कमजोर होकर मरने लगती हैं। संतुलन के अभाव में व्यक्ति 'रावण' बन जाता है। रावण असंतुलित व्यक्ति है। उसके अलग–अलग गुण सराहनीय हैं लेकिन उसके पूरे व्यक्तित्व में असंतुलन है। रावण की दुष्टता का आधार उसका स्वभाव नहीं अधूरापन और असंतुलन है। जैसा कि महात्मा गांधी

ने अपनी महान कृति 'हिन्द स्वराज' में कहा है कि आधुनिक सभ्यता एक शैतानी सभ्यता है। आधुनिकता एक रोग है, एक कमजोरी है। इस आधुनिकता ने पारंपरिक रावण को समझने की शक्ति हमसे छीन ली है। हम रावण को अपने अंदर नहीं देखकर अपने विरोधियों में ढूँढ़ने लगे हैं। यह असनातनी दृष्टि है। सनातनी दृष्टि में रावण हमारे समाज के अंदर है। वह हमारा सगा है। वह हमारी मध्यवर्गीय चेतना के अंदर है। हमें रावण ने जीता नहीं है, हमने उसे अतिथि का सम्मान दिया है। उसकी लंका की चमक–दमक ने हमें लालची बनाया है। हम भी अपने समाज को लंका बनाना चाहते है। हम भी लंकेश बनना चाहते हैं। यह चाहत स्वाभाविक नहीं है। यह हार्वर्ड बिज़नेस स्कूल द्वारा फैलाया गया भ्रमजाल है। यही रावण की शक्ति का आधार है। यही उसकी नाभि का अमृत है। जब तक यह चाहत हममें कायम है तब तक रावण नहीं मरेगा। एनरॉन को मार लो या केंटुकी चिकेन को, कोकाकोला को मार लो या पेप्सी कोला को या मैकडोनाल्ड को मार लो। रावण तब तक जिन्दा रहेगा जब तक हार्वर्ड बिज़नेस स्कूल जिन्दा हैं। उसका भ्रमजाल जिन्दा है, इस भ्रमजाल के शिकार लोग जिन्दा हैं, हमारे बीच जिन्दा है। उसको मारना संभव है। उसके लिए संकल्प लेना होगा। प्रायश्चित्त करना होगा। अपनी खोयी विरासत को पाने के लिए नयी स्मृति, नया व्याकरण और नया गुरुकुल चलाना होगा।

समकालीन भारतीय संदर्भ में खोयी विरासत पाने के लिए, नयी स्मृति या नया व्याकरण लिखने के लिए हमारा संबल क्या हो सकता है? हमारे प्रेरणास्रोत कौन हो सकते हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देना आसान नहीं है। लेकिन स्वामी विवेकानंद और महात्मा गाँधी की ओर स्वाभाविक रूप से ध्यान जाता है। इस संदर्भ में अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज की प्रासंगिकता' के अंतर्गत मैंने विस्तार से विवेचन किया है। यहाँ संक्षेप में इस पर चर्चा की जा सकती है।

विवेकानंद का मूल उद्देश्य पश्चिमी ज्ञान, विज्ञान एवं भौतिक संस्कृति को स्वदेशानुकूल करना था ताकि इस देश के प्रभुवर्ग और पश्चिम के प्रभुवर्ग में एक पुल बन सके। इस प्रक्रिया में उन्होंने पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान एवं भारतीय वेदांत के बीच समन्वय की बात की। यह समन्वय प्रभुवर्ग–मध्यवर्ग तकनीक–ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र के विशेषज्ञों एवं पेशेवरों के बीच होना था। बाद में श्री अरविन्दो, महेश योगी, दीपक चोपड़ा और श्री श्री रविशंकर आदि ने भी इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

विवेकानंदजी का जोर हिन्दू समाज की पारंपरिक संस्थाओं के संरक्षण, पोषण एवं संवर्धन की जगह नई संस्थाओं के निर्माण और नये मूल्यों के विकास पर था। वे पारंपरिक हिन्दू मूल्यों और पारंपरिक हिन्दू संस्थाओं को समकालीन समय के

अनुकूल नहीं मानते थे। उनकी चिंता हिन्दू जाति (प्रजाति) के भविष्य के प्रति थी। हिन्दू संस्थाओं, संस्कृति एवं मूल्यों का वे युगानुकूलन करना चाहते थे। उनको लगता था कि अगर हिन्दू जाति पश्चिमी तकनीक विज्ञान एवं प्रबंधन को अपना ले और अद्वैत–वेदांत के साथ इनका समन्वय कर ले तो हिन्दू जाति आधुनिक युग की मुख्य धारा को प्रभावित कर सकती है। हम विश्वगुरु बन सकते हैं। पूरी दुनिया में परम वैभव आ सकता है।

विवेकानंदजी के प्रकाशित साहित्य के गहन अध्ययन के दौरान उनमें परम वैभव के बारे में, पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान या प्रबंधन के बारे में या वेदांत के बारे में एक 'भोला विश्वास' या 'सहज विश्वास' का भाव ज्यादा दिखता है। इन चीजों के बारे में विवेकानंदजी की समझ समकालीन पश्चिमी विश्वास विमर्श (प्राच्यवाद एवं भारतविद्या अध्ययन) से ज्यादा प्रभावित थी और पारंपरिक स्रोतों पर कम आधारित थी। आजकल की भाषा में कहें तो उन्हें ठीक–ठीक पता नहीं था कि उन्हें कैसा भारत चाहिए? या पश्चिमी ज्ञान–विज्ञान एवं भारतीय वेदांत के समन्वय के पश्चात् आखिर कैसे, किस तरह, कब और किसके लिए परम वैभव आयेगा? पश्चिमी विमर्श के केन्द्र में लोकमंगल की अवधारणा नहीं है।

गाँधीजी का मूल उद्देश्य पूर्व और पश्चिम की लोकसंस्कृति को संरक्षण एवं संवर्धन देना था। समन्वय यहाँ भी है। समकालीन भारतीय संस्कृति एवं परिस्थिति में स्वावलंबन का संस्कार विकसित करने के लिए पश्चिम की वैकल्पिक संस्कृति से प्रेरणा लेकर पश्चिमी आधुनिकता का विकल्प पैदा करने का प्रयास यहाँ भी है। विवेकानंदजी का जोर व्यक्ति निर्माण पर है। वे आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को सनातन धर्म की ही अधूरी अभिव्यक्ति मानते हैं। इस आधुनिक सभ्यता को पूर्णता देने के लिए वे वेदांत की शिक्षा पर बल देते हैं। आधुनिक मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में वेदांत से बहुत कुछ सीख सकता है।

गाँधीजी आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को शैतानी रचना मानते हैं। वे यही मानते हैं कि इस सभ्यता से किसी का भला नहीं हो सकता। वे पारंपरिक सभ्यता और पारंपरिक लोकसंस्कृति के पक्षधर हैं। गाँधीजी का विमर्श संस्कृतिमूलक है जबकि स्वामी विवेकानंद का विमर्श व्यक्तिमूलक और सभ्यतामूलक है। गाँधीजी विशेषज्ञों की विशिष्ट जमात की जगह आम स्त्री –पुरुषों की स्वावलंबी संस्कृति के पक्षधर थे। दोनों ही आस्तिक थे। दोनों ही सनातनी थे परन्तु दोनों का मार्ग अलग था। एक प्रवृत्तिमार्गी तथा व्यक्तिवादी थे तो दूसरे प्रवृत्तिमार्गी एवं सामूहिकतावादी। परंपरा में सामान्यत: प्रवृत्तिमार्ग और सामूहिकता एवं निवृत्तिमार्ग एवं व्यक्तिवाद साथ चलते हैं।

दोनों ने परंपरा में बदलाव करना चाहा। यही इनकी मौलिकता थी और यही सीमा भी। इन दोनों के विपरीत एक तीसरी विचारधारा भी इस देश में रही है जिसका नेतृत्व करपात्रीजी महाराज एवं निरंजन देव तीर्थ जैसे व्यक्ति करते रहे हैं। इन्हें आदर्शवादी भी कहा जाता है और कलावादी भी। ये लोग व्यवहार को महत्त्वहीन एवं आदर्श को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। ये लोग किताबी आदर्श एवं अवधारणाओं की वकालत करते हैं। इनका मानना है कि पारंपरिक संस्थाओं और अवधारणाओं के आधार पर पश्चिम से एवं भारतीय सुधारवादियों से मुकाबला किया जा सकता है। लेकिन यह मुकाबला कौन करेगा? ये पारंपरिक संस्थायें कहाँ, किस हद तक और किस क्षेत्र में कायम हैं, इसकी पड़ताल इस विचारधारा के लोग नहीं करते। ये लोग रीतियों और कुरीतियों में अंतर नहीं करते। ये लोग भारतीय समाज में पायी जाने वाली हर अच्छी–बुरी चीज़ को जायज ठहराते हैं। लेकिन खुद व्यक्तिगत, पारिवारिक, व्यावहारिक एवं सामाजिक जीवन में ये लोग अपने आदर्शों पर टिकने की बजाय 'परिस्थितिवश' 'या 'आपदधर्म' का निर्वाह करते हुए समाज में प्रचलित एवं लोकप्रिय पश्चिमी सुविधाओं, संस्थाओं एवं रीति–रिवाजों का उपयोग करने में किसी से पीछे नहीं रहते। कुल मिलाकर इनकी कथनी और करनी, इनके आदर्श एवं इनके व्यवहार, भारत के बारे में इनके सिद्धांत एवं भारत की समकालीन स्थिति, परिस्थिति एवं मनःस्थिति में अच्छी–खासी दूरी एवं असंबद्धता रही है। फलस्वरूप यह विचारधारा लोक में प्रिय नहीं है।

भारत और चीन दोनों ने स्वतंत्रता आस–पास ही पायी थी। भारत ने 1947 में एवं चीन ने 1949 में। दूसरा बड़ा परिवर्तन भी आस–पास ही हुआ था – भारत में 1977 में और चीन में 1978 में। लेकिन चीन 1978 लगातार अपने पथ पर बढ़ता गया जबकि भारत में 1977 से 1990 तक अनिश्चितता बनी रही। 1991 से 1998 तक देश में राजनीतिक अनिश्चिता के बावजूद आर्थिक नीतियों में निरंतरता बनी रही। 1998 से 2004 तक देश में राजनीतिक और आर्थिक निरंतरता बनी रही। 2004 से आर्थिक निरंतरता तो है लेकिन 2008 से विदेश नीति के फ्रंट पर राजनीतिक अनिश्चितता बनी हुई है।

गाँधी और माओ में कई समानताएँ हैं। नेहरू और देंग में भी कई समानताएँ हैं। लेकिन एक बड़ा अंतर यह है कि गाँधी केवल दार्शनिक एवं जननेता थे। देश का प्रशासक गाँधी की नीतियों पर नहीं चला। जबकि माओ दार्शनिक, जननेता एवं प्रशासक तीनों थे। उसी तरह नेहरू जननेता और प्रशासक थे परन्तु दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने अपने प्रशासन और नीतियों का कोई स्वतंत्र दर्शन प्रस्तुत नहीं किया है।

उलटे वे महात्मा गाँधी को अपना गुरु और दार्शनिक मानते रहे । उन्होंने हमेशा यही कहा कि वे महात्मा गाँधी की विरासत के वारिस हैं और कई बार व्यावहारिक कठिनाइयों की वजह से बापू के आदर्शों को लागू नहीं कर पाते। उन्होंने एक–दो मुद्दों पर व्यक्तिगत पत्राचार में महात्मा गाँधी से अलग दृष्टि भी प्रस्तुत की। परन्तु सार्वजनिक रूप से वे बापू से बहस करने की बजाय उनके अनुयायी बने रहे। इसके विपरीत देंग दार्शनिक, जननेता और प्रशासक तीनों थे। उन्होंने अपने प्रशासन और नीतियों को एक सैद्धांतिक आधार दिया। माओ की नीतियों से अपनी सैद्धांतिक असहमति को भी प्रस्तुत किया। माओ की उपलब्धियों को एक स्तर पर स्वीकार करते हुए भी उन्होंने समकालीन चीनी समाज, अर्थव्यवस्था, संस्कृति एवं सभ्यता के लिए माओ की नीतियों तथा सिद्धांतों में गुणात्मक लेकिन क्रमिक, संरचनात्मक सुधार की वकालत की। इसका एक सफल परिणाम यह रहा कि देंग के स्वैच्छिक सेवा–निवृत्त होने और काल–क्रम में उनकी मृत्यु के बाद भी चीन में उनकी आर्थिक, राजनैतिक, तकनीकी एवं सांस्कृतिक नीतियों को उनके अनुयायी अब तक मानते रहे हैं। जिस तरह अपने जीवन में ही देंग ने स्वेच्छा से एक–एक करके क्रमिक सेवा निवृत्ति ली (पद और अधिकार छोड़ा) और योग्य उत्तराधिकारियों को महत्वपूर्ण पदों पर स्थापित करते गये वह एशिया के आधुनिक इतिहास के लिए नयी घटना और नया मानदंड है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व की जगह अपने सिद्धांतों को स्थापित किया।

पश्चिमी परंपरा और चीन के विपरीत हमारे यहाँ दार्शनिकता, जनाकांक्षा एवं प्रशासकीय रणनीतियों में पिछले वर्षों में कोई जीवंत संबंध नहीं रहा है। हमारे यहाँ के समकालीन दार्शनिकों को न तो जनाकांक्षा से मतलब है और न प्रशासकीय मॉडेल निर्माण से। विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवी पश्चिमी विश्वविद्यालय और यूरोपीय ज्ञानोदय से जुड़ कर आत्ममुग्ध रहते हैं। समाज के चिंतकों के कुछ उदाहरण हम उपरोक्त चर्चा में देख ही चुके हैं। चाहे विवेकानंद जी हों या महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू हों या करपात्रीजी महाराज या फिर देश के अन्य चिंतक (जैसे श्रीअरविंदो, डॉ. अंबेडकर, आचार्य नरेंद्र देव, लोहियाजी या जयप्रकाश नारायण), इनमें एक साथ दार्शनिकता, जनाकांक्षा एवं प्रशासकीय चुनौती से निपटने के लिए सभ्यतामूलक सिद्धांत, व्यावहारिक पद्धतियाँ और सर्वसमावेशक लोकमंगल या सर्वोदय की प्राप्ति के लिए जमीनी रणनीतियाँ स्थूल रूप से विकसित अवस्था में नहीं हैं । एक सीमित दृष्टि से सभी उपयोगी हैं लेकिन सभ्यता का पुनरोद्धार सनातनी गुरुकुल की पुनर्स्थापना से ही होगा। केवल व्यक्तिगत पुरुषार्थ और तात्कालिक आग्रह या वर्गगत, जातिगत या पेशेवर आंदोलन से रावण नहीं मरेगा। भारत का परम वैभव सभ्यतामूलक गुरुकुल और सनातन धर्म पर आधारित सर्वोदय की प्राप्ति के लिए स्वराजी आंदोलन से

आयेगा। इसका माध्यम हिंदी सिनेमा बन सकता है। कम से कम देबकी कुमार बोस, एस.एस. वासन, शांताराम, ए.आर. कारदार, के.आसिफ, मेहबूब खान, शशधर मुख़र्जी, बिमल रॉय, राज कपूर, विजय भट्ट, एल.व्ही. प्रसाद, सत्येन बोस, ताराचंद बड़जात्या आदि द्वारा सप्रयास निर्मित सिनेमाई भाषा के व्याकरण के आधार पर निर्मित हिंदुस्तानी सिनेमा में 1930 के दशक से 1975 के प्रारम्भ तक मुख्यधारा की सभी फिल्मों की पटकथा के केंद्र में इसकी मर्यादा कायम रही। 1975 की 'दीवार' से मर्यादा टूटी।

❑❑❑

हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्रीय विश्लेषण वाया 'दीवार' (1975)

8 अक्टूबर 1936 में प्रेमचंद की मृत्यु के बाद हिंदी भाषी समाज में हिंदी साहित्य की तुलना में हिंदी सिनेमा का प्रभाव धीरे–धीरे बढ़ने लगा। अपनी मृत्यु से पूर्व प्रेमचंद ने एक ही दिन में दो कार्यक्रमों में हिस्सा लिया था। सुबह से दोपहर तक उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ की भारत में हुई पहली संगोष्ठी में अध्यक्षता की थी और शाम के समय में उन्होंने आर्य समाज के प्रतिनिधि समाज की बैठक के वैचारिक सत्र में न सिर्फ अध्यक्षता की बल्कि समाज में धर्म एवं संस्कृति की केंद्रीयता पर महत्वपूर्ण व्याख्यान दिया था। अपनी मृत्यु के पहले वाले कुछ वर्षों में वे हिंदी फिल्म उद्योग में लेखक के रूप में शामिल होने वाले पहले बड़े साहित्यकार थे पर दुर्भाग्य से फिल्मी कथा और पटकथा लेखन में उनको सफलता प्राप्त नहीं हुई और चार–पाँच फिल्म लिखने के बाद उन्होंने सिनेमा से साहित्य की दुनिया में, निराश होकर, लौटना बेहतर समझा।

उनके बाद अमृतलाल नागर और भगवती चरण वर्मा जैसे बड़े साहित्यकार भी फिल्म लेखक के रूप में ज्यादा सफल नहीं हुए। इसके कई कारण थे। प्रेमचंद व्यक्तिगत जीवन में कभी मार्क्सवादी नहीं रहे। उनके ऊपर महात्मा गांधी एवं आर्य समाज का प्रभाव ज्यादा निर्णयकारी था। इसी तरह अमृतलाल नागर भी एक धार्मिक व्यक्ति थे। उन पर हिंदी के भक्ति आंदोलन का बहुत बड़ा प्रभाव था। भगवतीचरण वर्मा भी नास्तिक नहीं थे लेकिन उनकी रचनाओं में प्रेमचंद एवं अमृतलाल नागर की तुलना में धार्मिक मान्यताओं के प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टि अवश्य मौजूद थी।

संयोग से प्रगतिशील लेखक संघ 1936 एवं इप्टा 25 मई 1943 ने देश के विभिन्न भागों से मार्क्सवाद, साम्यवाद, प्रगतिशील तथा जनवादी रुझान वाले लेखकों, संगीतकारों, शायरों और कवियों को हिंदी सिनेमा के कथानक, गीत एवं संवाद लेखन को प्रभावित करने के लिए एक मंच मुहैया कराया और राजनीतिक रूप से उन्होंने हिंदुस्तानी सिनेमा के स्वरूप को करीब–करीब पूरे तरीके से बदलने की

कोशिश की। इसमें वे पूरी तरह सफल तो नहीं हो पाए क्योंकि लाहौर में इप्टा वालों की तुलना में सूफियों का प्रभाव कहीं ज्यादा था। इसी तरह प्रभात फिल्म कंपनी पुणे से निकले लोगों के ऊपर मराठी नवजागरण का प्रभाव ज्यादा था। सुदूर दक्षिण में बनने वाली हिंदी फिल्मों पर महात्मा गांधी और सी.राजगोपालाचारी का प्रभाव ज्यादा था। इसी तरह स्वतंत्रता से पहले कोलकाता में बनने वाली फिल्मों पर वैष्णव आंदोलन एवं ब्रह्म समाज का वैचारिक प्रभाव ज्यादा था। परंतु मुंबई में इप्टा वालों को अपने पैर जमाने के लिए सबसे अनुकूल अवसर दिखा। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि 1940 के दशक में मुंबई के ज्यादातर निर्माता सिनेमा को एक लाभदायक उद्योग के रूप में चलाते थे और वे वैचारिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक रूप से सबसे कमजोर थे। 1940 के दशक के मुंबई में पारसी एवं गुजराती निर्माताओं की बहुलता थी जिनका मुख्य उद्देश्य पैसा कमाना एवं ग्लैमर को बढ़ावा देना था। ऐसे में प्रगतिशील लेखक संघ एवं इप्टा से जुड़े रणनीतिकारों को अपना गिरोह बनाने में मदद मिली। उन्होंने सोवियत संघ से सहयोग एवं समर्थन भी प्राप्त किया।

देश के बंटवारे के बाद (15 अगस्त 1947) लाहौर एवं कोलकाता फिल्म उद्योग के ज्यादातर लोगों ने काम, नाम एवं बेहतर जीविका पालन के लिए बॉम्बे आना शुरू किया। चूँकि ये लोग लाहौर एवं कोलकाता से लाचारी में बॉम्बे आए थे अतः इनके लिए समझौता करना मुश्किल नहीं था। उनको हर कीमत पर काम, नाम एवं सम्मान चाहिए था। फलस्वरूप इप्टा से जुड़ा गिरोह लगातार शक्तिशाली होता गया। भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू (15 अगस्त 1947–27 मई 1964) इप्टा की विचारधारा से सहानुभूति रखते थे। फलस्वरूप 1948 से (महात्मा गांधी की मृत्यु, 30 जनवरी 1948, के बाद) बॉम्बे की ज्यादातर फिल्मों पर इप्टा गिरोह के लोगों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव नजर आता है। उदाहरण के लिए चेतन आनंद की फिल्म 'नीचा नगर'(1946), ख्वाजा अहमद अब्बास की 'धरती के लाल' (1946) से शुरू हुआ इप्टा अभियान, गैर–मार्क्सवादी निर्माता–निर्देशकों को भी प्रभावित करने लगा। उदाहरणस्वरूप वी.शांताराम जैसे निर्देशक को 'डॉक्टर कोटनीस की अमर कहानी' (1946) निर्देशित करने का जब मौका मिला तो कांग्रेस पार्टी से संबंधित नेहरूवादियों ने ख्वाजा अहमद अब्बास जैसे मार्क्सवादी लेखक को गांधीवादी शांताराम के साथ नत्थी कर दिया। राज कपूर जैसे सजग रूप से हिंदू रोमांटिक व्यक्ति, जब निर्माता निर्देशक बने, तो तीसरी फिल्म 'आवारा' (1951) तक आते–आते, उन्हें भी मार्क्सवादी गिरोह ने घेर लिया। यह इसलिए भी आश्चर्यजनक है क्योंकि उनकी दूसरी ब्लॉकबस्टर फिल्म 'बरसात' (1949) की सफलता में गैर–मार्क्सवादी टीम की भूमिका महत्वपूर्ण थी। ना जाने क्यों उन्होंने

'बरसात' की बड़ी सफलता के बावजूद लेखक रामानंद सागर को छोड़कर ख्वाजा अहमद अब्बास एवं वी.पी. साठे को अपना लेखक बनाया।

ऊपर से एक मनोरंजक सफल फिल्म होने के बावजूद 'आवारा'(1951) फिल्म की कहानी हिंदू महाकाव्य रामचरितमानस की एक अनुकृति है जिसे कुछ आलोचकों ने व्यंग्य से अब्बास रामायण भी कहा है। यह तथ्य मनोरंजक है कि 'धरती के लाल' (1946) से 'एक आदमी'(1988) तक अपने निर्देशन में, अपनी कहानी पर स्वयं फिल्में बनाने वाले ख्वाजा अहमद अब्बास की करीब–करीब सभी फिल्में बॉक्स ऑफिस पर असफल आर्थिक हादसा थीं। उन्होंने राज कपूर से पहले फिल्म निर्देशन शुरू किया था। परंतु उनकी ही पटकथा पर राज कपूर ने अधिकांश ब्लॉकबस्टर फ़िल्में बनाईं। अधिकांश आलोचकों का विश्वास है कि यदि राज कपूर 'बरसात' का प्रयोग जारी रखते जिसमें लेखक रामानंद सागर थे और हसरत जयपुरी, रमेश शास्त्री, शैलेंद्र आदि विभिन्न अनुभूति वाले गीतकार थे। उनके साथ वे ज्यादा अच्छी फिल्में बना सकते थे। इसी तरह आर्यसमाजी पृष्ठभूमि के बी. आर. चोपड़ा के लेखकों में और खासकर गीतकारों में इप्टा गिरोह के लोग शामिल हो गए। फलस्वरूप बी. आर. चोपड़ा भी धीरे–धीरे इनके प्रभाव में व्यावसायिक फिल्में बनाने की कोशिश करने लगे जिससे प्रतिभा के बावजूद उन्हें कल्ट–स्टेटस नहीं प्राप्त हुआ जो महबूब खान और गुरुदत्त को हुआ।

नवकेतन स्टूडियो (1949) देवानंद और चेतन आनंद ने मिलकर खड़ा किया था। तब तक देवानंद एक सुपर सितारा बन चुके थे। वे किसी भी दृष्टि से मार्क्सवादी नहीं थे, परंतु चेतन आनंद इप्टा गिरोह के सरदारों में एक थे। उन्होंने नवकेतन को इप्टा गिरोह का अपना बैनर बनाने का कोशिश की। लेकिन जब नवकेतन की पहली फिल्म 'अफ़सर' (1950), निर्देशक चेतन आनंद, असफल हुई तब देवानंद सतर्क हो गए और उन्होंने प्रभात, पुणे के दिनों के अपने साथी गुरुदत्त को 'बाजी'(1951) फिल्म निर्देशित करने का जिम्मा सौंपा। परंतु 'बाजी' की कहानी इप्टा गिरोह के बलराज साहनी ने लिखी थी और गुरुदत्त, शशधर मुखर्जी के संप्रदाय के फिल्मकारों, मसलन ज्ञान मुखर्जी एवं न्यू थियेटर कोलकाता के पी.सी. बरुआ से प्रभावित थे। इसके साथ वे पूंजीवादी अमेरिका के अमेरिकन थ्रिलर्स से भी प्रभावित थे। फलस्वरूप जब फिल्म बननी शुरू हुई तो बलराज साहनी ने चेतन आनंद को गुरुदत्त के खिलाफ भड़काया। व्यावसायिक रूप से सफल फिल्म होने के बावजूद 'बाजी' के बाद नवकेतन से गुरुदत्त की छुट्टी हो गई।

इसके बाद चेतन आनंद ने नवकेतन के लिए 'आंधियां' (1952) बनाई। यह फिल्म भी व्यावसायिक रूप से असफल हुई। फलस्वरूप दोनों भाइयों में मनमुटाव होना शुरू हो गया। धीरे–धीरे नवकेतन में गुरुदत्त के चेले राज खोसला, अमरजीत एवं विजय आनंद का महत्व देवानंद की नजरों में बढ़ने लगा और चेतन आनंद तथा उनके इप्टा समूह को अपनी अलग राह पकड़नी पड़ी। दोनों भाइयों के बढ़ते टकराव में संगीतकार सचिन देव बर्मन नवकेतन के मार्गदर्शक एवं प्रेरणा पुरुष के रूप में स्थापित होते चले गए।

गुरुदत्त भी किसी दृष्टिकोण से मार्क्सवादी नहीं थे। उनकी शुरुआती फिल्में 'बाजी' (1951), 'जाल' (1952), 'बाज़' (1953), 'आर–पार' (1954), 'मिस्टर एंड मिसेज 55' (1955) एवं 'सीआईडी' (1956) पर शशधर मुखर्जी, ज्ञान मुखर्जी एवं अमेरिकन क्राइम थ्रिलर का प्रभाव निर्णायक है, लेकिन 'प्यासा'(1957), 'कागज के फूल'(1959) एवं 'साहिब बीवी और गुलाम' (1962) पर इप्टा गिरोह का प्रभाव, साहिर लुधियानवी एवं अबरार अल्वी के माध्यम से बढ़ता गया। दुर्भाग्य से इस दौरान गुरुदत्त व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन में कठिन तनाव से गुजर रहे थे और इसका फायदा अबरार अल्वी आदि ने उठाया।

यह हिंदी सिनेमा की त्रासदी है कि न केवल गुरुदत्त बल्कि प्रेमचंद तक को इप्टा गिरोह ने अपने खेमे में फिट करने की कोशिश की। उसका कारण यह था कि इप्टा गिरोह हिंदी साहित्य में तो कमजोर था पर हिंदी सिनेमा एवं हिंदी सिनेमा की पत्रकारिता में एक दबंग गिरोह की तरह काम करता था। लेकिन 1964 आते–आते हिंदी सिनेमा में इप्टा गिरोह कमजोर हो गया। इसका सबसे बड़ा प्रमाण चेतन आनंद के द्वारा 'हकीकत' (1964) का निर्माण है। 'हकीकत' से चेतन पूरी तरह बदल गए और उनकी बाद की लगभग सभी फिल्मों मसलन 'हीर रांझा' (1970), 'कुदरत' (1981), 'हम रहे ना हम' (1984), 'हाथों की लकीरें' (1986) गैर मार्क्सवादी हैं। हालांकि उनकी टीम में कैफ़ी आज़मी मौजूद थे जिनकी प्रतिबद्धता मार्क्सवाद के लिए करीब–करीब अंत तक बनी रही।

ऐसा नहीं था कि 1947–1976 के बीच जयंत देसाई, विजय भट्ट, शांताराम, विमल राय, ताराचन्द बड़जात्या, मनोज कुमार, मनमोहन देसाई आदि नहीं थे या चेतन आनंद, राजकपूर और बी.आर. चोपड़ा के भीतर हिन्दू हृदय नहीं था परन्तु ख्वाजा अहमद अब्बास, शैलेन्द्र, साहिर, कैफी, मजरूह, सलिल चौधरी, बलराज साहनी, महबूब खान, जावेद अख्तर आदि ने 'दीवार'(1975), 'कभी–कभी' (1976) तक इप्टा के एजेंडे को हिन्दी सिनेमा की मुख्य धारा बनाए रखा।

'बॉबी' (1973), 'शोले'(1975), 'कभी–कभी' (1976) से इप्टा का प्रभाव घटने लगा। 'रोटी कपड़ा और मकान' (1974), 'जय संतोषी मां'(1975) की व्यावसायिक सफलता से जमीन तैयार हुई। 'अमर अकबर एंथोनी (1977) और 'दुल्हन वही जो पिया मन भाये' (1977) ने ट्रेंड चेंज कर दिया। 'कुदरत' (1981) ने इप्टा की कब्र पर कील ठोक दी। 'राम तेरी गंगा मैली' (1985) ने नई इबारत लिख दी। परन्तु सूफी कारदार, के.आसिफ, कमाल अमरोही, शकील बंदायूनी, हसरत जयपुरी, नौशाद, एम. सादिक, सलीम खान का प्रभाव 'रॉकस्टार' (2011) और 'रांझना' (2013) तक जारी रहा।

यह अनोखा संयोग है कि 1964 में मार्क्सवादी आलोचक और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिबद्ध कार्यकर्ता नामवर सिंह की पुस्तक 'कहानी–नई कहानी' प्रकाशित हुई जिसमें उन्होंने मोहन राकेश, राजेंद्र यादव एवं कमलेश्वर जैसे समकालीन कहानीकारों की तुलना में निर्मल वर्मा की कहानी 'परिंदे' का प्रतिमान स्थापित किया। निर्मल वर्मा भी उन दिनों मार्क्सवाद से प्रभावित प्रगतिशील कहानीकार थे। 1968 में नामवर सिंह की दूसरी ज्यादा महत्वपूर्ण रचना 'कविता के नए प्रतिमान' प्रकाशित हुई।

दुनिया में यह शीतयुद्ध का चरमोत्कर्ष काल माना जाता है। जिसमें सोवियत संघ ब्लॉक एवं अमेरिकन गिरोह अपनी–अपनी विचारधारा को हर स्तर पर स्थापित करने में पूरी दुनिया में अति सक्रिय थे। यदि मार्क्सवादी गिरोह को (जो प्रगतिशील लेखक संघ और इप्टा के रूप में संगठित सिंडिकेट के रूप में काम करता था) सोवियत संघ से आर्थिक एवं नैतिक समर्थन प्राप्त था तो 1964 में हुए विभाजन के बाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) से जुड़े 'जनवादी लेखक संघ' को चीन का आर्थिक एवं नैतिक समर्थन प्राप्त था।

संयोग से 1969 में इंदिरा गांधी ने कांग्रेस को तोड़ कर भारतीय कम्युनिस्टों से समझौता किया जिससे जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का जन्म हुआ। फिल्मी दुनिया में बेरोजगार मार्क्सवादियों को जेएनयू में सरकार के सहयोग एवं सोवियत संघ के समर्थन से भारत में पहला मार्क्सवादी विश्वविद्यालय बनाने का अवसर प्राप्त हुआ। 1969 से 1971 के बीच पूरे देश के मार्क्सवादी प्रगतिशील एवं जनवादी रुझान के विद्वानों एवं कार्यकर्ताओं को जेएनयू में संगठित होने का मौका मिला और हिंदी साहित्य में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय एवं 'आलोचना' पत्रिका द्वारा नामवर सिंह के नेतृत्व में भारतीय परंपरा के मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सरकार, एनसीईआरटी, यूजीसी, साहित्य अकादमी, ललित कला अकादमी के माध्यम से

भारत के स्कूलों, कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों में अपने गिरोह द्वारा रची गई पाठ्य पुस्तकों को पाठ्यक्रम में शामिल करवाने में किसी प्रकार के प्रतिरोध का सामना नहीं करना पड़ा।

इस दौरान भारतीय सिनेमा में गैर–मार्क्सवादी शैली एवं रस की फिल्में लगातार बन रही थीं। हिंदी सिनेमा की आलोचना करने वाले पत्रकार एवं विद्वान नामवर सिंह के गिरोह से प्रभावित लोग थे। इन लोगों ने हिंदी के मुख्यधारा के सिनेमा को सिरे से खारिज करना शुरू कर दिया। सरकार एवं सोवियत संघ के प्रभाव से बनने वाली समानांतर फिल्मों को जोड़–तोड़ करके पुरस्कार दिलवाना शुरू कर दिया।

यह अजीब विडंबना थी कि तथाकथित जनवादियों द्वारा प्रशंसाप्राप्त यह नया सिनेमा भारत के बहुसंख्यक सिनेदर्शकों द्वारा सिरे से नकारा जा रहा था। परंतु हिंदी सिनेमा के मार्क्सवादी आलोचक, प्रकाशन संस्थाओं पर अपने वर्चस्व के कारण, इसे ही भारतीय सिनेमा का भविष्य बतलाये जा रहे थे। फलस्वरूप हिंदी में एक नकली साहित्य का निर्माण शुरू हुआ जो मार्क्सवादी गिरोह द्वारा लिखा एवं पढ़ा जाता था। दूसरी ओर भारत की बहुसंख्यक जनता मुख्यधारा की फिल्में देख रही थी एवं लुगदी साहित्य पढ़ रही थी। लुगदी साहित्य के एक लेखक गुलशन नंदा हिंदी सिनेमा में कमाल की पटकथा लिख रहे थे। अन्य लेखक थे इब्ने सफी, कुशवाह कांत, कर्नल रंजीत, ओम प्रकाश शर्मा, रानू एवं वेद प्रकाश शर्मा इत्यादि। इस तरह हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य पर विश्वविद्यालय के हावी होने के बाद, हिंदी साहित्य राजनीतिक विमर्श को प्रभावित करने का एक प्रक्रिया मात्र बन गया। दूसरी ओर हिंदी मुख्यधारा का सिनेमा आम जनता के दुख–दर्द, खुशी एवं उत्साह, आकांक्षा एवं सपनों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गया।

इस पृष्ठभूमि को, हमें 1960 के दशक से 1970 के दशक तक के मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा के बहुआयामी सिनेमाई फलक को समझने के लिए इस्तेमाल करना चाहिए। इन फलकों में बीटल्स से प्रभावित सिनेमा को सबसे ऊर्जावान सिनेमा माना जाता है। इसी स्तर की रचनात्मक ऊर्जा हम शक्ति सामंत, राज खोसला, विजय आनंद, मनोज कुमार, रामानंद सागर, नासिर हुसैन, ऋषिकेश मुखर्जी, मनमोहन देसाई, जी.पी. सिप्पी, एन.सी. सिप्पी, रमेश सिप्पी, गुलजार, फिरोज खान, राजश्री प्रोडक्शन, बासु चटर्जी, राजा नवाथे, दुलाल गुहा, रघुनाथ झलनि, प्रकाश मेहरा, बी.आर. इशारा, शुभेंदु राय, यश चोपड़ा आदि की अधिकांश फिल्मों में देख सकते हैं। 60 एवं 70 के दशक के सिनेमा को कुछ लोग शम्मी कपूर, राजेश खन्ना एवं अमिताभ बच्चन के युग की तरह बांट कर देखते हैं। यह न सिर्फ मूर्खतापूर्ण है बल्कि

अर्थहीन भी है। क्योंकि शम्मी कपूर युग के दौरान (1957 से 1968) कोई एक तरह की फिल्म नहीं बनी, न शम्मी कपूर ने एक तरह की कहानी वाली फिल्मों में काम किया। यही बात राजेश खन्ना वाले युग (1969–1972) में है।

दोनों में केवल एक बात कॉमन है कि राजेश खन्ना और शम्मी कपूर युग (1957–1972) तक अधिकांश कहानियों और गीतों में गैर–मार्क्सवादी तत्त्व महत्वपूर्ण रहे। इसी तरह अमिताभ बच्चन युग 'जंजीर' (1973) से 'कुली' (1983) तक के कालखंड में भी ज्यादातर गैर मार्क्सवादी फिल्में ही बनीं। खुद अमिताभ बच्चन ने हर तरह की भूमिकाएं की हैं। परंतु एक चीज माननी होगी कि सलीम–जावेद द्वारा लिखित फिल्मों में एक प्रकार के नव–मार्क्सवाद को हिंदी सिनेमा में प्रतिनिधित्व मिला है। सलीम खान किसी भी दृष्टिकोण से मार्क्सवादी नहीं थे। वे सूफी रूमानीवाद से प्रभावित व्यक्ति थे। परंतु जावेद अख्तर निश्चित रूप से एक मार्क्सवादी हैं। वे अपने पिता जांनिसार अख्तर की तरह इप्टा गिरोह के कट्टर मार्क्सवादी तो नहीं हैं परंतु सलीम–जावेद लिखित फिल्मों में मार्क्सवादी अव्ययों को जावेद अख्तर ने स्वर देने की कोशिश की। अमिताभ युग को एंग्री यंग मैन (आक्रोश से भरा हुआ आदमी) के युग के रूप में लोकप्रिय बनाने में जावेद अख्तर के फिल्म पत्रकारिता एवं फिल्म विमर्श से जुड़े मार्क्सवादी गिरोह की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। और इस चित्रण में उस युग के सामाजिक यथार्थ को अति सरल फॉर्मूला में लोकप्रिय बनाने के क्रम में एक रहस्यमय चुप्पी का रणनीतिक इस्तेमाल किया गया है।

यह कहना कि एक स्मगलर एंग्री यंग मैन है, गलत बात है। एंग्री यंग मैन की अवधारणा को पश्चिमी समाज में समानता की अवधारणा, कॉलेज कैंपस के विद्यार्थी, बेरोजगार युवा के लिए इस्तेमाल किया जाता है। यह उत्तर आधुनिक काल की पारम्परिक शब्दावली है। यह वह कालखंड है जो शीत युद्ध की चरम अभिव्यक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी में इसके लिए शून्यवाद शब्द इस्तेमाल किया जाता है। इस क्रोध या गुस्से का कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता हालांकि मार्क्सवादी लेखकों ने इसकी क्रांति की उत्पत्ति के रूप में जबरदस्ती व्याख्या करने की कोशिश की है।

कुल मिलाकर 1968–69 में फ्रांस के विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों ने जो अराजकतावादी आंदोलन किया, उसे मार्क्सवादियों, भूतपूर्व–मार्क्सवादियों एवं अस्तित्ववादियों ने, जिसके नेता मोटे तौर पर ज्यां पाल सार्त्र माने जाते हैं, एक नए युग की शुभारंभ के रूप में देखा। इसे सामान्यतया उत्तर आधुनिक युग की शुरुआत कहा जाता है। यदि ध्यान से देखें तो इसके केंद्र में फ्रेडरिक नीत्शे का दर्शन रहा है। जिसे सोरेन कीर्केगार्ड, फ्योडोर दोस्तोयेव्स्की, फ्रांज़ काफ्का, मार्टिन हाइडेगर जैसे

विद्वानों ने खाद–पानी देकर सींचा था। इसकी प्रथम अभिव्यक्ति हिटलर और मुसोलिनी एवं कुछ हद तक स्टालिन एवं माओ तथा फिदेल कास्ट्रो एवं चे ग्वेरा जैसे विचारकों की एवं ग्राम्शी जैसे समालोचकों की रचनाओं में देखने की कोशिश की जाती है। परंतु फ्रांस में छात्रों एवं युवकों की विद्रोही छवि के सबसे अच्छे टीकाकार ज्यां पाल सार्त्र को ही माना जाना सही है।

भारत में जयप्रकाश नारायण की संपूर्ण क्रांति (1974) में, 1969 के फ्रांसीसी युवा विद्रोह की सबसे महत्त्वपूर्ण अनुकृति देखी जा सकती है।

जहां तक हिंदी सिनेमा की बात है तो शम्मी कपूर की फिल्मों में युवा विद्रोही की पहली छवि देखने को मिलती है। 1957 से (तुमसा नहीं देखा) शम्मी कपूर ने हिंदी सिनेमा के परम्परागत नायक की छवि को जिस प्रकार तोड़ना शुरू किया उसे यूरोप की उत्तर आधुनिक कला के समानधर्मी माना जा सकता है। यह एक सचेतन विद्रोह था जो नायक की स्वतंत्र पहचान या अस्तित्व की खोज की एक अभिव्यक्ति थी। परंतु 'जंगली' (1961) तक आते–आते यह विद्रोह हिंदी सिनेमा के नायक की नयी परंपरा बनाने का प्रयास कहा जा सकता है।

लेकिन जिस रूप में फ्रांसीसी विश्वविद्यालयों के युवाओं ने यूरोपीय समाज के शीत युद्ध के दौरान, महासंक्रमण के अनुकरण को अभिव्यक्त किया उस तरह का संक्रमण भारतीय समाज में संभवत: नक्सलबाड़ी के आंदोलन–1969 के रूप में उत्तर भारत में और 'परा शक्ति'–1969 नामक तमिल फिल्म के प्रदर्शन से दक्षिण भारत में अंकुरित होता दिखाई देता है।

जहां तक उत्तर भारतीय समाज में, एक सामान्य परिघटना के रूप में, युवा असंतोष एवं युवा आक्रोश की अभिव्यक्ति का सवाल है, यह पहली बार हिंदी सिनेमा में देखने को मिलती है गुलजार द्वारा निर्देशित 1971 की फिल्म 'मेरे अपने' में। कुछ लोगों को, जिनकी स्मृति 1971 के आसपास की ऐतिहासिक घटनाओं के बारे में धूमिल हो चुकी है या वे उस कालखंड के बाद पैदा हुए हैं यह विरोधाभासी लग सकता है कि एक तरफ इंदिरा गांधी के नेतृत्व में भारत ने पहली बार किसी दूसरे देश को विश्वसनीय तरीके से हराया (1971 का भारत–पाकिस्तान युद्ध जिसमें बांग्लादेश का जन्म हुआ) तब भारतीय समाज में जोश की जगह असंतोष एवं विद्रोह की ज्वाला छात्रों एवं युवाओं में क्यों धधक रही थी। परंतु एक फिल्म को बनाने में उस काल खंड में एक लंबा समय लगता था।

1969 में इंदिरा गांधी ने सुनियोजित तरीके से, अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करने के लिए, कांग्रेस के बुजुर्ग नेताओं की पीढ़ी, जिसे सिंडिकेट कहा जाता था, के प्रति विद्रोह किया था। इस प्रकार इंदिरा गांधी कांग्रेस पार्टी के इतिहास में सुभाष चंद्र बोस की भांति दूसरी विद्रोही नेता थीं और वह युवा भी थीं। जिनको भारत के इतिहास का कालखंड याद है वह भले ही फ्रांसीसी युवाओं के आक्रोश के बारे में न जानते हों परंतु वे आसानी से स्वीकार कर लेंगे कि इंदिरा गांधी ने 1969 में कांग्रेस पार्टी के अंदर युवा विद्रोह किया था और अपने साथ कांग्रेस कार्यकर्ताओं के बहुसंख्यक कैडर को, बुजुर्ग कांग्रेसियों द्वारा नियंत्रित संगठन से विद्रोह करके एक नई पार्टी कांग्रेस इंदिरा में शामिल होने के लिए राज़ी करने में सफल हुई थी। इसके साथ उन्होंने ऐसे कई निर्देश दिए थे जिसे गांधी, नेहरू, पटेल की परंपरा से विद्रोह कहा जा सकता है जिसमें पाकिस्तान पर आक्रमण करके बांग्लादेश को स्वतंत्र कराना भी शामिल है। इस तरह युवा विद्रोह का रचनात्मक पक्ष इंदिरा गांधी के व्यक्तित्व में देखा जा सकता है। परंतु 1972–73 तक इंदिरा कांग्रेस और इंदिरा सरकार में संजय गांधी के नेतृत्व में युवा आक्रोश की एक नई विरोधी परंपरा सामने आ गई थी। जिसने इमरजेंसी लगवाई, बीस सूत्री कार्यक्रम चलवाया, फिर पांच सूत्री कार्यक्रम में संजय ब्रिगेड ने नसबंदी जैसा विवादास्पद कार्यक्रम चलाया। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप उत्तर भारत में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में युवा आक्रोश बिहार, गुजरात, मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय के भीतर दावानल की तरह फैल गया।

दुर्भाग्य से हिंदी सिनेमा समीक्षकों, आलोचकों एवं विद्वानों ने युवा आक्रोश की संवेदनहीन, कुतर्की, दकियानूसी एवं भ्रमोत्पादक व्याख्या की। फलस्वरूप 'दीवार' फिल्म का स्मगलर (जो हाजी मस्तान के व्यक्तित्व पर आधारित है और जिसके निर्माण में हाजी मस्तान की सक्रिय भूमिका रही है) को भारत के युवा आक्रोश की सबसे विश्वसनीय अभिव्यक्ति कहा गया। सलीम जावेद दावा करते रहे हैं कि 'दीवार' की पटकथा उनके पास 1973 से पहले मौजूद थी। हाजी मस्तान के सॉफ्ट गैंग ने हिंदी सिनेमा के दर्शकों के साथ एवं हिंदी सिनेमा के इतिहास के साथ घनघोर अन्याय किया है। जैसा कि रोलैंड बार्थ नामक फ्रांसीसी सिद्धांतकार कहा करते थे कि किसी कलाकृति, कलापाठ, साहित्यपाठ एवं सिनेमापाठ के लेखकों एवं रचनाकारों का दृष्टिकोण एक रसिक दर्शक, पाठक या श्रोता के लिए पूर्णतया अप्रासंगिक होता है। सार्वजनिक क्षेत्र में उपलब्ध हर कलाकृति, साहित्य एवं सिनेमा कलात्मक रूप से स्वायत्त रचना होती है।

इस आधार पर हम कह सकते है कि 'दीवार' फिल्म का प्रतिनायक या खलनायक एक युवा विद्रोही नहीं है बल्कि एक अपराधी स्मगलर है जिसका

महिमामंडन करना न सिर्फ अनैतिक है बल्कि भारतीय सन्दर्भ में एक सामाजिक पाप है। वह किसी भी दृष्टिकोण से उत्तर भारत के तत्कालीन युवाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता–काव्यात्मक न्याय (पोएटिक जस्टिस) के रूप में भी नहीं।

एक स्मगलर को हीरो बनाने का मिथक हाजी मस्तान के दरबारियों, चाटुकारों एवं अकादमिक मुंशियों ने फैलाया और एक स्मगलर के सांसारिक वैभव की चकाचौंध से प्रभावित दर्शकों ने इस मिथक को एक 'रोल मॉडल' के रूप में अपने अवचेतन में बिठा लिया। इस तरह यह ऐतिहासिक फिल्म मानी जानी चाहिए। इस फिल्म ने समाज के बेरोजगार युवकों को संगठित अपराध और हिंसा की तरफ एक स्वाभाविक विकल्प के रूप में बेझिझक देखने का, अनैतिक ही सही, मजबूत तर्क दिया।

इस अर्थ में यह फिल्म 'दीवार' (1975, यश चोपड़ा) भारतीय समाज में उभर रहे युवा आक्रोश को दिखलाने वाली 'मेरे अपने' (1971, गुलज़ार), 'खोटे सिक्के' (1974, नरेंद्र बेदी), 'रोटी कपड़ा और मकान' के अमिताभ बच्चन वाले चरित्र (1974, मनोज कुमार), 'नक्सलाइट्स' (1980, के. ए. अब्बास) या 'हम पाँच' (1980, बापू) से गुणात्मक रूप से अलग जॉनर की फिल्म है।

'दीवार' एक विज्ञापन फिल्म है, जिसमें पहली बार एक स्मगलर, गुंडे या माफिया को वैकल्पिक नायक के रूप में महिमामंडित किया गया है। 'जंजीर'(1973) एक ईमानदार फिल्म थी। सलीम खान की पटकथा, प्रकाश मेहरा के निर्देशन और सलीम–जावेद के संवाद से सजी 'जंजीर' ने बम्बई के संगठित अपराध में रस्साकस्सी (करीम लाला = प्राण और हाजी मस्तान = अजीत) में एक ईमानदार पुलिस इंस्पेक्टर को सूत्रधार बना कर, एक विश्वसनीय थ्रिलर के रूप में, दर्शकों को रोमांचित किया। मात्र दो साल बाद हाजी मस्तान के दरबारियों ने 'जंजीर' के खलनायक को 'दीवार' के समानांतर नायक के रूप में महिमामंडित करवा दिया।

'जंजीर' का नायक एक पुलिस इंस्पेक्टर है और वह भारतीय युवा का प्रतिनिधि न होकर भारतीय स्टेट (राष्ट्र–राज्य) का प्रतीक है। उसका गुस्सा भारतीय युवा का गुस्सा नहीं है बल्कि इंदिरा गाँधी के नेतृत्व में भारतीय स्टेट (राष्ट्र–राज्य) का अपराधियों के प्रति सख्त रवैए का प्रतीक है। या भारतीय राज्य की ईमानदार नौकरशाही का प्रतीक है (जो अभी भी विपरीत परिस्थिति होने के बावजूद पूरे तरीके से भ्रष्ट नहीं हुई है) उसका अभी भी विश्वास है कि सत्य की जीत होगी, न्याय की जीत होगी। वह रामचरितमानस के सहनायक लक्ष्मण की तरह का व्यक्तित्व है जो समय आने पर गुस्से में खलनायक या खलनायिका के नाक–कान काट सकता है।

यह सच्चाई है कि 'जंजीर' फिल्म का केंद्रीय विषय करीम लाला ('जंजीर' फिल्म के प्राण) एवं हाजी मस्तान ('जंजीर' फिल्म के अजीत) की लड़ाई है और अमिताभ बच्चन पुलिस के रूप में भारतीय व्यवस्था का प्रतीक है ना कि भारतीय युवा का। परंतु आलोचकों ने सिनेमा के अंतिम भाग, जब अमिताभ बच्चन पुलिस इंस्पेक्टर नहीं है, को प्रसंग से हटाकर भारतीय मध्यवर्गीय युवा का प्रतीक बना दिया। इसमें उद्देश्य बंगाल एवं आंध्र प्रदेश में चल रहे मार्क्सवादी और नक्सलवाद आंदोलन को संबल देने की कोशिश की गई है। उसी तरीके से दीवार फिल्म का नायक अमिताभ बच्चन मूल रूप से स्मगलर हाजी मस्तान की कहानी है। अमिताभ बच्चन, हाजी मस्तान के चरित्र का प्रतिबिंब है न कि मध्यवर्गीय युवा का। बड़ी चालाकी से इन दोनों फिल्मों को अघोषित मध्यवर्गीय युवा की कहानी के रूप में मिथक बनाया गया है।

यह जानना दिलचस्प है कि जंजीर की कहानी सलीम खान ने अकेले लिखी थी और जावेद अख्तर इस फिल्म में बाद में जुड़े थे। इसके निर्देशक प्रकाश मेहरा थे। जो खुद एक गीतकार एवं लेखक थे। फलस्वरूप 'जंजीर' को प्रभावित करने में जावेद अख्तर को बहुत कम सफलता मिली। जबकि 'दीवार' की कहानी सलीम–जावेद ने मिल कर लिखी थी और इसके निर्देशक यश चोपड़ा थे जो अपने आसपास के परिवेश से आसानी से प्रभावित हो जाने वाले एक अवसरवादी निर्देशक थे।

'दीवार' फिल्म में कहानी की संरचना एवं कास्टिंग का कन्वेंशन तोड़ कर, खलनायक और नायक के बीच की आपसी सहमति से बने, सौंदर्य–शास्त्रीय नियम को तोड़ा गया है। परन्तु अंत में उसे अकेला, निरीह और बिम्बों की भाषा में समाज में अलग–थलग पड़ जाने के दर्द में दिखाया गया है। यह अलग बात है कि फिल्म के समीक्षक इस बात को नजरअंदाज़ करते हैं।

'दीवार' फिल्म में खलनायक अमिताभ बच्चन नायक शशि कपूर से बगावत करता नजर आता जरूर है लेकिन अपनी प्रेमिका से अंतरंग बातचीत में वह नैतिक दुविधा का शिकार नजर आता है। परन्तु सुभाष घई द्वारा निर्देशित 'खलनायक' (1993) फिल्म तक आते–आते खलनायक, नायक से ज्यादा शक्तिशाली, लोकप्रिय एवं नैतिक द्वंद्वों से ऊपर नजर आता है। यानी 1975 की 'दीवार' फिल्म से अनैतिक को लोकप्रिय एवं ग्लैमरस दिखाने की कोशिश जरूर होती रही, लेकिन कास्टिंग का कन्वेंशन और लोकप्रियता, गरिमा एवं ग्लैमर की पारिभाषिक शब्दावली पारंपरिक ही बनी रही। इसे हम दादा–साहब फाल्के, आर्देशिर ईरानी, देबकी कुमार बोस, बाबूराव पेंटर, एस.एस. वासन, ए.आर. कारदार, हिमांशु राय, शशधर मुखर्जी, बिमल रॉय, राज कपूर, के.आसिफ, वाडिआ ब्रदर्स जैसे लोगों द्वारा स्थापित

सिनेमाई भाषा की संरचना के अंतर्गत नकारात्मक या अवांछित तात्विक परिवर्तन कह सकते हैं। यानी यह परिवर्तन उसी तरह का है जिस तरह भारतीय राजनीति में सत्ता वर्ग में शामिल होने के लिए दलित, पिछड़ा एवं नारीवादी आंदोलनों का नैरेटिव रहा है। लेकिन एक बार सत्ता मिल जाने के बाद दलित, पिछड़ा एवं नारीवादी सांसदों, विधायकों, मंत्रियों आदि की शासन करने की भाषा एवं शासक के रूप में व्यवहार करने का तरीका भारतीय शासक वर्ग की विरासत के अनुरूप ही बना रहता है।

अमिताभ बच्चन को महानायक बनाने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका 'अभिमान' (1973), 'चुपके–चुपके' (1975) 'शोले' (1975), 'कभी–कभी' (1976), 'अमर अकबर एंथोनी' (1977), 'खून पसीना' (1977), 'मुकद्दर का सिकंदर' (1978), 'त्रिशूल' (1978), 'जुर्माना' (1979), 'सत्ते पे सत्ता' (1982), 'बेमिसाल' (1982), जैसी फिल्मों की है। जिसमें 'जंजीर' एवं 'दीवार' की गिनती भी की जानी चाहिए। परंतु अमिताभ बच्चन को महानायक बनाने में 1972 की फिल्म 'मुंबई टू गोवा' (एस. रामनाथन द्वारा निर्देशित एवं महमूद द्वारा निर्मित, अमिताभ के द्वारा पहली सफल फिल्म) एवं 'रोटी कपड़ा और मकान' (निर्माता–निर्देशक मनोज कुमार 1974) की भूमिका को भी नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। यदि हम कुल मिलाकर अमिताभ बच्चन का गंभीर अकादमिक विश्लेषण करें तो आक्रोशित युवा वाली भूमिका दस प्रतिशत से अधिक नहीं है।

'जंजीर' और 'दीवार' फिल्मों का भारतीय समाज की मुख्यधारा या उस युग से कोई लेना–देना नहीं था। यह मुंबई के महानगर में गैंगस्टर को ग्लैमराइज करने वाली फिल्में थीं। ब्लॉकबस्टर भी नहीं थीं। औसत सफल फिल्में थीं। 1973 की व्यावसायिक रूप से सफल फिल्म 'बॉबी' और 'अभिमान' थी। 'जंजीर' (1973) जितनी सफल फिल्म थी, उससे ज्यादा 1972 की 'बॉम्बे टू गोवा' थी। 1975 की सबसे सफल फिल्म 'जय संतोषी मां' थी। यह इतनी सफल थी कि 1975 के बाद संतोषी मां की पूजा उत्तर भारत में शुरू हो गई एवं संतोषी मां की मंदिर सामने आने लगे। दूसरे नंबर पर 'शोले' थी और तीसरे नंबर पर 'धर्मात्मा' (1975)।

यह भी सर्वविदित है की 1975 के सबसे बड़े स्टार धर्मेंद्र एवं संजीव कुमार थे। 1977 तक अमिताभ बच्चन सबसे बड़ा सितारा नहीं माने जाते थे। इसका सबसे बड़ा उदाहरण 'अमर अकबर एंथोनी' है जिसमें विनोद खन्ना, ऋषि कपूर और अमिताभ का बराबर का रोल है तथा विनोद खन्ना और ऋषि कपूर किसी भी पक्ष में कम नहीं हैं। 1973 से 1977 तक अमिताभ बच्चन की हैसियत को धर्मेंद्र, शशि कपूर, विनोद

खन्ना, ऋषि कपूर की तुलना में, वस्तुनिष्ठ अध्ययन के बाद, ऊँचा नहीं कहा जा सकता।

युवा आक्रोश की अन्य विश्वसनीय फिल्मों में 'रोटी, कपड़ा और मकान' (1974) का सहनायक अमिताभ बच्चन है। यह फिल्म 1975 के जयप्रकाश आंदोलन के साथ–साथ रिलीज़ हुई थी। अन्य विश्वसनीय फिल्मों में रमेश सिप्पी की फिल्म 'शोले' में जय और वीरू जैसे पात्र आयेंगे। इसके साथ–साथ नरेंद्र बेदी द्वारा निर्देशित 'खोटे सिक्के' (1974) के पात्र भी युवा आक्रोश का प्रतिनिधित्व करते नज़र आते हैं। श्याम बेनेगल की फिल्मों में भी युवा आक्रोश की अभिव्यक्ति हुई है। नकारात्मक रूप से फिल्म 'अंकुर' (1974) और 'निशांत' (1975) एवं सकारात्मक रूप से फिल्म 'मंथन' (1976) में। इसी तरह सईद अख्तर मिर्ज़ा की फिल्म 'अल्बर्ट पिंटू को गुस्सा क्यों आता है' (1980) की चर्चा की जानी चाहिए।

1980 के दशक की अंतिम फिल्मों में बापू द्वारा निर्देशित 'हम पांच' (1980) भी युवा आक्रोश को अभिव्यक्त करने वाली फिल्म है। 'दीवार' की तुलना में 'त्रिशूल' फिल्म का नायक अमिताभ बच्चन कुछ हद तक युवा आक्रोश को, अविश्वसनीय ढंग से ही सही, अभिव्यक्त करता जरूर नजर आता है। अमिताभ बच्चन की प्रथम सफल फिल्म 1972 में प्रदर्शित 'बॉम्बे टू गोवा' थी जिसे एस. रामानाथ ने निर्देशित किया था और हास्य कलाकार मेहमूद ने निर्मित किया था। यह फिल्म उन्हें ऋषिकेश मुखर्जी द्वारा निर्देशित 'आनंद' फिल्म में सह अभिनेता के एक छोटे किरदार को ईमानदारी से निभाने के कारण मिली थी।

'जंजीर' 1973 की सबसे सफल फिल्म नहीं थी। 1973 की सबसे सफल फिल्म राज कपूर द्वारा निर्मित, ऋषि कपूर एवं डिम्पल कपाड़िया द्वारा अभिनीत 'बॉबी' थी जिसने रोमांटिक फिल्म की परिभाषा बदल कर युवा आकांक्षाओं, रोमांस एवं सपनों को नया आयाम देकर, रोमांटिक नायक की परंपरा के साथ कलात्मक विद्रोह किया था। इसी तरह 1973 में प्रदर्शित 'यादों की बारात' निर्माता–निर्देशक नासिर हुसैन की दूसरी बड़ी ब्लॉक बस्टर थी। 'शोले' फिल्म के नायक धर्मेंद्र थे, 'दीवार' फिल्म के नायक शशि कपूर थे, 'कभी–कभी'(1976) फिल्म में भी शशि कपूर, अमिताभ बच्चन, ऋषि कपूर तीनों थे। 1977 में प्रदर्शित 'अमर अकबर एंथोनी' में भी अमिताभ बच्चन तीन नायकों में एक नायक थे।

1978 के 'डॉन' के निर्देशक चंद्र बरोट थे जो पहले मनोज कुमार के सहायक निर्देशक हुआ करते थे। इन फिल्मों से पहले अमिताभ बच्चन को अपनी पीढ़ी का

सबसे बड़ा सितारा मानना गलत है। 'डॉन' एक ब्लॉक बस्टर फिल्म थी जिसमें अमिताभ बच्चन ने अपने कंधे पर, किशोर कुमार के गीत एवं कल्याण जी के संगीत के बल पर, सफलता का इतिहास रचा था। इस फिल्म में भी अमिताभ बच्चन युवा आक्रोश की अभिव्यक्ति नहीं करते। अपने दो चरित्रों में से यदि एक में वे शातिर स्मगलर हैं तो दूसरे में एक हंसोड़ एवं करुणा तथा वात्सल्य के प्रतीक सामान्य आदमी हैं। 1978 में ही अमिताभ बच्चन की दूसरी ब्लॉक बस्टर फिल्म आयी जिसका नाम था 'मुकद्दर का सिकंदर'। इसमें निश्चित रूप से न सिर्फ वे नायक हैं बल्कि अभिनय की बारीकियों से भी वे विनोद खन्ना के अभिनय पर भारी पड़े हैं। परन्तु इस फिल्म में भी अमिताभ बच्चन युवा आक्रोश की अभिव्यक्ति नहीं करते। इसमें वे मूलतः एक प्रेमी जीव हैं। इस फिल्म में वे रोमांस तथा हास्य रस को विश्वसनीय अभिव्यक्ति देते हैं। 'मुकद्दर का सिकंदर' हिंदी सिनेमा की कालजयी फिल्म 'देवदास' का ही रूपांतरण है।

1910 में प्रकाशित शरतचंद्र के उपन्यास देवदास पर आधारित हिंदी में कई फिल्में बनी हैं। उल्लेखनीय हैं– (1) पी. सी. बरुआ की 'देवदास' (1935) (2) बिमल रॉय की 'देवदास' (1955), (3) राजकपूर और नवाथे की 'आह' (1953), (4) देवानंद की 'मंजिल' (1960), (5) गुरुदत्त की 'प्यासा' (1957), (6) राज खोसला की 'दो बदन' (1966), (7) प्रकाश मेहरा की 'मुकद्दर का सिकंदर' (1978)। यह परम्परा अब भी जारी है। संजय लीला भंसाली की 'देवदास' (2002), अनुराग कश्यप की 'देव–डी'(2009) और सुधीर मिश्र की 'दास देव' (2018) इत्यादि।

यदि अमिताभ बच्चन की सफल फिल्मों की बात करें तो वे हैं संभवतः 'मुकद्दर का सिकंदर', 'चुपके चुपके' (1975), 'नमक हराम'(1973), 'बेमिसाल' (1982), 'जुर्माना' (1979), 'अभिमान' (1973), 'मिली' (1975)। रमेश सिप्पी की 'शोले' के अलावा 'शान' (1980) एवं 'शक्ति' (1982)। प्रकाश मेहरा की 'जंजीर' एवं 'मुकद्दर का सिकंदर', 'लावारिस' (1981) एवं 'शराबी' (1984) मनमोहन देसाई की 'अमर अकबर एंथोनी' (1977) के अलावा 'परवरिश' (1977), 'सुहाग' (1979), 'कुली' (1983), 'मर्द' (1985), 'शहंशाह' (1988), 'नसीब' (1981) इन फिल्मों के अलावा अमिताभ बच्चन को महानायक बनाने में 'कसमें वादे' (1978), 'सत्ते पे सत्ता' (1982) जैसी फिल्मों की भी छाया है।

कुल मिला कर 1969 से 1978 तक अपनी असफल एवं सफल फिल्मों के द्वारा अमिताभ बच्चन ने हर तरह की भूमिकाएं कीं। इनमें एक छोटी भूमिका युवा आक्रोश की भी थी। अन्य विश्वसनीय फिल्में शत्रुघ्न सिन्हा, विनोद खन्ना, डैनी, मिथुन चक्रवर्ती, धर्मेंद्र, जितेंद्र, कबीर बेदी जैसे अन्य समर्थ अभिनेताओं ने की थीं।

राजेश खन्ना और रणधीर कपूर भी बने हुए थे। जितेंद्र और शत्रुघ्न सिन्हा की भी गरिमामय उपस्थिति थी। अमिताभ बच्चन का कद 1978 की फिल्म 'मुकद्दर का सिकंदर' तथा 'डॉन' से बढ़ा। 1978 से पहले अमिताभ बच्चन एक सितारा थे, सुपर सितारा हैसियत उन्हें 1978 में ही मिली। ये दोनों फिल्में युवा आक्रोश की फिल्में नहीं हैं। 'मुकद्दर का सिकंदर' एक म्यूजिकल रोमांस है तथा 'डॉन' एक क्राइम थ्रिलर है।

उस युग के युवाओं का प्रतिनिधित्व ऋषि कपूर की 'बॉबी' (1973), 'जूली'(1975), 'रोटी कपड़ा और मकान' (1974), 'कभी–कभी' (1976) जैसी फिल्मों में ज्यादा अच्छे तरीके से चित्रित किया गया है। इसी क्रम में 'गोलमाल' (1979) की भी चर्चा करनी चाहिए और 'आंधी' (1975) की भी।

जहाँ तक युवा आक्रोश की बात है यह 'मेरे अपने'(1971) में ज्यादा विश्वसनीय है। परंतु हिंदी सिनेमा के आलोचकों को यह सब दिखाई नहीं देता। वे मार्क्सवादी खेमे में सुनीसुनाई गप्प को यथार्थ मान कर हिंदी सिनेमा के आलोचक बने हुए हैं। ऐसे आलोचकों को 'आंख का अंधा नाम नयन सुख' भी कह सकते हैं। क्योंकि न तो भारतीय समाज और न ही मध्यवर्ग में आक्रोशित युवा, बहुसंख्या में थे। मानना पड़ेगा कि हिंदी सिनेमा के आलोचक एवं हिंदीभाषी समाज के विद्वान दुनिया के सबसे बेशरम लोग रहे हैं। जिन्होंने अपनी विचारधारा के आधार पर हिंदी सिनेमा एवं समाज का विश्लेषण किया है। ये लोग इतने बेशरम, झूठे, मक्कार एवं ढीठ हैं कि इनकी रचनाओं का गंभीर अध्ययन करना या इनसे संवाद बनाना एक प्रकार का पागलपन है। यही कारण है कि मार्क्सवाद जैसी ऊर्जावान विचारधारा, इन लोगों की काली करतूतों के कारण, रचनात्मक भूमिका अदा करने से चूक गई और इसका मौका उठाकर अमेरिकी गिरोह ने अपनी विचारधारा को भारतीय जमीन पर सफलता–पूर्वक ठोक दिया। जिन्हें डॉलर सिनेमा के रूप में 1991 के उदारीकरण के बाद भारतीय समाज पर एक मात्र विकल्प के रूप में लादा गया।

यदि मार्क्सवादी आलोचकों ने गंभीरता एवं ईमानदारी से अपने कर्तव्य का पालन किया होता तो अमेरिकी लॉबी को भारतीय समाज पर उदारीकरण लादने एवं भारतीय सिनेमा में डॉलर सिनेमा रोपने में काफी मुश्किल होता।

'दीवार' भारतीय सिनेमा के इतिहास की एक अनोखी घटना थी। पहली बार संगठित अपराध ने सिनेमा के रचनात्मक संसार का अपनी 'सॉफ्टपावर' के रूप में सफल इस्तेमाल किया। इसकी सफलता ने हिंदी सिनेमा की मुख्यधारा को अपने लौहपाश में जकड़ लिया। इस सॉफ्टपावर के आका बदलते गए : हाजी मस्तान से दाऊद इब्राहिम, बाल ठाकरे से प्रमोद महाजन, राज ठाकरे से अनिवासी भारतीय सिंडिकेट। लेकिन इन आकाओं के इशारों पर नाचने वाला 'एक सॉफ्टपावर' यानि भारतीय नौकरशाही (जो सेंसर बोर्ड और एन. एफ. डी. सी. जैसी संस्थाओं के माध्यम से फिल्म निर्माण, वितरण और सिनेमाघरों में प्रदर्शन) से ज्यादा प्रभावी नियंत्रण करने लगा था। इसके कई स्थूल रूप आसानी से पहचाने जा सकते हैं। जैसे नामी निर्माता, निर्देशक, लेखक, स्टार, संगीतकार आदि को 'भरत भाई शाह' नामक एक नए ब्रांड की लगातार जरूरत पड़ने लगी। भरत भाई शाह जैसे अनेक, सॉफ्टपावर के पीछे धन, बल, हिंसा, भय, लालच का तिलिस्मी संसार चलाने वाले लोगों ने 1975 से 2012 तक न सिर्फ भारतीय सिनेमा बल्कि भारतीय राजनीति, भारतीय अर्थव्यवस्था और सार्वजनिक विमर्शों को प्रिंट तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में निर्णायक स्तर तक प्रभावित किया।

इसी सॉफ्टपावर (1975–2012) को सोशल मीडिया और नए माफिया सिंडिकेट ने 2012 से 2018 के बीच ध्वस्त कर, एक नई सांस्कृतिक जमीन तैयार की है। यह जमीन भी उतनी ही फिसलन भरी है, जितना 1975 से 2012 तक की सिनेमाई जमीन थी। यदि 1975 की यश चोपड़ा की फिल्म 'दीवार' से 2012 के यश चोपड़ा की ही 'जब तक है जान' तक के कालखंड में बनी हिंदी फिल्मों के पर्दे पर एक सिनेमाई विरासत को कण्ट्रोल करने वाली शक्तियों में खूनी संघर्ष हो रहा था तब भी इनके आर्थिक, तकनीकी और क़ानूनी सरोकारों में एक (कॉमन) साझी सिनेमाई भाषा थी।

किसी भी देश में सिनेमा की भाषा बोली गयी भाषा तक सीमित नहीं होती। जब से सिनेमा का जन्म हुआ (1896) तब से सिनेमाई भाषा बोले हुए शब्दों की मोहताज़ नहीं रही। सिनेमा की चाक्षुष भाषा मूलतः पारम्परिक कला की भाषा ही रही है। यह जन्म से ही लोक नाट्य एवं लोक संस्कृति की कलात्मक विरासत से ऊर्जा ग्रहण करती रही है। जहाँ तक यूरोपीय सिनेमा का सवाल है या भारतीय, जापानी जैसे गैर यूरोपीय सिनेमाई भाषा का सवाल है, इसे हॉलीवुड के सिनेमाई भाषा से अलग करके देखना ही उचित है। सवाक फिल्मों से पहले सिनेमा बनाने वाले करीब–करीब सभी देशों में जो मूक फिल्मों का दौर रहा है वह उस देशकाल के सन्दर्भ में ही विकसित

हुआ। इसे सामान्यतः प्रकृति एवं शरीर की भाषा द्वारा लय–ताल के माध्यम से, आंसुओं एवं मुस्कान के माध्यम से, पारम्परिक महाकाव्यों में वर्णित नायक, खलनायक, नायिका, खलनायिका, विदूषक एवं सूत्रधार के चिर–परिचित सौंदर्य–शास्त्र से संचालित किया जाता रहा है।

उदाहरण के लिए सिनेमा से पहले व्यावसायिक नाटकों की संरचना में मोटे तौर पर चार परम्पराओं का उल्लेख किया जा सकता है। भारत में भरतमुनि की नाट्य–शास्त्रीय परंपरा, यूनान (ग्रीस) में अरिस्टोटल और प्लेटो के काव्यशास्त्र एवं कला–शास्त्र की परंपरा, यहूदियों के (ज्यूज) हेब्रू कला के सिद्धांत तथा पैगन ईरान (परशिआ) की कला संरचना विन्यास की परंपरा।

आनंद केंटिश कुमारस्वामी जैसे कला इतिहासकारों ने इन चारों परम्पराओं में सहधर्मिता (होमोलॉजी) तथा समानधर्मिता स्वीकार की है। सहधर्मिता का अर्थ समरूपता नहीं है। उदाहरण के लिए किसी भाव की अभिव्यक्ति भारत, ईरान, यूनान एवं यहूदियों में अलग–अलग रूपों में हो सकती है, जैसे एक ही भाव की अभिव्यक्ति भारत में सगुण–निर्गुण सम्प्रदाय के लोग अलग–अलग ढंग से करते हैं। आदिवासी समुदाय एवं सामंतवादी समुदाय अलग–अलग तरीके से करते हैं। उदाहरण के लिए 'दीवार' फिल्म में अमिताभ बच्चन एवं भगवान शिव के मूर्ति के बीच में जो संवाद है वह दुनिया के किसी भी धार्मिक समुदाय में संभव नहीं है।

उत्तर मध्यकालीन यूरोप में व्यावसायिक थिएटर कंपनी अपनी कला को लोकप्रिय तो बनाना चाहती थी लेकिन लाभ और लोभ की यूरोपीय परंपरा या मर्यादा रेखा का उल्लंघन नहीं कर पाती थी क्योंकि उन्हें पवित्र रोमन संप्रदाय के पोप एवं उनके अधिकारियों के द्वारा दण्डित किये जाने का भय होता था। मध्य युग की नाटक एवं कला परंपरा को, दांते के डिवाइन कॉमेडी से लेकर शेक्सपीयर के द्वारा संकलित, संपादित एवं प्रस्तुत किये गए नाटकों की, संरचना में भी देखा जा सकता है। प्राचीन काल के महर्षि वेदव्यास की तरह, अंग्रेजी साहित्य के बचपन में शेक्सपीयर ने भी अपने जन्म से पहले उपलब्ध लोक कथाओं एवं आख्यानों का, अपने युग के लिए मात्र संकलन एवं संपादन किया था। परन्तु दुर्भाग्य से शेक्सपीयर को मौलिक नाटककार मान लिया गया और अज्ञानतावश उनकी तुलना संस्कृत के महान नाटककार कालिदास से की जाने लगी।

संस्कृत साहित्य के विद्वानों का मानना है कि कालिदास ने कुमारसम्भव महाकाव्य में शिव पार्वती के प्रेम को दिखलाने में संस्कृत साहित्य के कन्वेंशन (कला

निरूपण की नैतिक मर्यादा द्वारा बनायी गयी – साची भाषा) का अतिक्रमण किया था। इसके फलस्वरूप प्रकृति ने उन्हें दण्डित किया और वे कुष्ठ रोग से बहुत घृणित अवस्था को प्राप्त कर मरे। इसे प्रकृति का न्याय कहा जाता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी यहूदी विद्वान इमाईल दुर्खीम का कहना है कि कलात्मक स्वतंत्रता के नाम पर पारंपरिक नियमों को तोड़ना एक आधुनिक चलन है और इसके दूरगामी परिणाम होते हैं।

2012 से भारतीय सिनेमा में एक नए युग का सूत्रपात होता है जो नीति और अनीति के अंतर को मिटा देता है। जो कास्टिंग के कन्वेंशन को नहीं मानता । उसे अनैतिक एवं अवैध को नया नैतिक एवं नयी वैधता कहने का दुस्साहस प्राप्त है। इसके बावजूद समाज उसे अपने बीच स्वीकारता नजर आता है। शर्म और मर्यादा की पुरानी भाषा अब अर्थहीन हो गयी है। एक ओर यदि यह महेश भट्ट और पूजा भट्ट के 'जिस्म–2' में दिखता है तो दूसरी ओर यह अरविन्द केजरीवाल और अमित शाह में दिखता है। उदाहरण के लिए 'जिस्म–2', 'बी. ए. पास' या 'हेट स्टोरी' जैसी फिल्मों की तरह पहले भी महत्वपूर्ण फिल्में बनी थीं । परन्तु उन फिल्मों में पुरानी भाषा एवं कन्वेंशन की सीमा रेखा स्वीकार की गयी थी। शम्मी कपूर द्वारा निर्देशित 'मनोरंजन' (1974), राजेंदर सिंह बेदी द्वारा निर्देशित 'दस्तक' (1970), बाबू राम इशारा द्वारा निर्देशित 'चेतना' (1970), 'जिस्म–2' , 'बी. ए. पास' या 'हेट स्टोरी' जैसे विषयों पर ही आधारित महान कलात्मक फ़िल्में थीं। जबकि 'जिस्म–2 केवल इसलिए चर्चित हुई क्योंकि इसमें एक लोकप्रिय हार्ड कोर पोर्न स्टार को मुख्य फिल्म में नायिका बनाया गया।

उसी तरह ऐसा माना जाता है कि जवाहरलाल नेहरू ने महात्मा गाँधी का तथा मोरारजी देसाई इत्यादि ने जयप्रकाश नारायण का अपनी सत्ता के लिए इस्तेमाल किया था। परन्तु जिस तरह अरविन्द केजरीवाल ने अन्ना आंदोलन का अपनी सत्ता के लिए इस्तेमाल किया था, अमित शाह ने संघ एवं भाजपा का इस्तेमाल किया उसकी तुलना जवाहरलाल नेहरू और मोरारजी देसाई से नहीं की जा सकती है। उसी प्रकार यश चोपड़ा ने जाने–अनजाने जो अनैतिक कार्य किया कि एक माफिया के आभामण्डल विस्तार के लिए अपनी कलात्मक सेवाएं गिरवी रखीं, उसकी तुलना महेश भट्ट की 'जिस्म–2' से नहीं की जा सकती। 'दीवार' फिल्म से पहले अमिताभ बच्चन मुख्य धारा के एक मुख्य अभिनेता हो चुके थे और 'दीवार' फिल्म करने से अमिताभ बच्चन के कॅरियर पर बहुत ज्यादा फर्क नहीं पड़ा। न ही यश चोपड़ा को इस फिल्म के बाद अस्वीकार किया गया। परन्तु 'जिस्म–2' ने एक हार्ड कोर पोर्न स्टार को मुख्य धारा के हिंदी सिनेमा में स्थापित किया और इससे सनी लीओन को

जबरदस्त फायदा हुआ। इस फिल्म को बनाने के बाद सिनेमा के विमर्श के साथ–साथ, मीडिया के सार्वजनिक विमर्श में भी, महेश भट्ट की नैतिक आभा समाप्त हो गयी। बाल ठाकरे के अन्य अनुयायीयों को महेश भट्ट ने मुख्य धारा के सिनेमा के नियंत्रणकर्त्ता के रूप में स्थापित कर दिया। यह सबसे स्पष्ट रूप से 'ये दिल है मुश्किल' (2016) के प्रदर्शनों से स्थापित हुआ। जब पूरे फिल्म उद्योग को और सरकारी मशीनरी को पूरे प्रयास के बावजूद, राज ठाकरे के दरबार में हाथ जोड़ कर खड़ा रहना पड़ा। तब महेश भट्ट जैसे लोग कुछ नहीं कर पाए। आज इनकी औकात फ़िल्मकार के रूप में या समाज के कला संरक्षक के रूप में समाप्त हो गयी है।

हिंदी सिनेमा और भारतीय समाज में 2012 से 2018 के बीच साझी सहमति की यह सिनेमाई भाषा मर चुकी है। सोशल मीडिया, टी. वी. डिबेट और प्रिंट मीडिया पर यह साझी भाषा लगातार घायल होती रही। हर तरह के सामाजिक प्रतिनिधियों ने इस साझी भाषा पर खंजर चलाए। फलस्वरूप इस भाषा के मरने के बाद 2018 – 2019 से हॉलीवुड की फिल्मों को भारतीय सिनेमा से, टिकट खिड़की पर कोई खतरा नहीं है। सिनेमा संस्कृति में हम इतने दरिद्र कभी नहीं थे। अब भारत में भी ग्लोबल कैपिटल (वैश्विक पूंजी) का मायाजाल, एक भदेस, फूहड़ और आक्रामक जुनूनी मुहावरों की ठसक के साथ, सार्वजनिक स्थानों और जनसंचार के विविध माध्यमों पर हावी होता जा रहा है। इससे भारतीय समाज, संस्कृति और सिनेमाई सृजन का हर पक्ष प्रभावित हो रहा है।

एक करोड़ चौंतीस लाख आप्रवासी भारतीयों की डॉलर ताकत के कारण, भारतीय शिक्षा के कार्यक्रम में, पश्चिम की भोंडी नकल की जा रही है और बॉलीवुड में डॉलर सिनेमा बनाया जा रहा है जिसकी कमाई सौ करोड़ रुपये से ज्यादा होती है। भारतीय मध्यवर्ग के जीवन में अमेरिकन शैली दिन–ब–दिन लोकप्रिय हो रही है। अतः शहरों में एक पीढ़ी तैयार हो गई है, जो बर्गर खाती है और अमेरिकन फिल्मों व सीरियल को भारतीयता पर तर्ज देती है। इन दर्शकों की शुरुआती पसंद (1994–2005) को आदित्य चोपड़ा, करण जौहर और संजय लीला भंसाली ने भुनाया था। लेकिन बाद में राजकुमार हीरानी, अनुराग बसु और जोया अख्तर का आगमन हुआ। सूरज बड़जात्या, आशुतोष गोवारिकर प्रतिभा होने के बावजूद मध्यवर्गीय दर्शकों की कसौटी पर पिछड़ गये। विपुल शाह और इम्तियाज अली शुरुआती असफलता के बाद सफल हुए, लेकिन बाद में भटक गये। उदाहरण – 'लंदन ड्रीम्स'(2009), 'रॉक स्टार'(2011), 'हाइवे'(2014)।

फिर आनंद राय, शुजीत सरकार, सुजय घोष और हबीब फैजल जैसे ठेठ हिन्दुस्तानी ठाठ से संपन्न, माटी से जुड़े फिल्मकार जिन्होंने हॉलीवुड के अश्वमेध रथ को 2010 के आसपास रोकना शुरू किया था लेकिन उन्हें बड़ी सफलता 2015 में ही मिली। हीरानी को बड़ी सफलता 2009 में मिली जबकि 2006 से वे चर्चा में थे।

2012 में जो गुणात्मक बदलाव आया वह एक ओर अन्ना आंदोलन, अरविन्द केजरीवाल और नरेंद्र मोदी पर केंद्रित सार्वजनिक जुनून में अभिव्यक्त हुआ तो दूसरी ओर भट्ट कैंप की फिल्म 'जिस्म–2' (2012, पूजा भट्ट/महेश भट्ट), 'हेट स्टोरी' (2012, विक्रम भट्ट/विवेक अग्निहोत्री), 'बी. ए. पास' (2012, अजय बहल) जैसी हिंदी फिल्मों में अभिव्यक्त होना शुरू हुआ। 'संजू' (2018, राजू हिरानी/विधु विनोद चोपड़ा) की विराट सफलता ने 'जिस्म 2' से शुरू हुए नए ट्रेंड को, 1975 के 'दीवार' फिल्म की तरह एक नया मानक स्थापित कर दिया।

इस नए ट्रेंड की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति 2019 के लोकसभा चुनाव के प्रचार अभियान में हो रही है। भारत में यदि मिल्टन का पुनर्जन्म हो गया होता तो उसे भारतीय सिनेमा के पतन पर एक नया 'पैराडाइज लॉस्ट' (मिल्टन की अमरकृति) लिखना पड़ता और वह तुलसीदास को ललकारता कि अब रामचरित मानस के नायक, खलनायक, नायिका, खलनायिका की मर्यादा नए पाठकों और दर्शकों को समझाने की हिम्मत दिखलाइये। भरतमुनि यदि होते तो अपने हाथों से नाट्यशास्त्र का दाह–संस्कार करते और जल–समाधि ले लेते।

❑❑❑

भारत में सिनेमा एवं राजनीति

भारत में सिनेमा एवं राजनीति प्रारम्भ से ही एक दूसरे पर पूरी तरह निर्भर रहे हैं। भारत के प्रथम फ़िल्मकार दादा साहब फालके अपने समय के सर्वाधिक प्रतिष्ठित राजनीतिज्ञ बाल गंगाधर तिलक की राजनीतिक योजना के तहत राजा रवि वर्मा के सहायक बने थे। राजा रवि वर्मा को तिलक महाराज ने मुंबई बुलाया था और उन्हें हिन्दू देवी–देवताओं की पेंटिंग बना कर, उस समय नयी–नयी लोकप्रिय हुई, लिथो प्रेस तकनीक द्वारा कैलेंडर छाप कर पूरे भारत के घरों में उपलब्ध करवाने का काम सौंपा था। तिलक महाराज ने ही इस योजना हेतु आर्थिक व्यवस्था भी की थी । बाद में दादा साहब फालके भी इसी योजना के तहत राजा रवि वर्मा के साथ जुड़ गए थे।

तिलक महाराज की यह योजना सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को, लोकप्रिय आकर्षक रंगीन कैलेंडरों के माध्यम से, भारत के हर परिवार में पहुंचाने की थी। यह योजना उन्होंने गणेश महोत्सव शुरू करने के बाद बनायी थी। तिलक महाराज से पहले भारत में गणपति या गणेश महोत्सव इतने भव्य पैमाने पर नहीं होता था। जिस तरीके से तुलसीदास एवं समर्थ रामदास ने हनुमान मंदिर और उससे जुड़ा अखाड़ा उत्तर भारत के हर गांव, मुहल्ले एवं चौराहे पर बनवाया था। इसी प्रकार तिलक महाराज ने एक गांव, एक कुआँ और एक गणपति की प्रथा का आरम्भ किया था। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का यह विचार कांग्रेस पार्टी की स्थापना के बाद लोकमान्य तिलक, बिपिन चंद्र पाल और लाला लाजपत राय आदि के कांग्रेस पार्टी में प्रमुख स्थान प्राप्त करने के बाद प्रेरणादायी बना। बाल, पाल और लाल को कांग्रेस के तथाकथित गरम दल का नेता माना जाता है। इनसे पहले की पीढ़ी के दादाभाई नौरोजी, एन. के. दत्त, फिरोज शाह मेहता, सुरेंद्र नाथ बनर्जी एवं गोपाल कृष्ण गोखले की पीढ़ी को नरम दल कहा जाता है।

नरम दल के लोगों ने आर्थिक राष्ट्रवाद की नींव डाली। जबकि गरम दल के लोगों ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की नींव डाली। भारत में सिनेमा का विकास सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रोजेक्ट के तहत भारत के विभिन्न शहरों में एक सांस्कृतिक उपकरण अथवा व्यवसाय के रूप में विकसित हुआ। भारत में फिल्म निर्माण की प्रक्रिया यूरोप या अमेरिका से गुणात्मक रूप से अलग रही है। यूरोप एवं अमेरिका में फिल्म निर्माण एक संगठित सांस्कृतिक उद्योग की तरह एक खास शहर को केंद्र बनकर हुआ। भारत में फिल्म निर्माण की प्रक्रिया आज 2019 के अगस्त महीने में भी पूरी तरह संगठित उद्योग नहीं कहा जा सकता। सन् 2000 से पहले तो भारत सरकार भी इसे उद्योग नहीं मानती थी। फलस्वरूप इस माध्यम को सरकारी सेंसर का सामना करना पड़ता था, लेकिन अन्य उद्योगों को मिलने वाली सुविधायें न सन् 2000 से पहले मिलीं, न आज भी मिल पाती हैं। परन्तु अटल बिहारी वाजपेयी के प्रयास से एन.डी.ए. की सरकार ने इसे उद्योग का क़ानूनी दर्जा देकर कुछ सुविधाएं सन् 2000 से देना शुरू किया, परन्तु आज भी अधिकांश राज्य सरकारों का सिनेमा के प्रति उत्साहवर्धक दृष्टिकोण नहीं है। हॉलीवुड की तरह भारत में 1913 से 2019 तक भारत में भारतीय सिनेमा या कम से कम हिंदी सिनेमा का एक भी केंद्र नहीं है। बॉम्बे प्रेसिडेंसी में सिनेमा का पहला स्टूडियो नासिक में बना था। यह दादा साहब फाल्के ने बनाया था। कोल्हापुर में फिल्म निर्माण की पूरी प्रक्रिया बाबूराव पेंटर और उनके शिष्यों के इर्द–गिर्द घूमता था। परन्तु वहां स्टूडियो जैसी चीज विकसित नहीं हुई। बाबूराव पेंटर के शिष्यों ने पुणे में प्रभात स्टूडियो बनाया। उस वक्त के बॉम्बे में अर्देशिर ईरानी, सोहराब मोदी, वाडिया ब्रदर्स, चंदूलाल शाह और इनसे भी पहले मदान ने अपना स्टूडियो विकसित किया था। परन्तु फिल्म निर्माण, वितरण और प्रदर्शन की प्रक्रिया से सारे लोग स्टूडियो के सवैतनिक कर्मचारी नहीं होते थे। बहुत सारा काम फ्रीलांसर्स करते थे जो निर्माण के समय अपना काम करने आते थे और काम पूरा करके अपने–अपने सांस्कृतिक परिवेश में लौट जाते थे।

इसी तरह उस वक्त के कलकत्ता प्रेसिडेंसी में कलकत्ता में प्रमुख स्टूडियो (जैसे बी. एन. सरकार की न्यू थिएटर्स) और निर्माता–निर्देशक अवश्य रहते थे परन्तु कई लोग काम समाप्त करके अपने सांस्कृतिक परिवेश में लौट जाते थे। उदाहरण के लिए न्यू थियेटर में देबकी बोस, नितिन बोस, के.सी.डे., पंकज मालिक तो कलकत्ता में रहते थे परन्तु पी.सी. बरुआ, आर.सी. बोराल, कुन्दनलाल सहगल, पृथ्वीराज कपूर, दुर्गा खोटे, केदार शर्मा, पंडित इंद्र, डी.एन. मधोक न्यू थियेट्र्स में काम करने के बाद अपने–अपने सांस्कृतिक परिवेश में लौट जाते थे।

इसी तरह लाहौर के फिल्म उद्योग के केंद्र में रूप. के. शौरी, दलसुख पंचौली, ए. आर. कारदार, गुलाम हैदर और अभिनेता प्राण अवश्य रहे थे, परन्तु नौशाद, जोहराबाई अम्बालेवाली, अमीरबाई कर्नाटकी, शमशाद बेगम, तलत मेहमूद, मुहम्मद रफ़ी, उमा देवी और लता मंगेशकर बाहर से काम करने आती थीं और काम करके चली जाती थीं।

मद्रास प्रेसिडेंसी में तीन स्टूडियो सबसे बड़े थे एस. एस. वासन का जेमिनी स्टूडियो और मयप्पन की ए. वी. एम., एल. वी. प्रसाद की प्रसाद स्टूडियो। लेकिन काम करने के लिए त्रावणकोर, मालाबार, मैसूर, हैदराबाद और उत्तर भारत के लोग भी आते–जाते रहते थे। उदाहरण के लिए त्रावणकोर और हैदराबाद तथा मैसूर से मशहूर नृत्यांगनाएं आती थीं तो लेखक, गीतकार उत्तर भारत से आया करते थे। जबकि नायक–नायिका का चुनाव व्यावसायिक आधार पर स्टार–सिस्टम के आधार पर तय होता था।

स्वतंत्रता से पहले बॉम्बे टॉकीज के हिमांशु रॉय, देविका रानी और शशधर मुखर्जी तथा अर्देशिर ईरानी के शिष्य मेहबूब खान एवं रणजीत मूवीटोन के चंदूलाल शाह ने नए टैलेंट को खूब मौका दिया। फिर कारदार, बिमल रॉय, केदार शर्मा और शांताराम भी धीरे–धीरे बंटवारा के बाद बॉम्बे आ गए। कलकत्ता–लाहौर का उद्योग धीरे–धीरे उजड़ गया। परन्तु बॉम्बे, पुणे और मद्रास में हिंदी फिल्में बाद में भी बनती रहीं।

सिनेमा सामान्यतः उन्हीं शहरों में विकसित हुआ जो स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान काँग्रेस पार्टी के महत्त्वपूर्ण केंद्र थे। उदाहरण के लिए बॉम्बे प्रेसीडेंसी में बॉम्बे, नासिक, कोल्हापुर, पुणे जैसे शहरों में सिनेमा शुरू हुआ। उसी तरह कोलकाता प्रेसीडेंसी में फिल्म निर्माण के प्रमुख केंद्र कलकत्ता, ढाका, त्रिपुरा तथा आसाम बने। मद्रास प्रेसीडेंसी में फिल्म निर्माण का प्रमुख केंद्र मद्रास तो था ही लेकिन त्रावणकोर, मालाबार, मैसूर तथा हैदराबाद में भी सिनेमाई हलचल होने लगी। भारतीय सिनेमा का चौथा महत्त्वपूर्ण केंद्र उन इलाकों में पनपा जहाँ जमींदारी प्रथा के बदले अंग्रेजों ने महलवारी प्रथा विकसित की थी। ऐसे केंद्रों में सबसे प्रमुख स्थान लाहौर (पंजाब) में सिनेमा विकसित हुआ।

मोटे तौर पर 1913 से लेकर 1966 तक फिल्म बनाने वाली ज्यादातर कम्पनियाँ काँग्रेस पार्टी के प्रभाव में थीं, कुछ कंपनियां अराजनीतिक पारसी समुदाय के लोगों की भी थीं। परन्तु इन कंपनियों में काम करने वाले ज्यादातर लोग भारतीय

कम्युनिस्ट पार्टी तथा सूफी सिलसिला के द्वारा संगठित, प्रशिक्षित तथा अनुशासित थे। फलस्वरूप गाँधी युग में 1919 से 1948 तक फिल्मों के निर्माण में कांग्रेस पार्टी से जुड़े व्यवसायियों या कांग्रेस पार्टी के समर्थकों का धन लगा था। परन्तु सिनेमा माध्यम के प्रति महात्मा गाँधी की व्यक्तिगत उदासीनता तथा जवाहरलाल नेहरू के सिनेमा के प्रति व्यक्तिगत लगाव के कारण, भारतीय सिनेमा के ज्यादातर लेखक या तो सूफी थे या जवाहरलाल नेहरू की तरह वामपंथ से प्रभावित काँग्रेसी थे या भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा नियंत्रित इप्टा (इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन) के सक्रिय तथा जुनूनी सदस्य एवं कार्यकर्ता थे। अपवादस्वरूप कुछ लोग जैसे कि बाल गंगाधर तिलक, बंकिम चंद्र, शरत चंद्र, रविंद्रनाथ टैगोर, चैतन्य महाप्रभु, विवेकानंद, श्री अरविंदो, दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज, दादा भाई नौरोजी एवं पारसी थिएटर से जुड़े लोग भी सक्रिय थे।

डी.एम.के. पार्टी की स्थापना यूं तो 1949 में हुई थी। सी.एन. अन्नादुराई ने अपना पहला नाटक द्रविड़ कड़गम पार्टी में रहते हुए 1948 में ही लिखा था। लेकिन इन नाटकों और इनकी फोटोग्राफियों का कोई ज्यादा प्रभाव तमिल सिनेमा या तमिल समाज पर नहीं पड़ा। इसका कारण यह था कि उस वक्त तमिलनाडु में कांग्रेस पार्टी सत्ता में थी और कांग्रेस के बड़े नेता सी. राजगोपालाचारी और के. कामराज, सिनेमा और राजनीति को एक साथ मिलाकर देखने के पक्ष में नहीं थे। इन दोनों के मन में सिनेमा का उपयोग राजनीतिक आंदोलन या राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने के लिए एक प्रकार का अनैतिक कदम था। फलस्वरूप सी.एन. अन्नादुराई और पेरियार के भतीजे संपत द्वारा लिखे नाटकों का अधिक प्रभाव नहीं हुआ।

जब पहली बार 'पराशक्ति' फिल्म बनाई गई, जिसे करुणानिधि ने पटकथा के रूप में लिखा था, इसके निर्माता सी.एन. अन्नादुराई ही थे। इस फिल्म का प्रथम प्रदर्शन 1952 में हुआ। क्योंकि सेंसर बोर्ड ने इस फिल्म के महत्वपूर्ण हिस्सों को आपत्तिजनक मान कर काटने का आदेश दिया था इसलिए 1952 में यह फिल्म बॉक्स ऑफिस पर घोर असफल साबित हुई। बाद में इस फिल्म की पटकथा दुबारा लिखी गई और 1967 के चुनाव से पहले सी.एन. अन्नादुराई के नाटकों और इस फिल्म के नए संस्करण के सफल प्रदर्शन ने तमिल राजनीति को हमेशा के लिए बदल दिया। डी.एम.के. पार्टी ने नाटकों के द्वारा जो पैसा जमा किया था उस पैसे से पार्टी का दफ्तर खरीदा गया। बाद में जब 'पराशक्ति' फिल्म सफल हो गई तो डी.एम.के. फिल्म्स को एक व्यावसायिक स्वरूप दिया गया।

इस प्रकार भारत के सिनेमा इतिहास में नयी धारा का जन्म हुआ। तब सी. एन. अन्नादुराई ने 1966 में पार्टी कार्यकर्ताओं के चंदे से द्रविड़ विचारधारा एवं प्रचार के लिए 'डीएमके फिल्म्स' नामक नयी फिल्म कंपनी का निर्माण किया था। पार्टी के चंदा देने वाले सभी कार्यकर्त्ता इसके शेयर होल्डर बने थे। इस फिल्म कंपनी द्वारा जिन फिल्मों का निर्माण हुआ उसके सभी व्यावसायिक पहलुओं की जिम्मेदारी केवल पार्टी कार्यकर्ताओं को दी गयी थी। इस तरह सी. एन. अन्नादुराई और उनके व्यक्तिगत असिस्टेंट के. करुणानिधि ने, बिना पैसे के केवल सिनेमा के द्वारा, पूरे तमिलनाडु में न सिर्फ द्रविड़ विचारधारा को फैलाया था बल्कि विचारधारा से जुड़े सक्रिय कार्यकर्ताओं की पारिवारिक ज़िम्मेदारी उठाने के लिए आर्थिक व्यवस्था का बंदोबस्त भी तमिल अर्थव्यवस्था से सदा के लिए जोड़ दिया था।

अगस्त 2016 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हुए एक राष्ट्रीय सेमिनार में प्रसिद्ध फिल्म निर्माता एवं विद्वान भारत बाला ने दस्तावेजों के आधार पर यह दावा किया कि सी. एन. अन्नादुराई एवं के. करुणानिधि के द्वारा चलाई गयी सिनेमाई रणनीति का परिणाम यह हुआ कि दोनों द्रविड़ पार्टियों डी. एम. के. तथा ए. आइ. डी. एम. के. की मर्जी और इजाजत के बिना व्यावसायिक फिल्मों का निर्माण, वितरण या प्रदर्शन आज भी (2016 में) संभव नहीं है क्योंकि फिल्म वितरण और फिल्म के सिनेमा हॉल में प्रदर्शन या टेलीविजन पर प्रसारण की प्रत्येक आर्थिक गतिविधि पर सी. एन. अन्नादुराई की दोनों पार्टियों एवं कई फिल्म कंपनियों का पूरे तमिलनाडु में करीब-करीब शत प्रतिशत नियंत्रण है। अभी-अभी संपन्न हुए लोकसभा के चुनाव (अप्रैल 2019) के परिणामों का विश्लेषण करते हुए समाजशास्त्री बासिल कुन्नथ फिलिप ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और उनकी भारतीय जनता पार्टी तथा नेशनल डेमोक्रेटिक अलायन्स को केवल वहीं छप्परफाड़ सफलता मिली है जहाँ बॉलीवुड में निर्मित मुख्यधारा की हिंदी फ़िल्में देखी जाती हैं। इसके विपरीत जिन-जिन प्रदेशों में क्षेत्रीय भाषा में निर्मित फ़िल्में लोकप्रिय हैं और दर्शकों में सिनेमा हॉल में जाकर फिल्म देखने की संस्कृति गहरी है वहां प्रधानमंत्री मोदी, बी.जे.पी. और नेशनल डेमोक्रेटिक अलायंस को या तो करारी हार का सामना करना पड़ा या खाता ही नहीं खुला या बहुत सीमित सफलता प्राप्त हुई। उदाहरण के लिए केरल, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश, तेलंगाना, उड़ीसा, बंगाल तथा उत्तर-पूर्व के कुछ राज्यों में।

यदि मोटे तौर पर देखें तो उत्तर भारत की राजनीति में, जिसे सामान्यतया हिंदी हृदय प्रदेश कहा जाता है, फिल्म की कहानी एवं पटकथा तथा संवादों का प्रभाव

निर्णयकारी होता है जबकि दक्षिण भारत की राजनीति में फिल्म कथानक की तुलना में 1980 के दशक से फ़िल्मी सितारों का प्रभाव निर्णायक है। उदाहरण के लिए उत्तर भारत में फ़िल्मी सितारे जब राजनीति में प्रवेश करते हैं तो उन्हें बहुत सीमित सफलता मिलती है। इसके विपरीत दक्षिण भारत में जब फ़िल्मी सितारे आते हैं तो उन्हें विराट सफलता मिलती है।

इसका एक बड़ा कारण ये है कि दक्षिण भारत की फिल्मों एवं पटकथा में भारत की संस्कृति एवं धर्म के स्वरूप के बारे में नकारात्मक बातें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हावी रहती हैं। फलस्वरूप दक्षिण भारत में स्थापित मंदिरों में श्रद्धालुओं की संख्या कम होती है जबकि दक्षिण भारत में फिल्म सितारों के मंदिर बनाए जाते हैं और उनके मरने पर सैंकड़ों लोग आत्महत्या कर लेते हैं।

दक्षिण भारतीय मंदिरों में जो भीड़ देखी जाती है उनमें भारत के अन्य स्थानों से तथा विदेश से आये भक्तों एवं श्रद्धालुओं की संख्या कई गुणा होती है। इसका एक कारण शायद रामास्वामी नायकर, ज्योतिबा फुले, भीमराव अम्बेडकर, सी.एन. अन्नादुराई, के. करुणानिधि, इ.एम.एस. नंबूदिरीपाद, एस. ए. डांगे जैसे समाज सुधारकों की धार्मिक पूजा पद्धति के बारे में किया गया आन्दोलन था। दूसरी ओर सेमेटिक धर्मों के मिशनों द्वारा हिन्दू धर्म के खिलाफ चलाया गया कुप्रचार या दुष्प्रचार था। तीसरा कारण दक्षिण भारत के समाज में धार्मिक मंदिरों की तुलना में सिनेमा का बहुत अधिक प्रभाव रहा है। चौथा कारण थोड़ा विचित्र है। दक्षिण भारत के सिनेमा में फिल्म निर्माण की पूरी प्रक्रिया में निर्माता हॉलीवुड की फिल्म स्टूडियो की तरह बहुत महत्त्वपूर्ण होता है और अपार लोकप्रियता प्राप्त हीरो को निर्माता अथवा निर्देशक के बनाये गए अनुशासन में काम करने की आदत होती है। उदाहरण के लिए हाल ही में लोकप्रियता के कीर्तिमान एवं प्रतिमान स्थापित करने वाली बहुत भाषाओं में एक साथ रिलीज़ तेलुगू फ़िल्मकार एस.एस. राजामौली की फिल्म 'बाहुबली–एक'(2015) एवं 'बाहुबली–दो' (2017) को पांच सालों में बनाया गया। इसमें काम करने वाले दक्षिण भारत के सभी सुपर सितारे पांच वर्षों के लिए अनुबंधित किये गए। इस बीच इन सुपर सितारों को कोई और फिल्म करने या विज्ञापन करने या किसी भी माध्यम में इंटरव्यू देने की मनाई थी। इन सारे सितारों ने पांच वर्षों तक इन नियमों का सहर्ष पालन किया। इस तरह का अनुशासन हिंदी सिनेमा में 1948 के बाद देखने को नहीं मिलता है। आज यह कल्पना की जा सकती है कि हिंदी में 'बाहुबली' जैसी फिल्म, राजामौली के बनाये नियमों को मानते हुए, बनाया जाना असंभव है।

उत्तर भारत के समाज में भी पारंपरिक स्वरूप के मंदिरों का प्रभाव बहुत ज्यादा है। इन मंदिरों में स्थानीय श्रद्धालु एवं भक्त अनन्य भक्ति–भाव से नियमित जाया करते हैं। एम. एन. श्रीनिवास के अनुयायियों का मानना है कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के अनवरत बढ़ते रहने के कारण भारतीय समाज, समुदाय एवं परिवार में धार्मिक क्रियाकलाप, धार्मिक विश्वास तथा धार्मिक कार्यक्रम लगातार बढ़ रहे हैं। प्रिंट, ऑडियो विज़ुअल, सोशल मीडिया और सरकारी संस्थाओं में भी धार्मिकता का प्रचार–प्रसार तेजी से बढ़ रहा है। इन सब प्रक्रियाओं को लोकप्रिय बनाने में तथा माहौल तैयार करने में हिंदी सिनेमा के निर्माता, निर्देशकों, लेखकों, गीतकारों तथा संगीतकारों की निर्णयकारी भूमिका रही है ।

लेकिन दक्षिण भारतीय सिनेमा की तुलना में हिंदी सिनेमा पर स्तरीय शोध, प्रशिक्षण तथा समीक्षा की भयानक कमी रही है। फलस्वरूप उपरोक्त बातों पर ज्यादातर उत्तर भारतीय पढ़े–लिखे लोगों की नासमझी एवं नादानी हास्यास्पद होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए बहुत लोग समझते हैं कि हिंदी सिनेमा के सुपर सितारे, कुंदन लाल सहगल से लेकर रणबीर सिंह तक, हिंदी सिनेमा में वे अपने निर्माता, निर्देशक, लेखक या रचनात्मक टेक्नीशियन पर अक्सर हावी रहते हैं और स्टूडियो सिस्टम के कमजोर पड़ने के बाद निर्माता, निर्देशकों, लेखकों, गीतकारों तथा संगीतकारों का हिंदी सिनेमा में महत्व कम हुआ है।

अगर गंभीरता से अध्ययन करें तो ध्यान में आता है कि उत्तर भारतीय समाज पर फिल्मों का दूरगामी लेकिन अर्धसजग प्रभाव पड़ता है। इस बात को हिंदी फिल्मों के तथाकथित लोकप्रिय समीक्षक तो बिलकुल नहीं समझ पाए। लेकिन स्वाधीनता आंदोलन से निकले स्वतंत्र भारत के अधिकांश काँग्रेसी शासकों ने न सिर्फ समझा बल्कि 1949 से (महात्मा गाँधी के निधन के बाद से ही) हिंदी सिनेमा की रचनात्मक ऊर्जा का, भारतीय राजनीति में सफलता पाने और सफलता बनाए रखने में, लगातार नीतिगत तथा निर्णायक इस्तेमाल किया। उदाहरण के लिए भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने, 30 जनवरी 1948 को महात्मा गांधी की हत्या के बाद, कांग्रेस संगठन की तुलना में, हिंदी सिनेमा का अपनी विचारधारा तथा प्रभाव बढ़ाने के लिए जमकर इस्तेमाल किया।

नरेन्द्र मोदी के स्वच्छता अभियान पर बनी फिल्म 'टॉयलेट एक प्रेमकथा'(2017) ने लगभग 134 करोड़ रुपये का शुद्ध लाभ कमाया। 'सुई धागा' (2018) फिल्म ने भी करीब 79 करोड़ रुपये कमाए। यह फिल्म कपड़ा सिलने के काम को गरिमा प्रदान करती है। भारतीय सेना द्वारा पाकिस्तान के आतंकवादी

ठिकानों को नष्ट करने की कथा पर आधारित 'उरी' (2019) ने करीब 244 करोड़ रूपये का नेट बिजनेस किया।

भारत के आजाद होने के बाद से ही ऐसी फ़िल्में बनती रहीं हैं जिनमें कांग्रेस पार्टी की आर्थिक तथा मजदूरों से जुड़े नियमों की प्रशंसा की जाती थी। इन फिल्मों में प्रधानमंत्री की योजनाओं, उपलब्धियों और उनके कार्यों आदि की खूब सराहना की जाती थी। कुछ फ़िल्में प्रधानमंत्री के कहने से भी बनाई गयीं। इसकी बड़ी मिसाल सन् 1964 में आई फिल्म 'हकीकत' भी है। यह भारत पर चीन के हमले के विषय पर बनी बहुत बड़े बजट की फिल्म थी। फिल्मकार चेतन आनंद द्वारा बनायी गयी यह फिल्म नेहरू युग में हुए भारत–चीन युद्ध को लेकर थी। चीन ने हिंदी–चीनी भाई–भाई का स्वांग रचकर भारत को धोखे में रख कर, अचानक 1962 में भारत पर हमला बोल दिया था। इससे भारत को काफी नुकसान हुआ और पंडित नेहरू भी इससे काफी आहत हुए थे। क्योंकि इस युद्ध में भारत की पराजय से जहाँ पंडित नेहरू की विदेश नीति और सक्षमता की आलोचना होने लगी वहां इस पराजय के लिए उन्हें ही पूरी तरह जिम्मेदार ठहराया जाने लगा था।

ऐसे में चेतन आनंद ने 'हकीकत' बनाकर दुनिया को दिखाया कि हमारी भारतीय सेना ने अपने शौर्य से किस तरह चीनी सेना का मुकाबला किया। हमारा एक–एक जाबांज सैनिक किस तरह से उनके सैकड़ों सैनिकों पर भारी पड़ा। लेकिन चीन की युद्ध योजना और हमारी शान्ति की नीतियों सहित, परिस्थितियां ऐसी बनीं कि हम यह युद्ध जीत नहीं पाए। इस तरह इस फिल्म से एक सन्देश यह भी गया कि पीएम नेहरू को ही इस पराजय के लिए जिम्मेदार ठहराना ठीक नहीं है। हालांकि चेतन आनंद ने बलराज साहनी, धर्मेन्द्र, प्रिया राजवंश, जयंत और विजय आनंद जैसे कलाकारों के साथ इस फिल्म को बहुत ही खूबसूरती से बनाया। फिल्म का गीत संगीत सभी कुछ इतना अव्वल है कि देश में युद्ध की पृष्ठभूमि पर बनी फिल्मों में, आज भी 'हकीकत' का स्थान बहुत ऊपर है। फिल्म की गिनती देश की चुनिन्दा कालजयी फिल्मों में होती है।

'हकीकत' में ऐसे कई संवाद थे जो दर्शाते थे कि चीन ने किस तरह भारत को धोखा दिया। ऐसा ही एक संवाद था– ''आज एक दोस्त ने बगल में छुरा घोंपा है। हमारा बुद्ध, अशोक, गांधी और नेहरू का देश शान्ति का प्रतीक जरूर है पर यह बुजदिली का कायल नहीं।'' हालांकि फिल्म पूरी होने के समय एक बड़ी घटना यह घटी कि तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू का निधन हो गया। यह देख चेतन आनंद बहुत दुखी हुए। लेकिन उन्होंने पंडित नेहरू की अंतिम यात्रा के दृश्यों

को भी अपनी फिल्म के अंत में जोड़ लिया।

मनोज कुमार को जिस फिल्म ने भारत कुमार बनाया और जिस फिल्म से वह निर्देशक बने वह फिल्म थी– 'उपकार'। साल 1967 में आई इस फिल्म ने लोकप्रियता और सफलता के तो नए आयाम बनाए ही, साथ ही देश भक्ति की फिल्मों को भी एक नयी धारा दी। लेकिन बहुत कम लोग जानते हैं कि 'उपकार' जैसी फिल्म बनाने की सलाह मनोज कुमार को तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने दी थी। असल में 'उपकार' फिल्म शास्त्री जी के नारे 'जय जवान जय किसान' पर आधारित थी। उन्होंने 'उपकार' को शास्त्री जी के कहने पर ही बनाया था। मनोज कुमार ने दिल्ली में फिल्म 'शहीद' के प्रीमियर पर, तब के प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री जी को, आमंत्रित किया था । लाल बहादुर शास्त्री जी ने निवेदन स्वीकार कर लिया। वह प्रीमियर पर आये और 'शहीद' देखने के बाद फिल्म की और मनोज कुमार की काफी तारीफ़ की। तभी उन्होंने मनोज कुमार से कहा, ''कोई ऐसी फिल्म बनाओ जो जवानों के साथ किसानों पर भी हो।'' मनोज ने एक साक्षात्कार में बताया था कि उन्हें शास्त्री जी का यह सुझाव पसंद आया और उन्होंने कहानी लिखनी शुरू कर दी, जिसका नाम 'उपकार' रखा गया। मनोज कुमार, आशा पारिख, कामिनी कौशल, प्रेम चोपड़ा और प्राण जैसे सितारों वाली फिल्म 'उपकार' भी भारतीय सिनेमा के इतिहास में मील का पत्थर है। मनोज कुमार ने इसकी पटकथा तो अच्छी लिखी ही, साथ ही अच्छे अभिनय, निर्देशन और गीत–संगीत के कारण यह फिल्म अमर हो गयी है।

सन 1971 में जब भारतीय सेना द्वारा पाकिस्तान को पराजित कर बांग्ला देश की स्थापना हुई, तभी फिल्मकार आई एस जौहर ने भी एक फिल्म 'जय बांग्लादेश' बना दी। यह फिल्म असल में पूर्वी पाकिस्तान में आज़ादी के लिए लड़ रहे इंकलाबियों की कहानी थी। तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने उन्हीं इंकलाबियों के समर्थन में भारतीय सेना को उतारकर पूर्वी पाकिस्तान को पश्चिमी पाकिस्तान से अलग कर आज़ाद बांग्लादेश की स्थापना करा दी थी।

जिस तरह इंदिरा गांधी ने बांग्लादेश को आज़ाद कराकर वहां के लोगों का साथ दिया था, वैसे ही आई एस जौहर ने वहां के लोगों की पीड़ा और उनके आज़ादी के आन्दोलन को सही ठहराकर उस पर यह फिल्म बना कर वहां के इंकलाबियों को भी सही ठहराया और इंदिरा गांधी को भी। बांग्लादेश आज़ाद होने के बाद यह फिल्म काफी लोकप्रिय हुई । इस फिल्म के प्रमुख कलाकारों में कावेरी चौधरी, अम्बिका जौहर, दिलीप दत्त, मधुमती और आई एस जौहर थे। 'जय बांग्लादेश' के गीत भी

काफी लोकप्रिय हुए थे जिसमें 'दुनिया वालो, छोटे से सवाल का जुल्म के फैले जाल का जवाब दो' के साथ 'जिंदगी तुमने लाखों की लुटाई होगी' और 'रुके न जो झुके न जो हम वो इन्कलाब हैं' शामिल हैं।

जिस तरह कुछ समय पहले यशराज फिल्म्स ने अनुष्का शर्मा और वरुण धवन को लेकर फिल्म 'सुई धागा' बनायी, जो पीएम मोदी के मेक इन इंडिया और स्किल इंडिया जैसे अभियान पर थी। कुछ ऐसे ही फिल्मकार श्याम बेनेगल ने भी प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के दौर में फिल्म 'मंथन' और प्रधानमंत्री राजीव गांधी के दौर में 'सुष्मन' फिल्म बनायी। सन् 1976 में प्रदर्शित 'मंथन' फिल्म इंदिरा युग में हुई गुजरात की दुग्ध क्रांति पर फोकस थी तो 1987 में आई 'सुष्मन' तब के हथकरघा उद्योग के विकास को लेकर थी। 'मंथन' में स्मिता पाटिल, गिरीश कर्नाड, अमरीश पुरी और नसीरूदीन शाह थे तो 'सुष्मन' में शबाना आज़मी, ओमपुरी, कुलभूषण खरबंदा, मोहन अगाशे आदि थे।

जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद उनके निकट सहयोगी एवं उत्तराधिकारी लाल बहादुर शास्त्री और इंदिरा गांधी ने न सिर्फ नेहरू की नीति जारी रखी बल्कि सिनेमा में सक्रिय मदद, प्रोत्साहन तथा राजनीतिक सहयोग बढ़ाया। इसका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण भारतीय सिनेमा के सितारों के विपरीत, हिंदी सिनेमा के सितारों तथा सुपर सितारों की तुलना में, उत्तर भारतीय नेता ज्यादा बड़े सुपर सितारे साबित हुए।

उदाहरण के लिए नेहरू युग के सबसे बड़े सुपर सितारे दिलीप कुमार की तुलना में देश एवं विदेश में जवाहरलाल नेहरू ज्यादा ग्लैमरस, ज्यादा लोकप्रिय तथा ज्यादा आभामय सुपर सितारा बनते गए। उनकी तुलना हिंदी सिनेमा में केवल निर्माता–निर्देशक राज कपूर से होती थी। भारत में जवाहरलाल नेहरू राज कपूर से भी ज्यादा लोकप्रिय, ग्लैमरस तथा आभायुक्त माने जाते थे। परंतु सोवियत संघ, कम्युनिस्ट चाइना तथा अन्य विदेशी समुदायों में, जवाहरलाल नेहरू एवं उनकी पुत्री इंदिरा गांधी को, राज कपूर की ज्यादा लोकप्रियता को स्वीकार करना पड़ा। फलस्वरूप इंदिरा गांधी जब प्रधानमंत्री बनीं तब उन्होंने अपने समय के सुपर सितारों शम्मी कपूर, राजेंद्र कुमार, धर्मेंद्र, राजेश खन्ना आदि से खुद को ज्यादा लोकप्रिय तथा आभायुक्त बनाया। इसके लिए उन्होंने नर्गिस दत्त, राज कपूर, लता मंगेशकर जैसी फ़िल्मी हस्तियों से स्टार बनने तथा बने रहने के तकनीकी गुण सीखे और अपनी सभी राजनीतिक योजनाओं को उसी तरह लॉन्च किया जिस तरह निर्माता निर्देशक अपने नए कलाकारों को लॉन्च करते थे।

इसी तकनीक का इस्तेमाल करने के लिए उन्होंने नेशनल फिल्म डेवलपमेंट कॉर्पोरेशन बनाई और नियमित रूप से प्रतिदिन एक फिल्म देखना शुरू किया। इंदिरा गांधी ने अपनी योजनाओं जैसे गरीबी हटाओ, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के प्रिवीपर्स खत्म करने की योजना, बांग्लादेश को स्वतंत्र कराने की योजना, इमरजेंसी लगाने का निर्णय, संजय गांधी को राजनीति के सुपर सितारों की तरह लॉन्च करने का निर्णय, ऑपरेशन ब्लू स्टार जैसे कार्यक्रमों को उसी सिनेमाई दक्षता से प्रस्तुत किया जो खूबियाँ उन्होंने अपने पिता और उनके फ़िल्मी दोस्तों वी. शांताराम, महबूब खान, एस. एस. वासन, राज कपूर, गुरुदत्त आदि से सीखी थीं।

इंदिरा गाँधी, लता मंगेशकर, नर्गिस दत्त तथा अपने पिता द्वारा लॉन्च किए गए और विदेशों में लोकप्रिय सत्यजित राय जैसे लोगों से सीखे गए हुनर से अपनी ब्रांड बनायी और एक मसिहाई नेता की तरह स्वयं को महिमामंडित करवाया। दूसरी ओर पंडित नरेंद्र शर्मा, अनिल विश्वास, अमीन सायानी, सुनील दत्त, बी. आर. चोपड़ा, रामानंद सागर, राही मासूम रजा जैसे लोगों को उम्दा काम करने के बावजूद हिंदी समीक्षकों और आलोचकों द्वारा नजरअंदाज किया गया। फलस्वरूप इन लोगों ने सिनेमा के साथ–साथ रेडियो एवं टेलीविजन में निर्णायक बढ़त हासिल करने के लिए तैयारी करना शुरू किया।

इस तैयारी का सुफल 1982 में रंगीन टेलीविजन पर लोकप्रिय धारावाहिकों के निर्माण एवं प्रसारण के क्रम में मिलना शुरू हुआ। परंतु इसका लाभ शासन में कांग्रेस पार्टी के होने के बावजूद, संघ परिवार ने उठाया। फलस्वरूप अनुभवी फिल्म निर्देशकों, लेखकों, गीतकारों, संगीतकारों के टीम वर्क से सजी लोकप्रिय धारावाहिकों की नैया पर सवार एक नई राजनीतिक पार्टी बीजेपी (1980 में जन्म), इंदिरा गांधी के निधन के पांच साल के भीतर 1989 में ही उत्तर भारत में, कांग्रेस से बड़ी पार्टी बन गई। पंद्रह साल में बी.जे.पी.,1999 में पूरे देश में कांग्रेस से बड़ी पार्टी बन गई और पैंतीस साल के अंदर 2019 में कांग्रेस के चार गुना से भी ज्यादा बड़ी पार्टी बन गई। दूसरी ओर दक्षिण भारत के लोकप्रिय सितारों ने अपनी पार्टियाँ बना लीं एवं बहुत कम समय में अपने–अपने राज्यों के मुख्यमंत्री बन गए।

बिना सिनेमा को इस्तेमाल किये भारतीय राजनीति में आपको न प्रादेशिक सफलता मिल सकती है न राष्ट्रीय। दक्षिण भारत में यदि आप लोकप्रिय सितारे हैं तो आप आसानी से सफलता प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन उत्तर भारत में राजनीति करने के लिए सुपर सितारा होना काफी नहीं है। फलस्वरूप सुनील दत्त, राजेश खन्ना, धर्मेंद्र, अमिताभ बच्चन, हेमा मालिनी, जयाप्रदा, गोविंदा, राज बब्बर, शत्रुघ्न सिन्हा,

विनोद खन्ना, संजय दत्त जैसे लोकप्रिय सितारों को उत्तर भारत की राजनीति में सीमित सफलता मिलती है। भारत की राजनीति में फिल्मों की कहानी, पटकथा, संवाद तथा गीत–संगीत ज्यादा महत्वपूर्ण होते हैं। फिल्मों की तत्कालीन व्यावसायिक सफलता के लिए फ़िल्मी सितारों का करीब–करीब उतना ही महत्व होता है जितना कि फिल्म के प्रमोशन में प्रचार–प्रसार का होता है।

दक्षिण भारत के ज्यादातर राजनेता फिल्मों से आए हुए सुपर सितारा होते हैं। कभी अपने अहंकार में, पार्टी से ज्यादा, अपनी लोकप्रियता पर अधिक विश्वास करने के कारण अपनी राजनीति में ज्यादा चमक नहीं पाते। दक्षिण भारत का अभिनेता चाहे–अनचाहे, दक्षिण भारत के राजनीतिक सितारों से, अपने को हीन मानता है तथा अपनी हीनता को विनम्रता के रूप में पेश करता हुआ राष्ट्रीय राजनीति में अपनी जगह बना लेता है। इसके विपरीत अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि एवं सांस्कृतिक विरासत के कारण उत्तर भारत का नेता सार्वजनिक रूप से चाहे जितना अहंकारी दिखे, अपने व्यक्तिगत जीवन में विनम्र होता है और वह भारतीय सिनेमा की रचनात्मक ऊर्जा का राजनीतिक इस्तेमाल कर के बहुत लम्बी सफल पारी खेलता है।

जवाहरलाल नेहरू के समय से उत्तर भारत के हर राजनीतिक दल में रणनीति बनाने वाली जो कोर टीम होती है उसमें सिनेमा तकनीक के एवं राजनीति के एक उस्ताद अवश्य होते हैं। उत्तर भारत के ज्यादातर नेताओं की ट्रेनिंग उसी तरह के उस्ताद लोग कराते हैं जैसे सिनेमा में सुपर सितारा बनने वालों के पीछे उस्तादों की कड़ी मेहनत होती है।

एक बार अमिताभ बच्चन ने कहा था कि भारत में सबसे अच्छी डायलॉग डिलीवरी उनके बालिग होने के बाद अटल बिहारी बाजपेयी की रही। पुरानी पीढ़ी के लोग बताते हैं कि जवाहरलाल नेहरू, राम मनोहर लोहिया, मीनू मसानी, पीलू मोदी, जे. बी. कृपलानी आदि का स्टार अपील अपने समकालीन फिल्मी सितारों से ज्यादा रहा है। इस सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए कुछ राजनीतिक पंडितों का मानना है कि हिंदी सिनेमा और नाटक में बहुत अंतर है। हिंदी थिएटर के लोग मानते हैं कि थिएटर एक्टर का माध्यम है और सिनेमा निर्देशक का माध्यम है। जबकि सच्चाई यह है कि हिंदी थियेटर, निर्देशक का माध्यम है और हिंदी सिनेमा, निर्माता का माध्यम है एवं भारतीय राजनीति अभिनेता या एक्टर का माध्यम है। जवाहरलाल नेहरू से नरेंद्र मोदी तक भारतीय राजनीति में केवल उन्हीं लोगों को सफलता मिली है जो असली अभिनेता हैं।

अध्याय – छह

बॉलीवुड का बदलता चेहरा

1. बॉलीवुड–आजकल 400
2. बॉलीवुड–आजतक 413
3. स्वतंत्र भारत में युवा एवं हिन्दी सिनेमा 417
4. हिन्दी फिल्मों में समकालीन प्रेम कथाएं 422
5. भारतीय समाज की अंतर्धारा : समाज, खेल एवं सिनेमा 429
6. मुंबई, माफिया और हिन्दी सिनेमा 433
7. छोटे बजट बनाम बड़े बजट की फिल्में: भविष्य एवं सामाजिक संदर्भ 444

बॉलीवुड–आजकल

बॉलीवुड में लेखकों और निर्देशकों की एक नई पीढ़ी तैयार हो रही है, जो पहले की तुलना में ज्यादा प्रोफेशनल है। आज विशाल भारद्वाज, अनुराग कश्यप, अनुराग बसु, फरहान अख्तर, अभिषेक कपूर, इम्तियाज अली, शीमित अमीन, राजकुमार हीरानी, आशुतोष गोवारिकर जैसे कई नाम हैं, जो ज्यादा अनुशासन से काम कर रहे हैं। फिल्म से पहले वर्षों स्क्रिप्ट पर काम होता है। कहानी की हर एक डीटेल, पटकथा के रूप में, सामने होती है। यहां तक कि शूटिंग की योजना भी महीनों पहले से बनाई जाती है। आज भारतीय सिनेमा का दर्शक भी पहले की तुलना में ज्यादा समझदार और संवेदनशील है। लोकप्रिय सिनेमा की परिभाषाएँ बदली हैं। नई तरह की फिल्में आ रही हैं, जिनके सवाल और उन सवालों को देखने का अंदाज़ भी नया है। यह सिनेमा नई भाषा में नए समय की कहानी रच रहा है। भारत के बाहर हिन्दी सिनेमा का दर्शक वर्ग वही है, जहां हिन्दी भाषी लोग रहते हैं। यह सिर्फ एन आर आई बाजार है जिसने भारत से बाहर हिन्दी सिनेमा को इतना लोकप्रिय बनाया है।

फ्रेंच, जर्मन, इटालियन और ईरानी सिनेमा की तरह पूरी दुनिया में हिन्दी सिनेमा का एक खास दर्शक वर्ग नहीं है। बॉलीवुड सिनेमा में फीलगुड और सुखद अंत का प्रचलन भी खास भारतीय सिनेमाई अदांज ही है। खुशी की बात है कि अब हमारे यहां भी ये सीमाएँ टूट रही हैं।

'रॉकेट सिंह'(2009), 'वेक अप सिड'(2009), 'लक बाई चांस'(2009), 'रॉक ऑन'(2008), 'ए वेडनेस डे'(2008), 'थ्री इडियट्स'(2009) जैसी फिल्में न सिर्फ बन रही हैं बल्कि इनमें मुख्यधारा के स्टार काम कर रहे हैं। पहले भी अच्छी फिल्में बनती थीं। 1950 से 1970 के दशक तक तीन तरह की फिल्में बनती थीं। उनके अभिनेता भी तीन तरह के होते थे। अब मिक्सिंग हो रहा है। सफल सितारे भी प्रयोगधर्मी फिल्मों या मध्यमार्गी सिनेमा में काम कर रहे हैं।

80 का दशक भारतीय सिनेमा के लिए संक्रमण काल था। यह भारतीय समाज के लिए भी संक्रमण काल था। यह रंगीन टेलीविज़न सीरियलों का युग था। यह 1978–1988 अमिताभ बच्चन के बिग बी बनने का युग था। इस युग में वे उत्कृष्ट काम किये बिना ही मेगा स्टार मान लिए गये थे।

महेश भट्ट सक्रिय तो पहले से थे लेकिन 'अर्थ'(1983) से उन्होंने अपनी पहचान बनायी। 'आशिकी दो'(2013) तक उनका जादू चलता रहा। 'एक था विलेन'(2014) ने भी सौ करोड़ कमाए, पर उनकी रचनात्मक ऊर्जा समाप्त होने लगी। 2015 में उन्होंने अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ कहानी–पटकथा लिखी। शगुफ्ता के संवादों में शुद्ध कविता है। मोहित सूरी ने जान लगा दी। इमरान हाशमी ने जीवन का सर्वश्रेष्ठ अभिनय किया। विद्या बालन ने अपना जादू चलाया। परन्तु दर्शक बदल चुके थे। महेश भट्ट के ताजमहल 'हमारी अधूरी कहानी' (2015) को नये भारत ने नकार दिया। ए. आर. कारदार और एम. साजिद का स्कूल हिन्दी सिनेमा में अपना अच्छा देने के बावजूद खारिज हो गया। भारत के हिन्दी सिनेमा में युग बदल चुका है। यह 'क्वीन' (2014)', 'तनु वेड्स मनु रिटर्न्स' (2015) के 'दत्तो', 'पीकु' (2015), 'गुड्डूरंगीला' (2015) , 'बजरंगी भाईजान' (2015) का युग है। महेश भट्ट की नाजायज औलाद अनुराग बसु ने 'काईट्स' बनाकर सिजोफ्रेनिया दिखलाया था।

बाजीराव पेशवा अपने युग की 'बड़ी तस्वीर' देख नहीं पाए। वे बस एक अच्छे स्थानीय क्षत्रिय थे। वरना वे सूरजमल जाट, रणजीत सिंह और खासकर टीपू सुल्तान के साथ कूटनीतिक गठबंधन करके अब्दाली और अंग्रेजों (पलासी, बक्सर) को भारत में पैर पसारने से रोक सकते थे। राजपूत रजवाड़े निजाम हैदराबाद के अनैतिक बल थे, जिस कारण अंग्रेजों से समझौता करके उन्होंने सुविधा भोगी। वाजिदअली शाह (अवध) रीतिकालीन विलासिता की संस्कृति में आकंठ डूबे थे।

टीपू, नेपोलियन, जार्ज वाशिंगटन, तुर्की के खलीफा की मदद से 'बड़ी तस्वीर' बनाने में लगा था। यदि नेपोलियन को मिस्र में अंग्रेजों ने रोक नहीं दिया होता तो वह टीपू की मदद के लिए भारत आ रहा था। तब भारत में अंग्रेजी राज कायम नहीं होता। टीपू ने कांची मठ को संरक्षण दिया था और अयंगारों को मरवाया था। यह स्थानीय सत्ता ढांचे को अनुकूल बनाने की उसकी रणनीति का हिस्सा था। टीपू की तुलना सुभाष बोस से की जा सकती है। दोनों का भाग्य ने साथ नहीं दिया। इनके वैश्विक भागीदार हार गए।

1989 से धीरे–धीरे भारतीय सिनेमा बदलने लगा। सूरज बड़जात्या, आदित्य चोपड़ा, मणिरत्नम, राकेश रोशन, रामगोपाल वर्मा, नागेश कुकनुर, करण जौहर, संजय लीला भंसाली, जॉन मैथ्यु माथन, प्रियदर्शन, विधु विनोद चोपड़ा, प्रकाश झा, विपुल शाह, राकेश ओम प्रकाश मेहरा, फरहा खान आदि ने अपनी–अपनी फिल्मों से दर्शकों को भरपूर आनंद दिया।

हम ईरानी सिनेमा की तरह एक बंद समाज के खिलाफ आवाज नहीं उठा रहे हैं। यूरोपीय सिनेमा जैसी अकादमिक गंभीरता से भी अभिभूत नहीं हैं। भारतीय संस्कृति की तरह भारतीय सिनेमा की भी अपनी खास विशेषता है। इस पर बहुआयामी समीक्षा या संशोधन का कार्य अब तक नहीं हुआ है।

सिनेमा में नई टेक्नोलॉजी के समावेश के लिए जमीन तैयार की जा रही है। जेम्स कैमरॉन की 'अवतार'(2009) टेक्नोलॉजी की शिखर रचना है। आज के कालखंड में कल्पना और यथार्थ इस कदर मिल गए हैं कि बताना कठिन हो जाता है कि कहां से अफसाना शुरू हो रहा है और कहां यथार्थ विलोप हो रहा है। आज के दौर की इस आपाधापी में संतुलन बनाए रखना कठिन हो रहा है। कमसिन उम्र के लोगों के लिए तो यह और भी कठिन है। बच्चों को, वीडियो एवं तमाम जुनूनी शौक, हकीकत से दूर ले जाते हैं। अनेक मनुष्य जन्मजात पलायनवादी होते हैं। पलायन के मूल में डर होता है। डर के यथार्थ से डर का हौवा बड़ा होता है।

टेक्नोलॉजी केन्द्रित 'अवतार' (2009) के विपरीत 'वेक अप सिड'(2009), 'लंदन ड्रीम्स'(2009) और 'प्यार इंपॉसिबल'(2010) की चर्चा की जा सकती है। तीनों फिल्मों को औसत सफलता मिली है। 'वेक अप सिड' करण जौहर की फिल्म है, 'लंदन ड्रीम्स' विपुल शाह की फिल्म है और 'प्यार इम्पॉसिबल' उदय चोपड़ा द्वारा लिखित और अभिनीत यशराज की फिल्म है। सूरत बनाम सीरत हमारे सिनेमा का बहुत पुराना विषय है। इन तीनों फिल्मों में इस थीम को ताजगी से प्रस्तुत किया गया है। 'लक बाइ चांस' (2009) भी इसी तरह की फिल्म थी। प्रतिभाशाली लोगों के बीच स्वयं को सहज रख पाना कठिन काम है। कोई भी व्यक्ति स्वयं के साधारण होने को आसानी से स्वीकार नहीं कर पाता। इसके लिए संतोष होना चाहिए। असाधारण बनने के लिए हम वह सब दिखाना चाहते हैं जो हम नहीं हैं। यह अत्यंत थका देने वाली कसरत है। स्वयं को जस का तस उजागर करना बहुत ही कठिन है। टेक्नोलॉजी केन्द्रित फिल्मों के द्वारा असाधारण को ही महिमामंडित किया जाता है।

शाहरुख खान की घरेलू फिल्म 'रा–वन'(2011) की कहानी टेक्नोलॉजी केन्द्रित है। इसकी पटकथा हॉलीवुड के डेविड बेनूलो ने लिखी थी और स्टीगर इसके

कैमरामैन थे। बेनूलो ने 'शैडो मैन' जैसी फिल्म लिखी थी। स्टीगर 'मैडन हीस्ट'(2009) फिल्म के कैमरामैन रहे हैं। 'रा–वन' 'अवतार' का विलोम है। अवतार की कथा भारतीय मिथक एवं आख्यान की शैली में कही गई है। 'रा–वन' हॉलीवुड के साइंस फिक्शन की शैली की हिन्दी फिल्म है । 'रा–वन' शाहरुख खान की अब तक बनाई फिल्मों में सबसे अधिक महत्वाकांक्षी और मंहगी फिल्म है। देशी–विदेशी तकनीशियनों के सहयोग से उन्होंने एक सुपरमैननुमा कहानी प्रस्तुत की है। यह सुपरमैन आम आदमी द्वारा गढ़ा हुआ दिखलाया गया है।

कोई समाज समृद्धिविहीन होकर रह सकता है लेकिन संस्कृतिविहीन होकर खुद को ज्यादा दिनों तक बचाए नहीं रह सकता है। अमेरिका या यूरोप बन जाना आसान है, लेकिन अपने मूलभूत रूप में संपूर्ण भारत बने रहना मुश्किल है। मध्यवर्ग पैसा कमाने में जुटा है। हर बात को नफा–नुकसान के तराजू पर तौला जा रहा है। रिश्ते–नाते सब दरक रहे हैं। मनी माइंडेड मध्यवर्ग का उभरना कई खामियों को भी जन्म दे रहा है। आधुनिकता के नाम पर हर दिन कुछ नया गढ़ा जा रहा है और कुछ पुराना गिराया–मिटाया या तोड़ा जा रहा है। देश की कम से कम 40 करोड़ आबादी को दो जून की रोटी नसीब नहीं हो रही है।

हरित क्रांति की तरह ही विकास के इस दौर में देश को सामाजिक क्रांति की जरूरत है। 18–20 वीं सदी के दौर में जैसा कि विदेशों में आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण के दौर में हुआ था। उस दौर में वहां कई दार्शनिक, अर्थशास्त्री, साहित्यकार और सामाजिक चिंतक पैदा हुए। लेकिन भारतीय समाज एवं सिनेमा में ऐसा कुछ भी नहीं हो रहा है।

भारत में मध्यवर्ग का दायरा चौड़ा हुआ है, लेकिन सामाजीकरण अधूरा ही है। नतीजतन पुराने मध्यवर्ग के मानक (घरों में शास्त्रीय गायन के कैसेट, बुक शेल्फ में स्तरीय सामाजिक चिंतन की किताबें आदि) अब नहीं दिखते हैं। अब उनमें उपभोक्तावादी प्रवृत्ति आ गई है। अब परिवार का मुखिया हाड़–मांस लगाकर, भ्रष्ट से भ्रष्ट तरीके अपना कर, 24 घंटे मेहनत करता है, वहीं परिवार के दूसरे सदस्यों में मनोरंजन और ऐश की प्रवृत्ति जाग उठी है। राजश्री की फिल्म 'तपस्या'(1976) में यह दिखलाया गया था। नया मध्यवर्ग अपनी आर्थिक कमाई की वजह से मध्यवर्ग बना है, लेकिन उसके सांस्कृतिक मूल्य उस वर्ग के नहीं हैं।

खादी का जाना और जींस का आना, इस दौर की सबसे बड़ी खासियत है। पहले समाज का पढ़ा–लिखा आदमी समाज के बारे में सोचता था, सामाजिक कार्यों में

शिरकत करता था। अब वह उपभोक्ता जिंदगी में मशगूल है। उन्हें ना तो किसी चीज में दखल देने की आदत है और ना ही किसी के दखल स्वीकार करने की। उनके बच्चे कामयाबी के लिए पढ़ते हैं ना कि काबिल बनने के लिए। हमें संस्कृति को बचाए रखने के लिए प्रयासरत रहना होगा। इसमें मध्यवर्ग की भूमिका सबसे अहम होगी।

हर काल, हर देश में मध्यम वर्ग से कुछ ऐसी प्रतिभाएँ आती हैं, जो विषम परिस्थितियों में विकल्प और संभावनाओं को तलाशती हैं। ऐसी तलाश के लिए आज सिनेमा और टेलीविज़न वेब साइट और ब्लॉग महत्वपूर्ण माध्यम बन रहे हैं । दक्षिण की चार भाषाओं में कुल जमा छः सौ फिल्में प्रतिवर्ष बनती हैं। भोजपुरी में प्रतिवर्ष बनने वाली फिल्मों की संख्या लगभग सौ है। हिन्दी में एक सौ पचास से दो सौ फिल्में प्रतिवर्ष बनती हैं । आजकल केरल में कम बजट की फिल्में डी.वी.डी. पर घर–घर देखी जाती हैं। अतः कॉटेज फिल्म उद्योग भी कुछ क्षेत्रों में अपनी मौजदूगी दर्ज करवा रहे हैं। एक जमाने में कोलकाता में मौलिक फिल्में बनती थीं। परन्तु विगत दशकों में अनेक क्षेत्रीय फिल्मों की कहानी मुंबई के व्यावसायिक सिनेमा से प्रेरित होती है। शुरू में यह उम्मीद की जाती थी कि क्षेत्रीय भाषाओं में बनी फिल्मों में उस जगह की लोक कलाओं के माध्यम से मौलिक कथाएँ सामने आएंगी या क्षेत्र के साहित्य पर सिनेमा आधारित होगा। मुंबइया मसाला सिनेमा की पहुंच बहुत व्यापक है और हमारी सोच पर भी उसका बहुत गहरा असर पड़ा है। भारत के तमाम छोटे शहरों और कस्बों से जो कहानियां मुंबई भेजी जाती हैं उनमें से अधिकांश मसाला मुंबइया फिल्मों के प्रभाव में रची जाती हैं। मुंबइया मसाला फिल्मों के समुद्र में बहुत कचरा है, परन्तु क्षेत्रीय भाषाओं में बनी फिल्मों की नदियां भी प्रदूषित हैं।

इम्तियाज अली का सिनेमा

भारतीय सिनेमा यथार्थ की तरह बदल रहा है, जिन्दगी की तरह बदल रहा है। रील लाइफ और रीयल लाइफ का फर्क खत्म होता जा रहा है। दोनों की दूरियां मिट रही हैं। हम जो जिदंगी जीते हैं, वहीं पर्दे पर भी देखते हैं। पहले सिनेमा एक किस्म के आदर्श को लेकर चलता था, जहां रिश्तों की परिभाषाएँ और सीमाएँ तय थीं। सब सुन्दर और सकारात्मक था। इंसानी बुराइयों को दिखाने के लिए एक खलनायक डाल दिया जाता था लेकिन नायक तो अच्छा ही होता था।

यह आज की जिन्दगी का सच नहीं है। आज नायक और खलनायक एक ही व्यक्ति के भीतर हैं। वह बहुत अच्छा भी है और बुरा भी, सुन्दर भी है और असुन्दर भी। मनुष्य ऐसा ही है, अपनी समस्त अच्छाइयों और बुराइयों, बेहतरियों और

कमजोरियों के साथ एक मिला–जुला इंसान और यही इंसान आज पर्दे पर भी नजर आता है। पर्दे पर दिखने वाले रिश्तों का चरित्र भी बदला है। पहले सिनेमा में पति–पत्नी या किसी स्त्री–पुरुष के बीच एक आदर्श किस्म का रिश्ता होता था। समस्यायें प्रायः बाहरी ही होती थीं। वह व्यक्तियों के व्यक्तित्व और उनके आतंरिक गठन की समस्या नहीं थी। परन्तु असल जिन्दगी में कोई भी रिश्ता परिपूर्ण नहीं होता। समकालीन फिल्मों में पुराने आदर्श रिश्तों की जगह एक नए प्रकार के रिश्ते ने ले ली है उसमें उदात्तता भी है और कमजोरियां भी। वहां सब कुछ बहुत अच्छा और परेशानियों से मुक्त नहीं है। आज जिन्दगी और रिश्ते की कोई सीधी लकीर नहीं है। उनमें जाने कितने आड़े–तिरछे मोड़ और गड्ढे हैं।

नए सिनेमा की स्त्री पुरानी आदर्श पतिव्रता स्त्री नहीं है। उसके जीवन का उद्देश्य केवल अच्छी मां, अच्छी पत्नी और अच्छी बहू होना नहीं है। उसके अपने सपने हैं। अपनी महत्वाकांक्षाएँ हैं। पहले ऐसी स्त्री खलनायिका मानी जाती थी। उसे फिल्म के अन्त में एक आदर्श नारी न होने की सजा भी मिलती थी। आज के फिल्मों की नायिका एक स्वंतत्र और आत्म–निर्भर स्त्री है जिसके अपने सपने हैं। उसकी अपनी पहचान सिर्फ रिश्ते नहीं हैं, उसकी अपनी एक स्वतंत्र पहचान है। वह घर से बाहर निकलती है, काम करती है, अपने घर में अपने तरीके से जीती है। वह एक संपूर्ण मनुष्य है। वह खुलकर अपने प्रेम को स्वीकार करती है। वह प्रेम की पहल भी कर सकती है। वह अपनी भावनाओं, अपने मन और देह की जरूरतों को ज्यादा खुलेपन के साथ स्वीकार करती है। पहले की स्त्री को यह सिखाया जाता था कि उनके लिए पुरुष और परिवार की खुशी ही सब कुछ है। उनकी अपनी कोई निजी इच्छा या जरूरत नहीं है। वह एक नकली छवि थी। प्रेम और सेक्स के मामले में एक फरेब प्रस्तुत किया जाता था । नए सिनेमा ने उस फरेब और उन रूढ़ियों को काफी हद तक तोड़ा है। समाज में भी यह रूढ़ियाँ टूटी हैं। सिनेमा ने नई स्त्री की छवि गढ़ी है और समाज ने उसे स्वीकार भी किया है। पारंपरिक समाज, जिन्दगी की प्रेम और सेक्स से जुड़ी हर स्वाभाविक चीज को, शर्म, ग्लानि और अपराध–बोध के साथ जोड़ देता था। नई फिल्में अब इस रूढ़ि को तोड़ रही हैं। इन फिल्मों में प्रेम सांस लेने जैसी स्वाभाविक क्रिया है।

नया सिनेमा ज्यादा स्वाभाविक और लोकतांत्रिक सिनेमा है। लेकिन इस सिनेमा की भी अपनी कुछ सीमाएँ हैं। मुंबई में काफी खुलापन आया है। जिन्दगी तेजी से बदल रही है। लेकिन मुंबई ही पूरा देश नहीं है। नई फिल्मों का दर्शक मल्टीप्लेक्स का दर्शक है। दर्शकों का यह वर्ग हमारी कुल जनसंख्या का एक छोटा–सा हिस्सा है।

नया सिनेमा पूरे देश में नहीं देखा जाता और नया सिनेमा पूरे देश की बात भी नहीं करता। लोकतांत्रिक प्रेम और रिश्तों का सवाल बहुसंख्यक दर्शकों की जिन्दगी का सवाल नहीं है। नए सिनेमा का रचनाकर खुद भी अपनी मध्यवर्गीय दुनिया के भीतर ही कैद होता है। उसे आम आदमी की जिन्दगी के जद्दोजहद से विशेष मतलब नहीं है।

लेकिन नए सिनेमा में केवल इम्तियाज अली की प्रेम कहानियां भर शामिल नहीं हैं। शमित अमीन की 'रॉकेट सिंह' (2009), अयान मुखर्जी की 'वेक अप सिड' (2009), राकेश ओम प्रकाश मेहरा की 'रंग दे बसंती' (2006), आशुतोष गोवारिकर की 'स्वदेस' (2004) और राजकुमार हीरानी की 'थ्री इडियट्स' (2009)', 'लगे रहो मुन्ना भाई' (2006) भी नया सिनेमा ही हैं। ये फिल्में हमारी समझ और संवेदनाओं को बदल रही हैं। इम्तियाज अली, विशाल भारद्वाज और अनुराग कश्यप के 'लव आजकल' (2009), 'कमीने' (2009) और 'देव डी' (2009) नए सिनेमा का ही एक रूप हैं जिसमें स्टाइल पर जोर है। ये स्पेक्टेकल केन्द्रित फिल्में हैं जबकि उपरोक्त फिल्मों के केन्द्र में नैरेटिव या विन्यास है।

इम्तियाज अली जैसे नए फिल्मकार पुरानी हिन्दी फिल्मों की विविधता की बातें नहीं करते। उन्हें राजकपूर, मेहबूब खान, बी. आर. चोपड़ा और गुरुदत्त जैसे फिल्मकारों की विविधता ध्यान में नहीं रहती। यह सही है कि समय और समाज बदला है। लेकिन उस तरह नहीं बदला है, जैसे इम्तियाज अली जैसे फिल्मकार सोचते हैं । पुरानी फिल्में कोई कम प्रयोगधर्मी नहीं थीं। मद्रासी फैमिली ड्रामा की स्त्री हिन्दी सिनेमा की औसत स्त्री नहीं थी। 'मदर इंडिया'(1957) की नर्गिस, 'अमर'(1954) की मधुबाला, 'मेरा नाम जोकर'(1970) की पद्मिनी, 'साहिब बीबी और गुलाम' (1962) की मीना कुमारी, 'गाइड' (1965) की वहीदा रहमान, 'गुमराह' (1963) की माला सिन्हा, 'इत्तेफाक'(1969) की नंदा, 'चेतना' (1970) की रेहाना सुल्तान अलग तरह की स्त्री थीं। खुद इम्तियाज अली की फिल्मों के कथानक राजकपूर की 'चोरी चोरी'(1956) से प्रभावित हैं। 'लव आजकल' (2009) या 'जब भी मेट' (2007) की प्रस्तुति नई है। कथानक में न गहराई है न नवीनता।

भारतीय सिनेमा में अछोर और अक्षुण्ण प्रकृति के बीच से गुजरते हुए एक ऐसी कहानी चल रही है जो मनुष्य के जीवन की कथा है। जिसका आदि, मध्य और अन्त होता है। यह यात्रा अमरता और जीवन की सीमितता के बीच का संवाद बनती जाती है। जीवन खत्म होता है और उसकी अपर्याप्ताएं भी असीम हैं लेकिन वह निरर्थक नहीं है क्योंकि खत्म होने के पहले वह इच्छाओं का सौन्दर्यशास्त्र है। जब वह नहीं होता तो

उसकी गत्यात्मकता की स्मृति होती है। जीवन का इतिहास मिथक की मंदता में बदलता है और पदचाप आहटों में। जीवन रहस्य है। वह गूढ़ है। वह उथला और कॉमिक भी है, निस्संग, निहंग और ट्रैजिक भी है। वह अनिश्चित और नियति दोनों है। स्वप्न में बचपन दिखता है तो मृत्यु भी हाथ बढ़ाती है। जीवन में कुछ भी कल्पना नहीं है, जो कुछ है वह स्मृति है। हम स्मृति के जरिए अतीत को और अपने को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। अपने को पाने और खोने का आभासीय धुंधलापन हमारे जीवन को अलौकिक करता रहता है।

बॉलीवुड नायक भारतीय संस्कृति के ओवर–रेटेड लोगों में है। खासकर वे नायक जिन्हें स्टार कहा या माना जाता है। इन स्टारों में से अधिकांश न तो बहुत अच्छे अभिनेता होते हैं, न बहुत अच्छे नर्तक होते हैं, न उन्हें संगीत और सिनेमा का ज्ञान होता है। हां, वे सुन्दर दिखने वाले भाग्यशाली युवक रहे हैं जिनकी फिल्में सफल होती हैं । फिल्म की सफलता में निर्देशक, लेखक, नृत्य निर्देशक, संगीतकार, संपादक और फोटोग्राफर के अलावा चरित्र अभिनेताओं की प्रमुख भूमिका होती है परन्तु क्रेडिट और पैसा स्टार को मिलता है।

मोहनदास बनाम स्वदेस : उदय प्रकाश बनाम आशुतोष गोवारिकर एवं राजकुमार हीरानी

माओवादी गुरिल्लों के समर्थन का आधार ग्रामीण भारत के वंचित तबकों के बीच है और इन वंचित तबकों के साथ सचमुच अन्याय हुआ है। हजारों लोग खनन कंपनियों और नए उद्योगों के हाथों अपनी जमीन और जीविका से वंचित हुए हैं। भारत में समृद्धि की दौड़ से धनी और गरीब के बीच गैर–बराबरी पहले से कहीं ज्यादा बढ़ी है। जबकि सत्ताधारी तबका नक्सलवादियों को आंतरिक सुरक्षा और धड़ल्ले से हो रही सुप्रचारित आर्थिक बढ़ोतरी के लिए खतरा मानकर ग्रीन हंट नाम से नक्सलविरोधी एक ऑपरेशन चलाने की तैयारी में है। इसमें सत्तर हजार अर्धसैनिक बलों को शामिल किया जाएगा। मान लिया गया है कि जरूरी खनिजों को हर हाल में निकालना है और फायदेमंद जमीनों पर फैक्ट्रियां कायम करनी हैं। जिस वक्त भारत उपभोक्ता समाज बनने की राह पर चला, शहरों में शॉपिंग मॉलों की भरमार हुई, ठीक उसी समय ये हिंसक अतिवादी चढ़ दौड़े हैं और शॉपिंग मॉलों में सजने वाली भीड़ के सपनों पर वज्रपात कर रहे हैं। सर्वाधिक वंचित तबके का यह घोर निराशा में उठाया गया कदम है। अगर मौजूदा आर्थिक नीतियां बदस्तूर चलती रहीं तो उसके समूल विरोध पर उतारू समूह पूरे विश्व में ज्यादा व्यापक तरीके से सर उठाएंगे। जलवायु परिवर्तन के खतरों के बीच हम एक ऐसे विश्व में रह रहे हैं जहां जीवन स्तर, अवसर

और संसाधनों पर पहुंच के मामले में महज 10 फीसदी लोगों की जेब में संसार की पिचासी फीसदी दौलत है और नब्बे फीसदी लोग वंचित एवं पिछड़े हैं। सामाजिक–आर्थिक असमानता और पर्यावरणीय संकट के बीच हमारे लिए वैश्विक सुरक्षा की पुनः परिभाषा करना जरूरी है। विश्वशांति के लिहाज से अलकायदा एक छोटी समस्या है और कालक्रम में इसे खत्म होना है, लेकिन नक्सलवादी संघर्ष 21वीं सदी में होने वाली संघर्षों की एक पूर्व सूचना है। इसी संदर्भ में हमें 2005 में बनी आशुतोष गोवारिकर की 'स्वदेस' और 2009 में उदय प्रकाश की कहानी का मर्म समझना होगा।

एक अर्थ में 'थ्री इडियट्स' की सफलता यू.पी.ए. सरकार की सफलता की कहानी है। 2009 की दोनों महत्वपूर्ण घटनायें हैं मई 2009 में यू.पी.ए. सरकार की जीत और दिसम्बर 2009 में 'थ्री इडियट्स' की विराट सफलता। 'स्लमडौग करोड़पति' एक विदेशी फिल्म थी जो 2009 के शुरू में आयी थी। राहुल गाँधी की तुलना 'रॉकेट सिंह : सेल्समैन ऑफ द ईयर' से भी की जा सकती है। पुराने यू.पी.ए. सरकार को चलाने में लालू, पासवान, मुलायम की महत्वपूर्ण भूमिका थी। यू.पी.ए. की सरकार चलाते हुए राहुल गांधी ने बिहार, यू.पी. और झारखण्ड में कांग्रेस को रॉकेट सिंह की तरह ही बेचा। भारत में राजनीतिक निहितार्थ वाली फिल्मों की एक परंपरा रही है। उदाहरण के लिए 'अमर अकबर एन्थोनी'(1977) एक महत्वपूर्ण राजनीतिक फिल्म है। यह उस युग के भारतीय समाज का आईना है। मुसलमानों तथा ईसाईयों की समाज में स्थिति दयनीय थी। पाकिस्तान बन जाने के बाद भारत के अधिसंख्य मुसलमान मुकरी की तरह के ही पात्र थे। यह दाऊद इब्राहिम के उदय से पहले का समाज था। अधिकांशतः हिन्दू लोग सरकारी नौकरियों में प्रतिनिधित्व पाते थे।

'थ्री इडियट्स' में उच्च वर्ग (जावेद जाफरी) डिग्री खरीदता है, मध्यवर्ग (माधवन) दुविधा में रहता है कि वाइल्ड लाइफ फोटोग्राफर बनूं या इंजीनियर, जबकि निम्न वर्ग (शरमन जोशी) के सामने कोई ऑप्शन (अवसर) नहीं है, इसके अलावा कि कड़ी मेहनत करके नौकरी पाये। जबकि अनाथ आमिर खान के पास न कोई पृष्ठभूमि है, न दुविधा, वह किसी तरह अपने मन की मुराद पूरी करने में जिन्दगी के हर पल का आनंद उठाता है। 'थ्री इडियट्स' एक व्यावसायिक सटायर है। राजकुमार हीरानी हल्के–फुल्के ढंग से गंभीर बात कहते हैं। 'थ्री इडियट्स' मौजूदा शिक्षा व्यवस्था की आलोचना और नई शिक्षा व्यवस्था का यूटोपिया भर नहीं है बल्कि यह समकालीन भारतीय समाज पर एक पाठ भी है। इस पाठ का लहजा

व्यंगात्मक हास्य है। परन्तु यह भारतीय समाज की समस्याओं और संभावनाओं पर एक गंभीर विमर्श के लिए कच्चा माल भी प्रस्तुत करता है।

राजकुमार हीरानी के सिनेमा में नैरेटिव की प्रमुख भूमिका है। सिनेमा का काम प्रभावी तरीके से मनोरजंक कहानी कहना है। यह थियेटर से प्रभावी माध्यम है। अरस्तु के अनुसार थियेटर में प्लाट सबसे प्रमुख होता है और स्पेकटेकल सबसे गौण होता है। लेकिन सिनेमा में दोनों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। राजकुमार हीरानी व्यावसायिक दृष्टि से फिलहाल सबसे सफल कथा फिल्मकार हैं, लेकिन आशुतोष गोवारिकर में हीरानी की तुलना में महाकाव्यात्मक गहराई और गंभीरता ज्यादा है। दोनों के लिए स्पेकटेकल की तुलना में नैरेटिव प्रमुख है लेकिन स्पेकटेकल और नैरेटिव का ज्यादा संतुलित प्रोजेक्शन गोवारिकर के यहां है। फोटोग्राफी एवं संपादन का ज्यादा संतुलन 'लगान' (2001), 'स्वदेस' (2004) या 'जोधा अकबर' (2008) में है। परन्तु 'लगान' के अलावा गोवारिकर की अन्य फिल्में व्यावसायिक रूप से उतनी सफल नहीं रहीं । अपने दर्शकों की नब्ज पर हीरानी की पकड़ ज्यादा है, जबकि गोवारिकर की फिल्मों की शेल्फ वैल्यू ज्यादा है। हीरानी की तुलना मनमोहन देसाई से की जा सकती है जबकि गोवारिकर मेहबूब खान, वी. शांताराम, गुरुदत्त एवं बिमल रॉय की तरह के क्लासिक्स के रचयिता हैं।

हिन्दी सिनेमा के शलाका पुरुष मेहबूब खान, वी. शांताराम, गुरुदत्त, बिमल रॉय, राजकपूर, बी. आर. चोपड़ा आदि सत्यजीत रे की तुलना में ज्यादा बहुआयामी सिनेमा बनाते थे। इन लोगों ने पूरे भारत को ध्यान में रखकर अपनी फिल्मों की पटकथा विकसित की। जबकि सत्यजीत रे पश्चिम से प्रभावित होकर बंगाली भद्रलोक के लिए बंगाली साहित्य की कालजयी रचनाओं पर फिल्म बनाते रहे। वे पश्चिमी सिनेमा की महानता से आतंकित होकर बंगाली भद्रलोक के लिए स्थानीय सिनेमा बनाते रहे। बंगाली भाषी फिल्म समीक्षकों ने उनको भारतीय सिनेमा के सिरमौर के रूप में स्थापित किया। लेकिन बंगाली सिनेमा आज कहाँ है? बॉलीवुड में भी बंगाली सिनेमा आज कहां है? बॉलीवुड में भी बंगाली फिल्मकारों की तूती बोलती थी। आजकल बॉलीवुड में भी बंगाली फिल्मकारों का अकाल है।

बंगाली लोग आज भी बंगाल में बंगाली बोलते हैं परन्तु बंगाली फिल्म उद्योग करीब–करीब समाप्त हो गया है। उनकी तुलना में तमिल और तेलुगू सिनेमा का हाल काफी अच्छा है। हिन्दी का विरोध करके तमिलनाडु वालों ने तमिल सिनेमा को अपनी राजनीति और समाज को बदलने वाली एजेंसी बना लिया। चूँकि केरल की सरकार ने स्कूलों में हिन्दी पढ़ाना शुरू किया। अतः मलयालम सिनेमा की केरल में

बॉलीवुड की सिनेमा से प्रतियोगिता बनी रही। फलस्वरूप मलयालम सिनेमा उद्योग उतना मजबूत नहीं है जितना तमिल सिनेमा उद्योग है।

हिन्दी सिनेमा पर सबसे पहले पश्चिम वालों ने अंग्रेजी में लिखना शुरू किया। फिर विदेशों में बसे भारतवासियों ने लिखना शुरू किया। भारत के बाहर भी हिन्दी सिनेमा का दर्शक वर्ग पैदा हुआ। बल्कि 1990 के दशक से, बाहर के दर्शकों एवं देश के धनाढ्य वर्ग को ध्यान में रखकर फीलगुड सिनेमा का निर्माण होने लगा। सूरज बड़जात्या, आदित्य चोपड़ा एवं करण जौहर इसके सरताज बने। आशुतोष गोवारिकर एवं राजकुमार हीरानी ने इस ट्रेंड को बदला। इन दोनों की फिल्मों को, अखिल भारतीय दर्शकों तथा विदेशों में बसे दर्शक वर्ग, का भी साथ मिला। इनकी पटकथा में धनीवर्ग के साथ–साथ आम आदमी की वापसी हुई। शहर के साथ गांव की कहानी की वापसी हुई। स्थानीय राष्ट्रीय और खगोलीय पात्रों की वापसी हुई। यह सिनेमा खगोलीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हुए भारत की कहानी है। 'थ्री इडियट्स' में हीरानी यह सन्देश दे रहे हैं कि जीवन में सार्थकता और गुणवत्ता की तलाश की बात करते हुए तथाकथित सफलता को जीवन का उद्देश्य नहीं मानें। हीरानी द्वारा बतायी गई गुणवत्ता आने पर आप कहीं भी निर्गम या आक्रामक नहीं होंगे। हीरानी मनुष्य की प्रकृति की रक्षा और स्वभाव के विकास की बात कर रहे हैं। राजकुमार हीरानी ने भारतीय सिनेमा की परंपरानुसार विविध मसालों से मनभावना संसार की रचना की। दर्शकों के सभी वर्गों के लिए हीरानी ने कुछ न कुछ रखा है।

सिनेमा के प्रारम्भ से ही दो प्रकार के नायक रचे जा रहे हैं। सुपरमैन नायक वाली फिल्मों के लिए विशेष तकनीक की आवश्यकता होती है, परन्तु आम आदमी को नायक बनाने के लिए अच्छे लेखक की आवश्यकता होती है। 'थ्री इडियट्स' का नायक एक आम आदमी है।

एक समय में हमारे फिल्मी नायक उत्कृष्टता की तलाश से प्रेरित होकर काम करते थे। उस युग का अब लगभग अंत हो गया है। अब फिल्मों के नायक सफलता की खोज में रहते हैं। जीत अब कोई प्रक्रिया नहीं है। जीत अब लक्ष्य है, एकमात्र और संपूर्ण लक्ष्य। इसके आगे मानों जिन्दगी का और कोई अर्थ नहीं। सफलता यह सिखाती है कि आपको जीतने के लिए सिर्फ एक मौका मिलता है। वह मौका फिसल गया और आप खत्म हो गए। दूसरी ओर उत्कृष्टता एक ऐसी चीज है, जिसकी तलाश में आप पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं। यह एक कला है, एक विश्वास है। यह आपको सर्वश्रेष्ठ के साथ एकाकार होने की शिक्षा देती है। जीतने वाला व्यक्ति हमेशा सर्वश्रेष्ठ नहीं होता। उत्कृष्टता हमेशा सफलता की गारंटी दे ही, यह भी जरूरी नहीं है। पहले

हमारे नायक सफलता के उन्मादी नहीं, उत्कृष्ट खेल या काम के कलाकार होते थे। खेलने या जीने का अंदाज और तरीका किसी की पहचान हुआ करता था। जीतना या हारना जिन्दगी के खेल का ही एक हिस्सा था। बेहतर तरीके से हारना या मर जाना भारतीय संस्कृति में हमेशा मूल्यवान माना जाता था। उपेक्षित और पददलित लोग नायक होते थे। गर्व से भरा हुआ विजेता तब लोगों की घृणा का पात्र होता था।

वह सब अब बदल चुका है। अब विजेता ही नायक है। वही एकमात्र हीरो है। अब हार शब्द बहुत सारी शर्म और ग्लानि से भरा हुआ है। विजेता भी सिर्फ एक ही साल या एक ही मौसम या एक ही फिल्म तक याद रहता है, जब तक कोई दूसरा विजेता सुर्खियों में नहीं छा जाता हम अतीत के विजेताओं को इतनी आसानी से भुला देते हैं कि वे खुद भी यह भूल जाते हैं कि वे कभी विजेता थे। हम धीरे–धीरे इस बात को जान रहे हैं कि पराजितों और हारने वालों के बगैर यह दुनिया भयानक रूप से नीरस और उबाऊ हो सकती है। यही कारण है कि उत्कृष्टता की तलाश इतनी जरूरी और महत्वपूर्ण है । यह आपको दूसरी समान प्रतिभाओं वाले लोगों के साथ जुड़ने और शामिल होने का मौका और अंतराल प्रदान करती है। सिर्फ हिट होना ही सफलता की परिभाषा नहीं है, वरना डैन ब्राउन, दांते से ज्यादा महान लेखक होते, हिमेश रेशमिया, नुसरत फतेह अली खां से ज्यादा बड़ा गायक होता और राजकुमार हीरानी, बिमल रॉय से बड़े फिल्मकार होते।

सफलता की तलाश सड़कों को लाशों से भर देती है। दुनिया में किशोर आत्महत्याएं, वित्तीय घोटाले, सफेदपोश अपराध और परिवारों का टूटना, जीतने की हवस के नतीजे हैं। हमारे चारों ओर जो दबाव है, वह डराने वाला है। किसी को भी जीतने की इजाजत नहीं है। हार को इतना घृणित बताकर हम हारने वालों को अपना जीवन ही खत्म करने को मजबूर कर रहे हैं। साहस, नायकत्व, हार की गरिमा, अपनी गलतियों से सीखने की ताकत के बिना हम कला और संस्कृति के मर्म को नहीं समझ सकते। उपरोक्त थीम 'थ्री इडियट्स' में भी है। लेकिन सफलता पाने के लिए इसमें फूहड़ता और जल्दबाजी भी है।

'थ्री इडियट्स' के प्लॉट में अपने देशकाल को समेटने की जल्दबाजी है। कुल मिलाकर फिल्म मनोरंजक, शिक्षाप्रद एवं सफल है। परन्तु इसमें आशुतोष गोवारिकर की फिल्मों जैसी नफासत नहीं है। इस फिल्म में सब कुछ कच्चे माल की तरह उपलब्ध है लेकिन कलात्मक महानता नहीं है। आत्मा नहीं है, इसका गीत–संगीत भी साधारण है। सिनेमैटोग्राफी और विजुअल इमेज भी साधारण हैं। फिर भी इस फिल्म

की छप्पड़ फाड़ सफलता समकालीन भारतीय दर्शकों के मनोविज्ञान को झलकाती है।

बाजार युग के सामाजिक परिवर्तन कथा फिल्मों से अधिक विज्ञापन फिल्मों में नजर आते हैं। फिल्मकार ही फिल्म नामक विधा का एकमात्र लेखक है और यह सिद्धांत दूसरे विश्व युद्ध के बाद फ्रांस के फिल्म समालोचकों ने प्रतिपादित किया था– ऑतर थ्योरी। फिल्म में पटकथाकार, लेखक, गीतकार, संगीतकार और कैमरामैन इत्यादि सभी फिल्मकार के सहायक मात्र हैं।

❑❑❑

बॉलीवुड–आजतक

हर कालखंड अपनी सुविधा का सितारा स्वयं निर्माण करता है और इसे महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए कि आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक हालात सितारा और सिनेमा रचने में सक्षम होते हैं। अवाम की बदलती हुई अभिरुचियों पर भी हालात का प्रभाव पड़ता है। लोकप्रियता अकस्मात नहीं होती और यह कोई हादसा भी नहीं है। आजादी के साथ ही पंडित नेहरू के आदर्श और आशावाद ने दिलीप कुमार, देवआनंद और राजकपूर को सितारा बनाने में मदद की। इंदिरा युग में (1966–1984) मनोज कुमार, राजेश खन्ना और अमिताभ बच्चन सितारा बने। राजीव गाँधी के युग में (1984–1989) में श्रीदेवी और मंडल–मंदिर युग के संधिकाण्ड (1989–1996) में माधुरी दीक्षित का जलवा था। शाहरुख खान की प्रारंभिक फिल्में नरसिंह राव के युग में बनीं लेकिन शाहरुख को सितारा हैसियत 1995 के बाद मिली। उसका चरमोत्कर्ष एन.डी.ए. काल (1998–2004) में हुआ। उदारवाद के इस कालखंड में शाहरुख खान को शादी–ब्याह में नाचने से भी कोई ऐतराज नहीं हुआ। उन्हें विज्ञापन फिल्मों से कथा–फिल्मों की अपेक्षा अधिक आय होती है। शाहरुख खान को एकल व्यक्ति उद्योग माना जाता है। वे अपने कालखंड के सांस्कृतिक प्रतिनिधि भी हैं। वे 2008 से फटाफट क्रिकेट तमाशा आई.पी.एल. से भी जुड़ गए हैं। 2007 में रिलीज हुई 'चक दे इंडिया' और 2010 में हुई 'माय नेम इज खान' से वे मुस्लिम चरित्रों को सजग रूप से निभाने लगे हैं। संभव है यह राजनीति में उनके उतरने की तैयारी का हिस्सा हो।

उदारवाद (1991–2010) के युग में हिन्दी सिनेमा युवान्मुख रहा है। युवा देहों के खेल से भरा। ऐंद्रिय उमंगों से लबरेज। इस युग का हिन्दी सिनेमा देहोन्मुख सिनेमा है। हिन्दी सिनेमा में युवा देह तो होती है लेकिन इस देह में युवा आत्मा के दर्शन अक्सर नहीं होते। यह आत्महीन देहवाद देह की कुरूप इच्छाओं का सर्कस होता है। इच्छाओं की इस राजनीति के पीछे एक अर्थनीति काम कर रही होती है। इन देहदृष्यों

में पूंजी का निवेश हुआ रहता है। शाहरुख खान, अक्षय कुमार और ऋतिक रोशन इस देहवादी सिनेमा के सफल सितारे हैं । आमिर खान ने 'लगान'(2001) से, अपनी फिल्मों और विज्ञापनों से, एक वैकल्पिक पहचान बनायी है। आशुतोष गोवारिकर और राजकुमार हीरानी की फिल्मों में युवा आत्मा की झलक भी दिखायी पड़ती है। 2005–2006 से सितारों की तुलना में निर्देशकों और बैनरों का महत्व बढ़ा है।

अपनी स्थूल सीमाओं का अतिक्रमण करते रहना एक जीवंत कला की नियति भी है और उसकी रचनात्मक ऊर्जा का लक्षण भी। ऐसा कहा जाता था कि हिन्दी समाज अपने आत्मान्वेषण और आत्म–साक्षात्कार से बचने की प्रवृत्ति वाला समाज बनता जा रहा है। अपनी कलाओं, साहित्य तथा रचनाकारों के साथ–साथ उसका कोई गहरा, अंतरंग और सृजनात्मक रिश्ता नहीं बचा है। लेकिन हाल के वर्षों में 'लगान', 'स्वदेस' , 'जोधा अकबर', 'कल हो न हो' (2003), 'दिल चाहता है' (2001), 'विवाह', 'रंग दे बंसती', 'चक दे इंडिया' (2007), 'ए वेडनेस डे', 'मुन्ना भाई एम.बी.बी.एस.' (2003), 'लगे रहो मुन्ना भाई' (2006), 'थ्री इडियट्स', 'मकबूल' (2004), 'इश्क़िया' (2010), 'खोसला का घोंसला' (2006), 'लकी ओय ओय लकी', 'देव डी', 'वेक अप सिड' जैसी फिल्मों को मिली सफलता से हिन्दी समाज की एक नई तस्वीर बनती है। हिन्दी समाज अब उदारवाद और उदारीकरण के शुरूआती मोह से उबरकर बहुआयामी रचनात्मकता के दौर में प्रवेश कर चुका है। आजकल बॉलीवुड की फिल्मों में रचनात्मक प्रयोग का पुराना दौर (1950 और 1960 का दशक) नए परिवेश में वापिस आ चुका है।

19वीं सदी के उदय के उत्तर भारत में व्यावसायिक प्रिंटिंग प्रेस के उदय के बीच मनोरंजन प्रधान साहित्य की भरमार और पाठक वर्ग के निर्माण की घटना महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तथ्य है। शिक्षित जनता ही पढ़–लिख नहीं रही थी। इस युग में पुरानी सामाजिक संरचना के मनोरंजनकारी विधाओं और मनोरंजन कर्मियों ने प्रिंट की जनतांत्रिक क्षमताओं का दामन थामा और लोकरंजक साहित्य की विपुल मात्रा में रचना की। प्रकाशकों ने व्यावसायिक लाभ के लिए ही सही हिन्दी को भरपूर पाठक दिए और साहित्य के उन लोकरूपों को जीवित रखा जो मेले–ठेले, तीज–त्यौहार से लेकर मंदिर–मजार तक पर स्वांग, लावनी, कजली, संगीत, भजन, प्रार्थना और किस्सागोई के रूप में नजर आते थे और जो बाद में हिन्दी फिल्मों के रचनाविधान की रीढ़ बने।

आजकल तकनीक के उत्साह में हम भूल जाते हैं कि कोई भी कला समय सापेक्ष होती है। वह अपने समय से संवाद करती है, तभी सर्वकालिक महान रचना में गिनी

जाती है। आज फिल्म कला के व्याकरण बदल चुके हैं परन्तु हम पुरानी कृतियों को आधुनिक व्याकरण के अनुसार रूपांतरित नहीं कर सकते। वे जिस रूप में महान थीं उसी रूप में आज भी महान हैं । वास्तव में धरोहर संरक्षित करने के लिए होती है दोहराने के लिए नहीं। पुरानी कालजयी फिल्में समय, समाज और सिनेमा की धरोहर हैं। उनके साथ छेड़छाड़ करना उचित नहीं है। ये सिर्फ एक कथा भर नहीं कहती, अपने समय के समाज और मानवीय स्वभाव की सूक्ष्मता को चित्रित करती है। ये अपने समय की तकनीकी श्रेष्ठता का प्रतिनिधित्व करती हैं । फिल्मी कला सबसे पहले अपने देशकाल का प्रतीक होती है फिर गीत, संगीत, अभिनय, गतियां तथा अन्य सब रीति–नीतियां। जो पटकथा हमारी समूची भाव–उर्जा को संबोधित नहीं होती, जो हमारे मानसिक रंगमंच पर अभिनीत होकर हमारा अपना सिनेमा नहीं बन पाता, उसे कोई भी मंच, कोई भी तकनीक, कैसा भी संगीत और कैसा भी प्रचार सिनेमा के रूप में ग्राह्य कथ्य, उसका शाब्दिक आधार ही होता है। यदि पटकथा कमजोर हो तो कोई तकनीक उसकी कमी को पूरा नहीं कर सकता।

बॉलीवुड में अमेरिका का निवेश शुरू हुआ। डिज्नी और फॉक्स स्टार भारत में अपनी दुकान खोल कर बैठ गए। अनिल अंबानी स्टीवन स्पीलवर्ग के व्यापारिक साझेदार बन गए। हॉलीवुड की फिल्में भारतीय भाषाओं में डब होकर बड़ी हिट होने लगीं। दक्षिण भारतीय फिल्मों का पहले हिन्दी में रीमेक होता था। अब सीधे डब होने लगी हैं।

हम भारतीय लोग खुशफहमी में अवश्य हिंदी फिल्म व्यवसाय को गर्व से देखते हैं परन्तु सच यही है कि अब भी इस देश के बाहर वर्तमान बॉलीवुड और वर्तमान भारत को बहुत कम लोग जानते हैं और जो लोग भारतीय सिनेमा की बात करते हैं और इज्जत की निगाह से देखते हैं वे साफ–साफ 1949 से 1982 तक के भारतीय सिनेमा की बात करते हैं। इसका कारण यही है कि भारतीय सिनेमा पर भारतीय भाषाओं एवं भारतीय दृष्टिकोण से अब तक काम नहीं हुआ है। आज हिन्दी सिनेमा के 75 प्रतिशत दर्शक 25 वर्ष या इससे कम आयु के, अंग्रेजी जानने–समझने वाले, युवा हैं। इनके लिए मूल्य या संस्कार कोई बड़ा मुद्दा नहीं है। अतः इनके लिए हिन्दी में बी ग्रेड हॉलीवुड फिल्म बनाई जा रही है। हिन्दी सिनेमा में भारत की संस्कृति अपनी सम्पूर्णता में नहीं दिख रही है। ऐसी फिल्मों को व्यावसायिक परियोजना की तरह सहज रूप से नहीं बनाया जा रहा है। कभी–कभी महंगी फिल्म बनती है जो अति नाटकीय हो जाती है। टुकड़ों में देखने पर आधुनिक संस्कृति के उत्पाद आकर्षित करते हैं , यह सुविधाजनक है लेकिन सम्पूर्णता में घिनौना है। शैतानी है। राक्षसी है। पशुवत है।

आधुनिकता एक आकर्षक छलावा है। एक नशा है। एक अंधी दौड़ है जिसकी कोई मंजिल नहीं है। इसकी गति में एक थ्रिल है। इससे व्यक्ति कहीं नहीं पहुंचता। यह इसकी आकर्षक गति बेचैनी, दुविधा और बोरियत की तरफ ले जाती है। जिसके लिए नशा, छलावा, दवा जैसी कृत्रिम चीज चाहिए। इन्हीं कृत्रिम चीजों की असफलता से चमत्कारी गुरुओं का बाजार फल–फूल रहा है। जबकि असल उपाय सनातन धर्म की ओर वापस लौटना है।

❑❑❑

स्वतंत्र भारत में युवा एवं हिन्दी सिनेमा

युवा की परिभाषा और पहचान अलग–अलग संस्कृतियों में अलग रही है। पश्चिमी परंपरा में 13 से 19 वर्ष के व्यक्ति को अल्पयुवा (टीनएजर्स) माना जाता है। 20–21 से 40 वर्ष के व्यक्ति को युवा माना जाता है। 40 से 60 वर्ष के व्यक्ति को अधेड़ माना जाता है और 60 वर्ष के बाद व्यक्ति को बुजुर्ग माना जाता है। पश्चिम के अलग–अलग देशों में और अलग–अलग काल–खंडों में उपरोक्त वर्गीकरण में कुछ भिन्नता रही है। उपरोक्त वर्गीकरण सांस्कृतिक मनोविज्ञान पर आधारित एक औसत परिभाषा कही जा सकती है। 13 वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को बच्चा माना जाता है।

इसके विपरीत भारतीय परंपरा में आश्रमों का वर्गीकरण इस प्रकार है– 25 वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम, 25 से 50 वर्ष तक गृहस्थ आश्रम, 50 से 75 वर्ष तक वानप्रस्थ आश्रम और 75 से 100 वर्ष तक संन्यास आश्रम भारतीय संविधान के अनुसार 18 वर्ष की उम्र में व्यक्ति को वोट देने का अधिकार होता है। पहले यह अधिकार 21 वर्ष में मिलता था। यानि 18 से 25 वर्ष की उम्र तक भारत में व्यक्ति बच्चा माना जाता है। 40 से 50 वर्ष की उम्र तक व्यक्ति जवान माना जाता है। 40 से 60–65 वर्ष तक व्यक्ति अधेड़ माना जाता है और उसके बाद बुजुर्ग माना जाता है। अवकाश प्राप्त करने की सरकारी उम्र पहले 58 वर्ष थी। अब 60 से 65 वर्ष हो गई है। जबकि आश्रम व्यवस्था में यह उम्र 75 वर्ष थी। यानि युवा की परिभाषा समाज में औसत आयु के घटने–बढ़ने के साथ बदलती रही है। कुछ विद्वानों के अनुसार 30 वर्ष की उम्र तक एक व्यक्ति का व्यक्तित्व अस्थिर होता है। वह कई तरह के दबावों, संकटों, संभावनाओं, आकांक्षाओं और प्रेरणाओं के बीच से गुजरता हुआ अपने चित्त में स्थिर होने की कोशिश करता है। 30 से 60 वर्षों के बीच उसका सबसे रचनात्मक काल होता है। 60 वर्ष में व्यक्ति भारत में षष्ठीपूर्ति मनाता है। यह व्यक्ति के दूसरे जन्म का सांस्कृतिक उत्सव माना जाता है।

इस दृष्टि से 1947 में भारत के युवा शक्ति की प्रेरणा महात्मा गांधी थे। 1948 में उनकी मृत्यु के बाद भी 1957 तक भारतीय युवा के बीच गांधी और उनके सपनों की प्रेरणा सबसे महत्वपूर्ण थी। भारत सरकार की पंचवर्षीय योजनाएं गांव केन्द्रित थीं। नए भारत के निर्माण का एक जुनून था। भारतीय विश्वविद्यालयों में राष्ट्रवादी विद्वानों की तूती थी। भारतीय फिल्मोद्योग में गांधी –नेहरू की विचारधारा को पटकथाओं में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। लता मंगेशकर, नर्गिस, दिलीप कुमार, राजकपूर, देवआनंद और अशोक कुमार युवा दिलों पर राज करते थे। टैगोर, शरतचन्द्र, बंकिम, प्रेमचंद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत और मैथिली शरण गुप्त की रचनाओं से युवा पाठक अपने जीवन के आदर्श प्राप्त करते थे। शिक्षा और नौकरी के लिए युवा लोग गांवों से शहरों की ओर जाते थे लेकिन गांव से उनका रिश्ता बना रहता था। युवा वर्ग आशाओं से लबालब भरा था। ऐसा लगता था मानो नये भारत का निर्माण 10 वर्षों में ही कर लिया जाएगा।

लेकिन 1957 आते–आते गांधीवादी आदर्श से नेहरू जी का मोह भंग होने लगा। दूसरी पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य नगरीकरण और औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने का हो गया। नेहरू भारत के युवा दिलों की आज भी धड़कन थे। लेकिन नेहरू की आस्था गांधी जी के ग्रामस्वराज में नहीं रह गई थी। इसी समय भारतीय सिनेमा में नए प्रेरणा पुरूषों का जन्म हुआ। लता मंगेशकर का महत्व बना रहा। नर्गिस विवाह करके फिल्मों से दूर हो गई। शम्मी कपूर, किशोर कुमार, सुनील दत्त और राजेन्द्र कुमार के रूप में नई पीढ़ी के नायकों का जन्म हुआ। शम्मी कपूर पूर्णत: पश्चिमी शैली के फैशनेबुल युवक थे। वहीदा रहमान, सायरा बानो, आशा पारेख, शर्मिला टैगोर और हेलेन के रूप में पाश्चात्य शैली की नायिकाओं का जन्म हुआ। इनकी पोशाकें बदलने लगीं। इनका चाल–चरित्र–चेहरा बदलने लगा। गांवों और कस्बों को छोड़कर लोग शहरों में शिक्षा और रोजगार के लिए बसने लगे। यदि 1947 से 1957 के बीच 'दो बीघा जमीन', 'दो आँखें बारह हाथ', 'श्री 420', 'मदर इंडिया' और 'बाजी' के बीच 'तुमसा नहीं देखा', 'हावड़ा ब्रिज', 'वक्त', 'गाइड', 'काश्मीर की कली', 'जंगली', 'चलती का नाम गाड़ी', 'मुगले आजम', 'हकीकत', 'मुसाफिर' जैसी फिल्मों का निर्माण हुआ। इन फिल्मों में 1964 आते–आते निराशा बढ़ने लगी थी। नेहरूवादी सपनों में युवा वर्ग की आस्था घटने लगी थी। लेकिन भारत का युवा वर्ग अब भी निराश नहीं था। लता मंगेशकर, आशा भोंसले, मुहम्मद रफी, मुकेश और मन्ना डे के गीतों में आशा और निराशा, हकीकत और अफसाना, हंसी और व्यंग का संगम था। 1962 में चीन के आक्रमण और 1964 में नेहरू की मृत्यु के बाद 1964से 1966 के बीच लालबहादुर शास्त्री ने देश को

नायकत्व दिया। उन्होंने जय जवान, जय किसान का नारा दिया। मनोज कुमार की फिल्में 'शहीद', 'उपकार', 'हिमालय की गोद में', 'हरियाली और रास्ता', 'शोर', 'पूरब और पश्चिम' की पटकथा, संवाद और गीतों में शास्त्री जी के नारे की गूंज है। शास्त्री के नारे में गांधीवादी ग्राम–स्वराज की स्पष्ट अनुगूंज थी। इंदिरा युग के आरंभिक वर्षों (1966–1973) में मनोज कुमार, धर्मेन्द्र, शशि कपूर, जितेन्द्र, फिरोज खान और राजेश खन्ना की धूम रही। हेमामालनी, रेखा और राखी का जन्म हुआ। 1960 के दशक में हॉकी भारत का सबसे महत्वपूर्ण खेल था। 1970 के दशक के आते–आते सुनील गावस्कर, बिशन सिंह बेदी, चन्द्रशेखर, प्रसन्ना, वेंकट राघवन और किरमानी जैसे क्रिकेटर मेजर ध्यानचंद जैसे हॉकी के जादूगर से ज्यादा लोकप्रिय सितारे बन गए। 1971 में इंदिरा गांधी ने पाकिस्तान को हराकर बंगला देश को स्वतंत्र देश बनवाया। बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया और प्रचंड बहुमत से चुनाव जीता।

1964 से 1971 के बीच राममनोहर लोहिया, दीनदयाल उपाध्याय, विनोबा भावे, चारू मजुमदार और इंदिरा गांधी के बीच कारण दिग्भ्रमित हो गया। फलस्वरूप 1969 में राजनेताओं से ज्यादा आकर्षक व्यक्तित्व राजेश खन्ना बन गए। उन्हें भारत का पहला सुपर सितारा माना जाता है। 1969 में ही नक्सलवादी आंदोलन शुरू हुआ और भारतीय विश्वविद्यालयों में मार्क्सवादी विचारधारा को प्रमुखता मिली। लेकिन इसी दौरान भारतीय सिनेमा में इप्टा और प्रगतिशील लेखन संघ से जुड़ा आंदोलन करीब–करीब समाप्त हो गया। भारत के क्षेत्रीय सिनेमा का राजनीति रुझान तो बना रहा लेकिन हिन्दी की मुख्यधारा वाली फिल्मों से राजनीति और सामाजिक सरोकार धीरे–धीरे कम होता गया। हॉलीवुड की फिल्मों और तकनीक का प्रभाव बढ़ता गया और हिन्दी का राष्ट्रीय सिनेमा चार प्रमुख धाराओं में विभक्त हो गया। एक तो मनमोहन देसाई की कॉमेडी फिल्मों की धारा, दूसरी ऋषिकेश मुखर्जी, बासु चटर्जी, गुलजार और ताराचंद बड़जात्या की छोटे बजट की साफ–सुथरी फिल्मों की धारा, तीसरी रमेश सिप्पी, प्रकाश मेहरा, यश चोपड़ा, फिरोज खान की बड़े बजट की सितारों से भरी तड़क–भड़क वाली हॉलीवुड प्रेरित फिल्में और चौथी मृणाल सेन, श्याम बेनेगल, सई परांजपे, सईद मिर्जा, कुमार शाहनी और मणिकौल जैसे लोगों की समानांतर सिनेमा की धारा। अमिताभ बच्चन, ऋषि कपूर, अमोल पालेकर, फारूख शेख और नसीरुद्दीन शाह, शबाना आजमी, स्मिता पाटिल, हेमा, रेखा, राखी, जीनत अमान और परवीन बॉबी के अलावा मनोज कुमार 1970 के दशक के प्रमुख प्रेरणा स्रोत थे। सत्तर के दशक में युवा वर्ग दिग्भ्रमित नहीं था। वह वर्गीकृत हो चुका था। कुछ लोग अपराध और हिंसा को जायज मानने लगे थे। समाज में संगठित

अपराध बढ़ रहा था। 1974 से 1977 के बीच भ्रष्टाचार और तानाशाही के विरुद्ध जयप्रकाश नारायण ने संपूर्ण क्रांति का नारा दिया। बहुत से युवा जे.पी. आंदोलन से जुड़ गए। बहुत लोगों को लगा कि जे. पी. वह कर लेंगे जो गांधी, नेहरू और विनोबा नहीं कर पाए थे। 1977 के आमचुनाव में कांग्रेस पहली बार लोकसभा का चुनाव हारी। ऐसा लगा मानो नए भारत के निर्माण में युवा वर्ग की ऊर्जा का यथोचित इस्तेमाल होगा। लेकिन 1980 में इंदिरा गांधी की पुन: चुनावी विजय हुई। जे. पी. के अनुयायियों में कुछ तो क्षेत्रीय राजनीति के महाबली क्षत्रप बन कर खुद भ्रष्टाचार और तानाशाही के नमूने बन गए परंतु अधिकांश युवाओं के सपनों को रौंद दिया गया। अमिताभ बच्चन सुपर सितारे बन गए।

1982 में भारत में रंगीन टी.वी. और सीरियल कार्यक्रमों का युग शुरू हुआ। 1983 में कपिल देव के नेतृत्व में भारत ने एकदिवसीय क्रिकेट का वर्ल्ड कप जीता। 1980 के दशक में दाउद इब्राहिम का महत्व अमिताभ बच्चन से कम नहीं रहा। उसने हिन्दी सिनेमा के व्यवसाय को बुरी तरह प्रभावित किया। दाउद इब्राहिम और रंगीन टी.वी. के साथ वीडियो पार्लर की बाढ़ में सिनेमा उद्योग का रचनात्मक पक्ष लगातार कमजोर पड़ता गया। फिल्म संगीत की तुलना में युवा वर्ग गजल, भजन और पुरानी फिल्मों के कैसेट्स सुनने लगा। गुलशन कुमार के टी–सीरिज ने गैर फिल्मी संगीत और पुरानी फिल्मों के संगीत को सस्ता और सर्वसुलभ बनाने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1980 के दशक में हिन्दी तथा देसी भाषाओं का महत्व निर्णायक रूप से घटा। कई प्रतिष्ठित प्रकाशन बंद हुए। साहित्य की बिक्री घटी और अंग्रेजी की प्रतिष्ठा बढ़ी। क्षेत्रीय विश्वविद्यालयों का स्तर गिरता गया और समाज विज्ञानों की तुलना में मैनेजमेंट, कम्प्यूटर और तकनीकी पेशों के प्रति युवा वर्ग का आकर्षण बढ़ता गया। सिनेमा हॉल की तुलना में टी.वी. और वीडियो या कम्प्यूटर का महत्व बढ़ता गया। क्रिकेट का आकर्षण महानगरों की तरह कस्बों और गांवों में फैलने लगा। 1989 आते–आते राष्ट्रीय दलों की तुलना में क्षेत्रीय दलों का राष्ट्रीय महत्व बढ़ने लगा। संविद सरकारों के दौर में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए भारत में प्रभाव जमाना आसान होता गया। 1991 से भारत में उदारीकरण का दौर शुरू हुआ और भारत के युवा उपभोक्तावाद की गिरफ्त में आते चले गए।

1990 के दशक में इस देश के मध्यवर्ग का तेजी से विस्तार हुआ। देसी भाषाओं का महत्व बढ़ता गया। हिन्दी के चैनल, हिन्दी के अखबार और हिन्दी में लघु पत्रिकाओं के साथ हिन्दी सिनेमा का बाजार अंग्रेजी के बाजार की तुलना में बढ़ने लगा। लेकिन उच्च शिक्षा और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कामकाज में अंग्रेजी का महत्व

यथावत बना रहा। हिन्दी समेत देसी भाषाएं वाचिक परंपरा का हिस्सा मानी जाती रहीं और अंग्रेजी साहित्य और बौद्धिक विमर्श की भाषा बनी रही। भारतीय समाज में स्पष्ट विभाजन हो गया। हिन्दी की मुख्यधारा की फिल्में भारतीय मध्यमवर्ग और विदेशों में बसे भारतीयों एवं विदेशी दर्शकों के लिए बनायी जाने लगीं। जबकि गांव और कस्बों तथा छोटे शहरों में क्षेत्रीय सिनेमा का विस्तार हुआ। क्रिकेट के क्षेत्र में और राजनीति में उच्च मध्यम वर्ग तथा महानगरों के युवाओं का वर्चस्व लगातार घटता जा रहा है। क्षेत्रीय सिनेमा और टी.वी. के कार्यक्रमों में भी गैर–महानगरीय पृष्ठभूमि के युवा सफल हो रहे हैं लेकिन गांवों में कोई रहना नहीं चाहता। नगरीकरण, उदारीकरण और वैश्वीकरण के इस दौर में भारत का युवा वर्ग दो भागों में बंटा हुआ है। निम्न वर्ग एवं निम्न मध्यम वर्ग के युवा में निराशा, हताशा, हिंसा और महत्वाकांक्षा का घालमेल है। उच्चमध्यम वर्ग और उच्चवर्ग के युवा में महत्वाकांक्षा, उपभोक्तावाद और सुपरपावर बनने का जज्बा है। हर प्रकार के युवा में धार्मिकता और कर्मकाण्ड, सेक्स, हिंसा और थ्रिल (मजा) के प्रति अतिशय आकर्षण है। एम.एस. धोनी, अक्षय कुमार, शाहरुख खान, आमिर खान, ऋतिक रोशन, ऐश्वर्य राय, सानिया मिर्जा युवा पीढ़ी के समकालीन आदर्श हैं। युवा पीढ़ी में जल्दी से जल्दी किसी भी कीमत पर सफलता पाने की होड़ है। इसके लिए वे रात–दिन काम करने को तैयार रहते हैं। सौभाग्य से उन्हें पिछले डेढ़ दशक में मौका भी लगातार मिला है।

भारतीय समाज की तरह भारतीय युवा भी संक्रमण काल से गुजर रहा है। एक अर्थ में वह उपनिवेशवादी प्रभाव से पूरी तरह स्वतंत्र है। दूसरे अर्थों में वह स्वतंत्रता आंदोलन की राष्ट्रीय चेतना से भी कटा हुआ है। लेकिन वह परम्परा और विरासत के प्रति उत्सुक भी बना हुआ है। यही कारण है कि रंग दे बसंती और जोधा–अकबर जैसी फिल्में तथा रामायण, महाभारत एवं हनुमान या गणेश जैसे सीरियलों या एनिमेटेड फिल्में युवा पीढ़ी में आज भी लोकप्रिय हैं। वह आज भी खर्च की तुलना में बचत के प्रति ज्यादा सतर्क हैं। परिवार एवं विवाह जैसी संस्थाओं के प्रति उसकी आस्था आज भी यथावत बनी हुई है। राजनीति के बाहर जाति, छुआछूत और साम्प्रदायिकता का महत्व भारतीय युवा वर्ग में करीब–करीब नगण्य है। मंदिरों एवं तीर्थस्थानों में युवाओं की संख्या सबसे ज्यादा दिखती है। योग, प्राकृतिक चिकित्सा, ज्योतिष, धर्म के साथ–साथ उत्तरआधुनिक जीवन शैली और पहनावा को एक साथ साधने की कोशिश में उन्हें कई बार दुविधा होती है, कई बार निराशा होती है, कई बार भ्रम होता है लेकिन कुल मिलाकर हर स्थिति में समन्वय और अनेकता में एकता की वैश्विक दृष्टि भारतीय युवा की पारिभाषिक विशेषता बनी हुई है।

❑❑❑

हिन्दी फिल्मों में समकालीन प्रेम कथाएं

आधुनिकता का जो रूप भारत में लोकप्रिय हुआ है उसे दीपांकर गुप्ता जैसे लोग चाहे जितना 'मिस्टेकेन' (भ्रम पर आधारित भूल) कहें, यह है बड़ी अनोखी चीज। अपने यूरोपीय संदर्भ से कट जाने भर से भारतीय आधुनिकता को भूल या भ्रष्ट रूप कहना ठीक नहीं है। दुनिया की हर संस्कृति ने दूसरी संस्कृतियों से अपनी सुविधा के अनुसार कई तत्व ग्रहण किए हैं। हर संस्कृति अपनी शर्तों पर ही चीजों या तत्वों को ग्रहण करती है। आधुनिकता में एक प्रकार का फ्रीडम या स्वतंत्रता है। एक प्रकार का लचीलापन है। अत: आधुनिकता का विन्यास सांस्कृतिक रूप से बहुमुखी होता है। इसे भारत में आम आदमी तो समझता है लेकिन विश्वविद्यालय के शिक्षक सामान्यत: नहीं समझते। उनका संदर्भ हमेशा यूरोपीय होता है। हिन्दी सिनेमा में आधुनिक किस्म के प्रेम के समकालीन स्वरूप को देखना दिलचस्प उदाहरण हो सकता है।

काईट्स (अनुराग बसु, राकेश रोशन) आकर जा चुकी है। यह 'माई नेम इज खान' (करण जौहर) की तरह एक साधारण प्रेम कथा है जिस पर 'एक–दूजे के लिए', 'मिलन' और 'देवदास' का प्रभाव है। इनकी हाइप बनाने की कोशिश की गई परन्तु 'काईट्स' एवं 'माई नेम इज खान' की पटकथा में गहराई नहीं थी। इनका कैनवास भी बड़ा नहीं था। इसके विपरीत प्रकाश झा की फिल्म 'राजनीति' के कैनवास और पटकथा में तुलनात्मक विस्तार एवं गहराई है। प्रकाश झा मणिरत्नम और राजकुमार संतोषी की तरह सामाजिक यथार्थ के चितेरे हैं। इनकी फिल्मों में आधुनिक प्रेम का भारतीय संदर्भ बहुत स्पष्ट एवं उत्कट होता है। 'राजनीति' फिल्म में भी प्रेम का सूक्ष्म चित्रण है। जैसे मणिरत्नम के गुरु और संतोषी के अजब प्रेम की गजब कहानी में भी था। भारतीय फिल्मों की एक विशेषता प्रतिहिंसा की आंच के बीच भी भोलेपन और मासूमियत की सात्विकता और विदग्धता को बचाये रख कर ममत्व एवं रूमानियत के जल से दर्शकों को सराबोर करना रहा है। हर लेखक और हर फिल्मकार अपने हृदय में एक सोता छुपाए होता है। पूरे जीवन वह जो कुछ कहता है और जो वह है, इसी सोते से पुष्पित–पल्लवित होता है।

जहां तक अनुराग बसु की बात है वे मर्डर, गैंगस्टर, लाइफ इन ए मेट्रो और काईट्स बनाकर अपनी एक पहचान बना चुके हैं लेकिन वे 'ए' क्लास के निर्देशक नहीं हैं। उनकी तुलना विशाल भारद्वाज, अनुराग कश्यप, राकेश ओमप्रकाश मेहरा से ही की जा सकती है। करण जौहर 'ए' क्लास के निर्माता हैं परन्तु निर्देशक के रूप में वे 'बी प्लस' और 'ए माइनस' ग्रेड के बीच की चीज हैं। निर्माता के रूप में वे 'कल हो न हो' (निखिल आड़वानी), 'वेक अप सिड' (अयान मुखर्जी) जैसी फिल्में बना चुके हैं। अब वे 'आय हेट लव स्टोरीज' (मुझे प्रेम कहानियों से नफरत है, निर्देशक पुनीत मल्होत्रा) लेकर आ रहे हैं। इनकी तुलना इम्तियाज अली (सोचा न था, जब वी मेट, लव आजकल) अब्बास टायर वाला (जाने तू या जाने ना), जोया अख्तर (लक बाई चांस) और अयान मुखर्जी (वेक अप सिड़) की फिल्मों से की जा सकती है। इन फिल्मों में आज की युवा पीढ़ी के प्यार के बारे में बदलते हुए नजरिए को प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। इस पीढ़ी के युवा अनौपचारिक हैं और मस्ती की खोज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को पुनर्परिभाषित करते हैं। उनकी सामाजिक परिस्थिति बदल गई है – समाज में खुलापन बढ़ा है। टेक्नोलॉजी का प्रभाव बढ़ा है, महत्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्धा बढ़ी है, असंतोष या तृप्ति की कमी भी बढ़ी है, अनुभूति की तीव्रता घटी है, समझौतावादी प्रवृत्ति और भावनाशून्यता बढ़ी है। अब प्रेम में कोई फना नहीं होता। हर हाल में लोग जी लेते हैं। प्रथम नजर का प्यार अब विरल हो गया है। लोग साथ रहते–रहते धीरे–धीरे एक–दूसरे को प्यार करने लगते हैं। यह प्यार लैला–मजनूं, शीरी–फरहाद, रोमियो–जूलियट या चन्द्रमुखी–देवदास वाला प्यार नहीं होता। यह 'देव डी' (अनुराग कश्यप) या 'वेक अप सिड़' (अयान मुखर्जी) वाला प्यार हो गया है। अब प्रेम में लोग सामान्यत: पागल नहीं होते, न विरह में तिल–तिल कर मरते हैं। 'काईट्स' आज के युवा की प्रतिनिधि प्रेम कहानी नहीं है। बावलापन को दुनियादारी ने छीन लिया है। प्रेम अब भी जीवन के लिए आवश्यक तत्व है लेकिन आज के युवा प्रेम की पहचान में दिशाहीन और अनुभूतिशून्य होते जा रहे हैं। करण जौहर की पहली फिल्म 'कुछ कुछ होता है' (1998) इस पीढ़ी के युवा प्रेम की शुरूआती अभिव्यक्ति थी। 'आय हेट लव स्टोरीज'(2010) 'कुछ कुछ होता है' से प्रेरित फिल्म है। इसमें इमरान खान और सोनम कपूर को एक नया मौका मिला है। इमरान खान और सोनम कपूर की यह फिल्म इनके डगमगाते कॅरियर को नई दिशा दे सकती है।

जहां तक प्रेम का सवाल है, एक स्तर पर हिन्दी फिल्मों में पुराने युग की वापसी हो रही है। मेहबूब खान के 'अंदाज' की तुलना 'लव आजकल' (2009, इम्तियाज अली) से की जा सकती है। रमेश सिप्पी के 'अंदाज़'(1971) की तुलना आदित्य चोपड़ा निर्मित 'प्यार इंपौसिबुल' (2010) से की जा सकती है। स्टंट और हिंसा का

थ्रिल अमिताभ बच्चन के युग की तुलना में हिन्दी सिनेमा में अब हाशिए पर जा चुका है। अब रोमांस एवं प्यार की नए रूप में वापसी हुई है। गजनी और काईट्स मूलत: प्रेम में पगलाए नायक की हिंसा है, यंग्री यंग मैन का गुस्सा नहीं है, न खलनायकों का स्टंट है। धूम, धूम–2 अब पुरानी बातें हो चुकी हैं। अब या तो कॉमेडी फिल्में चलती हैं या रोमांस ही बिकता है। रोमांस का स्वरूप बदला है। परन्तु रोमांस की नए रूप में वापसी हुई है। प्रेम और वासना के बीच की दीवार टूट गई है। अब प्रेम या तो सुविधाजनक साहचर्य का नाम है या वासना की हवस का नाम है। गजनी और काईट्स में प्रेम का एक रूप है। 'मर्डर', 'लाइफ इन ए मेट्रो', 'इश्किया', 'लक बाई चांस', 'फैशन' आदि में प्रेम का एक दूसरा रूप है। 'जिस्म', 'धड़कन', 'ऐतराज' 'देव डी' में प्रेम का एक तीसरा रूप है। 'गैंगस्टर' में प्रेम का चौथा रूप है।

लेकिन जो 'कुछ कुछ होता है', 'जब वी मेट', 'लव आजकल' और 'जाने तू या जाने ना' वाला प्रेम है। वह युवा पीढ़ी के समकालीन प्रेम का ज्यादा सही प्रतिनिधित्व करता है। इसी श्रेणी में 'हम – तुम', 'सलाम – नमस्ते', 'दिल चाहता है', 'कल हो ना हो' और 'क्या कहना' की भी चर्चा की जा सकती है। यह प्रेम के समकालीन विविधता का नार्मल रूप प्रस्तुत करने वाली फिल्में हैं। इस नार्मल प्रेम कथा के द्वारा भारत में आधुनिकता के बहुआयामी विमर्श की प्रस्तुति हुई है। भारत में प्रेम का एक रूप दोस्ती भी है। 1975 में बनी फिल्म 'शोले' में निर्देशक रमेश सिप्पी ने वीरू और जय की बेमिसाल दोस्ती को केन्द्र में रखकर गब्बर और ठाकुर के संघर्ष की कथा कही थी। इसमें धर्मेन्द्र (वीरू) और अमिताभ (जय) की हेमा और जया भादुड़ी से प्रेम का तड़का भी है लेकिन 'शोले' का क्लाइमैक्स अमिताभ बच्चन (जय) की मृत्यु के बाद धर्मेन्द्र (वीरू) का यह अहसास है कि जय पूरे जीवन जो सिक्का उछालता था वह दोनों तरफ से एक जैसा था। उसे जय के त्याग (बलिदान) की अनुभूति होती है और वह दोस्ती की रौ में सबको मार गिराता है।

'काईट्स' का क्लाइमेक्स ऋतिक रोशन की यह अनुभूति है कि बारबरा मोरी रितिक को बचाने के लिए अपनी जान दे देती है। इस गहन अनुभूति के बाद वह सबको मार कर खुद अपनी जान दे देता है। लेकिन 'काईट्स' विदेशी दर्शकों को ध्यान में रखकर बनायी गई थी। इस फिल्म के आधे संवाद स्पेनिश और अंग्रेजी में हैं। अत: फिल्म भारत में पिट गई। बाहर भी नहीं चली। 'माई नेम इज खान' भी मूलत: विदेशी दर्शकों को ध्यान में रखकर बनायी गई थी। लेकिन बाल ठाकरे और शिव सैनिकों ने विवाद खड़ा करके फिल्म को देश में भी चलवा दिया। परन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से 'काईट्स' और 'माय नेम इज खान' दोनों साधारण फिल्में हैं। 'राजनीति'

महाभारत से प्रेरित कथा फिल्म है। श्याम बेनेगल की 'कलयुग' भी महाभारत से प्रेरित फिल्म थी। लेकिन 'राजनीति' के केन्द्र में कैटरीना कैफ और सरोह थॉम्पुसन का चरित्र है। जबकि 'कलयुग' के केन्द्र में शशि कपूर का चरित्र था। 'ओमकारा' में कमरबंद प्रकरण तक फिल्म में तेज प्रवाह है। उसके बाद फिल्म कमजोर पड़ जाती है।

विशाल भारद्वाज की सभी फिल्मों का अंत कमजोर होता है। 'मकबूल' आम दर्शकों के लिए नहीं बनायी गई थी। यह विशाल भारद्वाज की श्रेष्ठ रचना है। परन्तु अंत इसका भी लचर है। 'कमीने' सफल फिल्म होने के बावजूद सार्थक फिल्म नहीं है। राकेश ओमप्रकाश मेहरा की 'अक्स' बकवास थी। 'रंग दे बसंती' का अंत लचर था, 'दिल्ली–6' में बंदर प्रकरण अनावश्यक था। संजय लीला भंसाली की 'सांवरिया' एक दिशाहीन, दृष्टिहीन फिल्म थी। 'सांवरिया' और 'दिल्ली–6' की असफलता से सोनम कपूर उबर नहीं पायी है। इमरान खान ने 'जाने तू या जाने ना' में सफलता पायी थी लेकिन इसके बाद उसने 'किडनैप' जैसी बकवास फिल्म करके अपना कॅरियर बिगाड़ा। 'आय हेट लव स्टोरिज' उसके लिए महत्वपूर्ण फिल्म थी। प्रेम वही कर सकता है जिसकी जिन्दगी में एक निश्चित दिशा और दृष्टि हो। प्रेम मात्र चाहत या लगाव भर नहीं है। यह अपने प्रेमी और प्रेमिका के प्रति प्रतिबद्धता भी है।

'राजनीति' फिल्म में अमेरिका में बसी आयरिश लड़की साराह थॉम्पसन सूक्ष्म संकेतों को पकड़कर भारतीय राजनीति में व्याप्त हिंसा और अनैतिक आचरण को सबसे पहले समझ लेती है। वह अपने प्रेमी रणबीर कपूर को कहती है कि अमेरिका में वह जितना संवेदनशील और प्रेमल हृदय वाला था, अपने राजनीतिक परिवार में उतना ही निर्मम और हिंसक हो गया है। वह यह भी कहती है कि वह अपने कोख में पल रहे बच्चे को इस हिंसक वातावरण में जन्म नहीं देना चाहती। भारत में राजनीति, पूंजीवाद और माफिया के गठबंधन के कारण भारतीय प्रजातंत्र का स्वरूप नितांत भारतीय शैली में विकसित हुआ है जिसमें परिवारवाद, हिंसा, कुरीतियां एवं सामंतवाद का मिला–जुला असर है। प्रकाश झा की फिल्म 'राजनीति' भारतीय महाकाव्य 'महाभारत' एवं पूंजीवादी महागाथा 'गॉडफादर' का अजीब मिश्रण है। इस मिश्रण से जो कथा तैयार हुई है उसमें पुरुष पात्रों की सशक्त उपस्थिति के बावजूद भावनात्मक प्रवाह के केन्द्र में कैटरीना कैफ और साराह थॉम्पसन का चरित्र है। कई मामलों में यह फिल्म रमेश सिप्पी के 'शोले' की तरह है। 'शोले' को अमजद खान के अभिनय के लिए याद किया जाता है। 'राजनीति' को अजय देवगण के अभिनय के लिए याद किया जाएगा। नाना पाटेकर, मनोज वाजपेयी, अर्जुन रामपाल और रणबीर कपूर ने भी अच्छा अभिनय किया है।

'राजनीति' फिल्म से कहानी, प्लॉट एवं पटकथा की वापसी हुई है। '3 इडियट्स' फिल्म में कहानी और पटकथा में कमियां थीं। 'इश्किया' की कहानी काल्पनिक एवं अविश्वसनीय थी। 'माय नेम इज खान' एक मेलोड्रामा थी जिसकी कहानी और पटकथा में सपाटपन था। हर प्रेम कहानी में नाटकीय मोड़ होते हैं। फिल्म 'राजनीति' में रणबीर कपूर की जिन्दगी में दो औरते हैं– कैटरीना कैफ और साराह थॉम्पसन। कैटरीना कैफ में द्रौपदी की छाया है। साराह थॉम्पसन में सुभद्रा की छाया है। रणबीर कपूर अर्जुन की छाया है। अर्जुन रामपाल युधिष्ठिर की छाया है या भीम की, यह स्पष्ट नहीं है। नाना पाटेकर कृष्ण की भूमिका निभाता है। मनोज वाजपेयी दुर्योधन की छाया है। अजय देवगण कर्ण है। 'राजनीति' की पटकथा में गॉडफादर के प्लॉट को महाभारत की कहानी में फिट करने की कोशिश की गई है।

इस फिल्म में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र और भारतीय रस सिद्धांत तथा नायिका भेद को दरकिनार करके हॉलीवुड की कास्टिंग से प्रेरणा ली गई है। यह अपनी समस्या लेकर आया है। कैटरीना कैफ द्रौपदी नहीं लगती। साराह थॉम्पसन सुभद्रा नहीं लगती। रणबीर कपूर अर्जुन नहीं लगता। अर्जुन रामपाल युधिष्ठिर की जगह भीम लगता है। प्रकाश झा के महाभारत (राजनीति) में भीम और सुभद्रा की हत्या हो जाती है। कर्ण की भूमिका में अजय देवगण है। परन्तु फिल्म में उसे खलनायक के रूप में विकसित किया गया है। 'राजनीति' 2010 की भारतीय परिस्थिति में विश्वसनीय नहीं लगती। इसमें जिस तरह हत्यायें की जाती हैं और पुलिस कुछ नहीं करती। न्यायालय तथा मीडिया कुछ नहीं करता, सी. बी. आई. कुछ नहीं करती, यह सब खलने वाली कमियां हैं। लगता है मानो फिल्म 1989 से 1998 के लालू राबड़ी राज के बिहार की राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। परन्तु तब अर्जुन का चरित्र पूरी तरह अविश्वसनीय हो जाता है। नाना पाटेकर कृष्ण की भूमिका में है। परन्तु आरंभ में वह शकुनि मामा लगता है। कर्ण का पिता इस फिल्म में एक नक्सलवादी क्रांतिकारी है। सूर्यपुत्र कर्ण को नक्सलवादी क्रांतिकारी का बेटा बनाकर प्रकाश झा और अंजुम रजब अली क्या साबित करना चाहते हैं? दरअसल कर्ण के जन्म के पीछे 'राजनीति' में एक अजीब प्रेम कहानी कहने की कोशिश की गई है।

'राजनीति' में पटकथा और कहानी की वापसी अवश्य हुई है परन्तु यह विश्वसनीय भारतीय कहानी नहीं है। इसमें दृष्टिहीनता है। कुल मिलाकर 'राजनीति' मधुर भंडारकर की 'सत्ता' से बेहतर फिल्म नहीं बन पायी है। इसमें न तो वेदव्यास के 'महाभारत' के साथ न्याय हुआ है और न ही हॉलीवुड की महगाथा 'गॉडफादर' के साथ न्याय हुआ है। फिर भी 'राजनीति' को व्यावसायिक सफलता मिली है। प्रकाश

झा 'राजनीति' में बहुत महत्वाकांक्षी हो गए थे अत: उन्होंने 'मृत्युदंड', 'गंगाजल' एवं 'अपहरण' की तरह एक सरल कहानी कहने की बजाय एक जटिल विषय चुना जिसके साथ न्याय करने का धैर्य वे नहीं रख पाये। कुल मिलाकर यह फिल्म प्रकाश झा की व्यावसायिक चतुराई का प्रमाण है। इसके बावजूद यह 2010 की महत्वपूर्ण फिल्मों में से एक है। दरअसल हिन्दी सिनेमा में समकालीन प्रेमकथाओं की प्रस्तुति में अभी सांस्कृतिक परिपक्वता का अभाव है।

'राजनीति' की कहानी समकालीन घटनाओं पर भी बनायी जा सकती थी। कैटरीना कैफ का नाम इन्दू है। यह इंदिरा गांधी का घरेलू नाम था। कैटरीना कैफ के चरित्र में सोनिया गांधी का शेड (छाया) है। अर्जुन रामपाल के चरित्र में संजय गांधी का शेड है। रणबीर कपूर के चरित्र में राजीव व राहुल गांधी का शेड है। लेकिन अन्य पात्र महाभारत से प्रेरित काल्पनिक चरित्र हैं। अपनी सीमाओं के बावजूद 'राजनीति' एक गंभीर फिल्म है। इसमें दर्शकों के अवचेतन को झंकृत करने का प्रयास है। समकालीन प्रेम कथाओं के दौर में यह अपने सामाजिक संदर्भों की प्रस्तुति गंभीरता से करने का प्रयास करती है। समकालीन प्रेम कथाओं की प्रस्तुति में सनसनी, देहवाद, मजावाद और उपभोक्तावाद का बोलबाला है। पूंजीवादी बाजार और लोभ के युग में प्रेम की सूक्ष्म प्रस्तुति 'राजनीति' की सफलता है।

दूसरी ओर पुनीत मल्होत्रा द्वारा निर्देशित और करण जौहर द्वारा निर्मित 'आय हेट लव स्टोरिज' 1990 के दशक की मशहूर प्रेम कहानियों वाली फिल्मों को संदर्भ बनाकर एक रोमांटिक कॉमेडी है। यह 20 से 30 वर्ष के युवा भारतीयों की ज्यादा प्रतिनिधित्व करने वाली समकालीन प्रेम कथा है। इसकी जड़ में 'कयामत से कयामत तक' (1988), 'मैंने प्यार किया' (1989), 'दिलवाले दुल्हनियां ले जायेंगे'(1995), 'कुछ कुछ होता है' (1998), 'हम दिल दे चुके सनम' (1999), 'कहो न प्यार है' (2000) और 'गदर' (2001) जैसी प्रेम कथाओं की पृष्ठभूमि है।

'आय हेट लव स्टोरिज' फिल्म का नायक इमरान खान उपरोक्त फिल्मों के जोनर (शैली) को पसंद नहीं करने का दावा करते हुए प्यार कर बैठता है। इस फिल्म की कथा, पटकथा, संवाद और निर्देशन पुनीत मल्होत्रा की है। पुनीत मल्होत्रा करण जौहर के सहायक निर्देशक रहे हैं। इस फिल्म का नायक भी एक नामी निर्देशक का सहायक निर्देशक है। अत: फिल्म को आत्मकथात्मक भी माना जा रहा है। लेकिन पुनीत मल्होत्रा का कहना है कि यह मूलत: इमरान खान के असली जीवन से प्रेरित प्रेम कथा है जिसे कॉमेडी शैली में (रोमांटिक कॉमेडी) बनाया गया है। पुनीत

मल्होत्रा, इमरान खान और सोनम कपूर हमउम्र हैं। ये लोग 20 वर्ष और 30 वर्ष के बीच के युवाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। बदलते हुए भारत में युवाओं की जीवन दृष्टि में प्रेम के स्वरूप को समझने के लिए यह एक महत्वपूर्ण फिल्म है। इसकी तुलना 2001 की फिल्म 'दिल चाहता है' या 2009 की फिल्म 'लव आजकल' से करके इक्कीसवीं सदी के प्यार और बीसवीं सदी के अंतिम दशक की प्रेम कहानियों को गहराई से समझने में आसानी हो सकती है।

❑❑❑

भारतीय समाज की अंतर्धारा : समाज, खेल एवं सिनेमा

भारत देश के समाज की अंतर्धारा का उत्स कला और धर्म है। खेल और सिनेमा इसी अंतर्धारा की अभिव्यक्तियां हैं। इस देश की राजनीति और अकादमिक बौद्धिकता पर अंग्रेजी राज का प्रभाव अब भी है लेकिन इसके समाज, खेल, सिनेमा एवं उद्यमशीलता पर उपनिवेशवादी प्रभाव का क्षरण हो चुका है। इसमें भारत के स्वतंत्रता संग्राम (1857 से 1947) की सबसे महत्वपूर्ण भूमिका रही है। 1913 से ही भारतीय सिनेमा इस आंदोलन का सांस्कृतिक आयाम रहा है। फिर हॉकी और क्रिकेट में भी राष्ट्रवादी रुझान सामने आया। गाँवों और छोटे शहरों की अंतर्धारा अंग्रेजी राज में भी अक्षुण्ण बनी हुई थी। अंग्रेजों का सबसे ज्यादा प्रभाव अंग्रेजी पढ़े मध्यमवर्ग और महानगरों के निवासियों पर रहा है। इन महानगरों का विकास भी अंग्रेजी राज में ही हुआ था। कुल मिलाकर उपनिवेशवादी विरासत का अंतिम खंडहर इस देश की राज्य व्यवस्था और राजनीति द्वारा पोषित संस्थाओं में अब भी कायम है। यह तो इस देश का सौभाग्य है कि यह अपने अंतर्विरोधों के बावजूद सत्ता और सरकार से निरपेक्ष होकर आनंद में रहता है। प्रकृति ने भारत को अपने में आनंद से रत्त स्वायत्त इकाई बनाया था जिसमें तीन तरफ से समुद्र और एक तरफ से पहाड़ था।

यह तो हमने देश का बंटवारा हो जाने दिया। साथ ही तिब्बत चीन को दे दिया। वरना न हम किसी से लड़ते, न कोई हमसे लड़ता। देश का बंटवारा नहीं होता तो 1962 का भारत–चीन युद्ध भी शायद ही होता। चीन भी मूलत: पाकिस्तान का ही इस्तेमाल करता है। बंटवारा नहीं होता तो दंगे ज्यादा होते। लड़ाई–झगड़े होते रहते लेकिन कुछ मिलाकर उसका कुफल कम होता। सेना का बजट कम होता। युद्ध कम होते। चीन की भी आक्रमण करने की हिम्मत नहीं होती। यह गांधी की दृष्टि थी। गांधीवादी लोग अब भी ऐसा मानते हैं। कुछ हिंदूवादी ऐसा मानते हैं कि बंटवारा हिन्दुओं के लिए अच्छा हुआ, नहीं तो भारत का भी वही हाल होता जो पाकिस्तान

और बांग्लादेश का है। मुसलमान लोग स्व–शासन एवं स्वराज के लिए समर्थ नहीं हैं। वे लोग स्व–शासन के लिए मानसिक रूप से तैयार नहीं हैं। इनकी नजर में सरदार पटेल इस देश के स्वाभाविक नेता थे और नरेन्द्र मोदी हैं। मुसलमान केवल भयभीत होकर शांत रह सकते हैं। इस्लाम एक राजनीतिक विचारधारा है। इसमें धर्म का तत्व बहुत कम है। पिछले 100 वर्षों में उनके पास लड़ाके हुए हैं। उनके बीच धर्म प्रचारक या उपदेशक कितने हुए हैं। बिन लादेन, दाउद इब्राहिम, मुख्तार अंसारी, सिवान वाला शहाबुदीन, मुसर्रफ, जियाउल हक, गुलबुद्दीन हिकमतयार, सद्दाम हुसैन, अहमदनदीजाद, मौलाना उमर, अब्दुला बुखारी आदि। उनके बीच बाबा रामदेव, श्री श्री रविशंकर, महेश योगी, ओशो रजनीश, अवधेशानंद गिरी जैसे लोकप्रिय प्रचारक क्यों नहीं हैं ?

जिस तरह की समालोचना, जिस तरह का सवाल अमेरिकी विश्वविद्यालयों एवं प्रतिष्ठान ने कम्युनिस्टों की विचारधारा के खिलाफ खड़ा किया था उस तरह का मारक अकादमिक समालोचना पश्चिम ने इस्लाम के खिलाफ अब भी नहीं चलाया है। वे केवल बुरे तालिबान या जेहादी इस्लाम को निशाना बनाते रहे हैं। वे केवल इस्लामी आतंकवाद के खिलाफ हैं, इस्लाम की गंभीर समालोचना से वे अभी भी बचते रहे हैं। इसका सबसे बड़ा कारण दोनों की साझी विरासत है। दोनों सेमेटिक धर्म हैं। जो आलोचना कुराण और इस्लाम पर लागू होगी वह बाइबिल और ईसाईयत पर भी लागू होगी। ज्ञानोदय के जिस जोश में पश्चिमी राजनीतिक अर्थशास्त्र का सेक्युलराइजेशन और समाज का रेशनलाइजेशन हुआ था वह अब पश्चिम में कमजोर पड़ चुका है। अब पश्चिम रक्षात्मक हो चुका है।

पश्चिम की मूल प्रतियोगिता अब चीन एवं भारत से है। ऐसे भी अमेरिकी शासकों को गैरप्रजातांत्रिक एवं गैरसंप्रदाय निरपेक्ष मुसलिम देश एवं शासक ज्यादा रास आते हैं। अत: वे बुरे तालिबान के खिलाफ 'अच्छे तालिबान' को लड़ाने का नीति पर काम कर रहे हैं। मुसलिम इतिहास की यह अजीब विडंबना है कि मुसलमानों ने मुसलमानों को ही ज्यादा मारा है, काफिरों को बहुत कम मारा है। यह तो हमारे नेतृत्व की कमजोरी है कि हमारे यहां आतंकवादी हमले लगातार होते रहते हैं और हम पकड़े गए आतंकवादियों को सजा देने की हिम्मत नहीं जुटा पाते हैं वरना वे हमें नहीं मार सकते थे।

न्यूजीलैंड में भारत ने 33 साल से भी अधिक समय बाद वन डे सीरीज जीती है। 1968 में मंसूर अली खां पटौदी की अगुआई में भारत ने 3–1 से टेस्ट सीरीज जीती थी। भारत ने लगातार चौथी सीरीज अपने नाम की। भारत ने इंग्लैंड से सीरीज जीतने

के बाद न्यूजीलैंड दौरे से पहले श्रीलंका और आस्ट्रेलिया को उसी की सरजमीं पर हराया था। वीरेन्द्र सहवाग ने 60 गेंदों पर शतक बनाकर अजहरूदीन के 62 गेंद पर शतक के भारतीय रेकार्ड को तोड़ा। वे पहले तिहरा शतक लगा चुके हैं। कुछ लोग सहवाग के फुटवर्क के बारे में अंगुली उठाते हैं लेकिन गावस्कर के अनुसार तकनीकी खामी से खेल प्रभावित नहीं होता। धोनी ब्रिगेड ने भारत को क्रिकेट की बादशाहत दिला दी है।

क्रिकेट की तरह ही मनोरंजन की दुनिया में भी नई पीढ़ी कमाल कर रही है। टेलिविजन सीरियल की दुनिया में स्टार प्लस चैनल पर प्रसारित होने वाली एकता कपूर की सीरियलों का युग समाप्त हो गया है। नया टी.वी. चैनल कलर्स की 'बालिका वधू' नामक सीरियल ने स्टार प्लस का सीरियल 'बिदाई' से लगभग दोगुना (ग्यारह) टी. आर. पी. लेकर सीरियल निर्माताओं की नींद हराम कर दी है। यह बेहतर ढंग से लिखित और निर्देशित सीरियल है तथा तकनीकी गुणवत्ता और अभिनय इत्यादि में यह अपनी समकालीन कृतियों से बहुत आगे है।

हिंदी सिनेमा के क्षेत्र में भी प्रयोगों की भरमार हो रही है। संजय लीला भंसाली, विशाल भारद्वाज, अनुराग कश्यप, राकेश ओमप्रकाश मेहरा, अब्बास टायरवाला, नीरज पांडेय, इम्तियाज अली, निशिकांत कामत, जोया अखतर जैसे नए निर्देशकों ने प्रयोगधर्मी फिल्में बनायी हैं। इनमें से कुछ सफल रहीं और कुछ असफल। रंग दे बसंती की सफलता के बाद राकेश ओमप्रकाश मेहरा का आत्मविश्वास काफी बढ़ गया था। लेकिन अपनी 2009 के पूर्वार्द्ध में रिलीज हुई फिल्म 'दिल्ली 6' को मिली दर्शकों की ठंडी प्रतिक्रिया से राकेश ओमप्रकाश मेहरा का आत्मविश्वास डगमगा गया है। शरूआत में उन्हें काफी गुस्सा आया, फिर लगा कि कहानी कहने का यह एक नया अंदाज है और हिन्दी दर्शक धीरे–धीरे ही इसके आदी हो सकेंगे। राकेश ओमप्रकाश मेहरा, संजय लीला भंसाली, विशाल भारद्वाज और अनुराग कश्यप, आदि लोग प्रतिभाशाली तो हैं लेकिन ये लोग इस देश के दर्शकों का मिजाज और भारतीय सिनेमा के समकालीन बाजार को उसी तरह नहीं समझते जिस तरह धोनी ब्रिगेड या कपिल देव से पहले महानगरों में स्थित अभिजात पृष्ठभूमि के क्रिकेट खिलाड़ी क्रिकेट के भीतर भारतीय संभावनाओं को नहीं समझते थे। भारतीय क्रिकेट का यह स्वर्णयुग है। भारतीय सिनेमा का स्वर्णयुग 1949 से 1979 के बीच का कालखंड माना जाता है। कुछ लोग 1943 से 1982 तक का कालखंड कहेंगे। 1982 से सिनेमा का पराभव और टी. वी. का उत्थान शुरू हुआ। भारतीय क्रिकेट का उभार 1983 में विश्वकप जीतने के बाद से शुरू हुआ। विश्वकप जीतने के बाद

भारतीय क्रिकेट बदलने लगा। भारतीय क्रिकेट में अजहरूद्दीन का युग काले अध्याय की तरह आया। फिर ग्रेग चैपल युग भी गतिरोध की तरह आया। 2007 से भारतीय क्रिकेट का स्वर्णयुग शुरू हुआ। इसे धोनी युग भी कहेंगे। यह टेलीविजन और क्रिकेट का सम्मिलित युग है। इसमें IPL का भी जन्म हुआ। अब टीम कुछ खिलाड़ियों पर निर्भर नहीं है। अब भारतीय टीम में 11 खिलाड़ी दमखम से खेलते हैं। अनुभव और तरुणाई का मिश्रण इस टीम की ताकत है। सचिन, सहवाग, धोनी, युवराज और हरभजन जैसे खिलाड़ियों का अनुभव टीम को सहारा देता है तो गौतम गंभीर, सुरेश रैना, युसुफ पठान और ईशांत जैसे युवाओं की जीवटता मारकता प्रदान करती है। धोनी टीम के प्रेरक होने के साथ–साथ योजनाकार भी हैं। जीत ही उनका मूलमंत्र है और पूरी टीम इस मंत्र को साधने में जुटी रहती है। वे हर स्थिति में संयत बने रहते हैं। हर मैच उनके और उनकी टीम के लिए नया मैच होता है जिसमें पुरानी सफलता या विफलता को भुलाकार वे नए सिरे से प्रदर्शन करते हैं। शायद यही वजह है कि न्यूजीलैंड के खिलाफ ट्वेंटी–20 सीरीज के दोनों मैच गंवाने के बाद भी भारतीय टीम ने एक दिवसीय मैचों में शानदार वापसी की। इससे पहले विदेशी जलवायु और अंजान पिचों का भय हर सीरीज से पहले भारतीय खिलाड़ियों पर हावी हो जाता था। आस्ट्रेलिया, श्रीलंका, इंग्लैंड और न्यूजीलैंड में एक दिवसीय के सीरीज जीतने से साफ हो गया है कि भारतीय टीम पर विदेशी धरती का खौफ कम होता जा रहा है।

1989 में भारतीय सिनेमा में सूरज बड़जात्या, आदित्य चोपड़ा जैसे फिल्मकारों का जन्म हुआ। इनके प्रभाव में करन जौहर, राम गोपाल वर्मा, फरहान अख्तर, नागेश कुक्कुनूर जैसे फिल्मकारों ने लोकप्रिय सिनेमा का नया व्याकरण एवं नया छंदशास्त्र विकसित किया। क्रिकेट एवं सिनेमा के क्षेत्र में नई उद्यमशीलता की पूरकता आर्थिक व्यावसाय के क्षेत्र में भारतीय उद्यम की सफलता के रूप में सामने आई। नारायण मूर्ति, लक्ष्मी मित्तल, मुकेश अंबानी, अनिल अंबानी, के.पी. सिंह जैसे उद्यमियों की विश्वग्राम में तूती बोलने लगी। विश्वनाथन आनंद शतरंज के नए बादशाह बने। भारतीय समाज की अंतर्धारा में स्वाभाविकता एवं सनातनता की जीत अब होने लगी है। यदि राजनीतिक नेतृत्व परिपक्व हो जाए तो हम नई महाशक्ति बन कर एक बेहतर दुनिया के निर्माण में अपनी भूमिका निभा सकते हैं।

❑❑❑

मुंबई, माफिया और हिन्दी सिनेमा

बॉम्बे एक शहर, बॉम्बे एक सपना। स्वर्गीय ख्वाजा अहमद अब्बास ने 'शहर और सपना' (1963) नामक एक फिल्म बनायी थी। वह फिल्म तो कोई खास नहीं चली पर उस फिल्म को देखते हुए मेरे जैसे दर्शकों के मन में ख्याल आया कि आखिर हिन्दी सिनेमा को बॉलीवुड क्यों कहा जाता है। इसी तरह ऋषिकेश मुखर्जी ने अपनी फिल्म 'आनंद'(1971) मुंबई शहर को समर्पित की है। इसमें भी मुंबई शहर की विशेषतायें अपनी बहुआयामी पहचान के साथ हमारे सामने आती हैं। इसी तरह राम गोपाल वर्मा की फिल्मों जैसे 'सत्या'(1998) और 'सरकार'1–2–3 में भी मुंबई शहर के बदलाव को रेखांकित किया गया है। कुछ पुरानी फिल्मों जैसे राजकपूर की 'श्री 420'(1955) एवं चेतन आनंद की 'टैक्सी ड्राइवर'(1954) में भी बॉम्बे शहर को सपनों के शहर के रूप में एक सामाजिक दस्तावेज के रूप में पेश किया है।

तब मैंने एक इतिहास के विद्यार्थी की तरह, बॉम्बे/मुंबई शहर के समाजशास्त्र की दृष्टि से तुलना करने पर, कुछ महत्त्वपूर्ण बातें नोट कीं जो निस्संदेह अन्य दर्शकों ने भी नोट की होंगी। विश्व के लोगों के लिए यह गेटवे टू इंडिया के नाम से प्रसिद्ध है। भारत के लोगों के लिए 'सपनों का शहर' के नाम से प्रसिद्ध है। मुंबई भारत की आर्थिक, व्यावसायिक, और मनोरंजन की राजधानी मानी जाती है।

आज का मुंबई 1845 से पहले सात द्वीपों का समूह था। कुलाबा, माजागांव, परेल, वर्ली, माहिम, छोटा कुलाबा और बॉम्बे नामक द्वीपों को ईस्ट इंडिया कंपनी ने एक द्वीपों में विलय कराया। 1534 में पुर्तगालियों ने सातों द्वीपों को मुगल सल्तनत से छीना था जिसे 1668 में अंग्रेज चार्ल्स द्वितीय को दहेज के रूप में दे दिया। चार्ल्स द्वितीय ने इसे ईस्ट इंडिया कंपनी को किराए पर दे दिया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने सातों द्वीपों को 1845 तक मिला कर इसे बॉम्बे प्रेसीडेन्सी की राजधानी बनाया। बॉम्बे शहर सूरत, मद्रास, कलकत्ता के अलावा कंपनी के चौथे सबसे बड़े व्यापारिक तट के रूप में उभरा। दुनिया के कई हिस्सों जैसे कि अमेरिका, यूरोप, अरब के व्यापारियों

का यह सबसे लोकप्रिय अड्डा बन गया। बंदरगाह, फैक्टरी, निर्माण कार्य में काम करवाने के लिए भारत के कई हिस्सों से भारी मात्रा में मजदूर लाये गए।

बॉम्बे का पुराना नाम मुंबई, मुंबादेवी से लिया गया है। शहर के मूल निवासी, कोली समुदाय, जो मुंबई में सबसे पहले गुजरात से आये, अपनी कुलदेवी मुंबादेवी को साथ लाये। वर्तमान समय में भुलेश्वर क्षेत्र में जवेरी बाजार में स्थित मुंबादेवी मंदिर शहर के संरक्षक देवी मुंबादेवी को समर्पित है। अंग्रेजों ने मुम्बा का बॉम्बे नाम दिया पर हाल के दिनों में जब क्षेत्रीय राजनीतिक पार्टी शिवसेना सत्ता में आई तब 1995 में इसका नाम मुंबई रखा।

इसके समुद्री व्यवसाय के कारण विभिन्न संस्कृति के लोग मुंबई में बस गए हैं। मुंबई कई धर्मों का शहर है।अधिकतर मुंबई के लोग हिंदू, मुस्लिम, जोरास्ट्रियन, ईसाई, जैन और बौद्ध हैं। पारसी मुंबई में कोली मछुआरों के बाद बसने वाले पहले समुदायों में से एक थे।

किसी भी औद्योगिक शहर की तरह मुंबई में भी एक वर्ग अमीर होता गया और दूसरा वर्ग गरीब होता गया। मुंबई में बहुत सारे कारखाने होने के कारण यहां गरीब मजदूरों की संख्या भी उतनी ही है जितनी करोड़पतियों की। यहां आपको पारसियों, अंग्रेजों और पुर्तगालियों द्वारा बनायी गयी अलग–अलग इमारतों का अलग–अलग आर्किटेक्चर देखने को मिलेगा। बड़ी–बड़ी इमारतों में सोने वालों की संख्या उतनी ही है, जितनी कि फुटपाथ पर सोने वालों की।

औद्योगिक शहर होने के बावजूद मुंबई की अपनी छवि 'सपनों के शहर' की है। 50 के दशक में जो हिन्दी फिल्में बनीं उसने इसे संभावनाओं के शहर के रूप में प्रस्तुत किया। सपना और संभावना दोनों किसी के भी जीवन में उस दीपक की तरह काम करते हैं जो अंधेरे को पूरी तरह समाप्त तो नहीं कर सकता पर अंधेरे में खड़े लोगों को एक प्रेरणा या आशा की किरण दिखा सकता है, जो लोगों को जीवन जीने के लिए प्रेरित करती रहती है।

पर आज जो मुंबई की छवि आम भारतीयों के दिल में बसी है, उसका श्रेय हिंदी सिनेमा को जाता है। हिंदी सिनेमा ने लगभग 1930 से अपना अड्डा मुंबई को ही बनाया। मुंबई को सिनेमा नगरी बनाने में, मुंबई के पारसी थियेटर के मालिकों का बहुत बड़ा योगदान है ।

50 के दशक में हिंदी सिनेमा में हुए मुंबई के चित्रण ने भारतीयों के दिल पर एक अलग ढंग का ही प्रभाव छोड़ा है। इसे एक माया नगरी के रूप में भी दिखाया गया और

एक ऐसी जगह के रूप में भी जहां सिर्फ शैतान होते हैं, जहां अमीर गरीब का शोषण करता है, जहां अमीर गरीब के पैसों को लूटता है और लूट कर अपना खजाना भरता है। राज कपूर की फिल्म 'श्री 420' में जब रणबीर राज मुंबई आता है तब उसकी मुलाकात माया से भी होती है और विद्या से भी। यह उसके ऊपर है कि वह किसे चुनता है।

मुंबई माफिया

मुंबई माफिया अपने चरम पर तो 1970 के बाद पहुँचा मगर इसकी बुनियाद भारत की आजादी से पहले रख दी गयी थी। चिंका दादा, इब्राहिम दादा, करीम लाला, हाजी मस्तान, बाशु दादा और वरदाराजन ने अपनी सल्तनत 1950 से बनानी शुरू कर दी थी। इन सबकी कहानियों में कई समानताएँ थीं। सभी प्रवासी थे जिन्होंने अपना कामकाजी जीवन समुद्री बंदरगाह अथवा रेलवे स्टेशन पर मजदूर के रूप में शुरू किया। आराम से ज्यादा पैसे कमाने की भूख ने उन्हें तस्करी, अवैध शराब और जबरन वसूली करने वालों के साथ मिला दिया। ये लोग गरीबों की मदद करते थे जिससे इनकी रॉबिन हुड जैसी छवि बनी और यही कारण था कि पुलिस इनसे दूर रहती थी और उनके पास वोट की ताकत थी जिस कारण सरकार इन्हें अपने करीब रखती थी।

शुरूआत में देर रात के मुसाफ़िरों या परिवारों से हाथापाई कर उनके कीमती सामान को छीन लेना ही सबसे बड़ा अपराध था। चमचमाता चाकू अमन–पसंद नागरिकों को डराने के लिए काफी था। मुंबई पुलिस के मुताबिक नन्हें खाँ पहला हिस्ट्री–शीटर था जो एक लम्बे चाकू की नोक पर लोगों को धमकाकर उनका कीमती सामान लूटता था। जल्दी ही, पाँचवें दशक में इलाहाबाद से आये कुछ और लोगों ने नन्हें खाँ से हाथ मिला कर गिरोह तैयार कर इसे 'इलाहाबादी गैंग' नाम दे दिया। भायखला उस ज़माने में आपराधिक गतिविधियों का केंद्र माना जाता था। यहाँ मुसलमान और ईसाई समुदाय के ज्यादा लोग रहा करते थे। जॉनी गैंग को तीन ईसाई भाई चलाते थे। इसी दौर में दो और गैंग का उदय हुआ 'कानपुरी गैंग' और 'रामपुरी गैंग'। हालाँकि रामपुरी गैंग के सदस्य ज्यादा दिन नहीं टिक पाए, पर वे अपनी एक अमानत मुंबई के अपराध जगत में छोड़ गए : एक लम्बा, मुड़ने वाला चाकू जिसे आज हम रामपुरी चाकू के नाम से जानते हैं।

बॉम्बे का पहला माफिया डॉन हाजी मस्तान को कहा जाता है। मस्तान का जन्म तमिलनाडु में हुआ था और वह 18 वर्ष की उम्र से कुली के रूप में बॉम्बे के बंदरगाह

पर काम करने लगा था। उसका काम दुबई, हाँग काँग और दूसरे शहरों से आने वाले जहाजों से सामान उतारना था। बाहर से आने वाले सामानों पर कस्टम शुल्क वसूला जाता था। कई लोग सामानों को कस्टम से छुपा कर लाते थे जिससे कस्टम शुल्क बच जाता था।

सोना, महंगी घड़ी, ट्रांजिस्टर, ड्रग्स और हीरे की तस्करी बाहर के देशों से हुआ करती थी। इसके अलावा, देश के भीतर ज्यादातर मनी लॉन्ड्रिंग होती थी, जो कि हवाला प्रणाली के माध्यम से होती थी। भारत में खाड़ी से सोने के बिस्किट का अवैध आयात एक व्यवसाय है जो सदियों से चला आ रहा है। यहीं मस्तान की मुलाकात अरब के नागरिक ग़ालिब से हुई। वह ग़ालिब के लिए सोने के कुछ बिस्किट कस्टम से छुपा कर बंदरगाह से बाहर लाने लगा। जल्दी ही उसे यह काम रास आ गया और कामयाबी आसमान छूने लगी। उस वक्त बंदरगाह पर शेर खान पठान नामक एक गुंडा कुलियों से हफ्ता वसूला करता था जो मस्तान को बिल्कुल पसंद नहीं था। उस जमाने में कुली लोगों की यूनियनबाजी भी नहीं हुआ करती थी। हर कुली डर से शेर खान को हफ्ता देता था। पर मस्तान ने कुछ हट्टे–कट्टे कुलियों को इकट्ठा किया और पठान तथा उसके गुंडों की जम कर पिटाई कर दी। इस घटना ने मस्तान को कुलियों का नेता बना दिया। ग़ालिब के साथ मिल कर उसने बाद में तस्करी को एक संगठित कारोबार बनाने का फैसला किया। इस धंधे को बढ़ाने के लिए उसे पैसे और दिमाग के साथ–साथ बाहुबल की भी जरूरत थी और यही कारण है कि मस्तान की मुलाकात उस समय के बॉम्बे के दो प्रभावशाली बाहुबलियों करीम लाला और वरदाराजन से हुई।

स्वतंत्रता के बाद, महाराष्ट्र सरकार द्वारा अपनाई गई शराब निषेध की नीति के कारण, अवैध शराब का व्यापार, आपराधिक गिरोहों के लिए एक आकर्षक व्यवसाय बन गया। अवैध शराब का व्यापार छोटे पैमाने पर पूरे मुंबई में फैला था। वरदाराजन मुदलियार, जिन्हें वरदा भाई के नाम से जाना जाता था, जिन्होंने वी.टी रेलवे स्टेशन पर कुली के रूप में शुरुआत की, पर अवैध शराब बेच कर इतना प्रभाव बनाया कि बाद में उन्होंने इंसाफ का 'दरबार' लगाना शुरू कर दिया। हर मुहल्ले में कोई न कोई बना रहा था पर वरदाराजन पहला आदमी था जो धन्धे से होने वाले मुनाफे को वापस उसी में लगाता था क्योंकि उसकी नजर धन्धे के विस्तार पर थी। इस प्रकार गिरोह तैयार हुआ जिसमें सभी का काम बाँट दिया गया। अवैध शराब के धन्धे को बॉम्बे के झुग्गी से बड़े–बड़े डांस बार तक ले गया। साठ के दशक में वरदाराजन का कारोबार 12 करोड़ रुपये सालाना था। गुप्त कारोबार के लिए यह उस ज़माने में बहुत बड़ी राशि

थी। उसने अपने काम को इलाकों के अनुसार बाँट रखा था। इसमें काम कर रहे लोगों की संख्या बहुत ज्यादा थी। इसके कारण वरदा भाई के पास बाहुबल बहुत ज्यादा था पर असली पैसा उसके अनुसार भी तस्करी में ही था जिसकी लगाम मुसलमान माफ़िया के पास थी क्योंकि इनके अरब देशों में अच्छे संपर्क थे। यही कारण है कि जब हाजी मस्तान ने वरदा भाई से बाहुबल का सहयोग माँगा तो वरदा भाई ना नहीं कह पाया।

मुंबई का एक और प्रमुख गैंगस्टर करीम लाला था, जिसने दक्षिण और मध्य मुंबई की कमान संभाली। उसने तस्करी और जुआखाना के क्षेत्र में काम किया। करीम लाला के गैंग को पठान माफिया या अफगान माफिया कहा जाता था, क्योंकि इस अपराध सिंडिकेट के सदस्यों में से अधिकांश अफगानिस्तान के कुनार प्रांत के थे। वे विशेष रूप से हशीश, जबरन वसूली, अवैध जुआ, सोने की तस्करी और अनुबंध हत्या में शामिल थे। लाला ने 1940 में शहर में जुए का करोबार शुरू किया और 1985 तक इस व्यापार का निर्विवाद राजा रहा।

हाजी मस्तान, करीम लाला और वरदराजन मुदलियार की शक्तिशाली तिकड़ी ने 60 से 80 के दशक तक बॉम्बे पर राज किया। तीनों को अपने-अपने समुदायों का भरपूर समर्थन था। आपस में मतभेद न हो इसके लिए हाजी मस्तान ने मुंबई को वरदराजन और करीम लाला के बीच में बाँट दिया था और खुद समुद्र के रास्ते तस्करी का काम करता था। 70 के दशक के अंत में दाऊद इब्राहिम के उदय के साथ चीजें बदल गईं। 80 के दशक में जब मस्तान ने पद छोड़ने का फैसला किया, तो उन्होंने दाऊद को अपने उत्तराधिकारी के रूप में नियुक्त किया। दाऊद ने तेजी से बदलाव के समय पदभार संभाला। मुंबई में कारख़ानों पर ताले लग रहे थे और रियल एस्टेट फल-फूल रहा था। सोने की तस्करी को ड्रग की तस्करी ने रास्ता दिखाया। तलवारें, चाकू और देसी रिवाल्वर को एके-56 और एके-47 ने रास्ता दिखाया। 1985-86 तक दाऊद बॉम्बे के अंडरवर्ल्ड का सबसे शक्तिशाली आदमी बन गया।

शुरुआत में दाऊद ज्यादातर हाजी मस्तान और बासु दादा के लिए काम करता था। हालांकि, बासु दादा और दाऊद का साथ ज्यादा दिन तक नहीं चला। 1976 में, दाऊद ने अपने दोस्तों के साथ बासु दादा पर हमला किया। 'मस्तान गिरोह' और 'पठान गिरोह' के बीच गिरोह युद्ध में दाऊद ऊपर उभर कर आया। जब पठान गिरोह ने दाऊद के भाई साबिर को मार दिया तब दाऊद ने एक ऐसा घातक अंडरवर्ल्ड युद्ध छेड़ा जो आज तक नहीं देखा गया। गैंगस्टर मान्या सुर्वे कथित रूप से हत्या में शामिल था। दाऊद और मस्तान के गिरोह से लड़ने के लिए उसने पठान गिरोह से

हाथ मिलाया था। दाऊद ने 'सुर्वे' और 'पठान' गिरोह का पूरा सफाया कर दिया। हाजी मस्तान के राजनीति में प्रवेश करते ही दाऊद मुंबई का एकमात्र गैंग के रूप में उभरा। 1983 और 1988 के बीच उसने मुंबई में सभी प्रमुख गिरोहों को नष्ट कर दिया, जिससे मुंबई अंडरवर्ल्ड का निर्विवाद डॉन बन गया। 1986 में दाऊद दुबई चला गया और अपने प्रभाव को मजबूत करने के लिए स्थानीय 'शेखों' के साथ गठजोड़ किया। 1986 से वह दुबई में बैठ कर गैरकानूनी गतिविधि को अंजाम देने लगा। वह अपने गैंग को एक कंपनी के रूप में चलाता है। भारतीय मीडिया द्वारा इस कंपनी को 'डी–कंपनी' का नाम दिया गया।

12 मार्च 1993 को बॉम्बे में बम विस्फोट हुए। जिसमें एक के बाद एक बारह बम विस्फोट शुक्रवार की दोपहर 1.30 से 3.40 के बीच शहर के अलग–अलग हिस्सों में हुए। ये दुनिया में अपनी तरह का पहला सीरियल–बम–विस्फोट था। एक दिन के हमलों में 257 लोगों की मौत हुई और 713 लोग घायल हुए। इस विस्फोट के बाद दाऊद को एक आतंकवादी घोषित कर दिया गया और आज तक भारत के अलावा अन्य कई देशों के अपेक्षित आतंकवादियों की सूची में एक नंबर पर है। मीडिया और जासूसी एजेंसी के मुताबिक वह 1994 से कराची पाकिस्तान में रह कर अपना कारोबार संभाल रहा है। दाऊद मुंबई का आखिरी डॉन था। भले ही माफिया की मुंबई पर से पकड़ ढीली हो गयी हो, लेकिन आज भी उनकी कहानियां हिन्दी सिनेमा को प्रेरित करती हैं ।

हिन्दी सिनेमा

मुंबई माफ़िया ने हिन्दी सिनेमा को 'आर्थिक और कहानी' दोनों स्तरों पर प्रभावित किया है। माफ़िया का बॉलीवुड पर प्रभाव हिन्दी सिनेमा के बढ़ते आर्थिक संकट के साथ हुआ। फिल्म निर्माता या निर्देशक फिल्म निर्माण की लागत जुटाने के लिए अलग–अलग आर्थिक स्रोतों की खोज में रहते हैं। फिल्म उद्योग की अनिश्चितता के कारण बैंक इनसे हमेशा दूरी बनाये रखता है। यही कारण है कि ज्यादातर असफल निर्माता या निर्देशक अवैध पैसों का फिल्म बनाने में इस्तेमाल करते हैं। बहुत सारे ऐसे भी पुलिस में केस दर्ज हुए जिसमें माफ़िया निर्माता, निर्देशक या अभिनेता को उनके द्वारा लगाये गये पैसों से बनी फिल्म में काम करने पर जोर डालते हैं। फिल्म वित्त पोषण और मनी लॉन्ड्रिंग के अलावा, फिल्म पायरेसी और वितरण भी मुंबई अंडर–वर्ल्ड पर अपनी पकड़ बनाये हुए है। शुरूआती दिनों में सिनेमाघर के बाहर फिल्म का टिकट ब्लैक में बेचना ही स्थानीय अपराधियों का काम होता था।

बॉलीवुड और भारतीय संगठित अपराध के बीच की कड़ी हाजी मस्तान से शुरू हुई, जो आज तक चल रही है। मस्तान अपनी पत्नी शाहजहाँ बेगम के सिनेमाई कॅरियर को बढ़ावा देने के लिए बेगम द्वारा अभिनीत फिल्मों के निर्माण में पैसा लगाया करता था। भारतीय अंडरवर्ल्ड के साथ फिल्म उद्योग का संबंध रहस्यों से भरा है। 80 और 90 के दशक में आये दिन अख़बार में किसी फिल्म शख़्सियत का मुंबई माफिया के साथ फोटो आता था। फिल्म जगत से हमेशा यह दलील दी गयी कि वो माफिया के डर से उनके द्वारा दी पार्टियों में जाते रहे हैं। अंडरवर्ल्ड के लिए सबसे लाभदायक गतिविधियों में से एक, बॉलीवुड की बड़ी शख़्सियतों से फिरौती लेना रहा है। माफिया पहले अपनी पार्टी में फिल्म जगत से बड़े अभिनेता को बुलाते हैं और कुछ दिनों में उनसे फिरौती भी वसूल करते हैं।

माफिया का हिन्दी सिनेमा जगत में पदार्पण 1984 में फिल्म निर्माता मुशीर आलम के अपहरण के साथ हुआ। मुशीर का अपहरण उसके ऑफिस से कुछ दूरी पर दिनदहाड़े बंदूक से लैस तीन आदमियों ने अंजाम दिया था। यह फिल्म जगत के लिए ऐसी पहली घटना थी। मुशीर के अपहरण के पीछे सिर्फ फिरौती ही एक कारण था। अपहरणकर्ता को मुशीर के द्वारा निर्मित फिल्म 'शक्ति' (1982) की सफलता के बारे में पता था और वे लोग इनसे हिस्सेदारी चाहते थे। हालांकि अपहरणकर्ता को जल्दी ही पकड़ लिया गया, पर ऐसी घटनाएँ कभी कम नहीं हुईं ।

एक कुख्यात घटना में, अबू सलेम के गिरोह ने अभिनेता–निर्माता–निर्देशक राकेश रोशन से फिरौती की मांग की थी। फिरौती नहीं मिलने पर राकेश रोशन को गोली मार दी गई थी। गोली उनकी बांह से निकल गयी, पर राकेश रोशन की तरह गुलशन कुमार भाग्यशाली नहीं थे। 12 अगस्त 1997 को मुम्बई के 'दक्षिणी अन्धेरी' इलाके के जीतनगर में स्थित हिन्दू मन्दिर, जीतेश्वर महादेव मन्दिर के बाहर अबू सलेम के गिरोह के लोगों ने गुलशन कुमार की हत्या कर दी। अन्य फिल्म निर्माता की तरह गुलशन कुमार से भी फिरौती की मांग की गयी थी। गुलशन कुमार ने इसके जवाब में कहा था कि वह फिरौती न देकर वैष्णों देवी मंदिर में भक्तजनों के लिए भण्डारा करवाएंगे। गुलशन कुमार उस समय सबसे सफल हिन्दी भक्ति गीत के गायक एवं टी सीरीज कंपनी के मालिक थे। उन्होंने कई सफल फिल्मों का 1988 से 1996 तक निर्माण किया था। 'आशिकी'(1990), 'आई मिलन की रात'(1991) के अलावा और कई महत्वपूर्ण फिल्में गुलशन कुमार की कंपनी ने बनाईं। एक और प्रसिद्ध फिल्म निर्माता राजीव राय, जिन्होंने हिन्दी सिनेमा को 'त्रिदेव', 'मोहरा' और 'गुप्त' जैसी सफल फिल्में दीं। उन्हें भी माफिया को फिरौती देने की धमकी मिली थी। माफिया का खौफ ऐसा था कि राजीव राय देश छोड़ कर चले गए।

हाल के दिनों तक बॉलीवुड के बड़े फिल्म निर्माता और सुपर सितारा अभिनेता को फिरौती के लिए धमकियां मिलती रही हैं। अप्रैल 2010 में एजाज लकड़ावाला के गिरोह ने साजिद नाडियाडवाला के कार्यालय में घुस कर उन्हें धमकी दी और फिरौती माँगी। इस घटना के बाद नाडियाडवाला को पुलिस सुरक्षा प्रदान की गई। प्रसिद्ध फिल्म निर्माता–निर्देशक करण जौहर को सितंबर 2013 में एक अज्ञात नंबर से जबरन वसूली की धमकी मिली थी। बोनी कपूर, राम गोपाल वर्मा, रितेश सिदवानी, सोनू निगम जैसे कई प्रमुख फिल्म से जुड़े लोगों को कॉल पर आये दिन फिरौती देने की धमकियां मिलती रहती थीं ।

गुलशन कुमार की हत्या ने पूरे देश का ध्यान मुंबई माफिया की ओर आकर्षित किया। 1998 तक फिल्म उद्योग को भारत सरकार ने अनदेखा किया। इसके उत्थान के लिए कोई भी कार्य नहीं किया गया, सरकार की एकमात्र रुचि फिल्म निर्माण से होने वाले मुनाफ़े से अपना कर वसूलना रहा था। फिल्म निर्माता को फिल्म से मुनाफ़ा हो या घाटा, सरकार को कर मिल जाता है, चाहे वह फिल्म के नायक और तकनीशियन को मिलने वाले फीस से वसूलने वाला कर हो या सिनेमाघर में बिकने वाले टिकट पर सरकारी कर। 1998 में जब फिल्म उद्योग को भारत सरकार के द्वारा 'उद्योग' का दर्जा मिला, जिसके तहत निर्माता बैंकों और वित्तीय संस्थानों से ऋण प्राप्त कर सकते थे तथा फिल्मों का बीमा भी किया जा सकता था, तब–तक भारतीय सिनेमा के भीतर अंडरवर्ल्ड का प्रभाव बहुत गहरा और व्यापक हो गया था। कई उदाहरणों में, फिल्म निर्माताओं और मशहूर हस्तियों को अंडरवर्ल्ड के वित्तपोषण को स्वीकार करने के लिए मजबूर किया गया था। भारतीय फिल्म निर्माता एवं निर्देशक महेश भट्ट ने एक बार कहा था कि ''फिल्म उद्योग में शायद ही कोई है जिसे माफिया ने संपर्क नहीं किया हो।''

2000 के बाद फिल्म उद्योग की स्थिति धीरे–धीरे सुधर रही है। कॉर्पोरेट के आने से फिल्म वित्त पोषण, वितरण तथा प्रदर्शन तीनों में बदलाव आए हैं। लेकिन अभी तक फिल्म पायरेसी को रोकने में सरकार असफल रही है।

बॉलीवुड को मुंबई माफिया पचास के दशक से ही कहानी के लिए प्रेरित करता रहा है। मुंबई माफिया के अस्तित्व की उपस्थिति को पहली बार 'बाज़ी' 1951 फिल्म में प्रस्तुत किया गया। बलराज साहनी द्वारा लिखित, गुरुदत्त द्वारा निर्देशित, नवकेतन द्वारा निर्मित, चेतन आनंद द्वारा संयोजित यह इप्टा समूह की पहली फिल्म थी। तब से लेकर 1972 तक अनेक फिल्मों में मुंबई की पृष्ठभूमि में माफिया नेटवर्क की कृत्रिम क्राइम की कलात्मक प्रस्तुति होती रही थी। परंतु पहली बार 1970

'जंजीर' फिल्म में करीम लाला और हाजी मस्तान, दो तरह के माफिया को पर्दे पर उतारा गया था और युवा रोष की अभिव्यक्ति करने वाले 'एंग्री यंग मैन' का देव आनंद और शम्मी कपूर के बाद तीसरा रूप हमारे सामने आया। इसलिए अमिताभ बच्चन को हिंदी सिनेमा का पहला 'एंग्री यंग मैन' कहना कुछ आलोचकों का व्यक्तिगत विचार हो सकता है। इतिहास के रूप से युवा रोष को फिल्म 'बाज़ी' 1951 से मानना ही तथ्यपरक है। 'जंजीर' फिल्म में पहली बार बॉम्बे माफ़िया का हिंदी सिनेमा में 'लार्जर दैन लाइफ' निरूपण हुआ है।

शम्मी कपूर ने भी अपने समय में युवा आक्रोश का प्रतिनिधित्व किया था। लेकिन उन दोनों के आक्रोश और अमिताभ के आक्रोश में एक गुणात्मक अंतर है। देव आनंद और शम्मी कपूर की फिल्में उनके समय के महानगरों की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थितियों को प्रदर्शित करती थीं। ये फिल्में एक नई ऊर्जा द्वारा दर्शकों के मन–मस्तिष्क को सींच कर सकारात्मक, सुंदर एवं आदर्शवादी संबंधों की बुनियाद निर्मित करती थीं और इस प्रकार नए भारत के विकास की कहानी कहने का एक माध्यम बनती थीं। लेकिन 1973 तक भारतीय राज्य समाज एवं महानगर काफी हद तक बदल चुके थे। संजय गांधी का उदय हो चुका था। युवाओं में निराशा फैल रही थी। बेरोजगारी बढ़ रही थी। झुग्गी–झोपड़ी बढ़ रही थी। नौकरशाही, बिल्डर, माफिया और नेता बेशर्मी की हद तक आपस में सांठ–गांठ कर चुके थे। उसमें 'जंजीर' फिल्म का नायक जो एक पुलिस अधिकारी है और व्यवस्था का प्रतीक भी, वह एक पुराने, कुछ हद तक आदर्शवादी माफिया करीम लाला से दोस्ती करके नये माफिया हाजी मस्तान के खिलाफ अपना आक्रोश प्रदर्शित करता है और इस रूप में पहली बार भारतीय सिनेमा का नायक उजला (वाइट) आदर्शवादी से ग्रे या भूरा या समझौतावादी या व्यावहारिक बनता है। 1975 तक आते–आते फिल्म 'दीवार' में जिसके लेखक भी सलीम–जावेद थे, 'जंजीर' का मुख्य खलनायक 'दीवार' का प्रतिनायक हीरो के रूप में हमारे सामने आता है। कहा जाता है कि 'दीवार' फिल्म को अप्रत्यक्ष रूप से हाजी मस्तान ने बनवाया था। इस फिल्म में पहली बार मुंबई माफिया को महिमामंडित किया गया। माना जाता है कि 1978 तक आते–आते हाजी मस्तान कमजोर पड़ गया था और दाऊद इब्राहिम नामक एक नया माफिया मुंबई के अंडरवर्ल्ड का बादशाह बन चुका था। 1985 आते–आते दाऊद इब्राहिम का बॉम्बे के फिल्म उद्योग पर करीब–करीब पूरा नियंत्रण हो गया था। उसके पैसों से फिल्मों का निर्माण होने लगा था। जानकारों का मानना है कि दाऊद इब्राहिम का पैसों का निवेश फिल्मों में भरत भाई शाह के नाम से प्रस्तुत, निर्मित या वितरित फिल्मों में सबसे ज्यादा होता था। लेकिन अन्य फिल्मों में भी नायक एवं नायिका के कास्टिंग में

उसकी धड़कन बढ़ने लगी थी। बहुत लोगों ने इसको अफ़वाह माना लेकिन जब 'राम तेरी गंगा मैली' की नायिका मंदाकिनी को दाऊद ने दुबई बुलाकर अपना रखैल बना लिया तो लोगों ने इन अफवाहों को सच मानना शुरू कर दिया। माना जाता है कि दाऊद के महाराष्ट्र एवं भारत के नेताओं से भी अच्छे ताल्लुकात थे। पुलिस में भी उसकी अच्छी पहुंच थी एवं बहुत सारे वकीलों की फौज भी उसके लिए काम करती थी परंतु 1993 के मुंबई विस्फोट के बाद जिसे ब्लैक फ्राइडे कहा जाता है बाल ठाकरे और शरद पवार ने मिलकर दाऊद के साम्राज्य को मुंबई से बाहर विस्थापित करने में सफलता पाई।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण फिल्मों में वरदराजन मुदलियार के जीवन पर आधारित फिल्म 'दयावान' (1988), हाजी मस्तान के जीवन पर आधारित 'वन्स अपॉन अ टाइम इन मुंबई'(2010), मान्या सुर्वे पर 'शूटआउट एट वडाला' (2013), माया डोलस पर 'शूटआउट एट लोखंडवाला', दाऊद इब्राहिम के जीवन पर आधारित 'ब्लैक फ्राइडे'(2007), 'डी–डे'(2013), 'वन्स अपॉन ए टाइम इन मुंबई दुबारा'(2013), टाइगर मेमन पर 'ब्लैक फ्राइडे'(2007), दाऊद इब्राहिम और छोटा राजन पर 'कंपनी' (2002), अबू सलेम पर 'गैंगस्टर'(2006) जैसी फ़िल्में शामिल हैं।

फिरोज खान द्वारा निर्मित, विनोद खन्ना द्वारा अभिनीत 'दयावान' (1988) वरदराजन मुदलियार के जीवन पर आधारित फिल्म है। राम गोपाल वर्मा द्वारा निर्देशित 'कंपनी'(2002), माफिया कामकाज की जटिलता की पड़ताल करती है। विवेक ओबेरॉय और अजय देवगन का चरित्र, छोटा राजन और दाऊद पर आधारित है। अनुराग कश्यप द्वारा निर्देशित 'ब्लैक फ्राइडे'(2007), 1993 के मुंबई सीरियल बम धमाकों के बाद की जांच के बारे में है जिसे अलग–अलग कहानियों के माध्यम से बताया गया है जिसमें पुलिस, साजिशकर्ता, पीड़ित, बिचौलिए और निर्दोष आम जनता शामिल है। यह फिल्म हुसैन जैदी के द्वारा लिखित किताब 'ब्लैक फ्राइडे' पर आधारित है। मिलन लुथारिया द्वारा निर्देशित 'वन्स अपॉन अ टाइम इन मुंबई' (2010) पुराने माफिया सुल्तान मिर्जा के युग की गिरावट और अधिक खूंखार डॉन दाऊद के उदय को दर्शाती है। यह फिल्म अंडरवर्ल्ड स्मगलिंग में सुल्तान मिर्ज़ा का उदय, उनकी अच्छी छवि, अभिनेत्री से शादी और दाऊद के उदय को दर्शाती है।

अप्रत्यक्ष रूप से भी मुंबई माफिया ने हिन्दी सिनेमा को कहानी के लिए प्रेरित किया है। शबाना आज़मी (गॉडमदर), नायगन (कमल हासन), अमिताभ बच्चन (अग्निपथ), 'रूप की रानी चोरों का राजा', राम गोपाल वर्मा द्वारा निर्देशित

'सरकार'1–2–3 जैसी भी कुछ फ़िल्में हैं जो प्रत्यक्ष रूप से किसी गैंगस्टर के ऊपर नहीं है पर इन फिल्मों को किसी न किसी रूप में मुंबई माफिया प्रभावित करता हुआ लगता है।

❑❑❑

छोटे बजट बनाम बड़े बजट की फिल्में : भविष्य एवं सामाजिक संदर्भ

भारत में हमेशा ही दोनों प्रकार की फिल्में बनती रही हैं। 1970 के दशक में राजश्री पिक्चर्स, एन.सी. सिप्पी एवं श्याम बेनेगल छोटे बजट की फिल्में बनाते थे। रामसे ब्रदर्स भी छोटे बजट की फिल्में बनाते थे जबकि अमिताभ बच्चन को लेकर या अन्य बड़े सितारों को लेकर बड़े बजट की फिल्में भी बनती थीं। पचास और साठ के दशक में भी ट्रेंड कुल मिलाकर कुछ ऐसा ही था।

कॉरपोरेट कंपनियां पहले भी थीं। बी. एन. सरकार का न्यू थियेटर्स और हिमांशु राय का बाम्बे टॉकिज के साथ वाडिया का नाम लिया जा सकता है। लेकिन उदारीकरण की प्रक्रिया के चलने के बाद मल्टीप्लेक्स थियेटरों का उदय हुआ और ओवरसीज टेरीटरी कर विकास हुआ। अनिवासी भारतीय विदेशों में अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की अभिव्यक्ति भारतीय हिन्दी फिल्मों को संरक्षण देकर करने लगा। इससे एकल ठाठिया सिनेमा या सिंगल स्क्रीन थियेटर एवं हिन्दी प्रदेशों के दर्शकों को नजरअंदाज किया जाने लगा। इससे भारतीय सिनेमा में महत्वपूर्ण परिवर्तन की शुरूआत हुई। इसके परिणामस्वरूप हिन्दी एवं भोजपुरी में छोटे बजट की फिल्मों की बाढ़ आने लगी। इसके कारण के रूप में सैटेलाइट सिनेमा अधिकार और ओवरसीज टेरीटरी का बढ़ता प्रभाव तथा कस्बाई एकल ठाठिया दर्शकों की अभिरुचि के घटते महत्व की चर्चा की जा सकती है। इससे फिल्म की कहानी बदल रही है और अतिरिक्त आय भी हो रही है। इसका दूसरा कारण निर्माण एवं वितरण क्षेत्र में कॉरपोरेट का उदय माना जा सकता है। हिमांशु राय की 'बॉम्बे टॉकीज' और बी.एन. सरकार की 'न्यू थियेटर्स' तथा वाडिया ब्रदर्स के जमाने में भी कॉरपोरेट का उद्देश्य सामाजिक प्रतिबद्धता वाली साहित्य आधारित फिल्मों का निर्माण था। समकालीन कॉरपोरेट संस्कृति का उद्देश्य सांस्कृतिक उद्योग में पैसा निवेश कर ज्यादा पैसा कमाना और ग्लैमर से जुड़ना अधिक है। परन्तु 'रंग दे बसंती'(2002), 'तारे जमीन पर' (2007) और 'मुन्नाभाई' श्रृंखला की फिल्में भी कॉरपोरेट कृतियां हैं, यह सुखद स्थिति है।

कस्बाई सिनेमा अब भी कहानी को पकड़े हुए है जबकि मल्टीप्लेक्स सिनेमा तकनीक को कथा से ऊपर रखता है। अब इंटरनेट एवं डी.वी.डी. मार्केट के लिए भी छोटे बजट की फिल्में बन रही हैं। ऐसी फिल्मों का प्रचार एक दर्शक दूसरे दर्शक से बातचीत के दौरान माउथ टू माउथ करता है। सिनेमा सोसाइटी मूवमेंट 1970 के दशक में काफी शक्तिशाली माध्यम था। अब उसकी जगह इंटरनेट ने ले ली है।

मल्टीप्लेक्स ने भारतीय सिनेमा को अनेक स्तरों पर प्रभावित किया है। 'ए वेडनेस डे'(2008) और 'भेजा फ्राई' (2007) जैसी फिल्मों की सफलता की लहर मल्टीप्लेक्स से ही चलकर कस्बों और एकल सिनेमाघर तक पहुंची है। मल्टीप्लेक्स के द्वारा ही दर्शक ने अच्छे बिंब और संपूर्ण ध्वनि के आनंद को समझा है। मल्टी संकुल में जाकर दर्शक बिना वीजा और पासपोर्ट के पश्चिम के वैभव की झलक तीन घंटे के लिए देख पाता है। सारे मल्टीप्लेक्स की अधिकतम आय पॉपकॉर्न, समोसे, शीतल पेय और पार्किंग से है तथा न्यूनतम आय सिनेमा देखने के टिकट बिक्री से आती है।

संदर्भ के लिए यह जानना आवश्यक है कि वर्ष 1947 में केवल 280 फिल्में प्रदर्शित हुई थीं, उनमें हिन्दी में बनी फिल्मों की संख्या बहुत थी। अब मुंबई में बनी हिन्दी फिल्मों की संख्या प्रतिवर्ष 150 होती है और चार दक्षिण भारतीय भाषाओं में बनी फिल्मों का योग लगभग 600 होता है। कुल जमा दस हजार सिनेमाघरों में अधिकतम सिनेमाघर दक्षिण भारत में हैं। चेन्नई भारतीय सिनेमा उद्योग का मुबंई से ज्यादा महत्वपूर्ण केन्द्र है। रजनीकांत को भारतीय सितारों में सबसे ज्यादा पारिश्रमिक मिलता है। परन्तु भारतीय सिनेमा में दर्शकों के हिसाब से हिन्दी सिनेमा का महत्व सबसे ज्यादा है।

हर युग का अपना संघर्ष, अपना सुख–दुख होता है और विद्रोह के तेवर भी अलग होते हैं। दर्द से भिड़ने के तौर–तरीके बदल जाते हैं। वर्तमान युग में सफलता को नैतिकता से ऊपर माना जाता है। अब सफलता एकल प्रयास नहीं है। आज सफलता की फैक्टरियां हैं जो 'ऑर्डर' आने पर मनचाहा 'माल' गढ़ देने का दावा करती हैं। तब भी महेन्द्र सिंह धोनी, सचिन तेंदुलकर, ए. आर. रहमान, अमिताभ बच्चन एवं लता मंगेशकर एकल प्रयास से ही सफल होते रहे हैं। ये फैक्टरियों के उत्पाद नहीं हैं।

राजनीति, फिल्म निर्माण एवं क्रिकेट के खेल में टीम वर्क की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसमें एकल प्रयास का सीमित महत्व है। यदि भारतीय राजनीति में अब

किसी भी राजनीतिक दल को अखिल भारतीय सफलता नहीं मिल रही है, तो सिनेमा में भी अखिल भारतीय सफलता अक्सर नहीं मिल रही है। इस दृष्टि से क्रिकेट के क्षेत्र में अपवाद की स्थिति है। क्षेत्रीय राजनीतिक दल छोटे बजट की फिल्मों की तरह हैं जबकि कांग्रेस, भाजपा एवं माकपा जैसे राष्ट्रीय दल बड़े बजट की फिल्मों की तरह हैं। बड़े बजट की फिल्में उत्तर भारतीय थाली की तरह का मनोरंजक व्यंजन परोसती हैं। इसमें अंतर्विरोधी स्वाद के व्यंजन होते हैं। हर व्यंजन अलग–अलग दर्शक समूह को ध्यान में रखकर परोसा जाता है। लेकिन हर व्यंजन को कलात्मक कुशलता से एक नाजुक संतुलन बैठाना होता है। थोड़ी–सी चूक होते ही बड़े बजट की फिल्म धड़ाम से गिरती है। अतः ऐसी फिल्मों की पटकथा लिखना या निर्देशन करना जोखिम का काम होता है। इसके लिए जिन्दगी और समाज की अंतर्धारा को समझने का विराट अनुभव चाहिए जो भारतीय सिनेमा की परंपरा में गुरू–शिष्य शृंखला से प्राप्त होता रहा है। आजकल गुरू–शिष्य शृंखला कमजोर हुई है और नये निर्देशकों के हाथ में बड़ी बजट की फिल्मों का निर्देशन दिया जाने लगा है।

छोटे बजट की फिल्मों में प्रयोग की ज्यादा गुंजाइश होती है। आर्थिक जोखिम कम होता है। परन्तु छोटे बजट की फिल्मों की सफलता भी कलात्मक मनोरंजन की क्षमता पर ही निर्भर करती है। फीचर फिल्म और डाक्यूमेंटरी फिल्म का अंतर हमेशा कायम रहता है। यथार्थवादी फिल्मों की अखिल भारतीय सफलता भारत में हमेशा संदिग्ध होती है चाहे उसका बजट छोटा हो या बड़ा। फीचर फिल्म मूलतः मनोरंजक कथा का माध्यम है। इसमें अप्रत्यक्ष शिक्षा की हमेशा गुंजाइश होती है। हिडेन एजेंडा की हमेशा गुंजाइश होती है। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से उसका सरस एवं मनोरंजक होना आवश्यक है। छोटे बजट की फिल्मों के प्रमोशन पर भी उसी तरह ध्यान दिया जाना जरूरी होता है जिस तरह बड़े बजट की फिल्मों के प्रोमोशन पर ध्यान दिया जाता है। लेकिन इनका बजट अलग–अलग प्रकार का होता है। इनके माध्यम अलग–अलग प्रकार के होते हैं। छोटे बजट की फिल्मों को पहले 'फिल्म सोसायटी मूवमेंट' तथा 'फिल्म क्लबों' का सबसे बड़ा सहारा होता था। तमिलनाडु एवं बंगाल तथा केरल में छोटे बजट की राजनीतिक फिल्मों का बोलबाला रहा है। इनको क्रमशः डी.एम.के. फिल्म्स एवं इप्टा फिल्म्स कहा जाता है। इन संगठनों के कार्यकर्ता फिल्मों के प्रमोशन में भूमिका निभाते थे। अच्छी और सार्थक या कलात्मक फिल्मों को दर्शकों द्वारा भी प्रमोट किया जाता रहा है, इसे माउथ–टू–माउथ पब्लिसिटी कहा जाता है। अखबारों एवं पत्रिकाओं के फिल्म समीक्षक भी फिल्मों को प्रमोट करते रहे हैं। आजकल इंटरनेट के द्वारा भी फिल्मों को प्रमोट किया जाता है। टी. वी. फिल्म प्रमोशन का सबसे महंगा एवं सबसे सशक्त माध्यम बन गया है। बड़े बजट की फिल्में

मूलतः टी. वी. द्वारा ही अपनी फिल्मों को प्रमोट करती हैं। फिल्मों के प्रमोशन का एक अन्य माध्यम फिल्म पोस्टर रहे हैं। यह सबसे पुराना माध्यम रहा है। इसका महत्व आज भी कायम है।

यह बात ध्यान देने लायक है कि जिस तरह रिलीज के समय फिल्मों को प्रमोट किया जाता है, करीब–करीब उसी तरह चुनाव से पहले राजनीतिक दलों को भी प्रमोट किया जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे प्रचार या प्रोपगैंडा कहा जाता है। मीडिया की भाषा में इसे विज्ञापन कहा जाता है। पोस्टर, अखबार, टी. वी. कार्यकर्ता राजनीतिक दलों का उसी तरह प्रचार करते हैं जिस तरह फिल्मों का किया जाता है। इन्टरनेट का इस्तेमाल भी चुनाव प्रचार के लिए किया जाता है। इसके अलावा राजनीतिक दल चुनावी सभा करते हैं। आजकल सभा में श्रोताओं को बुलाने के लिए लोकप्रिय फिल्मी सितारों को भी बुलाया जाता है। इससे फिल्मी सितारों की चल रही फिल्मों को भी लाभ मिलता है। चुनावी सभाओं की तरह फिल्म अभिनेताओं के फैंसक्लब भी सभायें करते हैं। खासकर दक्षिण भारत में फैन्स क्लबों का संगठन ज्यादा व्यवस्थित तरीके से काम करता है।

तमिलनाडु एवं आंध्रप्रदेश की राजनीति में फिल्मी सितारों की निर्णयकारी भूमिका रही है। इसका एक बड़ा कारण मद्रास प्रेसिडेंसी में द्रविड़ आंदोलन की बौद्धिक जड़ों में है। द्रविड़ विचारक अपने को ब्राह्मणवादी हिन्दू धर्म एवं संस्कृति से अलग दिखलाने की कोशिश करते रहे हैं। जिसके फलस्वरूप द्रविड़ कार्यकर्ता हिन्दू मंदिरों में जाने में हिचक अनुभव करते थे। इस हिचक की अभिव्यक्ति फिल्मी सितारों के दैवीकरण की प्रक्रिया के द्वारा होने लगी। फिल्मी सितारों को मात्र अभिनेता न मानकर दैवीय गुणों से संपन्न महामानव या देवी के रूप में माना जाने लगा। अभिनेताओं के फैन्सक्लब बनने लगे और अभिनेत्रियों का तो बाकायदा मंदिर तक बन गया। उसमें उनकी पूजा तक हुई। शिवाजी गणेशन, एम.जी. रामचन्द्रन, रजनीकांत एवं जयललिता आदि का तमिलनाडु कल्ट विकसित हुआ। एन. टी. रामाराव एवं चिरंजीवी का आंध्रप्रदेश में तथा राजकुमार का कर्नाटक में कल्ट विकसित हुआ। केरल में मोहनलाल एवं मम्मुटी के प्रशंसकों के बीच भी कल्ट जैसी ही स्थिति रही। इसके विपरीत उत्तर भारत में धर्म एवं मंदिर का महत्व काफी हद तक कायम रहा। भक्ति संप्रदायों के मध्यकालीन स्वरूप में रूपांतरण तो हुआ है लेकिन अब भी धर्म का महत्व सिनेमा से ज्यादा है। परन्तु मंदिरों के गर्भगृह और सिनेमा हॉल के पर्दे के बीच सहधर्मिता भी रही है। फलस्वरूप उत्तर भारत के अभिनेता–अभिनेत्रियों के प्रशंसकों की कमी नहीं रही है परन्तु प्रशंसक समूह फैनक्लबों में उस तरह संगठित नहीं रहे हैं जिस तरह दक्षिण भारत में संगठित रहे हैं।

1969 में शुरू हुए सिनेमा आंदोलन के केन्द्र में पटकथा एवं निर्देशक होते थे। अभिनेताओं एवं अभिनेत्रियों की भूमिका गौण थी। ज्यादातर सिनेमा सोसाइटी वामपंथी या कांग्रेसी विचारधारा से जुड़ी हुई थीं। कुछ सोसाइटी सूफी विचारधारा से जुड़ी हुई थीं। नये संदर्भ में वैश्विक पूंजीवाद या उदारीकरण का प्रभुत्व बढ़ा है। विचारधारा का महत्व राजनीति में भी सीमित हुआ है। राजनीति में अवसरवाद का बोलबाला है। ऐसे में फिल्म निर्माण की प्रक्रिया से भी संगठित विचारधारा का महत्व घटा है और व्यक्तिगत चेतना एवं रुझान के आधार पर प्रयोगधर्मी पटकथाओं का उत्थान हो रहा है। पश्चिमी समाजविज्ञान की भाषा में इसे उत्तर आधुनिकता कहते हैं। पश्चिमी समाज में यह 1968 के आसपास शुरू हुआ। लेकिन भारतीय सिनेमा में यह 1990 के दशक के उत्तरार्द्ध में आया।

पश्चिमी समाज में उत्तर आधुनिक चेतना 1990 के दशक तक आते–आते प्रौढ़ हो चुकी थी। इसका विकास 'हैरी पॉटर ', 'दा विंची कोड', 'ईटी', 'ग्लैडिएटर', 'ट्रॉय', 'एलेक्जेंडर', 'स्टार वार' जैसी फिल्मों की पटकथा में सामने आयी। ये छोटी बजट की फिल्में नहीं हैं परंतु इनकी पटकथा पश्चिमी आधुनिकता के ग्रैंड नैरेटिव (प्रमुख कथा विन्यास) से नहीं निकल कर आधुनिकता–पूर्व की परंपरा की उत्तर आधुनिक विश्लेषण से निकली है। इसके विपरीत हिन्दी सिनेमा में उत्तर आधुनिकता अभी शैशवावस्था में है। यह 1940–50 के दशक में स्थापित फिल्मी कैनन (कथात्मक संरचना की रूढ़ियां) को तोड़ अवश्य रही हैं लेकिन इसमें गुस्सा, छटपटाहट एवं तड़प का असहाय भाव ज्यादा है, सुनिश्चित एवं व्यवस्थित विकल्प प्रस्तुत करने का भाव कम है। उदाहरण के लिए 'मुंबई मेरी जान', 'समर 2007', 'आमिर', 'लव आजकल', 'देव डी', 'रेस', 'गुलाल', 'जाने तू या जाने ना', 'गजनी', 'जन्नत', 'न्यूयार्क', 'रब ने बना दी जोड़ी', 'कमीने या ए वेडनेस डे'। इसके विपरीत 'विवाह', 'खोसला का घोसला', 'चक दे इंडिया', 'जब वी मेट', 'रॉक ऑन', 'किस्मत कनेक्शन' आदि सरल कथाओं पर आधारित साफ–सुथरी, छोटी फिल्में हैं। इनमें तकनीकी तड़क–भड़क कम है। कथा में एक प्रवाह है लेकिन इनकी सफलता एकसमान नहीं है। इनकी कथा एक जैसी नहीं है। इनको प्रमोट करने का तरीका एक जैसा नहीं था।

फिल्म निर्माण, राजनीति और क्रिकेट एक टीम गेम है। इनको केवल बजट के आधार पर नहीं समझा जा सकता। परंतु बजट की बढ़ती भूमिका से इंकार भी नहीं किया जा सकता। भारतीय समाज में गरीबों की संख्या ज्यादा है। मल्टीप्लेक्स में टिकट दर इतना ज्यादा है कि गरीब आदमी इनमें बार–बार नहीं जा सकता। छोटे

बजट की फिल्में मल्टीप्लेक्स में आसानी से दर्शक नहीं बटोर पातीं। छोटे बजट की फिल्मों का भविष्य सिंगल स्क्रीन थियेटर या एकल ठाठिया सिनेमा हॉल में आज भी ज्यादा है। इनका भविष्य डी. वी. डी. मार्केट और इन्टरनेट पर और भी ज्यादा है। बड़े बजट की फिल्मों को मल्टीप्लेक्स में तीन दिन हाउसफुल चल जाने पर पैसा वसूल नहीं होता। बिना स्टार की फिल्में मल्टीप्लेक्स में सामान्यतः हाउसफुल नहीं चल पातीं। छोटे सिनेमाघरों में अगर टिकट रेट कम हो तो छोटे बजट की फिल्मों का ज्यादा अच्छा भविष्य होगा।

कम टिकट रेट वाले एकल ठाठिया सिनेमा हॉल में सीटों की संख्या इतनी ज्यादा होती है कि छोटे बजट की फिल्में हाउसफुल नहीं हो पातीं। इसका एक उपाय मध्यम बजट की फिल्मों का निर्माण हो सकता है। ऋषिकेश मुखर्जी, बासु चटर्जी, गुलजार जैसे बिमल रॉय के अनुयायी ऐसी फिल्में बनाया करते थे। रमेश सिप्पी, मनमोहन देसाई, प्रकाश मेहरा और यश चोपड़ा बड़े बजट की फिल्में बनाया करते थे। राजश्री वाले, श्याम बेनेगल आदि छोटे बजट की फिल्मों के स्थापित ब्रांड थे। रामसे ब्रदर्स की डरावनी फिल्में भी छोटे बजट में बनती थीं। 1970 के दशक का यह विभाजन आज भी उपयोगी है। 1940 से 1960 के दशक तक श्वेत–श्याम फिल्मों का स्वर्णयुग था। 1970 का दशक रंगीन फिल्मों का स्वर्णयुग था। 1980 का दशक रंगीन टी. वी. का युग था। 1990 के दशक से सिनेमा की वापसी हुई। 2000 ईस्वी में फिल्म निर्माण को इंडस्ट्री का दर्जा मिला। अचानक कॉरपोरेट हाउसों के आने से सितारों के पारिश्रमिक आसमान छूने लगे। फिल्म निर्माण में फिजूलखर्ची बढ़ी। बिकाऊ सितारे सीमित थे। निर्माताओं में उन्हें साइन करने की होड़ मच गई। पटकथा एवं निर्देशन का महत्व बड़े बजट की फिल्मों में सितारों को करीब–करीब अचानक मिल गया। जिससे बड़े बजट की असफल फिल्मों की बाढ़ आ गई। इससे कॉरपोरेट हाउसों ने भी छोटे बजट की फिल्मों में धन लगाना शुरू किया। यह शुभारंभ है। लेकिन आज भी स्तरीय पटकथा लेखन करने वालों की भयानक कमी है। स्तरीय गीतकारों एवं संगीतकारों की कमी है।

समाज में टैलेन्ट की कमी नहीं है लेकिन उनको खोजने का व्यवस्थित साधन आज उपलब्ध नहीं है। कॉरपोरेट हाउसों के पास रचनात्मक मैनेजरों एवं पारखी सलाहकारों की भयानक कमी है। इसके लिए फिल्म निर्माताओं को प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। पटकथा लेखन सिखाने वाले स्तरीय संस्थान चाहिए। सिनेमा सोसाइटी आंदोलन को फिर से गतिशील करना चाहिए। इप्टा की तरह युगानुकूल कलाकारों का संगठन चाहिए। सिनेमा और समाज के जटिल रिश्ते पर शोध एवं

डाक्युमेंटेशन को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। तभी भारत हॉलीवुड से प्रतियोगिता करने में सक्षम होगा। केवल गुणवत्ता ही वह कवच है जो मंदी के इस दौर में हिन्दी सिनेमा की रक्षा कर सकता है। मंदी का मौजूदा दौर हवा में उड़ने वालों को सबक सिखा रहा है और यथार्थ के कठोर धरातल पर ले आया है। ऐसा दौर अहंकार के मदमस्त हाथी को वश में करता है। जिन आमदर्शकों की सहायता से सिनेमा ने लगभग पौन सदी 1913 से 1993 तक का सफर तय किया, उस वर्ग को मल्टीप्लेक्स ने हाशिये पर डाल दिया। ताली बजाने वाले इन दर्शकों के उन्माद के बिना सिनेमा का जादू अपना पूरा रहस्य उजागर नहीं करता। सिनेमा के जादू में यकीन करने वाले आमदर्शक ही इस खेल के असली सितारे हैं। यह दर्शक वर्ग साहसी है और अपने शौक की खातिर जोखिम उठा सकता है। मंदी के दौर में मल्टीप्लेक्सों के दाम घटाने पर पचीस शो को जुबली मानने वाले असली पचीस सप्ताह वाली जुबली देखेंगे और मंदी के दौर में कम फिल्मों के बनने के संकट का भी सार्थक मल्टीप्लेक्सों को खाली रहना पड़ेगा।

सिनेमा में बहुत लंबे समय तक ऐसी फिल्में बनती रहीं जिसमें आम आदमी विपरीत परिस्थिति में किसी प्रेरणा से इतना शक्तिशाली हो जाता है कि वह अपने सभी शत्रुओं को हराता है। अमेरिका के पास अपनी मायथोलॉजी नहीं है। सुपर नायक की किंवदंती सामाजिक संरचना में आवश्यक होती है। सुपर नायक के पास दैवीय शक्तियां होती हैं और इस मायने में वह हमारी अवतारवाद की धारणा के नज़दीक आता है। हॉलीवुड के प्रभाव में सुपर नायक फिल्में प्रारंभ हुईं।

सिनेमा माध्यम में दीए और तूफान की लड़ाई हमेशा लोकप्रिय रही है, और सिनेमा आम आदमी को नायक की तरह प्रस्तुत करता रहा है। इसमें प्रेम और करुणा जैसे रसों की उत्पत्ति होती है। जबकि सुपर नायक वाली फिल्में आपको फंतासी की दुनिया में ले जाती हैं और आप उम्मीद करने लगते हैं कि ऐसा कोई नायक हमारी जिंदगी की जंग लड़ेगा।

कर्ज पर टिके उत्पादन, निर्माण, खरीद और भव्यता के साथ भोग की संस्कृति अस्वाभाविक है। यह लंबे समय तक स्थिर और संतुलित रह ही नहीं सकता। इस सभ्यता के दिन जल्दी बहुरने वाले नहीं हैं। जिस तरह 1947 से यूरोप का लगातार पतन और अमेरिका का लगातार उत्थान होता रहा, ठीक उसी तरह अब अमेरिकी सभ्यता का लगातार पतन और गैर यूरोपीय–गैर पश्चिमी सभ्यता का धीरे–धीरे ही सही लेकिन लगातार उत्थान संभावित है। इस उत्थान में भारतीय सिनेमा की भूमिका महत्वपूर्ण होगी। एक स्तर पर सिनेमा जादू या सम्मोहन है। फिल्मकार अपनी

प्रस्तुति से सम्मोहन का जाल या नदी के तेजधार जैसी प्रवाह पैदा करता है ताकि दर्शक अढ़ाई से तीन घंटे तक कथा की गहराई में डूब जाए। अगर दर्शक ऊब गया तो फिल्मकार डूब जाता है।

भारत में सिनेमा का प्रारंभ ही धार्मिक आख्यानों से हुआ है। पहले भारत की सारी फिल्में आख्यान और किंवदंतियों पर आधारित थीं। फिल्मकारों को माध्यम की सतही जानकारी थी। इसलिए उन्होंने ऐसी कहानियां चुनीं जिन्हें दर्शक पहले ही जानते थे ताकि प्रस्तुतीकरण में छूटे हुए रिक्त स्थान दर्शक अपनी जानकारी से भर दें।

महात्मा गाँधी ने भी अपनी सभाओं का आरंभ भजन और कीर्तन से ही किया। भारत में भीड़ जुटाने के लिए यह आवश्यक रहा है। भारत की सबसे बड़ी शक्ति धर्म रहा है और सबसे बड़ी कमज़ोरी अंधविश्वास, कुरीतियां और पाखंड रहा है। अपनी अकर्मण्यता और आलस्य को धर्म का आवरण पहनाना पाखंड है।

❑❑❑

BIBLIOGRAPHY

Abbasi, Yasir, 2018, Yeh Un Dinoñ Ki Baat Hai: Urdu Memoirs of Cinema Legends, Bloomsbury, India

Abhedananda, Swami, 1971, the Complete Works of Swami Abhedananda (in Ten Volumes), Ramakrishna Vedanta Math, Calcutta, Academic Publishing: Germany

Adorno.Theordo, W., 1991, The Culture Industry: Selected Essays on Mass Culture, Routledge, London and New York.

Ahmed, Akabar S. and Hart, David M. (ed.), 1984, Islam in Tribal Societies from the Atlas to the Indus, Routledge & Kegan Paul, London.

Ahmed, Imtiaz (ed.). 2010. Ritual and Religion among Muslims in India. New Delhi: Danish Books.Akhtar, Delhi: OUP.

Ahmed, Rauf, 2016, Shammi kapoor the game changer, Om Books, New Delhi

Alexander, J.et.al. 1997. The Classical Tradition in Sociology: The American Tradition, Vol.1, London: Sage. (General Introduction and Chapter 24)

Alter, stephen, 2009, Fantasies of a Bollywood Love thief, Happier collins, New Delhi

Alvares, Claude, 1991, Decolonizing History, Technology and Culture in India, China and the West 1492 to the present day, The other India Press, Goa.

Ambedkar, B.R.2006. Buddha and his Dhamma. Delhi: Siddhartha Books.

Anand, Dev, 2011, Romancing With Life, Penguin, India

Anantharaman, Ganesh, 2008, Bollywood Melodies, Penguin, India

Appadorai, A., 1987, Indian Political Thinking in the Twentieth Century, South Asian Publishers P. Ltd. New Delhi.

Appadurai, Arjun, 1996, Modernity at Large: Cultural Dimensions of Globalization,

Appadurai, Arjun, et. al., ed, 1994, Gender, Genre and Power in South Asian Expressive Traditions. Motilal Banarasidass, Delhi.

Archer, M. S. 1995. Realist Social Theory: The Morphogenetic Approach, Cambridge: CUP. (Chapters 2, 3)

Arntzenius, Linda G., 2011, Institute for Advanced Study (Images of America), Arcadia Pub, Lancashire

Ascher, Steven, 2012, The Filmmaker's Handbook, Penguin, New Delhi

Baird, Robert D., 2001, Religion in Modern India, Manohar, New Delhi.

Bakshi, Rakesh, 2015, Directors' Diaries: The Road to Their First Film, Harper Collins, New Delhi

Balachandran, G., 2003, India and the World Economy 1850-1950, Oxford University Press, New Delhi.

Bali, Dev Raj, 1984, Modern Indian Thought, Sterling Publishers P. ltd., New Delhi, Jalandhar, Bangalore.

Barry, Peter, 2007, Beginning Theory, manchester University Press, New York

Barth, A., 1995, The Religions of India, Low Price Publication, Delhi.

Barthes, Roland, 2010, Camera Lucida: Reflections on Photography, Hill and Wang

Barthes, Ronald.2009. Mythologies. London: Vintage Books

Barthes. Roland, 2005/1966, Criticism and Truth, Continuum, London.

Bashir, Saba Mahmood, Gulzar's Aandhi, 2019, Happier collins, New Delhi

Baskaran, Sundararaj Theodore, 2013, The Eye of the Serpent: An Introduction to Tamil Cinema, Tranquebar, India

Basu, Anustup, 2010, Bollywood in the Age of New Media: The Geo-televisual Aesthetic, Orient Blackswan Private Limited, New Delhi

Basu, Anustup, 2012. Bollywood in the Age of New Media, Hyderabad: Orient Black Swan

Bauman, Z.1976. Towards a Critical Sociology, London: Routledge

Bazin, Andre, 1971, What is Cinema, vol. II, ed. and trans. Hugh Gray, Berkeley, University of California Press

Beauchamp, Henry K and Dubois, Abbe J.A., 1999, Hindu Manners Customs and Ceremonies, Low Price Publication, Delhi.

Bel. Bernard et al. ed, 2005, Media and Mediation. Sage. New Delhi

Bell, Catherine1995. Ritual theory, ritual practice. Oxford: Oxford University Press.

Berger, John.2008. Ways of Seeing. London: Penguin

Berger, P. L. and H. Kellner. 1981. Sociology Reinterpreted, Harmondsworth: Penguin.

Berger, P. L. and T. Luckmann.1966. The Social Construction of Reality: A Treatise in the Sociology of Knowledge, Garden City, NY: Anchor Books.

Bergman, Ingmar, 1988, The magic lantern, the university of chicago press, chicago

Bharat, Meenakshi and Nirmal Kumar (ed.) 2008. Filming the line of Control: The Indo-Pak Relationship through the Cinematic Lens, New Delhi: Sage

Bhargava, Anil, 2009, Swaron Ki Yatra (Hindi), Cine Sahitya Prakashan, Jaipur

Bhargava, Anil, 2013, Hindi Cinema – Sadi ka Safar(Hindi), Cine Sahitya Prakashan, Jaipur

Bhargava, Rajeev (ed.), 1998, Secularism and its Critics, Oxford University Press, New Delhi.

Bhatia, Sidharth, 2013, Amar Akbar Anthony Masala, madness and manmohan Desai, Happier collins, New Delhi

Bhattacharjee, Anirudha and Vittal, Balaji 2018, S. D. Burman: The Prince-Musician, Tranquebar

Bhattacharya Meheta, Rini and R. V. Pandharipande (ed.) 2011.Bollywood and Globalisation: Indian Popular Cinema, Nation and Diaspora, Delhi: Anthem Press

Bhattacharya Meheta, Rini and R.V. Pandharipande (ed.) 2011. Bollywood and Globalisation: Indian

Bhattacharya, Sabyasachi, (ed.), 1999, The Mahatma and the Poet: Letter and Debates between Gandhi and Tagore 1915-1941, NBT, India.

Blavatsky, H. P., 1980, Studies in Occultism, New Age Books, New Delhi.

Bloom, Harold. Jacques Derrida and others, 2005, Deconstruction and Criticism, Viva-Books, Chennai.

Borden, Carla M. (ed.), 1989, Contemporary India : Essays on the Uses of Tradition, Oxford university press, New Delhi.

Bose, Mihir, 2007, Bollywood: A History, The History Press Ltd, New Delhi

Bose, N.K.1975.The Structure of Hindu Society. Delhi: Orient Longman.

Bose, N.K.1998.Studies in Gandhism. Ahmedabad: Navajivan Pub. House.

Boudon, R. et.al. 1997. The Classical Tradition in Sociology: The European Tradition, Vol.1, London: Sage. (General Introduction, Chapters 2, 20, 36, 46, 47, 53, 65, 66, 70, 74)

Breckcnridge, Carol A., ed, 1995, Consuming Modernity, University of Minnesota Press, Minneapolis.

Bresson, Robert, 2016, Notes on the Cinematograph, NYRB Classics, New York

Bulmer, M. and R. G. Burgess. 1986. 'Do Courepts, Variables and Indicators

interrelate?' in R.G. Burgess (ed.) Key Variables in Social Investigation, London: Routledge

C.N. Venugopal, D.K. Print World: New Delhi

Campbell, Jeseph.1998. The Power of Myth. New York: Doubleday

Chabria, Suresh, 2013, Light of Asia, Niyogi Books, New Delhi

Chakravarti, Indranil et al, ed., 1998, The New Latin American Cinema: Readings from within. Celluloid chapter, Jamshedpur,

Chandhoke, Neera, 2000, ed, Mapping Histories: Essays Presented to Ravinder Kumar, Tulika, New Delhi, (pp 5 - 23, 104 - 127, 291 - 319, 337 - 364)

Chandra Bipin, Mukherjee Mridula, Mukherjee Aditya, Panikkar K.N., Mahajan, Sucheta, 1989, India's Struggle For Independence 1857-1947, Penguin Books (India) Ltd., New Delhi.

Chandra, Bipin 1984, The Rise and Growth of Economic Nationalism in India, New Delhi.

Chattcrji, Lola, ed, 1986, Woman Image Text: Feminist Readings of Literary Texts, Trianka Publication, New Delhi.

Chatteijee, Partha, 1995, "A bit of song and dance", in Aruna Vasudev (ed) Frames of Mind: Reflections on Indian Cinema. UBS Publishers, Bombay.

Chatterji, Shoma A, 2015, Suchitra Sen, Happier collins, New Delhi

Chatterji, Shoma A., 2017, The Cinema of Bimal Roy: An 'Outsider' Within (India), SAGE Publications, New Delhi

Chaturvedi, Badrinath, 1993, Dharma: India and the World Order, Saint Andrew Press, UK.

Chetananda Swami, (ed.), 1996, Swami Vivekananda: Vedanta Voice of Freedom, Advaita Ashrama, Calcutta.

Chopra, Anupama, 2016, Dilwale Dulhania Le Jayenge, Happier collins, New Delhi

Chowdhury, Maitreyee B, 2013, Uttam kumar and suchitra sen, Om books International, New Delhi

Clausewitz, Carl Von, 1992, On War, Princeton University Press, Princeton

Cohn, Bernard S., 1997, Colonialism and Its Forms of Knowledge: The British in India, Oxford University Press, New Delhi.

Compiled, 1996, Gandh's life in His Own Words, Navajivan Publishing House, Ahmedabad.

Connolly, Peter.1999.Approaches to The Study of Religion. London: Cassell.

Consumption of Public Culture in India, New Delhi: OUP

Coomaraswamy, Ananda, 1942, Spiritual Authority and Temporal Power in the Indian Theory of Government, Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi

Coomaraswamy, Ananda, 1994, The Transformation of Nature in Art, Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi

Coomaraswamy, Ananda, 1999, Introduction to Indian Art, Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi

Coomaraswamy, Ananda, 2013, The Dance of Shiva: Fourteen Essays, Rupa Publications, New Delhi

Coomarswamy, A. K,, 1987, What is Civilisation? And Other Essays. IGNCA and OUP, Delhi.

Coomarswamy, A.K. (ed.). 1996.Hinduism and Buddhism. New Delhi: Munshiram Manoharlal.

Coomarswaray, A. K., 1981, Figures of Speech and Figures of Thought, Munshiram Manoharlal, New Delhi.

Curtis, J. E. and J. W. Petras (ed.).1982. The Sociology of Knowledge: A Reader, London: Duckworth. (Part: 1, Chapters 2, 3, 4, 5, 11)

Dallmayr Fred, Devy G.N. (ed.), 1998, Between Tradition and Modernity India's Search For Identity, Sage Publication New Delhi.

Dalmia, Vasudha and Heinrich von Stietencron (ed.).2007.The Oxford India Hinduism Reader. New Delhi: OUP.

Dalmia, Vasudha and T. Damsteegt, ed, 2003, Narrative Strategies: Essays on South Asian Literature and Films. OUP, New Delhi.

Daniels, Christina, 2012, I'll do it My Way - The Incredible Journey of Aamir Khan, Om Books International, New Delhi

Das, Bhagavan, 1990, Essential Unity of All Religions, Bhartiya Vidhya Bhawan, Bombay.

Das, Veena, 1998, "Narrati vising the Male and Female in Tulsidas' Ramcharitmanasa" in A. M. Shah et. al, ed. Social Structure and Change (Volume 5), Sage, New Delhi.

Das, Veena, 2000, "The Making of Modernity: Gender and Time in Indian Cinema", in T. Mitchell (ed) Questions of Modernity, University of Minnesota Press, Minnesota.

Das, Veena.1977.Structure and Cognition. Delhi: OUP.

Dasgupta, Chidananda, 1991, The Painted Face: Studies in India's Popular Cinema, Roli Books, New Delhi.

Datta, Sangeeta, 2002, shyam Benegal, Roli Books, New Delhi

Derett, J.D.M.1999.Religion, Law and the State in India. Delhi: OUP.

Derrida, Jacques, 2003, Writing and Difference, Routledge, London.

Derrida. Jacques. 1994, Of Grammatology. Motilai Banarasidass, Delhi.

Desai A.R., 1959, Social Background of Indian Nationalism, Popular Prakashan, Bombay,

Desai, Mahadev, 1995, The Gospel of Selfless Action or the Gita according to Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahmedabad.

Desai, Meghnad, 2013, Pakeezah, Happier collins, New Delhi

Dev, Bijoy, 2001, Bipin Chandra Pal, Samskriti, New Delhi.

Dharwedkar, A.B., 2006, Theatres of Independence: Dharma. Theory and urban Performance in India since 1947. OUP, Delhi.

Dirks, Nicholas B., 2003, Castes of Mind, Permanent Black, New Delhi.

Diwan Romesh, Lutz Mark (ed.), 1985, Essays in Gandhian Economics, Gandhi Peace Foundation, New Delhi.

Downey, Patrick, 2009, Desperately Wicked: Philosophy, Christianity and the Human Heart, IVP Academic

Dudrah, Rajendra Kumar, 2006. Bollywood: Sociology goes to the Movies, New Delhi:

Dudrah, Rajinder, The Bollywood Reader, Open University Press, USA

Dumont, Louis.1970.Religion, Politics and History in India. Paris: Mouton.

During, Simon, ed. 1993, The Cultural Studies Reader. Routledge, London and New-York.

Durkheim, E, 1995.The Elementary Forms of Religious Life. New York: Free Press.

Dutt R.C. 1960, The Economic History of India under Early British Rule, Delhi.

Dwyer, R. and C. Pinney (ed.) 2001.Pleasure and Nation: The History, Politics and Consumption of Public Culture in India, New Delhi: OUP

Dwyer, Rachel, 2011, Beyond the Boundaries of Bollywood: The Many Forms of Hindi Cinema, Oxford University Press, new Delhi

Dwyer, Rachel, 2014, Picture Abhi Baaki Hai: Bollywood as a Guide to Modern India, Hachette India Local, New Delhi

Dwyer, Rachel, 2014, Bollywood's India: Hindi Cinema as a Guide to Contemporary India, Reaktion Books

E. B. Greenwood, 1980, Tolstoy: The comprehensive Vision, Methuen & Co. Ltd. London.

Eagleton, Terry, 2000, Literary Theory: An Introduction (Second edition), Doaba Publication, New Delhi.

Eck, Diana L.2012.India: A Sacred Geography. New York: Harmony Books.

Eisenstein, Sergei, 1969, Film Form, Harvest Book

Eisenstein, Sergei, 1969, The Film Sense, Harvest Book

Eliade, Mircea.1958. Patterns in Comparative Religion. Translated by Rosemary Sheed. New York: Sheed & Ward.

Eliade, Mircea.1959.The Sacred and the Profane: The Nature of Religion. Willard Trask (trans.). New York: Harcourt, Brace & World.

Elliot, Anthony (ed.). 1999. Contemporary Social Theory, Oxford: Blackwell. (Chapters 2, 6, 7)

Evans-Pritchard, E.E.1965. Theories of primitive religion. Oxford: Oxford University Press.

Experience and Art, New Delhi: OUP

Felton, Monika, 2003, Rajaji, Katha, New Delhi.

Feyerabend, Paul.1978. Science in a Free Society, London: Verso. (Part 2)

Flood, Gavin(ed.).2003.The Blackwell Companion to Hinduism. Oxford: Blackwell.

Frank, Andre Gunder, 1998, ReORIENT: Global Economy in the Asian Age, vistaar publications, New Delhi

Freud, Sigmund. 1999. Totem and Taboo.London:Routledge.

Fuller A.R.1994. Psychology and Religion, Points of View (3rd ed.). Lanham: Littlefield Adams.

Fuller, C.J.1992.The Camphor Flame: Popular Hinduism and Society in India. New Delhi: VIKING (Penguin).

Gandhi, Leela, 2004, Postcolonial Theory, Oxford University Press, New Delhi.

Gandhi, Rajmohan, 1995, The Good Boatman, A Portrait of Gandhi, Centre for Policy Research, New Delhi.

Ganeri, Jonardon, 2009, Philosophy in Classical India: The Proper Work of Reason, Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi

Ganguli B.N., 1977, Indian Economic Thought - Nineteenth Century Perspectives, New Delhi.

Ganti, Tejaswini, Bollywood: A Guidebook to Popular Hindi Cinema, Routledge, New York

Garg, B.D., 2006. The Art of Cinema: An Insider's Journey Through Fifty Years of Film History,

Garga, B.D., 2007, From Raj to Swaraj: The Non-fiction Film In India, Penguin, India

Geertz, C.1973. "Religion as a Cultural System, " in The Interpretation of Cultures .New York: Basic Books. pp. 87-125.

Geertz, Clifford, 1973, The Interpretation of Cultures, Basic Books, USA.

Gellner, Ernest.1981.Muslim Society. New York: CUP.

Gerber, William, 1977, The Mind of India, Southern Illinois Univ. Press, London.

Gerhardt, Uta, 2002, Talcott Parsons: An Intellectual Biography, Cambridge University Press, Cambridge

Ghosh, Amitav, 2002, The Imam and the Indian, Ravi Dayal Publisher, Delhi.

Ghosh, Tapan.k, 2013, Bollywood Baddies, Sage, New Delhi

Gopal, Lallanji and D.P. Dubey (ed.). 1990.Pilgrimage Studies: Text and Context. Allahabad: The Pilgrimage Studies.

Gopal, Sarvepalli, 2004, JawaharLal Nehru : A Biography, Oxford University Pess, New Delhi.

Gopalan, krishna, 2013, The making of Don, Rupa, New Delhi

GORA, 1986, An Atheist with Gandhi, Navajivan Publishing House, Ahmedabad.

Green, Martin, 1992, Prophets of a New Age. The Politics of Hope from the Eighteenth through the Twenty-First Centuries. Scribners New York

Gregorios, Paulos Mar 1989, Enlightement: East and West, B.R. Publishing Corporation, Delhi

Grover, Gulshan, 2019, Bad Man An Autobiography, Penguin, India

Guha, Ramachandra, 2001, An Anthropologis among the Marxists, Permanent Black, New Delhi.

Gupta, D&B.D.Sharma, 1993, Indian Cinema: Contemporary Perceptions from the thirties. Celluloid Chapter, Jamshedpur.

Gupta, Shubhra, 2016, 50 films that changed Bollywood, Happier collins, New Delhi

Harris, Mark, 2009, Pictures at a Revolution: Five Movies and the Birth of the New Hollywood, Penguin, New Delhi

Harrison, Stephanie, 2005, Adaptations: From Short Story to Big Screen: 35 Great Stories That Have Inspired Great Films, Three Rivers Press, New York

Hashmi, Mira, 2019, Gulzar's Ijaazat, Happier collins, New Delhi

Hay, Stephen (ed.), 1992, Sources of Indian Tradition, Second Edition Volume Two: Modern India and Pakistan, Penguin Books India (P) Ltd. New Delhi.

Heelas, Paul (ed.). 1998.Religion, Modernity and Post Modernity. Oxford: Blackwell.

Heesh, Peter, 2004, India's Freedom Struggle 1857 - 1947, Oxford University Press, New Delhi.

History, New Delhi: Penguin/ Viking

Honour of Prof. C. N. Venugopal, New Delhi: D.K. Printworld

Hood, John W, 2015, The Bleeding Lotus, Palimpsest, New Delhi

Introduction to Tagore, 1988, Visva - Bharati, Calcutta.

Ishwaran, K.1983. Religion And Society Among The Lingayats Of South India. Netherlands: Brill academic publishers .

Jaffrelot, Christopher, 1999, The Hindu Nationalist Movement and Indian Politics: 1925 to the 1990s, Penguin Books, New Delhi

Jain, Jasbir (ed.) 2011. Muslim Culture in Indian Cinema, Jaipur: Rawat Publications

Jain, Madhu, 2005, The Kapoors The first family of Indian cinema, Penguin, India

Jain, R. K., 1977, ed, Text and Context: The Social Anthropology of Tradition, Institute for the study of Human Issues, Philadelphia.

Jain, R. K., 1999, "Muslim Identity in North India: A Perspective from the Hindu Regional Novel",

Jameson, Fredric, 2006, Postmodernism or The Cultural Logic of Late Capitalism, ABS Publishers, New Delhi (chaps l, 9).

Jones, Kenneth W., 1999, Socio Religious Reform Movements in British India, Cambridge University Press, Sydney,

Joshi, K. L., 2002, Visnu Purana, Parimal Publications, Delhi.

Joshi, priya, 2015 Bollywood India, Columbia University Press, Columbia

Joshi, Tarkateertha Laxmanshastri, 1999, Jotirao Phule, National Book Trust, New Delhi.

Juergensmeyer, Mark, 2003, Gandhi's Way, a handbook of conflict resolution, Oxford University Press, New Delhi.

Juluri, Vamsee, 2013. Bollywood Nation : India through its Cinema with Javed Aktar, Delhi: OUP

Kaarsholm, Preben, 2004, City Flicks: Indian Cinema and the Urban Experience, Seagull. Calcutta.

Kabir, Nasreen Munni, 1999.Talking Films: Conversations on Hindi Cinema with Javed Akhtar, Delhi: OUP.

Kabir, Nasreen Munni, 2009, Lata Mangeshkar ..in her own Voice, Niyogi Books, New Delhi

Kabir, Nasreen Munni, 2018, Jiya jale the stories of songs Gulzar, Speaking Tiger, New Delhi

Kakar, Sudhir.1978.The Inner World: A Psychoanalytic Study of Childhood and Society in India. Delhi: Oxford University Press.

Kamp, David, 2006, The film Snob's Dictionary, broadway Books, New york

Kampchen, Martin, 1999, Rabindra Nath Tagore in Germany: Four Responses to a Cultural Icon, IIAS, Shimla.

Kapoor, Kapil, 2005, Text and Interpretation: The Indian Tradition, D. K. Printworld, New Delhi.

Karve, Iravati.1968. Hindu Society: An Interpretation. Poona: Deshmukh Prakashan.

Kaul, R. K., 1995, Studies in William Jones, Indian Institute of Advanced Study, Shimla.

kaul. Gautam. 1998, Cinema and the Indian Freedom Struggle, Sterling, New Delhi.

Kaur. Ruminder and A. J. Sinha, ed. 2005, Bollyworld Popular Indian Cinema through a Transnational Lens. Sage, New Delhi.

Kazmi, Farced, 1999, The Politics of India's Conventional Cinema, Sage, New Delhi.

Kazmi, Fareed, 1999. The Politics of India's Conventional Cinema, New Delhi: Sage

Kejariwal, O. P., 1999, The Asiatic Society of Bengal and the Discovery of India's Past. Oxford University Press, New Delhi.

Keyserling, Count Hermann, 1999, Indian Travel: Diary of a Philosopher, Bharatiya Vidya Bhavan, Mumbai.

Khilnani, Rohit, 2015, Ii hate Bollywood, Om books International, New Delhi

Khoshoo, T.N., 2002, Mahatma Gandhi an Apostle Applied Human Ecology, Tata Energy Research Institute, New Delhi.

Kloetzli, W. Randolph, 2007, Buddhist Cosmology: Science and Theology in the Images of Motion and Light, Motilal Banarsidass, New Delhi

Klostermaier, K.K.1990.A Survey of Hinduism. Delhi: Munshiram Manoharlal

Kulkarni, S.D., 1988, Beginnings of Life, Culture and History, Shri Bhagavan Vedavyasa itihasa, Thane.

Kulke, Herman and B. Schnepel (ed.), 2001. Jagannath Revisited: Studying Society, Religion and the State in Orissa. New Delhi: Manohar.

Kumar, Anand .ed.1999, National-Building in India: Culture, Power and Society. Radiant Publishers, Delhi

Kumar, Dharma, 2000, Colonialism, Property and The State, Oxford University Press, New Delhi.

Kumar, Krishna, 1991, Political Agenda of Education : A Study of Colonialist and Nationalist Ideas, Sage Publication, New Delhi.

Kumar, Nirmal, 2015, Brave New Bollywood: In Conversation with Contemporary Hindi Filmmakers, SAGE India

Kurosawa, Akira, 1982, Something Like an Autobiography, Vintage Books, New York

Lago, Alessandro Dal, 2010, Conflict, Security and the Reshaping of Society (Open Access): The Civilization of War, Routledge, New York

Lal, Vinay and Ashis Nandy (ed.), 2006.Fingerprinting Popular Culture: The Mythic and the Iconic In Indian Cinema, New Delhi: OUP.

Lal, vinay, 2011, Deewaar, Happier collins, New Delhi

Lee, Mabel and M. Wilding, ed, 1997, History, Literature and Society: Essays in Honour of N. Mukherjee. Manohar, Delhi.

Levi-Strauss, C. 1963. Structural Anthropology, Vol.1, Harmondsworth: Penguin. (Chapters I, II, XVII)

Levi-Strauss, Claude, 1995, Myth and Meaning: Cracking the Code of Culture, Schocken Books, New -York.

Levi-Strauss, Claude. 2001.Myth and Meaning: Cracking the Code of Culture, New

Levi-Strauss, Claude.1978.Myth and Meaning. London: Routledge.

Luckmann, T.1967. The Invisible Religion. New York: MacMillan.

Lucy, Niall, ed, 2000, Postmodern Literary Theory: An Anthology. Blackwell Publications, Oxford

Lukacs, Georg, 1920/1971, The Theory of the Novel, Merlin Press, London.

Machiavelli, Niccolo, 2017, The Prince, On War & The Art of War - Three All-Time Classics On Politics & War, ARC Manor, United States

Madan, T .N.(ED.).1982.Way of Life: King, Householder, Renouncer. New Delhi: Vikas Publishing House.

Madan, T. N., 1998, Modern Myths, Locked Minds, Secularism and Fundamentalism in India, Oxford University Press, New Delhi.

Madan, T. N.2004. India's Religions Perspectives from Sociology and History. Delhi:OUP.

Madan, T. N,, 1987/2001, Non-Rcnunciation: Themes and Interpretations of Hindu Culture. OUP, New Delhi.

Majumdar, Biman Bihari, 1966, Militant Nationalism of India, The Asiatic Society, Calcutta.

Majumdar, Neepa, 2010, Wanted Cultured ladies only, Oxford, New Delhi

Majumdar, Ramesh Chandra, 1984, On Rammohan Roy, The Asiatic Society, Calcutta.

Majumdar, Ujjal Kumar, 2000, Bankim Chandra Chattopadhyay, The Asiatic Society, Calcutta.

Majumzar, Ranjani, 2007, Bombay Cinema: An Archive of the City, Ranikhet: Permanent Black

Malinowski, Bronislaw, 1954, Magic, Science and Religion and Other Essays. New York: Doubleday Anchor Books (Boston: Beacon Press, 1948).

Mallik, S.C. (ed.), 1977, Dissent, Protest and Reform in Indian Civilisation. Simla:IIAS.

Mamet, David , 1992, On Directing Film, penguin, New York

Mariasusai, Raj, 2016, world cinema, hay House Publishers India, India

Marriott, Mckim (ed.).1989. India Through Hindu Category, New Delhi: Sage. (Chapter 1)

Marx and Engels, 1978, On Literature and Art, Progress Publishers, Moscow.

Marx, K and F. Engels.1975.On Religion. Moscow: Progress Publisher .

Masani, R.P., 1897, Dadabhai Naoroji, builders of modern India, Publications Division, New Delhi.

Mazumdar. Ranjani, 2006, Urban Allegories: The City in Bombay Cinema, University of Minnesota Press, Minneapolis.

McEvilley, Thomas, 2002, The Shape of Ancient Thought: Comparative Studies in Greek and Indian Philosophies, Allworth, Rydalmere

McLeod, W.H, 2004, Sikhs and Sikhism, OUP, Delhi.

McLuhan, Marshall, 2001, Understanding Media, Routledge, London and New York.

Mennell, S. 1974. Sociological Theory: Uses and Utilities, New York: Praegee. (Introduction)

Merton, R. K. 1981. Social Theory and Social Structure, New Delhi: Amerind Publishing Company. (Chapters I, II, IV, V)

Metcalf, R. Thomas, and Metcalf Barbara D., 2003, A Concise History of India, Cambridge Univ. Press, New Delhi.

Michael Baur (Editor), Steven A. Baur (Editor), 2006, The Beatles and Philosophy: Nothing You Can Think that Can't Be Thunk (Popular Culture and Philosophy, Open Court, USA

Migdal, Joel S., 2001, State in Society: Studying How States and Societies Transform and Constitute One Another, Cambridge University Press, Cambridge

Mills, C. Wright.1959. The Sociological Imagination, New York: OUP. (Chapters 1, 2, 3)

Mishra, Vijay, 2002. Bollywood Cinema: Temples of desire, New York: Routledge

Mohanty, J.N., 1995, Essays on Indian Philosophy Traditional and Modern, Oxford University Press, New Delhi.

Monaco, James, 2009, How to Read a film, Oxford University Press, New York

Monaco, James. 2009. How to Read a Film: Movies. Media and Beyond, New York:

Mookerji, Radha Kumud, 2003, The Fundamental Unity of India, Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi.

Mudgal, shubha, 2019, shabda aur sangeet, Flame University, pune

Mukerji, Dhurjati Prasad, 1979, Sociology of Indian Culture, Rawat Publications, Jaipur.

Mukheijee, Meenakshi, 1985, Realism and Reality: The Novel and Society in India, OUP, New Delhi.

Mukherjee, Hiren, 1991, Gandhi, a study, People's Publishing House, New Delhi.

Mukherjee, Madhuja, 2012, Voices of the Taking Stars, Sage, New Delhi

Mukherji, D. P.. 1952/2002, Diversities. Manak, New Delhi.(Chaps 15, 16)

Mukherji, P. N. (ed.). Methodology in Social Research, New Delhi: Sage. (Chapters 1, 2, 3, 5)

Mukherji, Radha Kumud, 1989, Hindu Civilization, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay.

Nagaraj, D. R., 1993, The Flaming Feet: A Study of the Dalit Movement, South Forum Press, Bangalore.

Nakamura, Hajime, 1960, Ways of Thinking of Eastern Peoples: India, China, Tibet, Japan, Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi

Nandy, Ashis, 1998, The Illegitimacy of Nationalism : Rabindranath Tagore and The Polities of Self. OUP. New Delhi.

Nandy, Ashis, 2001, An Ambiguous Journey to the City, OUP, New Delhi.

Nandy, Ashis, ed, 1998, The Secret Politics of Our Desires: Innocence. Culpability and Indian Popular Cinema. OUP, New Delhi.

Nevile, Pran, 2011, K.L.Saigal, Penguin, India

Nicholas, Bill, ed.1993, Movies and Methods (in Two volumes). Seagull Books. Calcutta

Niranjana, T, et. al,, ed, 1993, Interrogating Modernity: Culture and Colonialism in India, Seagull. Calcutta.

Nirodbaran, 1986, Talks with Sri Aurobindo (Vol. I & II), Sri Aurobindo Society, Calcutta.

Nirodbaran, 1998, Sri Aurobindo for all Ages: A Biography, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

Nisbet, Robert.1967. The Sociological Tradition, London: Heinemaun. (Part Two)

Nivedita, Sister, 1998, Religion and Dharma, Advaita Ashram, Calcutta.

of Public Culture in India, New Delhi: OUP

Osho, 1997, India my Love, Fragments of a Golden Past, The Rebel Publishing House, Pune.

Pal, Bipin Chandra, 2002, Nationality and Empire, a running study of some current Indian Problems, Low price Publications, Delhi.

Pande B.N.(ed.), 1985, A Centenary History of the Indian National Congress, 3 Vols., New Delhi.

Pandit, M. P., 1998, Sri Aurobindo, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi.

Pandya, jayant, 1998, Gandhiji and his Disciples, NBT, New Delhi.

Panja. Shormishtha.ed. 2001, Many Indias. Many Literatures: New critical essays, Worldview, Delhi.

Paranjape, Markand(ed.).2005. Dharma and Development: The Future of Survival. New Delhi: Samvad India.

Parekh, Bhikku, 1997, Gandhi, Oxford University Press, New Delhi.

Parel, J., Anthony, Etd, 1997, Hind Swaraj and other Writings, Cambridge University Press, UK.

Pareto, Vilfredo, 1916/1935, The Mind and Society volume 1, 2, 3, 4, Harcourt, Brace and Company, New York

Parsons, T.et.al.1965.Theories of Society: Foundation of Modern Sociological Theory, New York: The Free Press. (Pp.1311-1321, 1385-1448)

Partha, Chattergee, 1986, Nationalist thought and the colonial world, Zed Books, London.

Patel, I.G., 2004, An encounter with Higher Education: My years at LSE, Oxford University Press, New Delhi.

Patel, Jahangir P., Sykes, Marjorie, 1996, Gandhi, his gift of the fight, The other India Press, Goa.

Patil, V. T., 1983, Studies on Gandhi, Karnatak University, Dharwad.

Peter L. Berger, 1969.The Sacred Canopy. Garden City, New York:Anchor Doubleday.

Pickering, W. S. F. and H. Martins (ed.). 1994. Debating Durkheim, London: Routledge. (Chapters 1, 2, 3)

Poddar, Arabinda, 1976, Renaissance in Bengal: Search for Identity, Indian Institute of advanced Study, Simla.

Poddar, Chanda., Sarkar, Mona and zwicker Bob, etd., 1995, Sri Aurobindo and the freedom of India, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

Popular Cinema, Nation and Diaspora, Delhi: Anthem Press

Prabhu, P. H.1988.Hindu Social Organisation, Mumbai: Popular Prkashan.

Prasad, Madhava M., 2000, Ideology of the Hindi Film: A Hisrorical Construction, OUP India

Nicholas T., 2017, Film Directing Fundamentals: See Your Film Before Shooting, Routledge, New York

Radhakrishnan, S.2009.Hindu View Of Life.London: Harper Collins Publishers.

Raghavendra, M K , 2009, 50 Indian Film Classics, Harper Collins, New Delhi

Raghavendra, M K , 2013, Director's Cut : 50 Major Film-makers of the Modern Era, Harper Collins, New Delhi

Raghavendra, M K , 2014, Seduced by the Familiar: Narration and Meaning in Indian Popular Cinema, Oxford India, New Delhi

Raghavendra, M K, 2014, The Politics of Hindi Cinema in the New Millennium: Bollywood and the Anglophone Indian Nation, Oxford India, New Delhi

Raghavendra, M K , 2017, Beyond Bollywood: The Cinemas of South India, Harper Collins, New Delhi

Raina, A.K., Patnaik B.N., Chadha Monima (ed.), 2000, Science and Tradition, Indian Institute Of Advanced Study, Shimla.

Raina, Dhruv, and Habib, Irfan, 2004, Domesticating Modern Science, Tulika Books, New Delhi.

Rajadhyaksha, Ashish, Indian Cinema: A Very Short Introduction (Very Short Introductions), Oxford, New Delhi

Rajadhyaksha, Ashish, 1999, Encyclopedia of Indian Cinema, Routledge, New York

Rajadhyaksha, Ashish, 2009. Indian Cinema In the Time of Celluloid, New Delhi: Tulika Books

Rajagopalachari, C., 1996, Our Culture, Bhartiya Vidya Bhavan, Mumbai.

Ramanujan, A. K., 2005, Uncollected Poems and Prose, Oxford University Press, New Delhi.

Ramanujan. A.K.. 1999, The Collected Essays (edited by Vinay Dharwadker), OUP. New- Delhi.

Rammesh, 2018, Human Cinema: The Films of Hrishikesh Mukherjee, Notion Press, India

Rao, K. N., 2014, The Nehru Dynasty: Astro-Political Portraits of Nehru, Indira, Sanjay and Rajiv: Hindu Astrology Series, VAni Publications, New Delhi

Ray, satyajit, 1976, Our Films Their films, orient Blackswan New Delhi

Ray, satyajit, 1982, speaking of films, Penguin, India

Ray, satyajit, 1996, My Years with Apu, Penguin, India

Ray, satyajit, 2013, Deep Focus reflections on cinema, Happier collins, New Delhi

Ray. Satyajit. 1976, Our Films. Their Films, Orient Longman, Hyderabad.

Raychaudhari, Tapan and Habib Irfan(ed)., 2004, The Cambridge Economic History of India, Volume I(c. 1200-1750), Orient Longman, New Delhi.

Raychaudhari, Tapan, 1998, Europe Reconsidered Perception of the West in Nineteenth Century Bengal, Oxford University Press Delhi.

Reddy, Ananda. Mohanty, Sachidananda, 1997, Essentials of Sri Aurobindo's thought: Essays in memory of V. Madhusudan Reddy, Institute of Human Study, Hyderabad, India.

Renzetti, Claire M. and Daniel J. Curran. 1998. Living Sociology. Boston, MA: Allyn and Bacon.

Rice, Stanley, 1937, Hindu Customs and Their Origins, Low Price Publication, Delhi.

Roberge. Gaston, 1985, Another Cinema for Another Society, Seaguil Books, Calcutta

Robertson, B.C., 2001, Raja Rammohan Ray: The Father of Modern India, Oxford University Pess, New Delhi.

Robinson, Rowena (ed.), 2004, Sociology of Religion in India.Mumbai: Sage.

Rodrigues, H.P.(ed.), 2011, Studying Hinduism in Practice. New York: Routledge.

Rodrigues, Valerian, 2004, The Essential Writtings of B.R. Ambedkar, Oxford University Press, New Delhi.

Rolland, Romain, 2000, Mahatma Gandhi : the Man Who Became One with the Universal Being, Sristi Publishers and Distributors, New Delhi.

Roy, Pabitrakumar, 2002, Rabindra Nath Tagore, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi.

Roy, Ramashray, 1996, Gandhi and the Present Global Crisis, Indian Institute of Advanced Study, Shimla.

Roy. Pabitra Kumar, 1990, Beauty Art and Man: Recent Indian Theories of Art, Indian Institution of Advanced Study, New Deihi.

Roychoudhury, Amborish, 2018, In a Cult of Their Own: Bollywood Beyond Box Office, Rupa Publications, India

Rudolph, Susanne Hoeber, Rudolph Lloyd I., 1987, Gandhi, The Traditional Roots of Charisma, Orient Longman Ltd., Hyderabad.

Rundell, John and Stephen Mcnnell, cd, 1998, Classical Readings in Culture and Civilization. Rout lodge. London and New York.

Ruskin, Jhon, 2000, Unto This Last, Navajivan Publishing House, Ahmedabad.

Saekar, Bhaskar, 2010. Mourning the Nation: Indian Cinema in the Wake of Partition, Hyderabad:

Saekar, Bhaskar, 2010. Mourning the Nation: Indian Cinema in the Wake of Partition, Hyderabad: Orient Blackswan Pvt.Ltd. (2nd ed.)Sage

Sahasrabudhey, Sunil, 2002, Gandhi's Challenge to Modern Science, Other India Press, Goa.

Sahni, Parikshat, 2019, The Non-Conformist: Memories of My Father Balraj Sahni, Penguin, India

Salam, Ziya Us, 2012, Housefull: The Golden Age of Hindi Cinema, Om Publications, New Delhi

Sankrityayan, Rahul, 1984, Selected essays, People's publishing house, New Delhi

Saran, A. K. 1998. Sociology of Knowledge and Traditional Thought, Sarnath: CIHTS.

Saran, A.K.2007.Hinduism in Contemporary India.Sarnath : Central Institute of Higher Tibetan Studies.

Saran, A.K.2007.On The Theories of Secularism and Modernisation. Sarnath: Central Institute of Higher Tibetan Studies.

Sarangi, Kumkum and Uma Chakravarti. ed, 2001, From Myths to Markets: Essays on Gender, Manohar Publication, New Delhi.

Saraswati, 1997, H. H. Sri Chandrasekharendra, Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi.

Sareen, S. K. and M. Paranjape, ed, 2004, Sabda : Text and Interpretation in Indian Thought, Mantra Books, New Delhi.

Sarkar, Benoy Kumar, 1975, The Sukraniti, Orientals Book, New Delhi.

Savarkar, V. D., 1999, Hindutva: 'Hindus we are & Love to remain so!' Swatantryaveer Savarkar Rashtriya Smarak, Mumbai.

Screwvala, Ronnie, 2016, Dream With your Eyes Open, Rupa, New Delhi

Sen, Ajit Kumar, 1986, Hindu Political Thought, Gian Publishing House, Delhi.

Sen, Ashok, 1977, Elusive Milestone of Ishwarchandra Vidyasagar, The Asiatic Society Calcutta.

Sen, Geeti, Etd, 1993, Perceiving India : insight and inquiry, Sage Publications, New Delhi.

Shah, Kantilal, Ed., 1985, Vinoba on Gandhi, Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi.

Sharma Arvind.(ed.).1993.Our Religions. New York: Harper San Francisco.

Sharma, Amit Kumar, 2011a. Religion and Culture in Indian Civilisation: Essays in Honour of Prof. C. N. Venugopal, D K Print World: New Delhi

Sharma, Amit Kumar, 2011b. Symbols of Kinship Identity in a North Indian Village, Lap Lambart Academic Publishing: Germany

Sharma, Arvind, 2002, Modern Hindu Thought, Oxford University Press, New Delhi.

Sharma, S. L., and Oommen T. K., 2000, Nation and National Identity in South Asia, Orient Longman, New Delhi.

Sharma, Vikram, ed, 2002, The one and lonely Kidar Sharma(An anecdotal autobiography), Bluejay Books, New Delhi.

Shibutani, Tamotsu, Human Nature and Collective Behavior: Papers in Honor of Herbert Blumer, Routledge, New York

Silverman, Hugh J., cd, 1998, Cultural Semiosis: Tracing the Signifies Routledge, London and New York.

Singer, M. 1984. Man's Glassy Essence: Exploration in Semiotic Anthropology, Delhi: Hindustan Publishing Corporation. (Chapter 2)

Singer, Milton, 1986, Man's Glassy Essence: Explorations in Semiotic Anthropology, HPC, Delhi.

Singh, jai Arjun, 2010, jaane Bhi do yaaro, Happier collins, New Delhi

Singh, Khushwant, 2004, A History of the Sikhs (Volume I and II), OUP, Delhi.

Singh, Renuka(ed.) 2003.The Path of the Buddha: Writings on Contemporary Buddhism. Delhi: Penguine.

Singh, Vijaya, 2017, Level crossing Railway journey in Hindi Cinema, orient Blackswan New Delhi

Smith, D.E. 1963.India as a Secular State. New Jersey: PUP

Somtey, 2001 On Photography, Picador

Spengler, Kremena, 2012, Illustrated Timeline of Inventions & Inventors (Visual Timelines in History), Picture Window Books

Spengler, Oswald, 2006, The Decline of the West (Vintage), Vintage, New York

Spengler, Oswald, 2015, Man and Technics: A Contribution to a Philosophy of Life, Arktos Media, London

Srinivas, M.N.1968. Religion and Society among the Croogs of South India. Asia Publishing House.

Srivastava, Sanjay, 2007, Passionate Modernity: Sexuality, Class and Consumption in India, New Delhi: Rout ledge

Strinati, Dominic, 1995, An Introduction to Theories of Popular Culture, Routledge, London and New York.

Sudjic, Deyan, 2008, The Language of Things. London: Penguin

Swaminathan, K. and Patel, C.N., 1988, A Gandhi Reader, Oriental Longman, Hyderabad,

Swartz, David, 1998, Culture and Power: The Sociology of Pierre Bourdieu, University of Chicago Press, Chicago

Swarup, Ram

Tarachand, 1961, History of the Freedom Movement in India, Vol. I, Publication Division, Delhi.

Tarlekar, G.H 1975/1991. Studies in the Natyasastra. Motilal Banarsidass, Delhi.

The Mother, 1995, Commentaries on the Dhammapada, Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry.

The Polity Reader in Social Theory.1994, Cambridge: Polity Press. (Chapters 4, 7, 8, 9, 11, 15)

Tirtha, Swami Bharati Krishna, 1985, Sanatana Dharma, the eternal and everlasting Way of Life, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay.

Trautmann, Thomas R., 2004, Aryans and British India, Yoga Press, New Delhi.

Tripathi, G.C. and Herman Kulke (ed.). 1994. Religion and Society in Eastern India. New Delhi: Manohar.

Tsetung, Mao, 1971, Selected readings from the works of Mao Tsetung, Foreign languages press, Peking.

Turner, Bryan S.1991.Religion and Social Theory.London: Sage.

Turner, Bryon.1978. Weber and Islam: A Critical Study. London: Routledge and Kegan Paul.

Turner, Stephen P., ed. 1996. Social Theory and Sociology: The Classics and Beyond. Cambridge, MA: Blackwell.

Tyson, Neil deGrasse, 2018, Accessory to War, W. W. Norton & Company, New York

Tzu, Sun, 2008, The Complete Art of War, Wilder Publications, London

Tzu, Sun, 2015, The Book of Military Strategy: Sun Tzu's The Art of War, Machiavelli's The Prince, and Clausewitz's On War (Annotated) (1000 Copy Limited Edition), Engage Books

Uberoi, J. P. S.

Uberoi, J. P. S. 1974. 'New Outlines of Structural Sociology: 1945-1970', in Contribution to Indian Sociology (N.S), 8, New Delhi: Sage

Uberoi, J.P.S.1999. Religion, Civil Society and the State: A Study of Sikhism. Delhi: OUP.

Uberoi, P. 1999, "The Diaspora comes Home: Disciplining Desire in DDLJ", in V. Das, D. Gupta and P. Uberoi (eds) Tradition, Plurality and Identity, Sage Publications, New Delhi.

Vaasanthi, 2006.Cut-Outs, Caste and Cine Stars: The World of Tamil Politics, New

Vaasanthi, 2006.Cut-Outs, Caste and Cine Stars: The World of Tamil Politics, New Delhi: Penguin

Vaasanthi, 2006.Cut-Outs, Caste and Cine Stars: The World of Tamil Politics, New Delhi: Penguin

Van der Veer, Peter, 2001, Imperial Encounters, Permanent Black, Delhi.

Van Gennep, Arnold.1960. Rites of passage. Chicago: University of Chicago Press.

Vasu, Rai Bahadur Srirsa Chandra, 2004, The Siva Samhita, Munshiram Manoharlal Publishers, New Delhi.

Vasudev, Aruna and Lenglet Philippe, ed, 1983, Indian Cinema Superbazaar, Vikas Publishing House, New Delhi.

Vasudevan, Ravi, 2001, Making Meaning in Indian Cinema, Oxford, New Delhi

Vasudevan, Ravi, 2011, The Melodramatic Public: Film Form and Spectatorship in Indian Cinema, Palgrave Macmillan, New Delhi

Vasudevan, Ravi S., 2000 (ed.), Making Meaning in Indian Cinema, New Delhi: OUP

Vasudevan, Ravi, 2010. The Melodramatic Public, Ranikhet, Permanent Black

Vatsayana, Kapila, 1996. A Sense of Time: An Exploration of Time in Theory, Experience and Art,

Vazquez. A. S., 1973. Art and Society: Essays in Marxist Aesthetics, Merlin Press, London.

Venugopal, C. N.2009. Religion and Indian Society a Sociological Perspective. Delhi: Gyan book pvt. Ltd.

Vetticad, Anna MM, 2012, The Adventure of an Intrepid Film Critic, Om books International, New Delhi

Vijayakar, Rajiv, 2019, Main Shayar Toh Nahin: The Book of Hindi Film Lyricists, HarperCollins, India

Virdi, Jyotica.2004, The-Cinematic Imagination: Indian Popular Films as Social History, Permanent Black. Delhi.

Visvanathan, Susan.1993. The Christians of Kerala.Delhi:OUP.

Viswamohan, Aysha Iqbal, 2017, Behind the Scenes: Contemporary Bollywood Directors and Their Cinema, SAGE Publications, New Delhi

Viswanathan, Gauri, 2004/1998, Masks of Conquest: Literary Study and British Rule in India. OUP, New Delhi.

Vitali, Valentina, 2008. Hindi Action Cinema Industries, Narratives, Bodies, New Delhi:

Vivekananda, Swami?

Vyas, H.M, Compiled, 1996, Village Swaraj, Navajivan Publishing House, Ahmedabad.

Waite, Arthur Edward, Ed. 1976, The Hermetic and Alchemical writings of Paracelsus, Volume II Hermetic medicine and hermetic philosophy, Shambhala, Boulder.

Weber, M.1993.The Religion Of India: The Sociology Of Hindusim And Buddhism. USA: Beacon Press.

Weber, M.1993.The Sociology of Religion. Boston: Beacon (Reprint).

Weber, Max. 1989.Science As A Vocation (edited by P. Lasman, et.al), London: Unwin Hyman (Part I)

Wedderburn, William, 1913, Allan Octavian Hume, C.B. London.

Woodroffe, Sir John, 1990, Introduction to Tantra Sastra, Ganesh and Company, Madras.

Yinger, J. M.1970. The Scientific Study of Religion. New York: MacMillan.

York: Taylor & Francis

हिन्दी संदर्भ ग्रंथ

चड्ढा, मनमोहन, 1990, हिंदी सिनेमा का इतिहास, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली

द्विवेदी, हजारीप्रसाद, 1981, लालित्य तत्त्व एवं साहित्य मर्म, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

भरतमुनि, 2009, नाट्यशास्त्र, चौखम्भा पुब्लिकेशन्स, नई दिल्ली

अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 1997, आदम की डायरी, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 2010, साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

अज्ञेय, स. ही. वात्स्यायन, 2011, हीरानंद शास्त्री स्मारक व्याख्यान माला 1 और 2 भाग, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

चतुर्वेदी, रामस्वरूप, 2000, अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

रे, रविन्द्र, 2017, परम्परा और समकालीन सभ्यता, हिंदी कमल प्रकाशन, नई दिल्ली

शुक्ल, वागीश, 2012, शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं?, वाणी प्रकाशन, , नई दिल्ली

नारायण, कुँवर, 2017, लेखक का सिनेमा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

पांडेय, मृणाल, 2015, ध्वनियों के आलोक में स्त्री, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली

शर्मा, विजय, 2019, सिनेमा और साहित्य, वाणी प्रकाशन, , नई दिल्ली

चौकसे, जयप्रकाश, 2015, सिनेमा और सितारों कामायाजाल, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली

ठाकुर, रवीन्द्रनाथ, 1998, संगीत–चिंतन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

खेतान, विनोद, 2012, उम्र से लम्बी सड़कों पर गुलज़ार, वाणी प्रकाशन, , नई दिल्ली

प्रियदर्शन, 2015, नये दौर का नया सिनेमा, वाणी प्रकाशन, , नई दिल्ली

मीणा, प्रमोद, 2016, हिंदी सिनेमा दलित आदिवासी विमर्श, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली

अग्रवाल, प्रहलाद, 2007, उत्ताल उमंग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

ब्रह्मात्मज, अजय, 2006, सिनेमा की सोच, वाणी प्रकाशन, , नई दिल्ली

शर्मा, पंकज, 2018, हिंदी सिनेमा की यात्रा, अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली

शर्मा, राजेन्द्र, 2012, इप्टा की यादें, सहमत, नई दिल्ली

पारख, जवरीमल, साझा संस्कृति, साम्प्रदायिक आतंकवाद और हिंदी सिनेमा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

पंड्या, मिहिर, 2011, शहर और सिनेमा वाया दिल्ली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

ब्रहमात्मज, अजय, और शेखर, मयंक, 2016, टॉकीज सिनेमा का सफर, जागरण फिल्म फेस्टिवल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

कपूर, ऋषि, 2018, खुल्लम खुल्ला, हार्पर हिंदी, नई दिल्ली

चिंतामणि, गौतम, 2015, एक तन्हा सितारा, हार्पर हिंदी, नई दिल्ली

सिन्हा, प्रसून, 2006, भारतीय सिनेमा एक अनन्त यात्रा, श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली

केसवानी, राजकुमार, 2010, बॉम्बे टॉकी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

अभिनवगुप्त

- 2002, श्रीतन्त्रालोकः, अनुवादक राधेश्याम चतुर्वेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- 2002, तन्त्रसारः 'नीरक्षीरविवेक' –हिन्दीभाष्यसंवलितः, दो भाग, अनुवादक परमहंस मिश्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।

आत्रेय, भीखनलाल, 1986, योगवसिष्ठ और उसके सिद्धान्त, श्रीकृष्ण–जन्मस्थान सेवा–संस्थान, मथुरा।

ओझा, मधुसूदन

- 1990, ब्रह्मविज्ञान, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर।
- 1990, ब्रह्म सिद्धांत, अनुवादक देवीदत्त शर्मा चतुर्वेदी, राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर।

इकबाल, मुहम्मद, 1996, इस्लाम में धार्मिक चिन्तन की पुनर्रचना, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

उपाध्याय, भरतसिंह, 1996, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, दो भागों में, मोतीलाल बनारसी दास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।

उपाध्याय, पं दीनदयाल, 2001, राष्ट्र–चिन्तन, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ।

उपाध्याय, बलदेव, 2000, भारतीय धर्म और दर्शन, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी।

करपात्रीजी, स्वामी

- 2003, भक्ति–सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, मथुरा।
- 2003, श्रीभागवत–सुधा, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, मथुरा।

कालेलकर, काकासाहब, 2000, गांधीजीका रचनात्मक क्रांतिशास्त्र, खण्ड–1ए वं 2, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।

कविराज, गोपीनाथ, 1984, भारतीय साधना की धारा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

केडिया, कुसुमलता और मिश्र, रामेश्वर, गांधीजी और ईसाइयत, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।

कुमार, जैनेन्द्र, 2001, गांधी और हमारा समय, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली।

गांधी, मो. क.

- 1999, हिन्द स्वराज, अनुवादक अमृतलाल ठाकोरदास नाणवटी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।
- 2002, धर्म नीति, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, इलाहाबाद।

गुप्त, महेन्द्र नाथ, 2003, श्रीरामकृष्ण वचनामृत (प्रथम एवं द्वितीय भाग), हिन्दी अनुवाद – सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', रामकृष्ण मठ, नागपुर।

गोयनका, सत्यनारायण, 2003, राजधर्म कुछ ऐतिहासिक प्रसंग, बुद्धवाणी के परिप्रेक्ष्य में, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी।

धर्माधिकारी, दादा

- 1998, गांधी की दृष्टि, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।
- 1998, गांधी की दृष्टि अगला कदम, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी।

धर्मपाल

- 1994, भारत का स्वधर्म, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर।
- 2003, भारत की पहचान धर्मपाल की दृष्टि में, सिद्ध, मसूरी।

चतुर्वेदी, गिरिधर शर्मा, 2000, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, बिहार–राष्ट्रभाषा–परिषद्, पटना।

चतुर्वेदी, मिथिलेश, अनु., 1992, शब्दार्थमीमांसा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

झुनझुनवाला, लक्ष्मीनिवास, 2004 विश्व धर्मसम्मेलन, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।

जायसवाल, सुवीरा, 1996, वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली।

जैन, गोकुलचन्द्र, सं., 1983, संकाय पत्रिका श्रमणविद्या – भाग 1ए वं 2, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

तिलक, बाल गंगाधर, 2002, श्रीमद्भगवद्गीतारहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, हिन्दी अनुवाद माधवरावजी सप्रे, तिलक बंधु, पूना।

तिरुवल्लकर, संत, 1989, तमिल वेद, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।

तिवारी, रामचन्द्र, सं., 2003, रामचन्द्र शुक्ल संचयिता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

द्विवेदी, दशरथ, सं., 2000, अभिनव रस सिद्धान्त, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

नारायण, जयप्रकाश, 1999, लोक–स्वराज, सर्व–सेवा–संघ प्रकाशन, वाराणसी।

परळीकर, सच्चिदानंद, 2002, लोकनायक समर्थगुरू रामदास, लोकभारती, इलाहाबाद।

पांडे, गोविन्द चन्द्र

– 1986, भारतीय परम्परा के मूल स्वर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

– 1990 बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

'विशारद' पाण्डेय, रामलग्न, 1986, शिव पुराण भाषा, ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार, वाराणसी।

पारेख, नगीनदास, सं., 1974, अभिनव का रस–विवेचन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

पुशराज, 1994, सनातन धर्म और महात्मा गांधी, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।

बनवारी

– पंचवटी, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।

– महारास : प्रकृति, उत्सव और समाज, श्रीविनायक प्रकाशन, दिल्ली।

बेगम, नूरजहाँ और हेगड़े, नन्दकुमार, 2004, किस प्रकार की है यह भारतीयता?, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।

भगवद्दत्त, पण्डित, 2004, निरुक्त शास्त्रम्, रामलाल कपूर ट्रस्ट, हरियाणा।

भारतीय, भवानीलाल

– सं., 2002, युग–प्रवर्तक स्वामी दयानन्द, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली।

– सं., 2004, योगिराज श्रीकृष्ण, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली।

मशरूवाला, कि. घ., 1959, शिक्षा में विवेक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद।

माधवाचार्य, 2001, सर्व दर्शन संग्रह, अनुवादक उमाशंकर शर्मा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

मिश्र, विद्यानिवास

– 1973, रीतिविज्ञान : सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

– 1979, हिन्दू धर्म : जीवन में सनातन की खोज, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

– 1989, भारतीयता की पहचान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

– सं., 1993, राहुल चयनिका,ए न. बी. टी., नई दिल्ली।

– 2000, लोक और लोक का स्वर, प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली।

मंत्री, गणेश, 2004, गांधी और अम्बेडकर, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

लोढ़ा, कल्याणमल और मिश्र, वसुन्धरा, सं., 2002, धर्म, दर्शन और विज्ञान में रहस्यवाद, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

रत्तू, नानकचंद, 2004, डॉ. अम्बेडकर जीवन के अंतिम कुछ वर्ष, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली।

रामतीर्थ, स्वामी, 1991, सनातन धर्म, श्री रामतीर्थ प्रतिष्ठान, लखनऊ।

राव, यू. आर. तथा प्रभु आर. के. (सं.), 2002, महात्मा गांधी के विचार, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।

राव, यू.ए स. मोहन (सं.), 1994, गांधीजी – शब्द चित्र और श्रद्धांजलियां, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।

लाजपतराय, लाला, 2003, छत्रपति शिवाजी, हिमाचल पुस्तक भंडार, दिल्ली।

वर्मा, निर्मल,

– 1991, भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।

– 2000, पत्थर और बहता पानी, वाग्देवी पॉकेट बुक्स, बीकानेर।

विनोबा, 1995, गीता–प्रवचन, सर्व–सेवा–संघ–प्रकाशन, वाराणसी।

विद्यावारिधि, धर्मवीर, 1989, वैदिक–निघण्टु–सङ्ग्रहः, प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द, दिल्ली।

विवेकानंद, स्वामी, 2002, विवेकानन्द साहित्य (खंड 1 से 10), अद्वैत आश्रम, कोलकाता।

शर्मा, अमित कुमार, 2006, भारतीय संस्कृति का स्वरूप, कौटिल्य प्रकाशन, नई दिल्ली।

शुक्ल, रामचन्द्र

– 1985, लोकजागरण और हिन्दी साहित्य, रामविलास शर्मा सं., वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

– संवत 2048, रस मीमांसा, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

– 2002, चिन्तामणि–4, संपादक कुसुम चतुर्वेदी, ओमप्रकाश सिंह, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य शोध संस्थान, वाराणसी ।

शाह, कान्तिभाई सं., 1997, गांधी: जैसा देखा–समझा विनोबा ने, सर्व–सेवा–संघ प्रकाशन, वाराणसी।

शास्त्री, मोतीलाल, 1995, अथर्ववेदीय– प्रश्नोपनिषत् –हिन्दीविज्ञानभाष्य, राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन, जयपुर।

श्री गुरूजी समग्र संकलन समिति, माध कृष्ण एकादशी युगाब्द 5106, श्री गुरूजी समग्र, खंड 1 से 12, डा. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर।

''श्री गुरूजी''(मा. स. गोलवलकर), 1991, राष्ट्र, जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली।

सप्रे, ना. वि.

– 2000, महाराष्ट्र के संत–महात्मा, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी।

– 2005, समर्थ रामदास, अनुराग प्रकाशन, वाराणसी।

सहस्रबुद्धे, पु. ग., 2003, हिन्दू–समाज : संगठन और विघटन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

सहगल, मनमोहन, अनु., 1995, आदि श्री गुरू ग्रन्थ साहिब, खण्ड 1 से 4, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ।

सरकार, सुशोभन, 1997, बंगला नवजागरण, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

सरकार, सुमित, 2002, बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन (1903–1908), ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

हालदार, मोहितकुमार, 2000, भारतीय नवजागरण और पुनरूत्थानवादी चेतना, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।

त्रिपाठी, जयशंकर लाल, 1985, काशिका न्यास–पदमञ्जरी– भावबोधिनी–संहिता, भाग 1 से 10, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी।

त्रिवेदी, भवानीशंकर (सं.), 1992, भारत की विश्व को देन, राजधानी ग्रंथागार, नई दिल्ली।

अमित कुमार शर्मा 1979 से समाजशास्त्र के विद्यार्थी हैं। ये खुद रंग कर्मी रहे हैं और बचपन से नाट्य प्रस्तुतियों के विभिन्न आयामों में हिस्सेदारी करते रहे हैं। 1999 से ये जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में सिनेमा पर शोध निर्देशन, शिक्षण तथा लेखन करते रहे हैं। ये बहुभाषी हैं और इनकी अंग्रेजी, उर्दू एवं हिंदी में कई किताबें प्रकाशित हैं।

भारतीय सिनेमा पर किसी भी भाषा में ऐसी किताब अब तक प्रकाशित नहीं हुई है। यह पुस्तक भारतीय संस्कृति की शास्त्रीय और लोक केंद्रित शब्दावली में भारतीय सिनेमा की मुख्यधारा की लोकप्रिय फिल्मों के समाजशास्त्र का वैश्विक विमर्श प्रस्तुत करती है। हिंदी भाषा में इस तरह का मौलिक लेखन अपने आप में एक विलक्षण कोशिश है। हिंदी सिनेमा के रसिक दर्शकों की पसंद और नापसंद को सहृदयता एवं संवेदना से सहानुभूतिपूर्वक समझ कर, भारतीय संस्कृति की सिनेमाई प्रस्तुति को, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं शोधार्थियों के बीच, दशकों से पढ़ाने के अनुभव को, हिंदी भाषा में प्रकाशित करने के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। इसका अंग्रेजी संस्करण बनाने की प्रक्रिया भी आरम्भ हो चुकी है।

- मनमोहन चड्ढा

मूल्य - ₹ 500

ISBN 978-81-944279-1-9

9 788194 427919

Shaolin Publications